UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182692

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.6 T 83 M Accession No. H 3074

Author त्रिपाठी, रामसागर

Title मुक्तक - काव्य परंपरा और बिहारी. 1960.

This book should be returned on or before the date last marked below.

मुक्तक-काव्य परम्परा और बिहारी

(आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखक

डा० रामसागर त्रिपाठी एम० ए०, पी-एच० डी०

साहित्याचार्य एव व्याकरणाचार्य

प्राध्यापक-हिन्दी विभाग

श्री गुरु तेगबहादुर खालसा कालेज

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

प्रकाशक

अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली ।

प्रकाशक : अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली।
मूल्य : रु० १६·००
प्रथम संस्करण : १९६०
पृष्ठ संख्या : ५९२+२०=६१२
मुद्रक : पाईनियर फाइन आर्ट प्रेस तथा शिवजी प्रेस दिल्ली।

समर्पण

पूज्य पितृ-चरण श्री पण्डित संकटाप्रसाद जी त्रिपाठी
की पुण्य-स्मृति में, जिनकी वात्सल्यमयी
सदाकांक्षा ही प्रस्तुत प्रबन्ध के
रूप में फलवती
हुई है।

दो शब्द

कुछ समय पूर्व मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डु-लिपि का अध्ययन करने का सुयोग मिला था और तभी से मेरे मन पर इसके कृती लेखक की विद्वत्ता और गम्भीर चिन्तना-शक्ति का अच्छा प्रभाव रहा है। अपने विषय की परिपूर्ण समीक्षा होने के अतिरिक्त इसमें अनुसंधान की एक विशेष दृष्टि का उन्मेष है। अंग्रेजी में 'थीसिस' शब्द का मूल अर्थ है प्रतिज्ञा। सफल शोध-प्रबंध लिखने के लिए अनुसंधाता को कोई विशेष मौलिक स्थापना कर उसे सिद्ध करना पडता है। अनुसन्धान का यह एक अत्यन्त विशिष्ट और मूलभूत रूप है। इसमे सन्देह नहीं कि साहित्यिक शोध के क्षेत्र में इस पद्धति का निर्वाह सर्वत्र सम्भव नही है, किन्तु फिर भी इसके महत्त्व में किसको सन्देह हो सकता है ? मुझे प्रसन्नता है कि डा० त्रिपाठी ने अपने प्रबन्ध में ध्वनि-काव्य की दृष्टि से बिहारीसतसई का सांगोपाग अध्ययन प्रस्तुत कर अनुसन्धान की इस विशिष्ट मौलिक पद्धति का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। काव्य-शास्त्र का निर्भ्रान्त ज्ञान होने के कारण लेखक की दृष्टि ध्वनि के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों के निर्णय में भी कही उलझी नही है। अत्यन्त विश्वासपूर्वक वे यथाप्रसङ्ग अपने मन्तव्य व्यक्त करते गये है। लेखक का आधार-फलक बड़ा विशाल है—शोध-प्रबन्ध की योजना की दृष्टि से आप उसकी उपयुक्तता पर शङ्का भी कर सकते हैं किन्तु अत्यन्त रोचक और उपयोगी सामग्री का उद्‌घाटन कर तथा लेखक के व्यापक अध्ययन का परिचय देकर ग्रथ के महत्त्व-वर्धन मे उसने निश्चय ही योग-दान किया है। मुझे विश्वास है कि रीतिकाव्य के शास्त्रविद् रसिक इसका समुचित आदर करेंगे।

अध्यक्ष हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

—नगेन्द्र

परिचय

प्रस्तुत रचना विद्वद्वरों के कर-कमलों में सौंपते हुए मुझे गर्व और प्रसन्नता के भावों की एक समन्वयात्मक अनुभूति हो रही है। प्रसन्नता इसलिये है कि हिन्दी साहित्य को एक वास्तविक अनुसन्धान कृति प्रस्तुत की जा रही है और गर्व इसलिये है कि उसकी रचना मेरे ही निर्देशन में हुई है। यह रचना आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत पी-एच० डी० की थीसिस का यत्किंचित् परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप है। इसमें हिन्दी के एक उस महाकवि का अनुसन्धानात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जो मुक्तक दोहो की सतसई लिखकर ही हिन्दी के महाकवियों में उच्चातिउच्च पद के अधिकारी बन गये है। उनके इस अधिकारित्व का प्रमुख कारण दोहा जैसे छोटे से छद मे असीम पयोधि जैसे प्रतीयमान अर्थ की प्रतिष्ठा है। यह प्रतीयमान अर्थ अनिर्वचनीय है। आनन्दवर्धन के शब्दो में महाकवि पद का अधिकारी वहा साहित्यकार हो सकता है जिसके काव्य में इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतिष्ठा रहती है। उनकी उक्ति है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तम् विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

अर्थात् जिस प्रकार ललना-सौदर्य में अवयव-गत सुडौलता के अतिरिक्त एक लावण्य नामक अनिर्वचनीय तत्त्व पाया जाता है उसी प्रकार महाकवि की वाणी में छद-अलकार-गुण आदिगत चमत्कार के अतिरिक्त एक अनिर्वचनीय प्रतीयमान अर्थ की प्रतिष्ठा रहती है। बिहारी के अध्येताओ ने अधिकतर उनका अध्ययन अलकार आदि की दृष्टि से ही किया था जिससे महाकवि का समूचा सौदर्य स्पष्ट नही हो पाया था। उसके इस सौदर्य को स्पष्ट करने के लक्ष्य से ही इस रचना की सर्जना हुई है। इसमें उनका अध्ययन प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्य की दृष्टि से किया गया है जो हिन्दी साहित्य क्षेत्र मे सर्वथा मौलिक है। लेखक के साहित्यशास्त्रीय पाडित्य की पुट ने रचना को और भी अधिक प्रौढ और प्राजल बना दिया है। अपने मेधावी शिष्य की ऐसी मौलिक रचना का विद्वत्-समाज में अभिनन्दन करते हुए मुझे बड़ा परितोष है। ईश्वर करे वह इसी प्रकार की उच्च साहित्य-साधना में अग्रसर हो और अपनी नवीन मौलिक रचनाओं से हिन्दी का कान्त कलेवर चमत्कृत करे।

गोविन्द त्रिगुणायत
एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

अध्यक्ष-संस्कृत विभाग,
के०जी०के० कालेज,
मुरादाबाद

भूमिका

'अनेक सवाद'-भरी बिहारी-सतसई के अध्ययन की एक लम्बी परंपरा है। हिन्दी का यह ग्रंथ सुदुर्लभ-सौभाग्यशाली है जिसकी टीकायें और अनुवाद पहले ही संस्कृत और उर्दू में भी हो चुके हैं। परन्तु टीका, व्याख्या और अनुवाद की प्रगाढ परंपरा होते हुए भी, यह कहा जा सकता है कि अध्ययन सीमित क्षेत्र में ही होता रहा। आधुनिक शिक्षा-विकास के साथ साहित्य के अध्ययन के जो नवीन क्षेत्र उद्घाटित होते जा रहे है, उनमें भी हमारे प्राचीन काव्य नूतन सम्भावनाओ से युक्त सिद्ध हो रहे हैं। ऐसा सिद्ध हो रहा है कि जो काव्य लोकप्रिय, स्मरणीय एव युगान्तरस्थायी होता है, वह अपने अन्तर्गत इन नूतन सम्भावनाओ को भी छिपाये रहता है। हिन्दी साहित्य के प्रसग में यह बात दो अति प्रसिद्ध काव्यों—रामचरित मानस और बिहारी सतसई—के सम्बन्ध में पूर्णतया सत्य है। रामचरित मानस जहा पहले धार्मिक और साहित्यिक महत्त्व का ग्रथ समझा जाता था, वही अब वह सास्कृतिक, सामाजिक एव राजनैतिक महत्त्व का ग्रथ सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार बिहारी-सतसई जो केवल रमणीय काव्य की ही दृष्टि से पढी जाती रही है, अब वह सास्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एव ऐतिहासिक विशेषताओ से सम्पन्न ग्रथ स्पष्टतः सिद्ध हो रहा है। अतः हिन्दी काव्यो का इन नवीन दृष्टियो से अध्ययन अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी काव्य के गौरव की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए, प्रतिष्ठित गौरव वाले साहित्यों की परम्परा में उसके ग्रथों के साथ हिन्दी ग्रथो के तुलनात्मक अध्ययन की भी आवश्यकता है। इन परम्पराओ और तुलनाओ के बीच रख कर ही हम राष्ट्रभाषा हिन्दी के काव्य का समुचित मूल्याकन कर सकते हैं। ऐसे अध्ययन न केवल अधिक विश्वसनीय होते है, वरन्, वे सत्काव्यो की रचना की प्रेरणा भी देते हैं। 'मुक्तक काव्य की परम्परा और बिहारी' के रूप में प्रस्तुत यह अध्ययन इस दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व रखता है। 'बिहारी सतसई' के अध्ययन के व्याज से इसके लेखक डा० राम सागर त्रिपाठी ने भारतीय मुक्तक-काव्य की परम्परा का सांगोपाग अध्ययन और समीक्षण प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि लोक की सहज काव्य-प्रतिभा मुक्तक के रूप में प्रकृत्या प्रस्फुटित होती है। साथ ही यह काव्य सहज स्मरणीय होने के कारण अधिक प्रचलित एवं स्थायी होता है। बड़े-बडे प्रबन्ध काव्य मौखिक रूप में उतने दीर्घजीवी नही होते जितने छोटे-छोटे धार्मिक

भावना, रसत्व या जीवनानुभव से संयुक्त मुक्तक होते हैं। इसके अतिरिक्त मुक्तक जहा बहुमुखोच्चरित हो सहज प्रचार पाते हैं, वहा दीर्घकाय प्रबन्ध सामान्यतया कठिनाई मे ही इस सौभाग्य को प्राप्त करते हैं।

कला की दृष्टि से भी मुक्तक काव्य में अभिव्यक्ति-भंगिमा एव चमत्कार की विशेषता प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक रहती है। मुक्तककार जहा एक-एक शब्द को संभाल कर प्रयुक्त करता है, एक-एक वर्ण को सजा कर रखता और उसकी मात्रा को तोलकर लगाता है और इस प्रकार एक दृष्टिपात मे ही अपनी पूर्णकला की चमत्कृति की चकाचौध दिखा सकता है, वहां प्रबन्धकार को कथाप्रवाह और चरित्र-चित्रण के प्रति अधिक जागरूक रहने के कारण कला के प्रति अधिक सजग होने का अथवा चमत्कार-प्रदर्शन का अवसर उतना नही मिलता। वरन्, वहा कुतूहल और भावना की तीव्रता के कारण कला की सूक्ष्मता और जटिलता समझने का धैर्य भी पाठक को नही रहता।

मुक्तक काव्य की सुन्दर परम्परा के साथ ही समस्यापूर्ति काव्य का भी विकास हुआ। मुक्तक काव्य का कलागत उत्कर्ष अपने एक विशिष्ट रूप मे समस्या-पूर्ति काव्य मे पाया जाता है जिसके अध्ययन की भी आवश्यकता है। मुक्तक का यह रूप सुभाषित, सूक्ति या चमत्कार काव्य मे आया है।

यह कहना भी अधिक सगत नही है कि सस्कृति, समाज एवं इतिहास का समावेश केवल प्रबन्ध काव्य मे ही रहता है। बिहारी जैसे मुक्तककारो ने अपने दोहो में इन तीनों की विशेषताये भर दी हैं। उदाहरणार्थ सस्कृति-चित्रण के कुछ दोहे निम्नाकित है :—

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाउ।
तरि ससार पयोधि कौं, हरि नांवं करि नाउ॥
जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन कांचै नांचै वृथा, सांचै रांचै राम॥
तजि तीरथ, हरि राधिका, तन दुति करि अनुराग।
जिहि व्रज केलि निकुंज मग, पग पग होतु प्रयाग॥

उपर्युक्त दोहों में वेशभूषा एव अन्य बाह्याडंबरों को छोडकर भक्तिभाव को ग्रहण करने का उपदेश है और उसमे भी सर्वोपरि है प्रेम-भक्ति का संकेत। यह प्रेम-भक्ति-भावना भारतीय सस्कृति का महत्त्वपूर्ण अग थी। इसी प्रकार बिहारी के दोहो में सामाजिक जीवन से सम्बन्धित सूक्तिया देखिये :—

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोडियै, खोटै ग्रह जप दानु॥
अरे परेखो को करै, तुही बिलोकि बिचारि।
किहि नर किहि सर राखियै, खऐं बढ़ें पर पारि॥

कहै यहै श्रुति सुमृति हूं, सबै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं, पातक राजा रोग॥
करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
रे गंधी, मति अध तू, अतर दिखावत काहि॥
रह्यो न काहू काम को, सत न कोऊ लेत।
बाजू टूटे बाज कौं, साहब चारा देत॥

उपर्युक्त दोहो में सामाजिक नीति की सूक्तिया हैं, परन्तु वे सब समकालीन समाज के विशिष्ट प्रसगो से सबन्ध रखती है। इनमें मध्ययुगीन समाज की दशा के अनुरूप सूक्तिया देख पडती हैं।

इसी प्रकार इतिहास की घटनाओ और व्यक्तियो से सम्बन्धित दोहे भी बिहारी के अनेक है, यहा तक कि जयपुर के आस-पास तो लोगो का विश्वास है कि उनके अधिकाश दोहे किसी न किसी सामाजिक या ऐतिहासिक घटना से सम्बन्ध रखते हैं और उन्ही घटनाओ का प्रतिबिम्ब होने के कारण बिहारी के दोहों का दरबार में इतना आदर होता था। इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले कुछ दोहे बिहारी के निम्नाकित है —

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सौं बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥
स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखु बिहग विचारु।
बाज पराये पानि परि, तू पच्छीनु न मारु॥
सामां सेन सयानकी, सबै साहि के साथ।
बाहुबली जयसाहि जू, फते तिहारे हाथ॥
यौं दल काढ़े बलक तें, तें जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर के परे, ज्यों हरि गाइ, गुवाल॥
घर घर तुरुकिनि हिन्दुनी, देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी, तें राखी जय साहि॥

उपर्युक्त उदाहरण इस बात को प्रमाणित करने के लिए दिये गये है कि बिहारी जैसे मुक्तककारो की रचनाओ का अध्ययन सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि दृष्टियो से भी किया जा सकता है।

बिहारी के दोहों के इतने अधिक प्रभावशाली होने का एक प्रमुख कारण समाविष्ट नाटकीय तत्त्व हैं। ये तत्त्व विशेषरूप से उनके रसात्मक मुक्तकों में देखे जा सकते हैं। मुगल शासनकाल में नाटक-रचना को हतोत्साहित किया गया। यही कारण है कि उस समय के हिन्दी-साहित्य में भी नाटक रचना सुदुर्लभ है। ऐसी दशा में कवियों की नाटकीय प्रतिभा प्रबन्धकाव्यों, पदों एवं मुक्तकों में प्रस्फुटित

हुई। इन्ही काव्यो को पढ़कर या लीलारूप में अभिनय कर जन-सामान्य ने अपनी नाटकीय अभिरुचि की तुष्टि की। अतः सूर, तुलसी, बिहारी, देव, पद्माकर जैसे महाकवियों की रचनाओ में नाटकीय तत्त्वो का समावेश देखने को मिलता है। इन रचनाओ की लोकप्रियता का भी यह एक प्रधान कारण था।

नाटकीय तत्त्व, प्रबन्ध काव्यो में तो कथा-तत्त्व के साथ सहज ही समाविष्ट हो सकते है, परन्तु, मुक्तक काव्य में समाविष्ट करना कुछ कठिन कार्य है। फिर भी इस दिशा में बिहारी को अद्वितीय सफलता मिली है। नाटकीय विशेषता को स्पष्ट करते हुए दशरूपककार आचार्य धनजय ने लिखा है .—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकम् तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम् ।।७।।

इससे स्पष्ट है कि अवस्था की अनुकृति, रूप-योजना, चित्रात्मक वर्णन नाटक की विशेषता है। हम कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति का स्वरूप, क्रियाकलाप, भावानुभूति अथवा किसी घटना को प्रत्यक्ष कर सजीव रूप से सामने प्रस्तुत कर देना नाटकीय विशेषता है। ऐसी दशा में हम निश्चयत. कह सकते हैं कि बिहारी के मुक्तक नाटकीय विशेषताओ से सम्पन्न है। इन विशेषताओ से युक्त कुछ उदाहरण देखिये :—

अंग अग नग जगमगत, दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजारो गेह ।।
छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबनु अग।
दीपति देह दुहून मिलि, दीपति ताफता रग ।।
मिलि चदन बेदी रही, गोरे मुख न लखाइ।
ज्यों ज्यों मद लाली चढ़ै, त्यों त्यों उघरति जाइ ।।

उपर्युक्त प्रकार के बिहारी के अनेक दोहे है जिनमें रूप लावण्य का चित्रण चटकीले ढग पर किया गया है, जिससे सामने सजीव लावण्य मूर्ति अकित हो जाती है। इनसे भी अधिक निखरे हुए बिहारी के वे चित्र है जो क्रियाकलाप को प्रत्यक्ष करते हैं। उदाहरणार्थ देखिये :—

चितई ललचौंहैं चखनु, डटि घूघट पट मांह ।
छल सों चली छुवाइ कै, छिनकु छबीली छांह ।।
कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत है, नैनन ही सब बात ।।
मुंह धोवति एंडी घसति, हंसति अनगवति तीर।
धँसति न इंदीवर नयनि, कालिन्दी के तीर ।।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोहों में अभिनय की विशेषता है जो नाटक का गुण है। बिहारी के इन अभिनयात्मक चित्रों को भुलाया नहीं जा

सकता है। साथ ही यह भी सत्य है कि बिहारी सतसई ऐसे क्रियाकलापमय चित्रों से भरपूर है। ये क्रियाकलाप प्रायः विभाव या अनुभाव रूप में है। इसके साथ-साथ ऐसे भी दोहे है जिनमें भाव प्रत्यक्ष हुआ है। दो-एक उदाहरण देखे जा सकते हैं:—

छला छबीले लाल को, नवल नेह लहि नारि।
चूमति, चाहति, लाइ उर, पहिरति धरति उतारि॥
नासा मोरि, नचाइ दृग, करि कका की सौंह।
कांटे सी कसकै हिये, गड़ी कटीली भौंह॥

इन दोहो में प्रेम (रति) भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति है जो नाटकीय विशेषता के साथ प्रत्यक्ष होती है। भाव के इस प्रकार के प्रत्यक्षीकरण के अनेक उदाहरण मिलते है। इसके साथ-ही-साथ घटनाओ को सजीव रूप में स्पष्ट करने वाले दोहे भी बिहारी सतसई मे अनेक है, जैसे .—

कुंज भवन तजि भवन को, चलिये नन्दकिसोर।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहु ओर॥
घर घर तुरकिनी हिन्दुनी, देत असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी, तै राखी जय साहि॥
अहे दहेडी जिनि धरे, जिनि तू लेहि उतारि।
नीकै है छींकौ छुवे, ऐसे ही रहि नारि॥

इन समस्त उदाहरणो से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि बिहारी के काव्य में नाटकीय विशेषता विद्यमान है जो उसे इतना प्रभावशाली बनाती है।

मुक्तक काव्य में इस नाटकीय विशेषता को लाने के लिए भाषा पर अधिकार चाहिए और यह मानना पडेगा कि बिहारी को वह अधिकार विलक्षण रूप से प्राप्त है। उन्होने इसी अधिकार से जगमगाती शब्द-योजना एव उक्ति-वैचित्र्य का सम्पादन किया था। सतसई के सात सौ दोहो में ही उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द-भडार विशाल है। ठेठ ग्रामीण शब्दो से लेकर उत्कृष्ट साहित्यिक शब्दावली का प्रयोग सतसई में हुआ है और दोनो ही प्रकार की प्रयुक्त शब्दावली में एक मोहक आभा और रमणीयता विद्यमान है।

बिहारी ने अपने शब्दो के बहुविध प्रयोग से वैचित्र्य-सम्पादन किया है। कही तो वह पुनरुक्ति रूप में है और कहीं अनेकार्थी शब्द-प्रयोग के रूप में। कही विरोध द्वारा वैचित्र्य है, तो कही असगति का चमत्कार है। उदाहरणार्थ :—

सालति है नटसाल सों, क्यों हू निकसति नांहि।
मनमथ नेजा नोक सी, खुभी खुभी जिय मांहि॥
हरि हरि बरि बरि उठति है, करि करि थकी उपाइ।
वाको जुरु बलि बेद जो, तो रस जाइ तु जाइ॥

औरै ओपु कनीनिकनु, गनी घनी सिरताज।
मनौ घनी कै नेह की बनी छनी पट लाज॥
खेलन सिखये अलि भले, चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैन मृग, नागर नरन सिकार॥

बिहारी के शब्द-प्रयोग के साथ-साथ शब्द-मैत्री, वर्ण-मैत्री, वर्णावृत्ति आदि के चमत्कार भी उनके दोहों में एक चमक भर देते हैं और बहुत से लोग उनके काव्य पर इन्हीं विशेषताओं के कारण लट्टू हैं। इसमें सन्देह नही कि ये विशेषताये सर्व-प्रथम प्रभाव डालती हैं और यदि इस वर्ण-शब्द-सौष्ठव के साथ-साथ अर्थगत विशेषता भी हुई तो काव्य की उत्कृष्टता असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाती है। जैसे :–

सायक सम मायक नायन, रंगे त्रिविध रग गात।
झखौं बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात॥

उपर्युक्त दोहे में यक और जल जात शब्दो के विविध प्रयोगो का चमत्कार है। अर्थ के अतिरिक्त शब्द का भी विलक्षण आकर्षण है। परन्तु इससे भी कठिन ट जैसे वर्णों की आवृत्ति का चमत्कार है। इसका भी एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

लटकि लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट को छाँह।
चटक भर्‌यो नटु मिलि गयो अटक भटक बट माह॥

उपर्युक्त कोमला और परुषा वृत्तियों के साथ एक उपनागरिका का उदाहरण तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है :—

रस सिंगारु मंजनु कियें, कजनु भजनु देन।
अजन रजन हू बिना, खजन गजन नैन॥

यह बिहारी की वर्णो एव शब्दो की योजना विशिष्ट चमत्कार की साधन है। बिहारी के अनुकरण पर अब इसी प्रकार का चमत्कार दो-एक दोहो मे दिखा लेना और बात है पर हिन्दी काव्य में प्रारम्भिक सतसई ग्रन्थो में उपर्युक्त चमत्कार लाना बिहारी की मौलिकता है। शब्द-प्रयोग के प्रसग में बिहारी का शब्द-निर्माण भी बड़ा वैशिष्ट्यपूर्ण है। दोहे के साचे में ढालने के लिये तथा वर्ण-मैत्री और शब्द-संक्षेप की आवश्यकतावश बिहारी ने शब्दों के नवल रूपो की रचना की है जैसे, झुलमुली, टलाटली, चितचटपटी, उड़ाइक, सायक (सायकाल का सक्षेप), कैबा (कै बार का संक्षेप), रचौहै (रचने वाले), लगौहै, चोरटी, गोरटी, बड़बोली आदि।

ऐसी बात नहीं कि बिहारी ने शब्दों को विकृत न किया हो। अर (अड़), बर (बल), नट साल, रोज (रोजा), अनही चितै, मोषु (मोक्ष), संक्रोनु (संक्रमण), ककै (करिकै), असोह (अशोष्य), मुत्तिय (मौक्तिक) आदि अनेक उदाहरण

बिहारी द्वारा प्रयुक्त विकृत शब्दों के दिये जा सकते हैं। अतः भाषा की दृष्टि से भी बिहारी की सतसई का अध्ययन बड़ा मनोरंजक है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में डा० रामसागर त्रिपाठी ने बिहारी का अध्ययन एक मुक्तककार कवि के रूप में किया है। मुक्तक काव्य की समृद्धि भारतीय परम्परा है। परन्तु उसके बीच भी बिहारी का स्थान अति उच्च है। वे संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ मुक्तककारों के बीच शीर्ष स्थान के अधिकारी हैं। मुक्तक की विविध विशेषतायें तो बिहारी के दोहों में विद्यमान हैं ही; उनके दोहो में मुक्तक के विविध प्रकारो के सुन्दर उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। विद्वान् लेखक ने इसे भली भाति सिद्ध किया है।

यद्यपि बिहारी की रचना में अलंकार, रस, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि, आदि सभी के सुन्दर से सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते है ; परन्तु, लेखक ने उसे ध्वनि-प्रधान रूप में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उसका प्रतिपादन युक्ति-संगत होता हुआ भी, इस स्थापना में मतभेद हो सकता है। फिर भी लेखक के प्रमाण पुष्ट है, क्योंकि ध्वनिवादी कहने पर ही बिहारी की रचना का बहुविध गौरव और महत्त्व अधिक स्पष्ट होता है, अलंकार या रसवादी कहने पर नहीं। क्योंकि ध्वनि के भीतर इनका स्वतः एवं उत्कृष्ट रूप में समावेश है।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध विद्वत्ता एवं मौलिकता—दोनो ही प्रकार की विशेषताओं से गौरवान्वित है। अध्ययन की इसी प्रकार की परम्परा में डा० त्रिपाठी द्वारा और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा, इसकी हमें आशा है। साथ ही विश्वास है कि इस ग्रन्थ का विद्यार्थियों एवं विद्वानो के द्वारा आदर होगा।

वसन्त पंचमी
२०१६ वि०

भागीरथ मिश्र
एम०ए०, पी-एच०डी०
रीडर, हिन्दी-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

विषय-सूची

प्राक्कथन पृष्ठ १ से १६ तक

बिहारी विषयक साहित्य का विस्तार। बिहारी विषयक साहित्य का वर्गीकरण। बिहारी पर पद्यात्मक व्याख्याये। गद्य टीकाये। स्वतन्त्र आलोचनायें। बिहारी विषयक साहित्य की सीमाये। बिहारी परक आलोचना का उपेक्षित अंश। प्रस्तुत रचना का विषय विभाजन। प्रस्तुत रचना की मौलिकता। आभार प्रदर्शन। उपसहार।

प्रथम खण्ड : मुक्तक-काव्य परम्परा

प्रथम अध्याय पृष्ठ १७ से ४५ तक

मुक्तक-काव्य और उसका प्रारम्भिक रूप। मुक्तक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ। मुक्तक शब्द के कोष-गत विभिन्न अर्थ। मुक्त तथा मुक्तक शब्द के विभिन्न अर्थ तथा उनके आधार पर मुक्तक-काव्य की सामान्य विशेषताओ का अध्ययन। मुक्तक का प्रवृत्तिविषयक अनुसन्धान। मुक्तक का क्षेत्र तथा उसके उपभेद। मुक्तक-काव्य सकलन। प्रारम्भिक मक्तक सग्रह—ऋग्वेद तथा अथर्ववेद। ऋग्वेद की प्रधानता तथा सक्षिप्त परिचय। ऋग्वेद का साहित्यिक महत्त्व। ऋग्वेद का शाखा-भेद तथा प्राप्य सहिता। ऋग्वेद का साहित्यिक अध्ययन। ऋग्वेद का साहित्यशास्त्रीय अध्ययन। ऋग्वेद का धार्मिक दृष्टि से एक अध्ययन। ऋग्वेद का सूक्ति-काव्य की दृष्टि से अध्ययन। ऋग्वेद में दान स्तुतिया। ऋग्वेद का चित्र काव्य। ऋग्वेद के साहित्यिक सूक्तो का वर्गीकरण, विभाजन तथा अवान्तर प्रकार। उपसहार।

द्वितीय अध्याय पृष्ठ ४६ से १३७ तक

रसात्मक मुक्तक। काल विभाजन। प्रथम चरण प्रकृति-काल—वैदिक काव्य, थेरी गाथा, थेर गाथा, नान्दी और अनुयोगदार। द्वितीय-चरण—प्राकृत काल। इस काल की राजनैतिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, कवि जीवन, कवि सम्मेलन, निष्कर्ष। परिस्थिति का काव्य से सम्बन्ध। शृगार रस की प्रधानता के मनोवैज्ञानिक कारण। शृगार रस की प्रधानता के काव्य-शास्त्रीय कारण। द्वितीय-चरण की सामान्य विशेषताये। प्रकृति-काव्य। नर-काव्य। निष्कर्ष। द्वितीय-चरण की प्रमुख रचनाये—गाथा सप्तशती, ऋतु-संहार, अमरुकशतक, चौर-

पञ्चाशिका, मयूराष्टक, आर्यासप्तशती। संग्रह ग्रन्थों में उल्लिखित कवि। मेघदूत के आदर्श पर लिखे हुए मुक्तक। स्त्री कवयित्रियां। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के मुक्तक। तृतीय-चरण—भक्ति-काल, सामाजिक स्थिति। धार्मिक स्थिति। भक्ति के विकास में बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का प्रभाव, जैन-धर्म का प्रभाव, इस्लाम-धर्म का प्रभाव। दार्शनिक स्थिति। निष्कर्ष। भक्ति-काल की सामान्य विशेषताये। इस काल के प्रमुख कवि। कृष्ण काव्य की बृहत्त्रयी—जयदेव, विद्यापति, सूरदास। कृष्ण काव्य के दूसरे कवि—परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्ददास, छीतस्वामी, मीरा, रसखान, हितहरिवंश। दूसरे कवियों की रचनाओं में कृष्ण-काव्य की छाप। आलम्बनेतर विषयक काव्यकार—तुलसीदास, दूसरे कवि। पुरानी परम्परा के कवि—गग, रहीम, सेनापति, केशव, अन्य कवि। निष्कर्ष।

तृतीय अध्याय **पृष्ठ १३८ से २०६ तक**

रसेतर मुक्तक। धार्मिक मुक्तक, सामान्य परिचय। पौराणिक स्तोत्र, बाणभट्ट, मयूर, शकर, पञ्चस्तवी। कालिदास के नाम पर प्रसिद्ध स्तोत्र, आनन्द-वर्धन, अन्य स्तोत्रकार, जैन-स्तोत्र, बौद्ध-स्तोत्र, स्तोत्र-साहित्य का सिंहावलोकन। हिन्दी धार्मिक परम्परा, विद्यापति, सूरदास, तुलसी, निष्कर्ष। सूक्ति-काव्य, वैदिक सूक्तिया, ब्राह्मण-ग्रन्थो में सूक्तिया, उपनिषदो में सूक्तिया, पुराणो में सूक्तिया, बौद्ध-जैन-आगम साहित्य में सूक्तियां, नवीन शैली की सूक्तिया। भर्तृहरि, शकराचार्य जी, जैन-धर्म सम्बन्धी सूक्ति-मुक्तक। दिगम्बर अमितगति के मुक्तक-ग्रन्थ। हेमचन्द्र तथा उनके समय के कवि। सोमप्रभसूरि, सग्रह-ग्रन्थ। फुटकर मुक्तको पर एक दृष्टि। बौद्ध-साहित्य में सूक्ति-मुक्तक। सिल्हण, क्षेमेन्द्र, अप्पयदीक्षित, नीलकण्ठ दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ। कथा-सूत्र के माध्यम से सूक्ति लिखने वाले कवि—दामोदर गुप्त, क्षेमेन्द्र, अमितगति तथा हेमचन्द्र, अपभ्रंश के सूक्ति-मुक्तक, हिन्दी सूक्ति-मुक्तक। निष्कर्ष। प्रशस्ति मुक्तक, ऋग्वेद इत्यादि में प्रशस्तियां, भोज-प्रबन्ध, राजेन्द्र कर्णपूर। रुद्र कवि कृत भाव-विलास, पण्डितराज जगन्नाथ, हिन्दी प्रशस्ति मुक्तक। अपभ्रंश तथा डिंगल में प्रशस्तिया। करणीश बन्दीजन तथा दूसरे कवि। निष्कर्ष। प्रथम-खण्ड का उपसंहार।

द्वितीय खण्ड : बिहारी का विशेष अध्ययन

प्रथम अध्याय **पृष्ठ २०९ से २३७ तक**

बिहारी का समय। सामयिक परिस्थितियों का कवि-मानस पर प्रभाव। राजनैतिक स्थिति। मुगल काल की शासन व्यवस्था। आमेर के राजघराने का मुगल बादशाहों से संबन्ध। बिहारी का राजनैतिक दृष्टि-कोण। बिहारी की वाणी में विशिष्ट राजनैतिक घटनाओं का प्रतिफलन। बिहारी के अप्रस्तुत विधानों में

प्राक्कथन

बिहारी उन महाकवियो[1] में एक हैं जिन्हे अपने जीवनकाल में ही या उसके कुछ ही बाद कवियों के कवि बनने का सुयोग प्राप्त हो जाता है। अपने रचना-काल से ही बिहारी-सतसई कवियो, आलोचको और व्याख्याकारो का आकर्षण-केन्द्र रही है। अनेक कवियो ने बिहारी के दोहो पर कुंडलियां लगाई, कई कवियों ने बिहारी के दोहों पर कवित्त-सवैया बद्ध व्याख्यात्मक अनुवाद किये। संस्कृत ग्रथों के हिन्दी में कई एक अनुवाद हुए थे, किंतु यह सौभाग्य केवल बिहारी-सतसई को ही प्राप्त हुआ, कि सस्कृत में भी उसका अनुवाद किया गया। यह अनुवाद दोहाबद्ध भी है, और सस्कृत-पद्यबद्ध भी। इसके अतिरिक्त फारसी में भी बिहारी-सतसई का अनुवाद हुआ। व्याख्याओ की जितनी भरमार बिहारी-सतसई पर हुई है उतनी संभवतः हिन्दी-साहित्य के किसी ग्रथ पर नही हुई। आधुनिक-काल के प्रारम्भिक चरण में जब आलोचना साहित्य का हिन्दी में प्रथम पदार्पण हुआ, उस समय पत्र-पत्रिकाओं तथा आलोचनात्मक ग्रथो में सबसे अधिक बिहारी की ही समीक्षा की गई। यह तो बिहारी पर प्रत्यक्ष साहित्य लिखने की बात हुई, इसके अतिरिक्त अनेक कवियों ने सतसई के आदर्श पर नये सतसई-ग्रंथ लिखे, और रीतिकाल के प्रायः सभी शृंगारिक कवियो ने सतसई से भाव लेकर अपनी रचनाएं प्रस्तुत करने की चेष्टा की। सक्षेप में बिहारी परवर्ती अनेक कवियों के उपजीव्य बन गये।

बिहारी के विषय में जितना भी साहित्य लिखा गया है, उसे हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—(१) पद्यात्मक व्याख्यायें, जिनमें फारसी और सस्कृत के अनुवाद भी सम्मिलित है, (२) टीका-ग्रंथ, (३) स्वतत्र आलोचनाये जिनमें पत्र-पत्रिकाओ के लेख, इतिहास, ग्रंथों के परिचयात्मक लेख और स्वतत्र पुस्तकें सम्मिलित है।

(अ) बिहारी पर पद्यात्मक व्याख्यायें :—

(१) पठान सुल्तान की कुण्डलियां-बद्ध टीका :—शिवसिह सरोज में इनका पूरा नाम सुल्तान मुहम्मद खां लिखा है। ये राजगढ भूपाल के नबाव थे। कहा जाता है कि इन्होने पूरी बिहारी सतसई पर कुंडलिया लगाई थी। किन्तु यह ग्रंथ

१. आनन्दवर्धन ने ध्वनि की महत्ता के आधार पर महाकवित्व के निर्णय का आदेश दिया है, इस प्रकार बिहारी महाकवि हैं।—ध्वन्यालोचन, प्रथम उद्योत।

उपलब्ध नही होता। बिहारी-विहार की भूमिका में केवल ५ कुडलिया लिखी है। रत्नाकर ने 'कविवर बिहारी' में लिखा है कि उन्होने ५ कुंडलिया और सुनी थी। इसके अतिरिक्त यह ग्रथ अभी तक उपलब्ध नही हो सका है।

(२) **कृष्ण कवि की प्रबन्ध-बद्ध टीका** —कृष्ण कवि जयपुराधीश सवाई जयसिंह के समय में वर्तमान थे। इन्होने बिहारी-सतसई पर कवित्त और सवैया बनाकर सतसई के दोहो को स्पष्ट करने की चेष्टा की। इस टीका से बिहारी के आशय को समझने में बडी सहायता मिलती है। कवित्त-सवैयो के साथ कवि ने दोहो की छन्दगत विशेषता, दशा, बोद्धव्य और नायिका-भेद भी दे दिया है। यह एक उपयोगी टीका है।

(३) **अमर चन्द्रिका** —सवत् १७९४ में विजयदशमी गुरुवार को सूरतिमिश्र द्वारा रची गई यह दोहाबद्ध टीका उच्चकोटि की नही कही जा सकती। इसमे दोहो का अर्थ दोहो में ही खोलने की चेष्टा की गई है, जिससे अर्थ के समझने मे बडी उलझन पडती है। दोहो में ही शका-समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

(४) मिश्रबन्धु विनोद में बिहारी सतसई की एक पद्यात्मक टीका का उल्लेख किया गया है और उसका रचना-काल सवत् १८५० के आस-पास दिया गया है। किन्तु यह ग्रथ अभी तक उपलब्ध नही हो सका है।

(५) **नबाव जुल्फिकारअली की कुडलियां**.—सवत् १८७३ के आस-पास इस ग्रथ की रचना हुई थी। इन कुडलियो में बिहारी के दोहा-गत अर्थ को अधिक बढाकर कहने की चेष्टा की गई है। वस्तुत ये कुडलिया दोहो का पल्लवनमात्र हैं। इनसे दोहो का अर्थ समझने में विशेष सहायता नही मिलती है।

(६) मिश्रबन्धु-विनोद मे सवत् १९१० के आस-पास लिखी हुई ईश्वरी-प्रसाद कायस्थ की कुडलिया-बद्ध टीका का उल्लेख किया गया है।

(७) **रस-कौमुदी**–अयोध्या-निवासी श्री जानकीप्रसादजी उपनाम रसिक-बिहारी ने बिहारी के ३१६ दोहो का विस्तार कवित्त-सवैयो में किया था। ये कवित्त-सवैये सामान्यतया अच्छे है। इस टीका का रचना-काल सवत् १९२७ है।

(८) शिवसिह सरोज में २०वी शताब्दी के मध्य की लिखी हुई उप सत-सैया नामक टीका का उल्लेख किया गया है। इसके रचयिता का नाम गगाधर लिखा है। इस टीका में सतसई का तिलक कुंडलिया तथा दोहो मे बनाया कहा जाता है।

(९) पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने भी 'बिहारी-विहार' में प्रत्येक दोहे पर एक या अधिक कुंडलिया लगाई है। इनकी कविता सामान्यतया अच्छी तथा पाण्डित्यपूर्ण है।

(१०) **बिहारी-सुमेर**—यह टीका साहबजादा बाबा सुमेरसिह की लिखी हुई बतलाई जाती है। बिहारी-विहार में लिखा है कि यह टीका अपूर्ण है, किन्तु

रत्नाकर ने लिखा है कि बाबा सुमेरसिह ने यह टीका उन्हें स्वयं दिखलाई थी और उस समय 'सभवत:' पूरी थी। इसमें बिहारी के दोहों पर कुंडलियां लगाई गई हैं। बिहारी विहार में इनकी ८ कुंडलिया दी गई हैं।

(११) **गुलदस्तए-बिहारी**—मुंशी देवीप्रसाद जी 'प्रीतम' ने बिहारी के दोहो का उर्दू शेरों में अनुवाद किया। उर्दू में हिन्दी शब्दों का वेखटके प्रयोग इन शेरों की एक बहुत बडी विशेषता है। दोहे के विस्तृत अर्थ को उर्दू शेरों में समेटने में मुशी जी को पर्याप्त सफलता मिली है।

(१२) **गुलजारे-बिहारी**—रत्नाकर ने लिखा है कि उर्दू शेरों में इस नाम का एक अनुवाद राधेश्याम प्रेस बरेली मे प्रकाशित हुआ था। रत्नाकर ने इसे स्वयं नही देखा था, किन्तु इसका उल्लेख गुल्दस्तये-बिहारी में किया गया था। अनुमानत: इसका अनुवाद गुल्दस्तये बिहारी के ढग पर लिखा गया होगा। गुल्दस्तये-बिहारी में कवि का नाम नही दिया गया है।

(१३) **आर्यागुम्फ-टीका**—काशीराज के प्रधान कबि श्री हरिप्रसाद जी ने आर्यागुम्फ नाम की टीका लिखी। इसका समय १८३७ के आस-पास का है। इस टीका में बिहारी के दोहो का सस्कृत आर्या-छन्दो में सफल अनुवाद किया गया है।

(१४) **शृंगार सप्तशती**—यह टीका संवत् १९२५ में लिखी गई थी। ग्रथ में ही ग्रंथकार ने अपने विषय में जो कुछ कहा है उससे अवगत होता है कि ग्रथकार का नाम परमानन्द था, पिता का नाम ब्रजचन्द्र तथा पितामह का नाम मुकुन्दभट्ट था। इन्होने बिहारी के दोहो का संस्कृत दोहो में अनुवाद किया और अपने बनाये हुए सस्कृत दोहो की सस्कृत में ही मल्लिनाथी शैली पर टीका भी की है और साथ ही अलंकार इत्यादि का भी विवेचन किया है। कवि ने आश्चर्य-जनक सफलता के साथ हिन्दी दोहों को संस्कृत में परिवर्तित किया है।

(१५) **सवैया-छन्द**—यह टीका ईश्वर कवि की लिखी हुई है। ग्रथ में टीकाकार का परिचय दिया हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि ग्रंथकार को अनेक विषयों का ज्ञान था, तथा इसने छोटे-बडे २७ ग्रंथों की रचना की थी। बिहारी-सतसई के प्रत्येक दोहे का एक सवैये में अनुवाद किया गया है। इन्होंने अपनी सवैया-छन्द नामक टीका कृष्ण कवि के आदर्श पर बनाई थी। किन्तु इसमें कवि को अधिक सफलता नही मिली। इस टीका से दोहो का अर्थ समझने में कुछ भी सहायता नही मिलती। टीकाकार ने अपनी समझ के अनुसार बिहारी का भाव सवैया छन्द में भरने की चेष्टा की है।

इसके अतिरिक्त कुछ कुण्डडियां भारतेन्दु बाबू के नाम पर भी प्रसिद्ध हैं जिनका उल्लेख बिहारी-विहार की भूमिका में किया गया है।

(आ) गद्य टीकाएं:—

बिहारी-सतसई पर गद्य-टीकाओं की अत्यधिक भरमार है। कुछ टीकायें

उपलब्ध होती है और कुछ का केवल परिचय ही अधिगत होता है। बिहारी की प्रमुख टीकाओं का परिचय नीचे दिया जा रहा है :—

(१) बिहारी-सतसई की सर्वप्रथम टीका रत्नाकर के अनुमान के अनुसार स० १७१६ वि० में लिखी गई थी। रत्नाकर ने लिखा है कि यह टीका सभवतः कृष्णलाल की बनाई हुई है, जिसका उल्लेख लालचन्द्रिका में किया गया है। इस टीका में वक्ता और बोद्धव्य का निर्देश कर अर्थ-मात्र लिख दिया गया है। अलकार निर्देश की चेष्टा नही की गई है। भाषा अधिकतर अस्पष्ट है।

(२) **मानसिंह की टीका** :—इसकी रचना उदयपुर के महाराणा राजसिंह के निर्देश पर सं० १७३२ के आस-पास की गई। यह टीका सामान्य कोटि की है और साधारण अवतरण के साथ दोहे का अर्थमात्र दे दिया गया है।

(३) **अनवर चन्द्रिका** :—यह टीका १७७१ में नवाब अनवर खा के तत्त्वावधान में लिखी गई थी। इसके लेखक सम्भवतः शुभकरण और कमलनयन थे। इस टीका मे प्रकरण तथा काव्य-शास्त्रीय निर्देश-मात्र किया गया है। टीकाकारो ने अर्थ के स्पष्टीकरण की भी आवश्यकता नही समझी।

(४) **साहित्य-चन्द्रिका**—यह टीका पन्ना वाले कर्ण कवि की रची हुई है। इसका रचना-काल १७६४ बतलाया जाता है। यह टीका अनवर-चन्द्रिका के आदर्श पर काव्य शास्त्रीय निर्देश करती है। साथ ही अनवर-चन्द्रिका की इस सबसे बडी कमी की पूर्ति भी इससे हो जाती है कि इसमें अर्थ के स्पष्टीकरण की भी चेष्टा की गई है।

(५) **रस-चन्द्रिका**—यह टीका स० १८०६ में अनवर गढ के छत्रसिंह के अनुरोध से ईसवी खां नामक किसी व्यक्ति ने बनाई थी। यह टीका अर्थ समझने की दृष्टि से उच्चकोटि की है और यथाशक्ति इसमे काव्य-शास्त्रीय निर्देश भी दिये गये है।

(६) **हरिप्रकाश की टीका**—यह टीका १९वी शती के मध्य में हरि नामक किसी कवि के द्वारा लिखी गई थी। यह टीका भी उच्चकोटि की है। यह टीका मतसई-मर्मज्ञो के लिये बड़ी उपयोगी है।

(७) **सतसैया वर्णार्थ टीका**—इस टीका को सवत् १८६१ में ठाकुर कवि ने बाबू देवकीनन्दन की प्रसन्नता के लिये बनाया था। इस टीका को वर्णार्थ-प्रकाशिका तथा देवकीनन्दन की टीका भी कहते है। टीका के नामकरण से ही अवगत होता है कि टीकाकार ने सतसई के प्रत्येक वर्ण का अर्थ लिखने का प्रयत्न किया है। अवतरण देकर अर्थ को अधिक से अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। आवश्यकतानुसार प्रश्नोत्तर रूप में भी अर्थ को समझाया गया है और स्थान-स्थान पर साहित्यशास्त्रीय निर्देश भी कर दिये गये है।

(२) सर जार्ज ग्रियर्सन ने लालचन्द्रिका की भूमिका में मुक्तक-काव्य परम्परा तथा बिहारी-विषयक दूसरे तत्त्वों पर अच्छा प्रकाश डाला है और परवर्ती व्याख्याकारों तथा बिहारी के पाठको और विचारको ने इस भूमिका का पर्याप्त आश्रय लिया है।

(३) **सञ्जीवन भाष्य की भूमिका**—यह पृथक् पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई है और भाष्य के प्रथम भाग के रूप में प्रसिद्ध है। इसमे श्री पद्मसिह जी शर्मा ने सस्कृत, हिन्दी तथा दूसरी भाषाओ के कवियो से बिहारी की तुलना प्रस्तुत की है जो कि अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है, किन्तु इसमें शर्मा जी का बिहारी के प्रति अनुचित पक्षपात व्यक्त होता है। इसमें बिहारी की प्रतिभा और पाण्डित्य की प्रशसा की गई है और सतसई का सौष्ठव स्थापित किया गया है। 'सतसई सहार' शीर्षक से पण्डित ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की टीका की मखौल उडाई गई है, तथा एक लेख में बिहारी पर मिश्रबन्धुओ द्वारा लगाये गये दोषो का निराकरण करने की चेष्टा की गई है। इस भूमिका मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित है।

बिहारी के विषय में आलोचनात्मक निबन्धो और पुस्तको की रचना का सूत्रपात मिश्रबन्धुओ के हिन्दी नव-रत्न से हुआ। हिन्दी नव-रत्न मे नौ कवियों की आलोचना प्रस्तुत की गई और काव्य-सौदर्य के तारतम्य के आधार पर उनके स्थान निर्धारित किये गये। इसमे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि कवि देव को तृतीय और बिहारी को चतुर्थ स्थान दिया गया। इससे साहित्य-जगत् में एक क्रान्ति सी मच गई। वास्तविकता यह थी कि अभी तक रसिक-वर्ग का ध्यान देव के काव्य-सौष्ठव की ओर गया ही नही था। अतएव आलोचको को यह बात कुछ विचित्र सी जान पडी, और पूर्ण शक्ति से एक ओर देव की अपेक्षा बिहारी को अच्छा सिद्ध किया जाने लगा तथा दूसरी ओर (मिश्रबन्धुओ द्वारा) देव को अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने की चेष्टा की जाने लगी। इस दिशा में तत्कालीन सरस्वती पत्रिका ने विशेष कार्य किया। मिश्रबन्धुओ के अतिरिक्त अन्य उच्चकोटि के विद्वान् बिहारी के पक्ष में ही थे। यहा तक कि आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में इसी प्रसग को लेकर लिख दिया कि "कवियो की विशेषताओ के मार्मिक निरूपण की आशा से जो इस पुस्तक को खोलेगा उसे निराश ही होना पडेगा।"

पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने सञ्जीवन-भाष्य की अपनी भूमिका में मिश्रबन्धुओं के प्रतिवाद के लिये ही बिहारी को हिन्दी, सस्कृत, उर्दू अरबी, फारसी इत्यादि के सभी कवियो से अधिक अच्छा सिद्ध करने की चेष्टा की। यद्यपि पद्मसिह शर्मा की आलोचना वाह-वाही से भरी है तथापि उससे प्रगाढ पाडित्य भी अभिव्यक्त होता है, इसमें सदेह नही। पण्डित कृष्णविहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखकर देव को बडा सिद्ध किया। इस पुस्तक में शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों कवियो की रचनाओं की युक्ति-युक्त तुलना

की गई है। 'देव और बिहारी' पुस्तक का उत्तर लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' में दिया। लालाजी ने मिश्रबन्धुओ और कृष्ण-बिहारी मिश्र के आक्षेपो का पूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। अच्छा ही हुआ कि तुलनात्मक आलोचना की यह भद्दी प्रवृत्ति यही पर रुक गई।

पत्र-पत्रिकाओ के लेखो, इतिहास-ग्रंथों के परिचयो और निबन्धो के अतिरिक्त बिहारी पर कई एक आलोचनात्मक पुस्तके प्रकाशित हो चुकी है, जिनमें कतिपय पुस्तको के नाम नीचे दिये जा रहे है :—

१—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर—कविवर बिहारी।
२—श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र—बिहारी की वाग्विभूति।
३—श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र—बिहारी।
४—श्रीमती कमला गर्ग—बिहारी वैभव।
५—श्री भारत-भूषण सरोज—बिहारी।
६—श्री मिश्रबन्धु—बिहारी सुधा।
७—श्री मुरलीधर श्रीवास्तव—बिहारी की काव्य-साधना।
८—श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'—कविवर बिहारी।
९—श्री रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'—बिहारी-दर्शन।
१०—डा० रामरतन भटनागर—बिहारी : एक अध्ययन।
११—श्री लोकनाथ द्विवेदी—बिहारी-दर्शन।
१२—श्री हरदयालुसिह—बिहारी-विभव।

बिहारी-विषयक साहित्यिक सामग्री का यही सक्षिप्त परिचय है।

बिहारी-विषयक साहित्य की सीमायें

बिहारी के दोहो को लेकर जो कुण्डलियां, सवैया, घनाक्षरी, कवित्त इत्यादि लिखे गये हैं उनसे हम बिहारी के विषय में कुछ अधिक ज्ञात करने की आशा ही नही कर सकते। इनमें केवल बिहारी के आशय को चमत्कारोत्पादन के साथ समझने-समझाने की चेष्टा की गई है और रसास्वादन ही उन ग्रन्थों का मुख्य मन्तव्य रहा है। यही बात भाषान्तर के अनुवादो के विषय में भी कही जा सकती है। प्रारम्भ में कुछ लेखको ने सक्षिप्त भूमिका लिखकर बिहारी के जीवन इत्यादि के सम्बन्ध में यत्किंचित् विचार भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। सस्कृत पद्यानुवाद करके जहा व्याख्या भी साथ में दी गई है उनमें अलकारशास्त्रीय विवेचन भी उपलब्ध होता है। यही बात दूसरी टीकाओं के विषय में भी कही जा सकती है। टीकाओं में कही-कही प्रश्नोत्तर के रूप में शंका-समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है और कही-कही अलंकारशास्त्रीय विवेचन भी दिया गया है। अलंकारो का ही अधिक विस्तार है, शेष नायिका-भेद इत्यादि का संकेत मात्र कर दिया गया है। ध्वनि-काव्य की दृष्टि से तो सम्भवतः बहुत ही कम विचार हुआ है। अलंकार-

विषय में भी कही जा सकती है। इसे हम मुक्तक-काव्य परम्परा ही कह सकते हैं, क्योकि लक्षण-ग्रथों में उदाहरण अधिकतर मुक्तक-काव्य के आधार पर ही दिये गये है।

रत्नाकर ने 'कविवर बिहारी' नामक पुस्तक में बिहारी के दो दोहाबद्ध जीवन-चरित्रो का उल्लेख किया है।[1] इसके देखने से ज्ञात होता है कि बिहारी बहुत समय तक शाहजहा बादशाह के दरबार में रहे थे। यह वह समय था, जबकि पडितराज जगन्नाथ शाहजहा के यहा रहते थे। पडितराज को भी शाहजहा के दरबार में लाने का श्रेय जयपुर के महाराज जयसिह को ही प्राप्त है। कहा जाता है कि बिहारी ने अपने भान्जे को पडितराज के द्वारा शिक्षा दिलवाई थी। इससे सिद्ध होता है कि बिहारी पडितराज के सम्पर्क में अवश्य आये होगे और उन्होने उनकी रचना रस-गगाधर का भी परिचय अवश्य प्राप्त किया होगा। पडितराज ने दावा किया है कि उदाहरणानुरूप काव्य की रचना कर मैंने काव्य-शास्त्र का विवेचन किया है, उसमें मैने दूसरे का कुछ भी नही रखा है। यद्यपि बिहारी ने ऐसा कोई दावा तो नही किया है, किन्तु इनकी रचना को देखने से यह धारणा दृढ हो जाती है कि बिहारी ने भी पडितराज का पदानुसरण कर अपने दोहो की रचना उदाहरण के मन्तव्य से ही की थी। पडितराज ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्य है और बिहारी की रचना से भी यही सिद्ध होता है। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल प्रभृति विद्वानो ने बिहारी को रीति-ग्रन्थकारो में स्थान दिया है। प्रस्तुत रचना के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत अविवक्षितवाच्य, विवक्षित वाच्य, सल्लक्ष्य-क्रम तथा असल्लक्ष्य-क्रम सभी प्रकार की ध्वनिया आ जाती है। साथ ही रसध्वनि के उपकरण नायक-नायिका भेद, सहचर, नायिकाओ के अलकार, विभिन्न प्रकार के अनुभाव, सचारी भाव, भाव की अनेक प्रकार की ध्वनिया, इन सबका विस्तृत अध्ययन किया गया है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि बिहारी सतसई में सभी प्रकार के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। प्रारम्भ में लक्षण-शास्त्र का परिचय देकर शास्त्रीय पद्धति पर बिहारी के दृष्टिकोण का विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में अलकारशास्त्र की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन किया गया है। अनेक टीका-ग्रन्थो मे बिहारी के अलकारो का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। अतएव अलकारो का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। इस विषय मे अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं समझी गई।

पचम अध्याय में वस्तु-मूलक परम्परा की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार शास्त्र-मूलक परम्परा के अन्तर्गत सभी प्रकार के ध्वनि-काव्य के भेद तथा अग-प्रत्यग बिहारी की रचना में अधिगत हो जाते है उसी प्रकार वस्तु-मूलक परम्परा के भी भेदोपभेद इस रचना में पूर्ण रूप से प्राप्त हो

१. रत्नाकर-लिखित कविवर बिहारी—प्रकरण ७।

जाते है। इस अध्ययन में वस्तु-मूलक परम्परा के उन चारो भेदोपभेदो का सम्बन्ध बिहारी में दिखलाया गया है, जिनका विवेचन प्रस्तुत निबन्ध के प्रथम खण्ड मे किया गया है। षष्ठ अध्याय भाषा के सम्बन्ध में है। इसमें दो दृष्टिकोणो से विचार किया गया है—भाषा की शुद्धि और भाषा की रमणीयता। ब्रजभाषा में बिहारी के समय तक मनमानी चल रही थी। एक ही शब्द को अकारान्त, आकारान्त, उकारान्त, इकारान्त कैसा भी लिख लिया जाता था। ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व कर लेना तो एक मामूली सी बात थी। बिहारी ही पहले कवि थे, जिन्होने पहले पहल ब्रजभाषा के परिमार्जित रूप को अपने हृदय में अकित कर उसके अनुसार ही प्रयोग किया। इनकी विभक्तियो में मनमाना प्रयोग नही पाया जाता है। यहा तक कि इन्होने तुकबन्दी के लिये भी दीर्घ का ह्रस्व और ह्रस्व का दीर्घ नही किया है। अतएव बिहारी की भाषा पृथक् अनुसधान का विषय है। रत्नाकर ने इसपर पर्याप्त कार्य किया था और उनका विचार इस प्रकार का निबन्ध प्रस्तुत करने का था। किन्तु काल के कठोर प्रहार से उनकी यह आकाक्षा स्वप्न होकर ही रह गई। प्रस्तुत अध्याय में बहुत ही सक्षेप में बिहारी द्वारा मान्य सुबन्त, तिङन्त और कृदन्त रूपो पर प्रकाश डाला गया है। बिहारी का भाषा-व्याकरण लिखने में रत्नाकर से पर्याप्त सहायता ली गई है। अध्याय के अन्तिम भाग में भाषा की रमणीयता पर भी सक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। निबन्ध का अन्तिम अध्याय आलोचनात्मक अध्ययनपरक है। इसमें बिहारी की प्रतिभा और निपुणता, बिहारी के काव्य के उपजीव्य, दोषदर्शन और बिहारी का हिन्दी साहित्य में स्थान-निर्णय इत्यादि प्रस्तुत किया गया है। यही इस निबन्ध का सक्षिप्त विषय-विभाजन है।

प्रस्तुत रचना की मौलिकता

प्रस्तुत रचना को तैयार करने में लेखक ने स्वच्छन्द रूप से मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त तत्सम्बन्धी दूसरे ग्रन्थो की पूरी सहायता ली है। लेखक इन समस्त ग्रन्थकारो का आभारी है। किन्तु प्रस्तुत रचना की अन्तरात्मा सर्वथा मौलिक है। प्रस्तुत रचना की मौलिकता के विषय में निम्नलिखित कतिपय निर्देश किये जा सकते है :—

१—अनेक विद्वानो ने ऋग्वेद को प्रथम मुक्तक-सकलन माना था, किन्तु उसका काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से अभी तक अध्ययन नही हुआ था। ऋग्वेद का काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन और उसके ५ प्रकार के प्रवृत्ति-निमित्तो का अनुसंधान सर्वथा नया है जो कही अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता।

२—रसात्मक मुक्तको को आदि, मध्य तथा अन्त इन कालक्रमों में विभाजित कर इनके कारणो तथा परिस्थितियो का अध्ययन ग्रन्थ की दूसरी मौलिकता है।

३—बिहारी में सभी प्रकार की प्रवृत्तियों के समवाय का अध्ययन सर्वथा मौलिक है, जो अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता है।

४—इतिहास की पूरी पृष्ठ भूमि में बिहारी का अध्ययन और उसके प्रभाव के तारतम्य का विश्लेषण प्रस्तुत रचना की चौथी मौलिकता है।

५—प्रस्तुत रचना में बिहारी को ध्वनिवादी सिद्ध किया गया है। यह भी नवीन अनुसधान पर ही आधारित है।

६ - बिहारी का लक्षण-शास्त्र के दृष्टिकोण से अनेक विद्वानो ने अध्ययन किया था। किन्तु ये अध्ययन बिहारी में विभिन्न शास्त्रीय तत्त्वों के दर्शाने तक ही सीमित थे। बिहारी के आधार पर सभी प्रकार की ध्वनिसम्बन्धी विशेषताओ का अध्ययन अभी तक नही हुआ था। प्रस्तुत रचना में काव्य-शास्त्रीय तत्त्वो का विवेचन करके बिहारी के उदाहरणो से उनकी सगति बैठाई गई है। ग्रन्थ का मूल प्रवृत्ति-निमित्त यही है। उदाहरणो की सगति के लिये प्रत्येक लक्षण को पूर्ण रूप से तोलने की चेष्टा की गई है और दूसरे आलोचको तथा व्याख्याताओ के निर्देशो पर भी पूर्ण रूप से विचार किया गया है। आलोचना का यह शास्त्रीय दृष्टिकोण सर्वथा नवीन है। बिहारी के विषय में ही नही, किसी अन्य कवि के विषय में भी अभी तक इस प्रकार की शैली में आलोचना लेखक के देखने में नही आई।

प्रस्तुत रचना रीतिकाल की प्रारम्भिक रचना बिहारी-सतसई पर पूर्ण प्रकाश डालती है और बिहारी से पूर्व मुक्तक-सम्पत्ति का सर्वांगीण परिचय प्रदान करती है। यदि पाठकगण इसमें भारतीय मुक्तक-साहित्य-जगत् की विभिन्न काल की विभिन्न परिस्थितियो और विशेषताओ का चित्र प्राप्त कर सकेंगे, यदि मुक्तक-काव्य जगत् की महनीय कृति बिहारी सतसई की पृष्ठभूमि का ठीक परिचय प्राप्त हो सकेगा तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

अन्त मे लेखक उन समस्त ग्रन्थकारो का आभार प्रदर्शित करना अपना कर्त्तव्य समझता है, जिनके ग्रन्थो से प्रस्तुत रचना में सहायता ली गई है। इस दिशा में सबसे अधिक प्रेरणा आदरणीय डा० नगेन्द्र जी की[1] पुस्तको से प्राप्त हुई है। पूज्य डा० महोदय का अधिनिबन्ध 'रीति-काव्य की भूमिका तथा देव और उनका काव्य' ही प्रस्तुत रचना का आदर्श रहा है और निबन्ध को दो खण्डो में विभाजित करने की प्रेरणा उक्त पुस्तक से ही प्राप्त हुई है। मै रीति-ग्रन्थो को भी अनेक कारणो से मुक्तक-काव्य परम्परा की मूल प्रवृत्तियो का परिचायक ही मानता हू। उक्त पुस्तक में रीति-ग्रन्थो और तत्सम्बन्धी विषयो की परम्परा का परिचय दिया जा चुका था। वस्तुमूलक परम्परा का अनुसन्धान अभी तक नही हुआ। अतएव उसी का अनुसन्धान इस रचना के प्रथम खण्ड में प्रस्तुत करके विहारी में उन दोनों परम्पराओ का समन्वय दिखलाया गया है। इसके अतिरिक्त श्री डा० महोदय द्वारा सम्पादित लक्षण-शास्त्रीय अन्य ग्रन्थो से भी पर्याप्त सहायता ली गई

---

१. इस दिशा में लेखक स्वर्गीय श्री रत्नाकर जी तथा लोकनाथ जी द्विवेदी का भी नितान्त आभारी है। इन महानुभावों की रचनाओं से भी लेखक ने पर्याप्त लाभ उठाया है।

है। श्री डा० त्रिगुणायत जी के प्रति आभार प्रदर्शित करना मानो उनके सौहार्द का मूल्य चुकाना है। वे ही इस निबन्ध के निर्देशक रहे हैं और उनकी अनुकम्पा ही प्रस्तुत निबन्ध में मूर्तिमती हो गई है। उनके विवेक तथा सौहार्दपूर्ण पथ-प्रदर्शन के अभाव में प्रस्तुत निबन्ध सम्भव ही नही था। मै इस दिशा में डा० भगीरथ जी मिश्र तथा श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र का अन्तस्तल से आभारी हू जिन्होने अपना बहुमूल्य समय देकर प्रस्तुत रचना को व्यवस्थित रूप देने में बहुत बडा योगदान दिया है। उक्त महानुभावो की रचनाओ से भी लेखक ने पर्याप्त लाभ उठाया है। श्री डा० रमाशकर जी शुक्ल रसाल का भी वरदान तथा निर्देशन लेखक को प्राप्त हुआ है। तदर्थ लेखक श्री शुक्ल जी का भी नितान्त आभारी है। अमरोहा जैसे छोटे नगर मे टाइप की असुविधा भी एक बहुत बडी समस्या थी। इस दिशा में मुझे मेरे ही शिष्य श्री वीरेन्द्र नाथ जी शुक्ल से बहुत बडी सहायता मिली है। उन पर मेरा अधिकार है और मेरा आशीर्वाद सदा उनके साथ है। मैं अशोक प्रकाशन के सञ्चालक महोदय श्री जगदीश चन्द्र जी गुप्त का भी अन्तस्तल से आभारी हूं, जिन्होने आशातीत शीघ्रता के साथ प्रस्तुत निबन्ध के प्रकाशन का कार्य सम्पन्न किया। प्रूफ रीडिग तथा मूल प्रतिशोधन में मेरे पितृव्य-पुत्र श्रीरामशरण जी त्रिपाठी ने मेरा बहुत अधिक हाथ बटाया है। प्रकाशन में कुछ असुविधाओ का सामना करना पडा है। बिहारीके दोहो में चन्द्रबिन्दु यथास्थान नही लगाये जा सके क्योकि प्रकाशक के अनुसार उतनी मात्रा में चन्द्रबिन्दु प्रेस में विद्यमान नही थे। एतदर्थ मै अपने सहृदय पाठको से क्षमा प्रार्थना करता हूं। बिहारी के दोहो का क्रम भी एक सा नही है। अतएव उद्धृत दोहो पर संख्या डालना उचित नही समझा गया। जहां कही कथन के सक्षिप्तीकरण के लिये किसी दोहे को बिना ही उद्धृत किये उसका आशय दे दिया गया है, वहा रत्नाकर की टीकावाली क्रमसख्या का ही सकेत कर दिया गया है।

अन्त में सहृदय पाठको से निम्नलिखित श्लोक निवेदित कर मै अपना वक्तव्य समाप्त करता हू —

न चात्रातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते॥

प्रथम-खण्ड

मुक्तक-काव्य परम्परा

जयन्ति ते पञ्चमनादमित्र-
चित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु ।
सरस्वती यद्वदनेषु निय-
माभाति वीणामिव वादयन्ती ।।

\+ + +

तन्त्री नाद, कवित्त-रस, सरस राग, रति रंग ।
अनबड़े बड़े, तरे जे बूड़े सब अंग ।।

प्रथम अध्याय

मुक्तक-काव्य और उसका प्रारम्भिक रूप

मुक्तक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ—मुक्त शब्द से सज्ञा में कन्[1] होकर मुक्तक शब्द निष्पन्न हुआ है। मुक्तक शब्द में निष्ठार्थक 'क्त' प्रत्यय है जो भूतकाल में कर्म कारक में हुआ करता है[2] और फलाश्रय के समानाधिकरण[3] विशेषण का प्रत्यायन कराता है। अतएव विशेषण से सज्ञा की निष्पत्ति के लिए कन् जोडा गया है। इस निष्पत्ति के अनुसार इस शब्द की व्युत्पति होगी—मुच्यते स्मेति मुक्तम्, मुक्तम् ह्रस्व द्रव्य मुक्तकम् अर्थात् मुक्तक उस द्रव्य का नाम है जो छोडा जा चुका हो और जिसका कलेवर छोटा हो।

मुक्तक शब्द के विभिन्न अर्थ—मुक्तक शब्द के विभिन्न कोष-ग्रन्थो में निम्नलिखित अर्थ प्राप्त होते है :—

१. एक विशेष प्रकार का अस्त्र जो फेककर मारा जाता हो[4]।
२. फेककर मारा जानेवाला कोई अस्त्र[5]।
३ एक प्रकार का गद्य जिसमें समास का प्रयोग बिलकुल न हो या अत्यल्प मात्रा में हो[6]।
४. कविता का एक चरण।
५. छन्दो का एक विशेष प्रकार।
६. एक प्रकार का काव्य जो पूर्वापर-निरपेक्ष स्वतःपर्यवसित पद्य तक सीमित हो।

मुक्तक शब्द का काव्य के साथ समास करने पर प्रथम दो अर्थों का स्वतः निरास हो जाता है। चतुर्थ तथा पचम अर्थ छन्द:शास्त्र सम्बद्ध है। अतः इन्हे हम काव्यो के प्रकारो में सन्निविष्ट नही कर सकते। शेष दो अर्थ वृत्तगन्धोज्झित गद्य और स्वत पर्यवसित एक पद्य-गत काव्य, काव्य से सम्बद्ध होते हैं। समास-विरहित गद्य, गद्य साहित्य का सर्वाधिक रमणीय प्रकार है और वैदर्भी रीति का प्रमुख लक्षण है। किन्तु यह शैली का ही एक विशेष प्रकार है। और काव्य-भेदों में इसकी गणना समीचीन नही कही जा सकती। दूसरी बात यह है कि इस भेद का

---

१. संज्ञायाम् कन् ५।३।८७
२. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाःपा.सू. ५।३।८७
३. निष्ठा पा. सू. ३।२।१०२
४. शब्द रत्नाकर
५. संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी
६. साहित्य दर्पण उल्लास ६

साहित्य में न तो अधिक प्रचलन ही हुआ और न गद्य साहित्य के भेदोपभेदो में इसका परिगणन ही किया जाता है।

प्रधानतया मुक्तक काव्य का प्रयोग पूर्वापर-निरपेक्ष स्वतःपर्यवसित काव्य के लिये होता है। मुक्त शब्द से निष्पन्न होने के कारण यह शब्द इस अर्थ में सर्वथा उपयुक्त भी है।[1] केशव-कृत शब्द कल्पद्रुमकोश मे मुक्त शब्द के निम्न-लिखित अर्थ दिये हुए हैं :—

विना कृतं विरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम्।
भिन्नं स्यादथ निर्व्यूहे मुक्तं योवातिशोभन. ॥

यहा पर विनाकृत विरहित व्यवच्छिन्न विशेषित और भिन्न अर्थ लगभग एक ही हैं। इन अर्थो से आपाततः सिद्ध हो जाता है कि जो काव्य अर्थ-पर्यवसान के लिए परापेक्षी न हो वह मुक्तक कहलाता है। प्रबन्ध काव्य मे अर्थ का पर्यवसान प्रबन्धगत होता है। इसके प्रतिकूल मुक्तक काव्य में प्रबन्ध की अपेक्षा नही होती। निर्व्यूह शब्द भी इसी अर्थ का परिचायक है। निर्व्यूह शब्द का अर्थ है पूरा किया हुआ। पूर्ण होने के कारण स्वत.पर्यवसित पद्य गत-काव्य में मुक्तक सज्ञा सगत हो जाती है शेष दो अर्थ विशेषित और अतिशोभन विशेष ध्यान देने योग्य है। रसचर्वणा या चमत्कृति प्रबन्ध में केवल एक पद्य में अपेक्षित नही होती और न प्रबन्ध काव्य का प्रत्येक पद्य 'रसप्रवण तथा चमत्कृति-प्रधान हुआ करता है। किन्तु मुक्तक काव्य में रस की समस्त विशेषताये और चमत्कृति के सारे उपकरण एक ही पद्य में अपेक्षित होते है। अतएव विशेषित अर्थ की सगति मुक्तक काव्य के साथ बैठ जाती है। इसी प्रकार रमणीयता काव्य का प्रधान धर्म और काव्यत्व का प्रमुख परिचायक है। अतिशोभन इस अर्थ से मुक्तक काव्य की इसी विशेषता का परिचय प्राप्त होता है। मुक्त शब्द के दो अर्थ और है—प्राप्त-मोक्ष तथा आनन्दित। इसी मुक्त की सज्ञा मुक्तक है। यदि इन समस्त अर्थों की सगति बिठाई जावे तो मुक्तक का अर्थ होगा—ऐसा पद्य जो परतः निरपेक्ष रहते हुए पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ हो, काव्य के लिए अपेक्षित चमत्कृति इत्यादि विशेषताओ से युक्त हो, अपनी काव्यगत विशेषताओ के कारण जो आनन्द देने में समर्थ हो, जिसका गुम्फन अत्यन्त रमणीय हो और जिसका परिशीलन ब्रह्मानन्द-सहोदर रसचर्वणा के प्रभाव से हृदय की मुक्तावस्था को प्रदान करनेवाला हो। निस्सन्देह ये सभी गुण प्रबन्ध काव्य तथा नाटको में भी अपेक्षित होते है। किन्तु रसमयता तथा चमत्कृति उनमें प्रबन्ध-व्यापिनी होती है। प्रबन्ध काव्य में न तो सभी पद्य रसमय ही होते हैं और न सर्वत्र उनमें चमत्कृति ही उपलब्ध होती है। उनमें हृदय की मुक्तावस्था का अधिगम प्रबन्ध के द्वारा होता है। और प्रबन्ध में नीरस पद्य भी सरस पद्यो में सन्निविष्ट होकर सरसता सम्पादन के कारणीभूत हो जाते है। वस्तुतः प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक में रसोपनिबन्ध और चमत्कृति-सम्पादन अधिक दुष्कर होता है। प्रबन्ध मे

१. केशव कृत शब्द-कल्पद्रुमकोश

पात्र परिचित होते हैं। उनके विषय में हमारी एक धारणा बन जाती है। उनका नाम तथा उनकी उपस्थिति ही हमारे किसी विशेष रसास्वादन में निमित्त हो जाती है। दूसरी बात यह है कि महाकाव्य, खंडकाव्य, आख्यायिका, नाटक इत्यादि में यदि कथानक का निपुणतापूर्वक निर्वाह किया जावे तो पढ़नेवाले का मन कथा के रस में निलीन हो जाता है और गुण-दोष पर अधिक विचार नहीं करता। प्रबन्ध काव्य में कथानक वशीकरण होता है। हमारे अन्दर निरन्तर कौतूहल भावना जागृत रहने के कारण और परिणाम जानने के लिये उत्सुक होने से हमारी चित्तवृत्तिया सम्मुख आए हुए दोषो पर इतना ध्यान नही देती ; यदि अनिच्छा से ही कोई दोष दृष्टिगत हो जावे तो परिणाम ज्ञान की आकुलता में हम एक दम आगे बढ़ जाते हैं और काव्यगत गुण-दोषों पर सामूहिक रूप में ही विचार करते हैं ऐसे काव्यों में यदि थोड़ से भी पद्य अच्छे बन पड़ें और उनमें ही रसपरिपाक पूर्णता को प्राप्त हो जाये तो हम समस्त प्रबन्ध की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करने लगते हैं। ऐसे प्रबन्धान्तर्वर्ती सैकडो नीरस पद्यो की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता। इसके प्रतिकूल मुक्तक में प्रत्येक पद्य स्वतन्त्र होता है। पद्य के छोटे से कलेवर में ही रस की सारी सामग्री जुटानी पडती है। पाठकों के मन पर पात्रो का कोई प्रभाव पहले से अकित नही रहता। रसान्वेषण—लोलुप मन केवल एक ही पद्य में व्यासक्त हो जाता है। वहा कथा उपष्टम्भक नही होती। मुक्तक में हम किसी दोष की, उपेक्षा नही कर सकते जब कि प्रबन्ध में कथा के प्रवाह में पडकर हम साधारण दोषों की ओर ध्यान भी नही देते। मुक्तक में प्रत्येक शब्द पर हमारा ध्यान जाता है जब कि प्रबन्ध में कतिपय पद्यो की सुन्दरता से ही प्रबन्ध चमचमा उठता है और अनेक शब्द क्या सैकडो पद्य भी हमारी उपेक्षा का विषय बन जाते है। शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार का जो अनुसन्धान मुक्तक में किया जाता है वह प्रबन्ध में नही इस प्रकार अतिशोभन, ब्रह्मानन्दन, मोक्षप्रापण और निर्मुक्तता ये गुण मुक्तक में ही प्रधान होते हैं और इसी आधार पर इसका नामकरण किया गया है। आचार्य शुक्ल ने मुक्तक के विषय में लिखा है . "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नही रहती जिसमें कथा-प्रसग में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। इसमें तो रस के जैसे छीटे पडते है जिनसे हृदय की कलिका थोडी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसीलिये सभा-समाजो के लिये वह अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यो द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नही होता बल्कि एक रमणीय खड दृश्य इसी प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा-सा स्तबक कल्पित करके उन्हे अत्यन्त सक्षिप्त और सशक्त भाषा में कल्पित करना पडता है। अत: जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में अधिक सफल होगा।"

मुक्तक का प्रवृत्ति विषयक अनुसन्धान—वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से मन्त्र संहिता में काव्य शब्द का अनेक बार प्रयोग आया है किन्तु काव्य के उपभेदों का कहीं भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः वैदिककाल में प्रबन्ध काव्य का प्रचलन ही नहीं हुआ था और मुक्तक को ही काव्य की सज्ञा प्राप्त थी। वैदिककाल में सभी काव्य मुक्तक ही थे और उसके उपभेद करने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई थी। निरुक्त और व्याकरण की महत्त्वपूर्ण रचनाओं में काव्य के अनेक अगो का उल्लेख पाया जाता है किन्तु कहीं भी प्रबन्ध और मुक्तक के विभाजन का सकेत नहीं मिलता।

अलंकार शास्त्र का कोई अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ अधिगत नहीं होता। अलकार शास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थ जो कि हमें इस समय उपलब्ध होते है केवल दो है—भामह का काव्यालंकार और दण्डी का काव्यादर्श। नाट्य शास्त्र कुछ पहले की रचना है। किन्तु इसे हम अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ नहीं कह सकते। यद्यपि नाट्य शास्त्र में भी अलंकारों का विवेचन हुआ है तथापि यह विवेचन इसी सिद्धान्त को मान कर किया गया है कि ऐसा कोई शास्त्र नहीं होता जिसका सम्बन्ध नाट्य शास्त्र से न हो। वस्तुतः अत्यन्त प्राचीन काल में काव्य शास्त्र और नाट्य शास्त्र ये दो पृथक्-पृथक् शास्त्र माने जाते थे। काव्य में अलकारो को प्रमुखता प्राप्त थी और नाट्य में रस को। यद्यपि काव्य में रसों पर भी विचार किया जाता था और रसवत् इत्यादि अलंकारों को रस इत्यादि की सत्ता मात्र से ही स्वीकार कर लिया जाता था, इसी प्रकार नाट्य में वाणी के भूषण के रूप में अलकारो को भी स्वीकार किया जाता था तथापि दोनों एक ही हैं, यह बात उस समय तक आचार्यों ने स्वीकृत नहीं की थी और न दोनों के एकीकरण की चेष्टा की गई थी। प्राचीन शास्त्रो और इन लक्षण ग्रन्थो में काव्य शास्त्र के अनेक आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु इन प्राचीन ग्रन्थो का पता अभी तक नहीं चलाया जा सका है। अतएव यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि अत्यन्त प्राचीन काल में प्रबन्ध और मुक्तक जैसा कोई विभाजन स्वीकृत था या नहीं।

भामह और दण्डी के ग्रन्थो मे इस प्रकार का विभाजन पाया जाता है। किन्तु इन ग्रन्थो को देखने से अवगत होता है कि उस समय तक इन आचार्यो को काव्य-भेदों की कोई स्थिर तथा सर्वजन-सम्मत परम्परा नहीं प्राप्त हुई थी। दण्डी ने स्फुट काव्य को मुक्तक सज्ञा प्रदान की है जबकि भामह ने इसे अनिबद्ध काव्य कहा है। इसी प्रकार भामह जिसे महाकाव्य कहते है, दण्डी उसे सर्गबन्ध की सज्ञा प्रदान करते है।[1] इससे प्रकट होता है कि ये सज्ञायें उस समय तक स्थिरता को प्राप्त नहीं हो सकी थी। दण्डी स्वय मुक्तक काव्य की वास्तविक सीमा और उसके वास्तविक स्वरूप के विषय में कुछ भ्रान्त से प्रतीत होते हैं। इन्होने सर्वथा स्फुट असम्बद्ध काव्य को मुक्तक सज्ञा प्रदान न कर प्रबन्धान्तर्गत किसी एक पद्य को मुक्तक कहा

१. काव्यादर्श—प्रथम प्रकरण

है।[1] इसीलिये उसकी पृथक् परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है काव्य में अलंकारों की प्रधानता थी और नाट्य में रस की। किन्तु अलकार शब्द आभूषण का वाचक है और आभूषणों को कभी आत्मा नहीं माना जा सकता। अलकार सर्वथा बाह्य होते है, हम उन्हें आभ्यन्तर कभी नहीं कह सकते। इसीलिये कुछ आचार्यों ने नाट्य के अनुकरण पर काव्य में भी रस का ही आत्मत्व अंगीकृत किया। इन आचार्यों के विचार से नाट्य रस के समान काव्य रस शब्द का प्रयोग भी असंगत नहीं कहा जा सकता। काव्य में भी नाट्य के समान ही विभाव, अनुभाव और सचारी भाव के द्वारा पुष्ट होकर स्थायी भाव रस-रूपता को धारण कर सकता है। नाट्य में अनुभाव अभिनेय होते हैं किन्तु काव्य में वे वर्ण्य हो जाते हैं। ज्ञात होता है कि काव्य की आत्मा के रूप में रस अथवा अलकार को स्वीकार किये जाने के पक्ष और विपक्ष में बहुत समय तक विवाद चलता रहा होगा और दोनों ओर बहुत-सी युक्तियां दी जाती रही होगी। मुनि ने अग्निपुराण में जो निष्कर्ष निकाला है और दोनो पक्षो में जो सामजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है उससे इस विवाद की व्यापकता ध्वनित होती है। मुनि ने महाकाव्य के विषय मे लिखा है :—

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। (३३७-३३)

अर्थात् यह मानने में आपत्ति नहीं हो सकती कि काव्य में वाग्वैदग्ध्य (अलकार) ही प्रधान है। तथापि महाकाव्य का जीवन तो रस को ही मानना पडेगा। इससे स्पष्ट है कि मुनि ने वैदग्ध्य भगी भणिति को काव्य में प्रधान मान कर उन लोगों की ओर सकेत किया है जो काव्य की आत्मा अलकार को ही मानते हैं। दूसरी ओर रस को काव्य का जीवन मान कर इस बात का परिचय दिया है कि उस समय तक काव्य में भी रस की अपरिहार्यता अगीकृत की जा चुकी थी। उसी को उन्होने काव्य-जीवन के रूप में सिद्धान्तित किया था। किन्तु मुक्तक में भी रसमयता हो सकती है इस ओर मुनि का ध्यान नहीं गया था और मुक्तक का लक्षण करते हुए उन्होंने उसमें चमत्कार को अपरिहार्य मान लिया :—

मुक्तकं श्लोक एकवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्। (३३७—३६)

अर्थात् मुक्तक एक ही श्लोक को कहते है जो सहृदयो में चमत्कार का आधान करने में समर्थ हो। स्पष्ट ही है कि मुनि के सामने मुक्तक की रसमयता का प्रश्न ही नहीं था। हाँ, उनके ग्रथ से इस बात का पता अवश्य चलता है कि इस समय तक मुक्तक की स्वतन्त्र सत्ता अवश्य मानी जा चुकी थी और मुक्तक केवल सर्ग बन्धांश के रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं था।

मुक्तक की रसमयता की ओर सर्वप्रथम ध्वनिकार ने सकेत किया था। उन्होंने लिखा है —

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बद्धु मिच्छता।

१. मुक्तकं कुलकं कोषः संघात इति यत्पुनः। सर्गबद्धांशरूपत्वादनुक्तः पथविस्तरः।

यहा पर मुक्तक का प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक रूप में हुआ है और आलोककार आनन्दवर्धन ने मुक्तक के विषय में लिखा है—"**तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम् ..... अन्यत्र कामचारः ॥**"[1] अर्थात प्रबन्धो के समान मुक्तको में भी कवि का अभिनिवेश रसबन्ध के विषय में हो तो उस रस के अनुकूल औचित्य का पालन कवि को वहां पर भी करना चाहिये। यदि कवि के अन्दर इस प्रकार का रसबन्धन का अभिनिवेश न हो तो स्वेच्छा से कवि किसी प्रकार के औचित्य का पालन कर सकता है। किन्तु इतने से ही आलोककार को सतोष नही हुआ। मुक्तक में भी रस हो सकते हैं उन्हे यह बात विशेष रूप से कहनी पडी—"**मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव।**"[2] अर्थात् देखा जाता है कि जिस प्रकार काव्यो में सामग्री के संयोग से कवियो का अभिनिवेश रसबन्ध में होता है उसी प्रकार मुक्तको में भी हुआ करता है। जैसे अमरुक कवि के मुक्तक प्रबन्ध के समान रसप्रवण प्रसिद्ध ही है।

साहित्य शास्त्र में ध्वनिकार, आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त का वही स्थान है जो व्याकरण में पाणिनि, कात्यायन और पतजलि का है।[3] इन आचार्यों के प्रतिपादन के बाद यह बात निर्भ्रान्त रूप में स्वीकृत कर ली गई कि नाट्य तथा प्रबन्ध के समान मुक्तक में भी रसाभिनिवेश सम्भव है इस प्रकार नाट्य और प्रबन्ध के बहुत बाद मुक्तक में रस की सत्ता अगीकृत की गई। बाद के आचार्यो ने मुक्तक के लक्षण को एक पद्य में अर्थ की परिसमाप्ति तक ही सीमित कर दिया। परवर्ती लक्षण-ग्रन्थो में जहा कही मुक्तक की परिभाषा की गई है वहा केवल इतना ही कह दिया गया है कि जो पद्य अर्थ की समाप्ति में स्वतन्त्र हो, उसे मुक्तक कहते है।

मुक्तक का क्षेत्र तथा उसके उपभेद—मुक्तक का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। कविता का प्रथम परिस्फुरण मुक्तक से ही होता है। आचार्य वामन ने लिखा है कि अनिबद्ध रचना में सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद में ही निबद्ध रचना में सिद्धि मिलती है। ...कतिपय कवि मुक्तक रचना तक ही अपने को सीमित रखना चाहते है, यह ठीक नही है। अग्नि के प्रथम परमाणु की भांति मुक्तक रचना कभी चमकती नही।" वामन के मत में मुक्तक के स्फुट कलेवर में काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाशन नही हो सकता। मुक्तक प्रबन्ध का एक सोपान मात्र है। उसकी सार्थकता इसी में है कि उसकी रचना के द्वारा प्रबन्ध-रचना में नैपुण्य प्राप्त हो। राजशेखर ने भी मुक्तक को प्रबन्ध की अपेक्षा गौण स्थान दिया है। उनका कहना है—

---

१. ध्वन्यालोक—तृतीय उद्योत, पृ० ३९० २. उसी पर लोचन टीका
३. P. V. Kane.

मुक्तके कवयोऽनन्ताः प्रबन्धे कवयः शतम् ।
महाकाव्ये तु कविरेको द्वौ दुर्लभास्त्रय । (का० मी० अ० १०)

अर्थात् मुक्तक रचनाकार असख्य कवि होते है, प्रबन्धकार एक समय में केवल सौ ही मिल सकते हैं, महाकाव्यकार एक समय में केवल कोई एक या दो हो सकते है तीन का मिलना तो कठिन ही है। वामन और राजशेखर की इस स्थापना में इतना सत्य तो अवश्य है कि महाकाव्य में जीवन का पूरा चित्र रहता है और मुक्तक में किसी क्षणिक स्थिति या मनोदशा का। अत. प्रबन्ध का प्रभाव मुक्तक की अपेक्षा अधिक व्यापक और अधिक स्थायी होता है। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से एक सीमा तक मान्य होते हुए भी यह सिद्धान्त तत्त्वतः निर्दुष्ट नही है। इसमे सदेह नही कि मुक्तक में विस्तार के अभाव में व्यापकता का समावेश सम्भव नही। परन्तु उसकी एकाग्रता शीघ्र ही तीव्रता की सृष्टि कर सकती है और काव्य में व्यापकता की अपेक्षा तीव्रता का मूल्य कम नही है। व्यापक जीवन का विस्तार यदि भव्य है तो स्पन्दित जीवन की भव्यता भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही। यदि वनस्थली की अपनी शोभा है तो पुष्प-गुच्छ की अपनी शोभा भी पृथक् ही है।

सामान्यतया मुक्तक के क्षेत्र में स्वमात्र-विश्रान्त वे समस्त पद्य आ जाते है जो किसी प्रबन्ध का अग न हो और रमणीयता का सम्पादन करने में समर्थ हो। रमणीयता का सम्पादन दो प्रकार से हो सकता है—१ विभावादि के सयोग से स्थायी भाव का रसरूपता को धारण करना एक प्रकार है और (२) वैदग्ध्य भंगी भणिति के द्वारा लोकवृत्त का अभिधान दूसरा प्रकार है। प्रथम प्रकार रसात्मक मुक्तक के नाम से अभिहित किया जा सकता है और दूसरा प्रकार सूक्ति या सुभाषित मुक्तक के नाम से। रसात्मक शब्द उपलक्षण है, इसके अन्तर्गत हृद्गत भावनाओ से सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्रकार के मुक्तक आ जाते हैं। भावना का आलम्बन प्रकृति भी हो सकती है, परमात्मा की सत्ता भी हो सकती है और कोई दिव्य शक्ति भी हो सकती है। इस प्रकार जहा रसात्मक मुक्तको में विभिन्न रसो से सम्बन्ध रखनेवाले स्वतत्र पदो का समावेश हो जाता है वहा भगवद्भक्ति, स्तोत्र, प्रकृति काव्य तथा राज-विषयक रति का भी समावेश हो जाता है। किन्तु रसात्मक मुक्तक की सज्ञा केवल उन्ही पद्यो को प्राप्त हो सकती है जिनमें किसी भाव की अभिव्यक्ति हो। मानव अथवा प्रकृति के प्रति जो रति भाव होता है उसका अभिव्यक्ति का मन्तव्य भावाभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ और नही होता। इसके प्रतिकूल स्तोत्र साहित्य में देवताओ को सतुष्ट कर उनसे कुछ प्राप्त करना ही मन्तव्य होता है। इसी प्रकार राजविषयक रति में भी झूठी प्रशसा के द्वारा राजा लोगो का यशोगान कर उन्हे सतुष्ट करना ही लक्ष्य रहता है।

प्राचीन साहित्य में देवविषयक रति और राजविषयक रति में भावाभिव्यक्ति के स्थान पर चमत्कारपूर्ण उक्तियो का अधिक प्राधान्य था। ये पद्य एक ओर भावाभिव्यक्ति की ओर झुके हुए थे और दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण

उक्तियों की ओर। अतएव न तो इन्हे रसात्मक मुक्तको में सन्निविष्ट कर सकते है और न सूक्तियो में। ये मुक्तक मध्यम मार्ग का अवलम्बन करनेवाले हैं। अतएव इनको दोनो से वाह्य पृथक् श्रेणी में रखना ही समीचीन होगा। इस प्रकार मुक्तको को हम वस्तु की दृष्टि से चार भागो में विभक्त कर सकते है :—

(१) **रसात्मक मुक्तक**—इनमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावसधि भावोदय, भावशान्ति और भावशबलता इत्यादि भाव से सबध रखनेवाले सभी प्रकारो का समावेश हो जाता है। भाव मानव-विषयक भी हो सकता है और प्रकृति विषयक भी।

(२) **धार्मिक मुक्तक**—इनमे देवविषयक रति से सम्बन्ध रखनेवाले सभी मुक्तक सन्निविष्ट हो जाते है। वैदिक ऋचायें, पौराणिक स्तोत्र तथा बौद्ध और जैन स्तोत्र इन धार्मिक मुक्तको मे आ जाते है।

(३) **प्रशस्ति मुक्तक**—इनमें राजाओ तथा दूसरे आश्रयदाताओं की दानशीलता, वीरता और सौन्दर्य-वर्णन के पद्य सन्निविष्ट हो जाते है।

(४) **सूक्ति मुक्तक**—इनमें भाव आस्वादन का विषय नही बनते अपितु चमत्कार ही उपास्य होता है। इनमें उक्ति वैचित्र्य के द्वारा सालकार अथवा निरलकार वस्तु अभिव्यक्त की जाती है। इनमें कल्पना की उडान, ऊहोक्ति, वर्णन-वैचित्र्य या शब्दार्थ-वैचित्र्य प्रधान तत्त्व माने जाते है।

माध्यम की दृष्टि से भी मुक्तक काव्य के दो भेद किये जा सकते है, पाठ्य मुक्तक और गीति मुक्तक। पाठ्य मुक्तक में कवि अपनी ही अनुभूति को सरस बनाकर सहृदय पाठक को रसमग्न कर देता है। स्वानुभूति निरूपिणी कविता मे जब कवि अपनी भावनाओ की मधुरिमामयी व्यजना करता है और उसकी अनुभूति तीव्रतर हो जाती है तब उसमें संगीतात्मकता फूट पडती है। सुख और दु.ख के भावातिरेक के कारण कवि के अन्त करण के स्वत प्रेरित उद्गार ही गीति का रूप धारण कर लेते है। दूसरे शब्दो में कवि के हृदय की मार्मिक अनुभूतियो का सगीतात्मक चित्र ही गीतिकाव्य है। राजशेखर के मुक्तक के उपभेद उक्त वर्गीकरण मे ही गतार्थ हो जाते है।

मुक्तक काव्य संकलन—मुक्तक काव्य सकलन के दो भेद प्रसिद्ध है—कोष और सघात। कोष की परिभाषा करते हुए साहित्य दर्पण में लिखा है—

कोष श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षक.।
व्रज्याक्रमेण रचितः स एवाति मनोरम ॥[1]

अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा न रखनेवाले पद्यो के समूह को कोष कहते है। यदि कोष की रचना व्रज्या क्रम से हो तो वह कोष बडा ही मनोरम बन जाता है। मुक्तक सकलन दो प्रकार के प्राप्त होते हैं—कुछ संकलन तो अक्रम होते हैं और कुछ में किसी क्रम अथवा व्रज्या का सहारा ले लिया जाता है। साहित्यदर्पण के टीकाकारो ने व्रज्या दो प्रकार की बतलाई है एक तो जिसमें एक जाति के पद्यो का

१. साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद।

एकत्र सकलन किया जाता है चाहे वह वर्ण्य-विषय के आधार पर हो चाहे छन्द की दृष्टि से हो। दूसरे प्रकार की व्रज्या वर्णानुक्रम से होती है। व्रज्याक्रम से घटित कोष-ग्रन्थ अच्छा माना जाता है क्योकि इसमें एक तो विषय तथा छन्द के निरन्तर परिवर्तन न होने से बुद्धि विच्छेद नही होता और एक ही स्थान पर एक विषय का पूर्ण आस्वादन हो जाता है। कोष के लिये यह अनिवार्य नियम नही है कि उसके अन्दर आने वाले सभी पद्य एक कवि के ही लिखे हुए हो। अनेक कवियो के लिखे हुए पद्यो का सकलन भी कोष की सज्ञा प्राप्त कर सकता है। दूसरे प्रकार का मुक्तक सकलन सघात कहलाता है। इसके लिये यह अनिवार्य नियम है कि यह एक ही कवि का लिखा हुआ हो। सम्पूर्ण संकलन में केवल एक ही वृत्त हो और सम्पूर्ण सकलन इस दृष्टि मे किया गया हो कि उससे एक कथा समाप्त हो जावे। मेघदूत, वृन्दावन इत्यादि काव्य-सकलनो को विद्वानो ने सघात काव्य माना है—

यत्र कविरेकमर्थं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये।
सघात स निगदितो वृन्दावनमेघदूतादि।

(काव्यादर्श की नृसिंहदेव कृत टीका)

काव्यादर्श के टीकाकार श्री रगाचार्य जी ने लिखा है कि सघात काव्य वही हो सकता है जिसमे कथावस्तु कल्पित हो। यदि कथावस्तु लोक-प्रसिद्ध हो तो उसे परिकथा की सज्ञा प्राप्त होती है। हम सूर सागर इत्यादि सकलनो को परिकथा की सज्ञा प्रदान कर सकते है।

प्रारम्भिक मुक्तक संग्रह[1]

सभ्यता के अरुणोदय काल में हमें दो महान् मुक्तक सग्रह उपलब्ध होते है एक है ऋग्वेद और दूसरा अथर्ववेद।[2] ऋग्वेद धनिकवर्ग, अधिकारियो, राजा-महाराजाओ और सुसस्कृत सामाजिको का प्रतिनिधि है तथा अथर्ववेद सर्वसाधारण जनता की तथा निम्न वर्ग की रीति-नीति और सामाजिक व्यवस्था का दिग्दर्शन कराता है।[3] शेष दो वेद साम और यजु. ऋग्वेद से ही कुछ पद्यो को लेकर गीति तथा ऋतु के आधार पर क्रमबद्ध

---

१. काव्य शास्त्र में काव्य के जो भेदोपभेद गिनाये गये है और उनमें जो प्रवृत्ति निमित्त दिखलाये गये है वह भी मुक्तक काव्य की ही एक परम्परा है। आलोककार ने लिखा है—'लक्ष्ये पुनः परीक्ष्यमाणे तदेव काव्यजातित्वम्' अर्थात् लक्ष्य परीक्षण करने पर वही काव्य का जीवन सिद्ध होता है। इससे प्रकट है कि आचार्यों का काव्यशास्त्रीय विवेचन काव्य-परम्परा का ही विवेचन है उसमें भी मुक्तक काव्य का ही क्योंकि उदाहरणों का संकलन मुक्तक काव्य से ही किया गया है। किन्तु काव्यशास्त्रीय परम्परा का विवेचन अनेक ग्रन्थों में किया जा चुका है। अतएव यहा पर केवल वस्तुमूलक परम्परा का विवेचन किया जावेगा। काव्यशास्त्रीय परम्परा का दिग्दर्शन यथास्थान कर दिया जावेगा।

२. संहिता का अर्थ है संकलन। ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों के लिये संहिता शब्द का प्रयोग होता है, अतः ये दोनों ही संग्रह-ग्रन्थ है।

३. देखो वैदिक एज के ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के प्रकरण।

कर दिये गये है, अत: स्वतन्त्र वेद नही कहे जा सकते। अथर्ववेद में भी ऋग्वेद को ही आधार तथा आदर्श मानकर मन्त्रो का सकलन किया गया है और स्वतन्त्रतापूर्वक ऋग्वेद के मन्त्रो का उपादान किया जाता है। इस प्रकार वैदिक काव्य का एक मात्र उपजीवक ऋग्वेद ही है। ऋग्वेद केवल भारोपीय भाषा परिवार की ही नही अपितु समस्त विश्व की तथा मनुष्य मात्र की प्रथम पुस्तक है। यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि विश्व के पुस्तकालय में ऋग्वेद से अधिक प्राचीन कोई दूसरी पुस्तक नही। दूसरे देश भी अपनी सभ्यता की प्राचीनता का दावा करते है। जबकि ऋग्वेद का रचना-काल ई० पू० २५०० या ३००० वर्ष से अधिक पुराना नही माना जाता, तब ऐसीरिया के विद्वान् प्रथम सरगाओ का समय ईसा से ३००० वर्ष पूर्व मानते है और तूरानियन सभ्यता को इससे भी पूर्व ले जाते है। मिस्र के लोग अपनी सभ्यता को ईशा से ४००० वर्ष पूर्व बतलाते है और चीन के लोग अपनी सभ्यता को भी उतना ही प्राचीन सिद्ध करते है। किन्तु भारतीय साहित्य में उपर्युक्त साहित्यों से एक मौलिक अन्तर है। मिस्र के साहित्य से हम शासको की नामावली और युद्ध के उल्लेख के अतिरिक्त और कुछ नही जान सकते। ऐसीरिया और बेबीलोन के लेख भी हमसे कुछ ऐसी ही कहानी कहते है। प्राचीन चीन के लेख सभ्यता और सस्कृति के विकास और प्रसार पर कोई प्रकाश नही डालते। किन्तु भारतीय साहित्य का रूप कुछ और ही है। न तो इसमें राजाओ की वशावली दी हुई है और न युद्धो और दूसरी घटनाओ का विवरण ही है। किन्तु इसमें हमें सभ्यता और सस्कृति के विकास और प्रसार का स्पष्ट और सुसम्बद्ध चित्र प्राप्त होता है जो कि हमें किसी दूसरे साहित्य में प्राप्त नही होता। जहा तक भारतीय साहित्य का सम्बन्ध है उसकी प्राचीनता पर न तो मिस्र के स्मारक साहित्य अथवा भोजपत्र की नामावली के द्वारा विवाद किया जा सकता है और न वह ऐसीरिया के साहित्य के विवाद का ही विषय हो सकता है।"[1] किन्तु ऋग्वेद की साहित्यिक प्रौढता उसकी कलात्मकता और भावात्मकता तथा उनसे अभिव्यक्त होनेवाला सस्कृति का निखरा हुआ रूप—इन सब बातो को देखने से स्वभावत: सिद्ध हो जाता है कि वैदिक साहित्य के आविर्भाव के पहले साहित्य तथा संस्कृति की अनेक परम्पराये पनपी होगी। समाज ने अनेक उत्थान-पतन देखे होंगे। अनेक प्रकार के सघर्षो ने जाति की जीवनी शक्ति को अधिकाधिक दृढ और सक्षम बनाया होगा और उसमें अनेक प्रकार के साहसो का आधान किया होगा, जिससे कष्टों और कठिनाइयो को सहते हुए भी आर्यजाति ने विकास की दिशा में अधिकाधिक प्रगति करने की क्षमता प्राप्त की। निःसदेह ऋग्वेद की रचना तथा सकलन ऐसे समय में हुआ होगा, जबकि अनेक युगो से व्यवहित होने के कारण प्राचीन काल के कवियो और आचार्यों के प्रति श्रद्धा और मान्यता की भावना

१ History of Sans. Lit. by Weber.

जागृत हो गई होगी।[1] जिस प्रकार आज हम वैदिक साहित्य की प्रामाणिकता अगीकार करते है, उसी प्रकार उस समय के कवियो ने भी अपने प्राचीन कवियो के प्रति आभार प्रदर्शित किया और श्रद्धा की भावना अभिव्यक्त का है। हमें ऋग्वेद में अनेक स्थलो पर प्राचीनो और नवीनो का उल्लेख मिलता है।[2] इसी प्रकार प्राचीन रचनाओं के प्रति आभार प्रदर्शित किया गया है[3] और नवीन मन्त्रो को स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है।[4] अनेक स्थानो पर भूतकाल का प्रयोग किया गया है।[5] ब्लूम फील्ड ने लिखा है कि ऋग्वेद में लगभग ५००० पक्तियो में पुनरुक्ति पाई जाती है।[6] इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार एक ही पक्ति को लेकर आजकल समस्या-पूर्ति की जाती है उसी प्रकार उस समय भी अनेक कवियो ने प्रचलित पक्ति को लेकर समस्या-पूर्ति की होगी। इन सब बातो से सिद्ध होता है कि ऋग्वेद अनेक परम्पराओं के विकास का फल है।[7] किन्तु आज उस पूर्ववर्ती रचना का कोई चिह्न अधिगत नही होता। अतएव हमे ऋग्वद को ही विश्व का सबसे प्राचीन मुक्तक सकलन मानना पडता है।

ऋग्वेद का साहित्यिक महत्त्व—जिस प्रकार भारतीय रीति-नीति, आचार-विचार, धर्म-दर्शन इत्यादि सभी सास्कृतिक विषयो का मूल उद्गम एकमात्र वेद ही है उसी प्रकार मुक्तक काव्य का भी मूल स्रोत हमें वेद और विशेष रूप से ऋग्वेद में ही अधिगत होता है।[8] इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि ऋग्वेद की ये ऋचाये या कम-से-कम इनमे से कुछ ऐसी अवश्य है जिन पर कविता की

१. देखो Discovery of India.

२. यत्र पूर्वे साध्याः संति देवाः, देवा भागम् यथा पूर्वे सजानाना उपासते, त्वेह यत् पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वा वामा जरितारो असन्वन् (७।१८।७) ये च पूर्व ऋषयः ये च नूतना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः (७।२२।६) ते चिद्धि पूर्वे कवयो गृणन्तः (७।५३।१) पुरा देवा अनवद्यास आसन (७।६१।४) त इद्देवानाम् सधमाद आसन् ऋतावानः कवयः पूर्व्यासः (७।७६।६४)।

३. भूरि चक्र मरुतः पित्र्याणि उक्थानि।

४. प्र वाम् मन्मानि ऋचसे नवानि व्रतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि (७।६१।६)। शुचि नु स्तोमं नवजातमद्य इन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम् (७।९३।१)।

५. ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् तस्मात् जाता अजावय (पुरुष सूक्त), ब्राह्मणोस्य मुखमासीत (पुरुष सूक्त)।

६. विण्टरनित्ज—हिस्टरी आफ इण्डिन लिटरेचर वाल्यूम १, अ० १।

७. किन्तु खुद ऋग्वेद के पीछे विचार और सभ्यता के जीवन के कई युग रहे है, जिनमें सिधु घाटी की मेसोपोटामिया की और दूसरी तहजीबें पनपी थी। इसलिये यह मुनासिब ही है कि ऋग्वेद में अपने पूर्वजो, ऋषियों और पहले के मार्ग दर्शकों के नाम पर किया गया समर्पण मिलता है। (डिस्कवरी आफ इण्डिया)

८. सर जार्ज ग्रियर्सन ने मुक्तक काव्य का मूल उद्गम ऋग्वेद से ही माना है। (देखो लालचन्द्रिका की भूमिका) वस्तुतः ऋग्वेद अनेक शताब्दियों तक बिखरे हुए मुक्तक काव्य का संकलन मात्र ही है। (देखो वैदिक एज)

देवी गर्व कर सकती है। यद्यपि काव्य के रूप में ऋग्वेद मे परवर्ती उच्चकोटि की रचनाओं की अपेक्षा पर्याप्त अन्तर है, तथापि उसमें कुछ ऐसी अनिर्वचनीय सुन्दरता ओत-प्रोत है जिसका अतिक्रमण नही किया जा सकता। इसी प्रकार यद्यपि हमे उच्चकोटि की दार्शनिक विचारधारा के दर्शन ऋग्वेद मे नही होते तथापि उसमें ऐसे तत्त्व अवश्य विद्यमान हैं जिनके सामने परवर्ती दर्शनकारो को भी नतमस्तक हो जाना पडता है। जब तक ऋग्वेद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि न स्वीकार की जावे तब तक कालिदास की परिष्कृत रचना, कपिल की दार्शनिक शक्ति, जयदेव की आनन्दमयी रहस्यात्मक प्रवृत्ति, व्यास तथा वाल्मीकि की प्रसाद गुण पूर्ण शैली ये सब जो कि अपने मे इतने अधिक महत्त्वपूर्ण है, रेगिस्तान की हरी-भरी टुकड़ियो के रूप में बिखर जायेगे।[1] महर्षि पतजलि ने लिखा है कि ऋग्वेद की २० शाखाये है।[2] शौनकीय प्रातिशाख्य में ५ शाखाओ का उल्लेख मिलता है—शाकल, वाष्कल, आश्वालायन, शाखायन और मडूक। शाकल इत्यादि ऋग्वेद के रचयिता नही किन्तु सकलनकर्ता है। इसीलिये आश्वालायन गृह्य सूत्र में इनको ऋषि न मानकर आचार्य माना गया है। कही-कही ऐतरेयी और कौशीतकी इत्यादि दूसरी शाखाओ का भी उल्लेख पाया जाता है और विष्णुपुराण में भी कतिपय शाखा भेद प्रवर्तको के नाम गिनाये गये है।[3] किन्तु इस समय केवल शाकल सहिता ही उपलब्ध होती है। आज जब हम ऋग्वेद का नाम लेते है तो उसका अभिप्राय इसी शाकल सहिता से होता है। कही-कही दूसरी सहिताओ के कतिपय सूक्तो अथवा मन्त्रो को परिशिष्ट के रूप मे शाकल सहिता मे जोड दिया गया है। अष्टम मण्डल में बालखिल्य के ११ सूक्त तथा ८० मन्त्र परिशिष्ट रूप मे जोडे हुए है। ये और वाष्कल सहिता के लगभग ३६ सूक्त स्थान-स्थान पर बिखरे हुए है। यहा पर यह प्रश्न उठ सकता है कि बालखिल्य के ये ८० मन्त्र और वाष्कल सहिता के ये छोटे-छोटे मन्त्र खण्ड शाकल सहिता मे क्यो जुड गये ? कारण स्पष्ट है। जब हम परवर्ती वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करते है और उसमे यज्ञ-विधि पर विचार करते है तो हमें ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न वर्गो में यज्ञ की भिन्न-भिन्न विधिया प्रचलित थी तथा उन वर्गों में भी परिवारो के अनुसार ही यज्ञो की व्यवस्था होती थी। बाद में जब एक सामान्य विधि के प्रवर्तित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तब शाकल सम्प्रदाय मे जो त्रुटिया ज्ञात होती थी उनको पूरा करने के लिये बालखिल्य तथा वाष्कल शाखाओ से कुछ मन्त्र ले लिये गये। जब हम इतना मान लेते है कि बालखिल्य तथा वाष्कल सहिताओ के वे ही मन्त्र शाकल सहिता में सनिविष्ट हो सके है जो शाकल शाखा में प्रतिष्ठित थे तथा यज्ञ के काम आते थे, तब यह बात भी स्वभावतः सिद्ध हो जाती है कि शाकल सहिता भी केवल इसीलिये जीवित रह सकी कि वह वर्ग-विशेष में

१. History of Indian Lit. vol I by Winternitze.

२. पस्पशान्हिक

३. विस्तृत विवेचन के लिये देखो आर्य विद्या सुधाकर

सम्मानित थी दूसरे वर्गों की विधिया और तत्सम्बन्धी साहित्य लुप्त हो गया। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान समय में ऋग्वेद के नाम पर जो साहित्य हमे उपलब्ध होता है, केवल उतना ही ऋग्वेद नही है किन्तु कालक्रम से अनेक सहिताये लुप्त हो गई है और विशाल साहित्य-राशि का हमे केवल एक अशमात्र ही अधिगत हो सका है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि धार्मिक तथा पौरोहित्य साहित्य के अतिरिक्त दूसरे विषयो से सम्बद्ध भी कुछ-न-कुछ साहित्य अवश्य विद्यमान था। धार्मिक तथा पौरोहित्य साहित्य एक सम्प्रदाय के द्वारा सुरक्षित रखा जा सका और दूसरे प्रकार का साहित्य अकाल कवलित हो गया।

यद्यपि ऋग्वेद के सकलन का मूल प्रवृत्ति-निमित्त यज्ञपरक मन्त्रो को सकलित करना ही था और अधिकतर इसी मन्तव्य से मन्त्रो का उपादान हुआ है तथापि इस सग्रह मे कुछ ऐसे मन्त्र अवश्य विद्यमान है जिनका यज्ञ-विधि तथा पौरोहित्य परम्परा से किसी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नही है। यद्यपि प्रकृति के अनेक तत्त्व हमें देवत्व से आवृत ही समुपलब्ध होते है तथापि कुछ ऐसे भी चित्र विद्यमान है जो देवत्व से सर्वथा निर्मुक्त कहे जा सकते है। विण्टरनित्ज ने लिखा है—"बहुत से सूक्त न तो सूर्यदेव को ही अर्पित किये गये है, न अग्निदेव को, न आकाशदेव को, न वायुदेवो तथा जलदेवो को न उषादेवी को ही ये सूक्त अर्पित किये गये हैं, किन्तु स्वय प्रकाशमान सूर्य रात्रि के आकाश में चमकता हुआ चन्द्र, वेदी या चूल्हे से उठती हुई अग्नि की लपटे अथवा मेघो के मध्य से फूटनेवाली बिजली की दीप्ति, दिन का निर्मल आकाश अथवा रात्रि का नक्षत्रो से भरा हुआ आकाश, गरजता हुआ वायु, मेघो अथवा नदियो से प्रवाहित होनेवाला जल, प्रकाश-मयी उषा और विस्तीर्ण फलवती भूमि इन समस्त प्राकृतिक दृश्यो का कवित्वमय वर्णन किया गया है, पूजा की गई है और प्रार्थनाये की गयी है।[1] जिस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में ऋग्वेद एक बडी ही मनोरम और महत्वपूर्ण रचना है उसी प्रकार साहित्य के दूसरे क्षेत्रो में भी इसका महत्त्व कम नही है। चाहे अविवक्षित वाच्य हो चाहे विवक्षितान्य—पर वाच्य के रसध्वनिभाव-ध्वनि अलकार-ध्वनि या वस्तु-ध्वनि में कोई भेद हो, चाहे शब्द शक्तिमूलक ध्वनि हो और चाहे अर्थशक्तिमूलक ध्वनि हो हमें ऋग्वेद में प्रत्येक के उदाहरण बडी ही सुगमता से प्राप्त हो जायेगे। ऋग्वेद कलात्मक और रसात्मक कृतियो का भण्डार है, इसमें कवित्वमय भाषा में अनेक हृदयहारिणी सूक्तिया पाई जाती है। अतएव परवर्ती काव्य जगत् का ठीक रूप में अध्ययन करने के लिये यह नितान्त अपेक्षित है कि ऋग्वेद का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन कर लिया जावे और उसके मूल तत्त्वों का अनुसन्धान करके यह देखा जावे कि परवर्ती काव्य में उसका किस प्रकार विकास हुआ।

---

१. History of Indian Literature by Winternitz.

ऋग्वेद— एक अध्ययन

अनादिकाल से मनुष्य का प्रकृति के साथ अविच्छिन्न और अविच्छेद्य सम्पर्क चला आ रहा है। प्रकृति में एक ऐसी रमणीयता ओतप्रोत है, उसमें एक ऐसा आत्म-विभोर करनेवाला आकर्षण विद्यमान है कि मानव उसकी ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है और उसमें अपनी हृत्तन्त्री मिलाने में अभूतपूर्व सुख-शान्ति का अनुभव करता है। दृष्टि के प्रसार पर्याप्त अनन्त विस्तृत नीलाकाश, सौन्दर्य-शालिनी सुकुमार उषा का अनुगमन करनेवाला आदित्य, असीम महासागर मनुष्य की अन्तरात्मा के सदा आकर्षण-केन्द्र रहे है और मनुष्य ने दु.ख और दैन्य से पराजित अपने अन्तस्तल की शान्ति के लिये सदा हा इनका आश्रय लेने की चेष्टा की है। नि.सन्देह तापतप्त जगतीतल की शान्ति के निमित्त ही स्रष्टा ने इस अनुपम रमणीयता को जन्म दिया है और उसका उपभोग भी सहृदय व्यक्ति ही कर सकते हैं। सर्वप्रथम वैदिक ऋषियो ने इस जादू भरी प्रकृति की सुन्दरता का अनुभव किया था और उसके प्रभाव से उनके हृदय में जिस आनन्द-मरन्द का प्रवाह उमडा उससे उन्होने समस्त भावुकवर्ग को आप्यायित और आप्लावित कर देने की चेष्टा की। उस समय तक नर काव्य का न तो इतना प्राधान्य ही हुआ था और न भौतिक कृत्रिमता की इतनी दृढ प्राचीर ही मानव को प्रकृति के सम्पर्क मे व्यवहित करने में सक्षम हो सकी थी कि मनुष्य प्रकृति का उसके वास्तविक स्वरूप मे निरीक्षण न कर सकता। उस समय प्रकृति को केवल उद्दीपन विभाव के सकुचित प्रकोष्ठ में अवरुद्ध होने के लिये बाधित नही किया जा सका था। यही कारण है हमें कविता के उस आदिकाल में भी प्रकृति के ऐसे मनोरम और आकर्षक चित्र उपलब्ध होते है जो किसी देश-विशेष की नही किन्तु सारे विश्व की स्थायी सम्पत्ति है और जिनको काल की सर्वग्राहिणी शक्ति छू तक नही सकी है। इस वर्णन में एक शक्ति है, एक सौन्दर्य है, एक सजीवता है, एक सत्य है जो शिव से मेल कराती है।

प्राकृतिक वर्णन में सबसे अधिक मनोहर और सबसे अधिक सुकुमार कल्पनायें हमें उषा के प्रसग में प्राप्त होती है। एक ओर तो इसकी कोमलकान्त पदावली स्तुत्य है और दूसरी ओर साधारण किन्तु हृदयस्पर्शिनी भावनाये अनोखा चमत्कार उत्पन्न करती है। चमचमाती हुई उषा बड़े गर्व के साथ आती है, उस समय वह ऐसी प्रतीत होती है मानो उसका रमणीय कलेवर उसकी माता के द्वारा आभूषित किया गया है, जिसको अपनी पुत्री के सौन्दर्य पर गर्व है, उसने एक नर्तकी के समान भडकीले वस्त्र धारण किये है और अपने सुन्दर अग-प्रत्यंग दर्शकों को दिखलाती हुई आती है। प्रकाश का आभरण धारण किये हुए वह तरुणी पूर्व में दिखलाई देती है और वही से अपने सौन्दर्य का जादू दर्शको के ऊपर प्रसारित करती है। प्राची के आकाश के फाटको को खोलकर वैय्यात्य के साथ चरण न्यास करती हुई अपना उपमान नही रखती। "गौर वर्ण वाली

भलीभाति सजी हुई, अपने सौन्दर्य को समझनेवाली, स्नान करके ऊपर को उठी हुई रमणी की भाति यह आकाश की पुत्री उषा द्वेष्य अन्धकार को (अथवा कालुष्य और अन्धकार को) बाधित करती हुई तथा प्रकाश फैलाती हुई हमारे नेत्रो के सामने आकर खडी होती है। यह आकाश की पुत्री कल्याणरूपिणी मागलिक वेष धारण करनेवाली किसी पतिव्रता रमणी की भाति सामने आने पर लज्जा से अपना मस्तक झुका लेती है। अपने पूजक को कृतार्थ करती हुई यह नित्ययौवना पूर्ववत् इस समय भी दिन के प्रकाश को लाई है।"[1] इसी प्रकार उषा "जलतरंगो की भाति[2] आती हुई दिखलाई देती है।"[3] महान् प्रकाश से शोभित होती हुई अपनी छाती खोल देती है।"[4] केवल सौभाग्यशालिनी विस्तीर्ण तथा प्रतिष्ठित उषा को कोमल लाल किरणे ही नही धारण करती किन्तु वह वीर भी है और एक क्षिप्रगामी सैनिक की भाति तथा एक वीर धनुर्धर की भाति अन्धकार का अपसारण भी करती है।[5] उषा अन्नवती है धनवती है और मरण-धर्मरहित है, यह उषा सम्यक् सचरण करनेवाले सूर्य की पत्नी है और अन्धकार को इसी प्रकार समेटती है जैसे कोई तरुणी अपने वस्त्र को लपेट कर रखती है।[6] जिस प्रकार एक रूपवती रमणी सभी के आनन्दमय कौतूहल का कारण बनती है, उसी प्रकार उषा भी सभी को आनन्द देती हुई आती है।[7] इसी प्रकार और भी अनेक मनमोहक चित्र हमें उषा के प्रसग में प्राप्त होते है। दूसरे शुद्ध प्राकृतिक वर्णनो में सूर्य, पर्जन्य, मरुत् इत्यादि के वर्णन सम्मिलित है। सूर्य को देवताओ का प्रकाशमान चित्रवर्ण का मुख बतलाया गया है। जो कि मित्र वरुण, अग्नि इत्यादि देवताओ के नेत्र है। वह स्थावर और जगम सभी की आत्मा है और आकाश, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष को आवृत करके प्रकाशित होता है।[8] वह प्रकाशित होनेवाली उषादेवी का अनुगमन उसी प्रकार करता है जैसे कोई रसिक किसी रमणी का अनुसरण करता हो।[9] यह सूर्य देव की ही महत्ता है कि फैले हुए कर्मतन्तुओ को शीघ्र ही मध्य ही में समेट लेता है और घोडो को छोड़ते ही रात्रि अपना नीला आवरण सारे विश्व पर तानने लगती है।[10] वैसे ही सूर्य उषादेवी का अनुगमन करते हुए विश्व के समक्ष उपस्थित होते है उसी समय.—

यत्रा नरः देवयन्तो युगानि,
वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम् ॥

मनुष्य कालक्रम से अपेक्षित विधि का सम्पादन करते हुए कल्याणकारक

---

१. ऋग्वेद V. 40—5, 6
२. अपा नोमयः
३. ऋग्वेद VI—61—1
४. आविर्वक्षः कृणुते VI—64—2
५ VI—62—3
६. III—64—4
७. I—48—5
८. I—115—1
९. 1—115—2
१०. III—115—4

कर्म फल के निमित्त मागलिक स्तोत्रो का पाठ करने लगते है।[1] पर्जन्य विषयक सूक्त भी प्राकृतिक वर्णन की दृष्टि से बडे ही महत्वपूर्ण है। 'यह राक्षसो और वृक्षों को तोड डालता है। उसकी बलशाली भुजाओ से सारा विश्व भयभीत रहता है।' इसी प्रकार उसके गर्जन की बैल की गर्जना से उपमा दी गई है और सिहनाद को उत्पन्न करनेवाला बतलाया गया है। वायु का मन्द प्रवाह, बिजली की चमक, आकाश का मेघावरण, पृथ्वी की हरीतिमा इत्यादि का पर्जन्य के साथ विस्तार से वर्णन है। वायु के एक साथ बहते हुए प्रवाह की अज्येष्ठ एकनिष्ठ सगे भाई से तुलना की गई है। वायु के प्राकृतिक वर्णन की दृष्टि से दशम मडल का १६-वा सूक्त बडा ही महत्वपूर्ण है —

"वायु के रथ की महिमा का क्या वर्णन किया जावे यह सभी स्थावर-जगम समूह को तोडते-फोडते और वज्र के समान घोष करते हुए चला जाता है। आकाश को स्पर्श करते हुए यह लाल प्रकाश को उत्पन्न करता है और पृथ्वी पर वायु उछालते हुए चलता है। वायु के झोके जब मिलकर आगे का बढते है तब चराचर सभी उसके साथ उसी प्रकार चल देता है जैसे कोई स्त्री मनुष्य समूह के पीछे चल देती है। वायुदेव उसी के साथ एक रथ पर बैठ कर विश्व के सम्राट् की भाति वेग से आगे बढते है। अन्तरिक्ष में मार्ग से चलते हुए कभी एक भी दिन के लिये भी विश्राम नही करते। यह जल का मित्र है, प्रथम उत्पन्न हुआ है और सत्यवान नियम का पालन करनेवाला है। यह समस्त विश्व में व्याप्त है और कोई नही कह सकता कि कहा से उत्पन्न हुआ है और किस प्रकार विश्व में व्याप्त हो गया है। (प्राण रूप में सचरण करने के कारण) यह इन्द्रादि देवो की भी आत्मा है और ससार का गर्भ है तथा स्वच्छन्द विचरण करता है। इस वायु का शब्द ही सुनाई देता है रूप दिखाई नही देता....."

इसी प्रकार के अनेक वर्णन प्रकृति को आलम्बन मानकर किये गये है और पारिभाषिक अर्थ में भाव-ध्वनि के क्षेत्र में आकर उत्तम काव्य की श्रेणी में सम्मिलित किये जा सकते है। उषा के प्रसग में शृंगार रस के बड़े ही मनमोहक चित्र हैं और पर्जन्य तथा वायु के प्रसग में वीर रस की स्थान-स्थान पर बडी सुन्दर व्यंजना होती है। किन्तु यहा पर शृगार और वीर ये दोनो रस कवि की प्रकृति विषयक रति के अग हो गये हैं। अतः ध्वनि काव्य न होकर अपराग गुणीभूत व्यंग्य अथवा प्रेय अलकार ही कहे जावेगे।

शृगार रस की प्रधानता हमें सवाद-सूक्तो में प्राप्त होती है। प्रथम प्रसिद्ध सवाद है पुरूरवा और उर्वशी का।[2] ऋग्वेद में सवाद मात्र दिया हुआ है कथा का उन्नयन हमें शतपथ[3] से करना पडता है। पुरूरवा मर्त्यथा और उर्वशी अप्सरा थी। उर्वशी ने पूरूरवा से इस शर्त पर विवाह किया था कि यदि पुरूरवा उसे शय्या के

१. I—115—2 २. X—95
३. 5, 1

अतिरिक्त अन्यत्र नग्न दिखलाई पड़ेगा तो वह पुरूरवा का साथ छोडकर स्वर्गलोक को लौट जावेगी। देव-गण उर्वशी को लौटाना चाहते थे। अतः उन्होंने छलपूर्वक उर्वशा को पुरूरवा का नग्न साक्षात्कार शय्या से अन्यत्रकरा दिया और पूर्व निश्चय के अनुसार चार वर्ष का आनन्दमय साहचर्य छोडकर उर्वशी "प्रथम उषा की भाँति" पुरूरवा के पास से चली गई। पुरूरवा ने अन्वेषण करते हुए उर्वशीको एक सरोवर में क्रीडा करते हुए प्राप्त किया। प्रस्तुत सूक्त में पुरूरवा अपनी हृदय-वेदना का वर्णन कर और अपनी करुण दशा बतलाकर उर्वशी को लौटाना चाहता है और उर्वशी निरन्तर प्रत्याख्यान करती चली जाती है। इस सूक्त में शृंगार रस का अच्छा परिपाक हुआ है। यद्यपि यहाँ पर पुरुष-प्रवृत्त रति है किन्तु फिर भी हम इसे रसाभास नहीं कह सकते, क्योकि पुरूरवा और उर्वशी में दाम्पत्य-भाव है। उर्वशी में पुरूरवा के प्रति द्वेष अथवा औदासीन्य की भावना नही है। उसे पुरूरवा से पूर्ण सहानुभूति है किन्तु वह प्रतिज्ञा-बद्ध होने के कारण उसके अनुनय-विनय को स्वीकार नहीं कर सकती। यम-यमी सूक्त रसाभास का अच्छा उदाहरण है। यद्यपि यह रति स्त्री-प्रवृत है तथापि यम-यमी का भाई-बहन का सम्बन्ध इस रति को रसाभास होने के लिये बाध्य कर देता है। यम-यमी भाई-बहन हैं। यमी निर्जन प्रदेश में समुद्र के मध्यवर्ती एक द्वीप में यम से गर्भाधान करने की प्रार्थना करती है और यम धर्म-व्यतिक्रम की बात कहकर उसे ठुकराते है। यमी अपनी व्याकुलता अपनी काम-परवशता और अपनी उत्तेजना की बात कहकर यम को द्रवित करने की चेष्टा करती है। पुत्र-प्राप्ति का भी प्रलोभन दिखलाती है, एकान्त स्थान बताकर आशका का भी निवारण करती है और यह भी बतलाती है कि प्रजापति का भी अनुमोदन प्राप्त हो जावेगा। किन्तु यम अपनी शान्त, गम्भीर प्रवृत्ति के अनुसार निरन्तर निषेध करते जाते है। उन्हे भाई-बहन का यह सम्बन्ध उचित प्रतीत नही होता और एकान्त स्थान तथा अदृष्ट स्थान की बात को यह कहकर निषेध करते है कि ब्रह्मा जी के दूत सदा और सर्वत्र विचरण करते रहते है। जब यमी सब प्रकार से निराश हो जाती है और उसके इस कथन का भी यम के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पडता कि जिस भाई के होते हुए बहन कष्ट भोगती है वह भाई कुत्सित होता है तब वह यम को कायर, हृदयहीन कहकर पुकारती है किन्तु यम निरन्तर उसे किसी अन्य पुरुष से कामवासना शान्त कराने की सम्मति देत जाते हैं। इस सूक्त में प्रणय निवेदन और उसके प्रत्याख्यान का अच्छा चित्र अकित किया गया है। ये दोनों विप्रलम्भ शृंगार के उदाहरण है। सम्भोग शृंगार के रूप में सूर्या सूक्त के दाम्पत्य प्रेम विषयक मन्त्रो को उद्धृत किया जा सकता है। इस प्रकार शृंगार रस के अनेक रूप सुरक्षित हो गये है। किन्तु ऋग्वेद का सबसे प्रधान अश युद्ध वीर से वेष्टित है। इन्द्र विषयक सूक्तो में इन्द्र के उत्साह का वर्णन करते हुए कवि नही थकता। आलम्बन के रूप में वृत्र, शम्बर, पणि, पिप्रु, चुमुरि और वर्चिन इत्यादि अनेक प्रति-द्वन्द्वियो का उल्लेख किया गया है। किन्तु आश्रय की वीरता को अधिकाधिक

प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से आलम्बन की वीरता का वर्णन नही किया गया है । युद्ध वीर के साथ ही साथ रौद्र, भयानक इत्यादि कठोर रसों का भी सन्निवेश हो गया है । दान-स्तुति में दभ्य इत्यादि की वीरता का वर्णन किया गया है और दया तथा धर्म वीर का तो ऋग्वेद एक महान् सग्रहालय ही है । हास्य रस के प्रसग में भी मण्डूक सूक्त और शिशुआगिरस का सोम सूक्त उपस्थित किये जा सकते है ।

मल्लक्ष्य क्रम व्यग्य की जैसी अनेकरूपता हमें परवर्ती साहित्य में समुपलब्ध होती है उसकी हम ऋग्वेद से आशा ही नही कर सकते । किन्तु कतिपय उदाहरण कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते है —

एवा च त्व सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन ।
स्वसारस्त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ।।[1]

यहा पर यही व्यक्त होता है कि पणिसरया को अपने पक्ष में करना चाहते है । इस प्रकार यहा पर स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु ध्वनि है । हिरण्यगर्भ सूक्त की प्रसिद्ध पक्ति "कस्मै देवाय हविषा विधेम" से ध्वनि निकलती है—अन्य देवता तुच्छ है केवल हिरण्यगर्भ ही एक महान् देवता है जो हवि का अधिकारी है ।" यहा पर वस्तु से व्यतिरेकालकार ध्वनि निकलती है । सरदास ने इसी बात को वाच्य-वृत्ति मे कहा है–(और देव सब रक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे ।) विनयपत्रिका मे अन्य देवताओ से वैषम्य व्यजना वृत्ति के आधार पर ही स्थापित किया गया है । अलकार से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित मन्त्र मे प्राप्त होता है -

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये ।
वयो न वसती रुप ।।

यहा पर उपमालकार से ध्वनित होता है कि कवि का एक मात्र शान्त सुरक्षित और आनन्ददायक आश्रय वरुण देव ही है । इसी प्रकार :—

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यतीरनु ।
इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ।।

से भी वही ध्वनि निकलती है । इस वाक्य मे "परिकराकुर अलकार भी है । अतः उपमा और परिकराकुर का अगागिभाव सकर है ।" 'उरुचक्षसम्' में एक हेतु भी है । अतएव काव्य-लिंग और परिकराकुर का सदेह भी हो सकता है । यदि यहा पर "वरुणम्" का अध्याहार कर लिया जावे तो यह परिकर अलकार भी हो जावेगा । निम्नलिखित पद्य विरोधाभास का बडा ही सुन्दर उदाहरण है .—

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्त सहन्ते ।
दिव्या अंगारा इरिणे न्युप्ताः शीता सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ।।[2]

(१) यह अक्ष नीचे चलते है और ऊपर स्फुरित होते है । यह विरोध है अक्षों के गिरते ही हृदय मे एक घबराहट और उत्कण्ठा उत्पन्न हो जाती है । यह

१. R. V. 10—104—9
२. R. V. 10—34—9

विरोध का परिहार है। (२) इनके हाथ नही हैं किन्तु यह हाथ वालों को जीत लेते हैं। यह विरोध है। द्यूतकार पराजित हो जाता है यह अर्थ करने से विरोध का परिहार हो जाता है। (३) स्वय शीतल होते हुए हृदय को जलाते हैं। यह विरोध है। हृदय में वेदना उत्पन्न करते हैं इस अर्थ से विरोध का परिहार हो जाता है। यहां पर अक्षों को अगार कहा गया है और अक्षो से उनका अध्यवसाय सिद्ध है। अतएव यहा पर रूपकातिशयोक्ति अलकार है जो कि उक्त विरोधाभास का अग हो गया है। इस प्रकार यहा पर अगागिभाव सकर है।

उपमा अलकार ही सबसे प्राचीन अलकार है। ऋग्वेद में उपमायें भरी पडी है। जिस समय यज्ञ में श्रेणीबद्ध यूप गाडे जाते है और उन पर श्वेत वस्त्र फहराते हुए शोभित होते हैं तथा इतने उठ जाते है कि देवों के मार्ग (अन्तरिक्ष) को भी घेर लेते है तब ऐसे मालूम पडते हैं जैसे श्रेणीबद्ध हस उड रहे हो और उनका शब्द श्रुति-सुखद प्रतीत हो रहा हो। जिस प्रकार धनुष की दो कोटिया प्रत्यचा से बाधी जाती हैं उसी प्रकार शत्रुओ के बाधने की बात कही गई है। इसी प्रकार 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठः' की उपमा भी सुन्दर है। कही-कही उपमा माला-रूप में भी पायी जाती है :—

बलवान् इन्द्र सग्रामो में तरणि है घोडे के समान है, आकाश और पृथ्वी में व्यापक होने वाले मेघ के समान है। यज्ञ के कार्य में पूषा देव के समान है और स्तोताओ के लिये पिता के समान है। यहा पर इन्द्र को अनेक उपमाये दी गई हैं तथा तरणि मे रूपक भी है। यहा पर इन दोनो मे एकाश्रयानुप्रवेश सकर है।

सवत्सर शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिण.।
वाच पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥[1]

यहा पर वाचक लुप्तोपमा है। अथवा मण्डूक में व्रतधारी ब्राह्मण का आरोप किया गया है और उसमे दोनो का बोलना निमित्त है। अतएव श्लिष्ट शब्द निबन्धन रूपक भी कहा जा सकता है और प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का एक धर्म में सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता हो सकती है। इस प्रकार इन अलकारो का यहा पर सन्देह सकर है। इसी प्रकार :—

यस्मिन वृक्षे सुपलाशे देवैः सपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणां अनु वेनति ॥ १०-१३५-१

यहा पर भी वाचक लुप्तोपमा और रूपक का सकर है। यदि 'यस्मिन्' को स्थान-वाचक न मान कर वृक्ष का विशेषण माना जावे तो रूपकातिशयोक्ति अलंकार भी हो सकता है।

वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम। ३-८-११

यहा पर दीपक अलकार है। दान-महिमा-वर्णन में निम्नलिखित मन्त्र दीपक का एक अनूठा उदाहरण है :—

१. R. V. 7-103-1

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमय वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात् ।। १०-११७-७

"जोत कर के फाल कृषक को भोक्ता बनाता है, मार्ग में चलते हुए मनुष्य अपने कर्म के द्वारा स्वामी के लिये धन प्राप्त करता है, शास्त्रार्थ करते हुए ब्राह्मण शास्त्रार्थ न करने वालों को आनन्द देता है। परोपकारक दानी व्यक्ति दान न देने वालो का बन्धु हो जाता है। "कलात्मक सौन्दर्य के लिये श्लेष का प्रयोग भी यत्र-तत्र पाया जाता है। जैसे —

याजामयो वृष्ण इच्छन्ति शक्तिं नमस्यन्तोऊर्जानते गर्भमस्मिन् ।
अच्छा पुत्रं धेनवो वावशाना महश्चरन्ति बिभ्रतं वपूंषि ।।

यहा पर कई शब्दो के तीन-तीन अर्थ है (१) जामय —औषधिया, किरणें और पत्नी। (२) वृष्ण—जल बरसाने वाला इन्द्र, जल बरसाने वाला सूर्य और गर्भाधान की शक्ति रखने वाला पुरुष। इसी प्रकार शक्ति से भी विभिन्न प्रकार की शक्तिया अभिप्रेत हैं। मन्त्र का विश्वेदेव देवता है। अतः सूर्य और इन्द्र परक अर्थ तो प्राकरणिक हो गये। दोनों अर्थों को एक साथ जोडने के लिए श्लेष मूलक तुल्य योगिता माननी पडेगी। इन दोनो अर्थों में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने पर एक तीसरा पत्नी परक अर्थ उसमें उपमा हो जायेगा। इस प्रकार यह उपमा अलकार ध्वनि का बडा ही सुन्दर उदाहरण है और उसमें धेनु की वाच्योपमा उसका सौन्दर्य और भी बढा देती है। दोनो (व्यग्य और वाच्य) उपमाओं का अंगांगि भाव सकर हो जाता है। इस प्रकार इस पूरे वाक्य का यह अर्थ होगा—"जिस प्रकार पत्निया अपने पति में गर्भाधान की शक्ति को चाहती है और धेनुओं के समान सुन्दर पुत्र की कामना करती हुई उनके सामने नम्र हो जाती है तथा गर्भ को प्राप्त किया करती हैं। बाद में सुन्दर स्वरूप धारण करने वाले महत्वपूर्ण पुत्र को प्राप्त कर लेती है इसी प्रकार औषधिया इन्द्र मे गर्भाधान (वर्षा द्वारा सेचन) की शक्ति को चाहती हैं और उनके सामने नम्र होकर गर्भ को धारण करती है तथा समय आने पर व्रीहि, यव, नीवार इत्यादि को प्राप्त कर लेती है अथवा उसी प्रकार सूर्य की किरणे सूर्य में गर्भाधान (जल को खीचने) की शक्ति को चाहती है और नम्र होकर उससे गर्भ भी प्राप्त कर लेती है तथा समय आने पर मेघ-रूपी सुन्दर पुत्र को भी प्राप्त कर लेती है।" इसी सूक्त का दूसरा उदाहरण है —

प्रमे विविक्वां अविदन्मनीषां धेनुं चरन्तीं प्रयुतामगोपाम् ।
सद्यश्चिद्या दुदुहे भूरि धासेरिन्द्रस्तदग्नि. पनितारो अस्या. ।। ३-५७-१

यहां पर भी इन्द्र और अग्नि की एक साथ प्रार्थना मे गाय और वाणी का श्लेष है और उसमें रूपकातिशयोक्ति का अगागि भाव सकर है।

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि ।
पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिरनु व्रत चरसि विश्ववारे ।। ३-६१-१

यहा पर उषा के लिये "वाजेन वाजिनि" (अन्न के कारण अन्नवाली) और मघोनि (धनवाली) तथा "विश्ववारे" (सबके द्वारा वरण करने योग्य) यह विशेषण दिये गये हैं जो स्तुति के औचित्य का समर्थन करते है। अतएव साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलंकार है। "पुराणी" और "युवतिः" में विरोधाभास भी है। इनका यहां पर एकाश्रयानुप्रवेश सकर है। इस प्रकार भावात्मक और कलात्मक दृष्टि से ऋग्वेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है।

किन्तु ऋग्वेद का बडा महत्त्व इस बात में है कि हमें इसमें विश्व के धर्म-दर्शन और पौराणिक उपाख्यानों का मूल उद्गम प्राप्त होता है। धार्मिक काव्य की दृष्टि से यास्क ने वर्ण्य विषय को तीन भागो में विभक्त किया है—प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक। प्रत्यक्षकृत उन ऋचाओ को कहते है जिनमें सुबन्त विभक्तियों का प्रयोग किया गया हो और प्रथम पुरुष के द्वारा उनका आख्यान किया जावे। इस प्रकार के मन्त्रो में देवताओं की लोकोत्तर शक्ति का वर्णन किया गया है। इस प्रकार के वर्णन में इन्द्र विषयक सूक्तो का प्राधान्य है। इन्द्र के श्वास लेने से ही उनकी महत्ता और पौरुष के कारण पृथ्वी और आकाश दोनो कांप उठे, इन्द्र ने पृथ्वी को दृढ किया और घूमनेवाले पर्वतो को स्थिर किया, उत्तम अन्तरिक्ष को चारो ओर फैलाया उसने आकाश को स्थिर किया। (२-१२-१.२) इन्द्र के लोकोत्तर कर्मो का बडे विस्तार से वर्णन किया गया है, सात नदियों को प्रवाहित करना, अहि का वध इत्यादि अनेक लोकोत्तर कर्मो का वर्णन मिलता है। "हे मनुष्यो तुम इन्द्र की स्तुति करो जिसका लोकोत्तर प्रभाव शत्रुओ के तेज को नष्ट कर देता है और पृथ्वी को चारो ओर अभिभूत करता है, जो इन्द्र मनुष्यो को धारण करने वाला है, समुद्र से भी अधिक विशाल है और अन्धकार को वारण करने वाले अपने तेज से पृथ्वी और आकाश को परिपूरित कर रहा है। (१०-८९-१) जब इन्द्र रक्षा करता है तभी विजय-लाभ होता है और इन्द्र के कुपित होने पर पराजय निश्चित है। त्रित्सुओ की जब इन्द्र ने रक्षा की तब वे विजयी हुए और जब इन्द्र ने कोप किया तब वे पराजित हो गये। (७-१८-१५) इस प्रकार वीरता और पराक्रम का अतिरजित कवित्वमय वर्णन इन्द्र तथा दूसरे देवताओ के प्रसगो में किया गया है। यही परोक्षकृत मन्त्रो के नाम से निरुक्त मे अभिहित किये गये है।

यास्क ने दूसरे प्रकार के मन्त्र प्रत्यक्षकृत मन्त्रो के नाम से अभिहित किये है। इन मन्त्रो मे मध्यम पुरुष तथा त्वम् इस सर्वनाम का प्रयोग हुआ करता है। इन मन्त्रो के द्वारा ऋषि देवता से लौकिक सुख-समृद्धि देने की प्रार्थना करता है। "हे इन्द्र हम से युद्ध करने वाले शत्रुओ का नाश कर दो, जो सेना की इच्छा करते हैं या हम से युद्ध करना चाहते है उन्हे नीचे गिराओ। (१०-१५२-४) जो शत्रु हमें क्षीण कर रहा हो उसे निकृष्ट अन्धकार में ले जाओ। हे अग्नि देव ! यह समिधा तुम्हारा ईधन है तुम इससे बढ़ो और प्रदीप्त होओ तथा हमें भी बढ़ाओ और प्रदीप्त करो। सन्तान, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न इत्यादि के द्वारा हमारी वृद्धि

करो।" इस प्रकार के मन्त्रो की प्रधान ध्वनि लौकिक सुख की प्राप्ति ही है और अधिकतर निरपेक्ष स्वार्थमयी कामनायें भी प्रधान हैं। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार के मन्त्रो में उदात्त भावनाये दृष्टिगत होती ही नहीं। अनेक स्थानो पर विश्वमगल की कामनाये की गयी है, राष्ट्रोन्नति के गीत गाये गये है और सर्वसाधारण के लिये अपेक्षणीय सद्गुणो को प्राप्त करने और दुर्गुणो का बहिष्कार करने की प्रार्थनाये समुपलब्ध होती है। लोक-मर्यादा के पालन करने के लिये देवताओ को भी पराधीन बतलाया गया है और इस प्रसग में ऋत की प्रशसा तथा अनृत की निन्दा अनेक बार की गई है। समस्त प्राणियो के प्रति सद्भावना वैदिक सम्प्रदाय का मुख्य धर्म है। किन्तु जो लोग ऋत मार्ग का उल्लघन करते है उनको कठोर-से-कठोर दण्ड देने की प्रार्थना की गई है।

इस प्रसग मे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वैदिक ऋषि मे न तो समर्पण बुद्धि है और न आत्मगर्हणा की भावना ही है जिसका हमे परवर्ती साहित्य में प्राधान्य प्राप्त होता है। यहा एक हाथ देने और दूसरे हाथ लेने का सिद्धान्त अपनाया गया है। गीता के "देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व" वाले सिद्धान्त के पूर्ण दर्शन हमें इस महान् सकलन मे होते है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि वेद मे प्राय सख्य-भाव की भक्ति ही समुपलब्ध होती है। वैदिक ऋषि जब अपने यज्ञ का समुचित पुरस्कार प्राप्त नही कर पाता तब स्पष्ट शब्दो मे कह सकता है कि "हे शक्ति के पुत्र और घृत से हवन किये हुए अग्निदेव ! यदि तुम मनुष्य होते और मै मित्र के समान देव होता तो हे वसो न तो मेरा स्तोता शाप का पात्र ही बनता न वह बुद्धिहीन होता, न शत्रु होता और न अशोभन बुद्धि से ही बाधित होता।" (३-१९-२५,२६) उसी प्रकार—"हे इन्द्र जैसे तुम अकेले ही समस्त सम्पत्ति के अधिकारी हो उस प्रकार यदि मै होता तो मेरा स्तोता सदा गायो का स्वामी बना रहता। हे शचीपते ! यदि मैं तुम्हारी ही भाति गोपति होता तो अपने मनीषी स्तोता को धन प्रदान करने की इच्छा करता और यथेष्ट धन देता भी। हिन्दी के भक्ति युग में इस प्रकार की सख्य-भाव की भक्ति की प्रधानता रही है। सूरदास और बिहारी ने भगवान् के विरुद को ललकारा ही है। तुलसीदास तो सबसे आगे बढकर भगवान् का पुतला ही निकालने लगे।

यास्क ने तीसरे प्रकार के मन्त्रो को आध्यात्मिक कहा है। परन्तु आध्यात्मिक शब्द का प्रचलित अर्थ यास्क को अभिप्रेत नही है। इस श्रेणी में यास्क ने शपथ और अभिशाप के मन्त्रो को रखा है तथा किसी भाव-विशेष का प्रतिपादन करने वाले मन्त्रो को भी इसी श्रेणी में सन्निविष्ट किया है जैसे "उस समय न तो मृत्यु ही थी न अमरता ही।" (१०-१२९-२) अथवा "पहिले अन्धकार अन्धकार से ही आवृत था।" (१०-१२९-३) इसा श्रेणी में परिदेवना, निन्दा और प्रशसा को भी सन्निविष्ट किया गया है। ज्ञात होता है यहा पर यास्क का मन्तव्य उन मन्त्रो से है जिन पर व्यक्तिगत छाप पडी हो। इस प्रकार के मन्त्र ऋग्वेद में अनेक स्थानो पर आते

हैं। विश्वामित्र का नदी विषयक सूक्त तथा वशिष्ठ द्वारा सुदास के दस राजाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद इन्द्र के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन के मन्त्र इस श्रेणी में आ सकते है। इसी श्रेणी में वशिष्ठ द्वारा रोगनिर्मुक्ति के लिये की हुई वरुण की प्रार्थना भी आ सकती है। हमे ज्ञात है कि बाहु पीडा के अवसर पर तुलसीदास जी ने हनुमद्बाहुक बनाया था और "बीसी विश्वनाथ की" के अवसर पर विनयपत्रिका की रचना की थी। सम्भवत इस प्रकार के मन्त्र विशेष अवसरो पर लिखे गये थे। इस विषय में वैदिक ऋषि की दृढता भी प्रशसनीय है—"आपकी प्रशंसा करने के कारण लोग चाहे मेरी निन्दा करे या प्रशसा, चाहे मुझे निकल जाने को कहे किन्तु मै तुम्हारी ही शरण पडा रहूगा।" (१-४५,६) सूर में भी कुछ ऐसी ही दृढता पाई जाती है—"सूर तबहु न द्वार छाडे डारिहौ कढराय" बिहारी तो भक्ति के उद्देश्य से कुटिलता भी छोडने को उद्यत नही है।

करौ कुबतु जग कुटिलता तजौ न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत त्रिभंगी लाल॥

लोकोत्तर चमत्कार और आनन्दानुभूति के साथ प्रशस्त जीवन का उपदेश देना भी कवि-कर्म का एक महत्त्वपूर्ण अग है। अनादि काल से कवि अपने विश्व को अधिक सस्कृत, अधिक सुव्यवस्थित और अधिक कर्त्तव्यपरायण बनाने की चेष्टा करते आये है और इस कार्य के लिये एक ओर तो कलात्मक और भावात्मक चमत्कार का आस्वादन कराते हुए मधुमती भूमिका में पहुचाने की चेष्टा की गई है और दूसरी ओर वाच्य-वृत्ति के द्वारा भी सदाचार का प्रतिपादन किया गया है। कही-कही कवि देवताओ मे अपेक्षित गुणो का आधान कर और सदाचार के लिये देवताओ को भी पराधीन बना कर सदाचार का महत्व स्थापित करता है दूसरी ओर अपने दोषो का उल्लेख कर उनके दूर करने की प्रार्थना करता है। इस प्रकार की सूक्तियो का मन्तव्य सर्वसाधारण मे सद्गुणो का प्रचार करना ही होता है। कही-कही कवि आदेशात्मक भाषा में भी उपदेश देने की चेष्टा करता है। ऋग्वेद में इस प्रकार की सूक्तिया अनेक स्थानो पर पाई जाती है। विश्व-मगल की भावना और राष्ट्रोन्नति के गीतो के साथ अनेक स्थानो पर सर्वसाधारण के लिये अपेक्षणीय सद्गुणो का वर्णन किया गया है और दुर्गुणो के निराकरण की प्रार्थनाये की गई है। इस प्रसग में ऋत की प्रशसा और अनृत की निन्दा अनेक बार आई है। "हे मरुत पवित्र आपके लिये हमारी आहुतिया भी पवित्र हो। पवित्र आपके लिये हम पवित्र यज्ञ प्रेरित करते है। पवित्र से जन्म लेने वाले स्वय पवित्र और दूसरो को भी पवित्र करने वाले मरुत सत्य जल का स्पर्श करते हुए सत्य से ही सत्य को प्राप्त होते है।" (४-५६-१२) "पापियो की वही दशा होती है जो अभ्रातृका स्त्रियो की होती है। जिस प्रकार उन्हे पति का घर छोडकर पिता के घर जाना पडता है उसी प्रकार वह व्यक्ति भी यज्ञादि के सत्य मार्ग को छोडकर असत्य मार्ग पर चलने हे। जिस प्रकार पति से द्वेष करने वाली स्त्रियाँ दुष्ट दुराचारिणी हो जाती है उसी प्रकार वे पापी भी मानसिक और वाचिक

सभी प्रकार के सत्य से रहित होकर पापियो द्वारा अनुभव किये हुए गम्भीर और अगाध नरक में पडते है।" (४-५-५) यज्ञ भी सत्य रूप है इसीलिये यज्ञ करना भी परम धर्म माना गया है। हमें ज्ञात है कि भारतीय मनीषियो ने विश्व को यज्ञ-मय देखा था —

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।। (गीता)

इस प्रकार की सूक्तियो की दृष्टि से द्यूतकार सूक्त (१०-३४) अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस सूक्त में द्यूत के दोषो पर अत्यन्त सबल भाषा में प्रकाश डाला गया है। "मेरी पत्नी मुझ पर कभी क्रोध नही करती थी और न मुझे कभी लज्जित ही करती थी। मेरे मित्रो के प्रति और मेरे प्रति वह कितनी उदार और कल्याणकारिणी थी। केवल द्यूत के लिये ही मैने अपनी प्रियतमा सती साध्वी पत्नी का तिरस्कार कर दिया। मेरी सास मुझसे घृणा करती है। प्रियतमा तिरस्कार करती है, प्रार्थना करने पर भी मुझ दु खी से सहानुभूति दिखलाने वाला कोई नही मिलता। जिस प्रकार वृद्ध अश्व का मूल्य बाजार में नही मिलता उसी प्रकार मुझे कितवपन का उपभोग प्राप्त नही होता। जिसके धन को अक्षदेव ने ले लेने की इच्छा की उसकी पत्नी का साथ कोई और ही करता है। पिता-माता और भाई कहते हैं इसे ले जाओ, हम इसे नही जानते।" इसके बाद कलात्मक शैली में द्यूत के दोष दिखलाये गये है—"यह अक्ष नीचे को चलते है, किन्तु ऊपर को स्फुरित होते है (द्यूतकार के हृदय पर रेगते है) बिना हाथ के भी हाथ वालो को पराजित कर देते है। जब यह ईधन रहित प्रदेश मे अगारो के समान फेके जाते हैं तब शीतल होते हुए भी हृदय को जलाकर राख कर देते है।" फिर द्यूतकार की दुर्दशा का वर्णन है—"द्यूतकार की पत्नी उसके द्वारा परित्यक्त होकर सताप करती है। माता उसके स्वच्छन्दचारी होने के कारण खिन्न रहती है। वह ऋणी रहता है, भय करता है, पैसे की खोज में रहता है और रात में उसे दूसरो के घर जाना पडता है। जब वह किसी स्त्री को देखता है तब दुखी होता है, जब दूसरे की पत्नी तथा उसके भरे-पूरे परिवार को देखता है तब उसे सताप होता है, प्रातः होते ही उन लाल घोडो को जोत देता है और शाम होते-होते एक भिखारी बनकर सो जाता है।" अन्त में—"हे द्यूतकारी, अब तुम द्यूत मत खेलना अब तुम खेत ही जोतो और अपने धन को ही बहुत समझकर उससे प्रेम करो। हे धूर्तो। खेती से ही गाये मिलती है, उसी से स्त्री मिलती है यह बात मुझसे सबके प्रेरक सूर्य देव ने कही है।"

हृदय में रहने वाली पशुताओ के निराकरण की यह प्रार्थना कितनी सुन्दर है —

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुंम् ।
सपर्णयातुंमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ।।
(ऋ० ७-१०४-२२)

"हे इन्द्र देव ! हम लोगो में उलूक के समान मोह, भेडिये के समान क्रोध, कुत्ते के समान पारस्परिक द्वेष, कोक पक्षी के समान काम वासना, मोर के समान मद और पशु के समान लोभ—ये छः पशुताये निरन्तर बनी रहती है। आप इन्हे इसी प्रकार नष्ट कर दीजिये जिस प्रकार पत्थर से (कच्चा घडा) नष्ट कर दिया जाता है।" सारे विश्व की मगल-कामना का एक उदाहरण :—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

(अ० १९—६२—१)

"केवल देवताओ का प्रिय मत करो और न केवल राजाओ का प्रिय करने की चेष्टा करो। अपितु सभी की मगल-कामना करो फिर चाहे वह शूद्र हो चाहे आर्य हो।" इसी प्रकार—"हमारे जीवन में मधुरता का पूर्ण सचार हो, हमारा मिलन मधुरतामय हो, हमारा वियोग मधुरतामय हो, हम वाणी से मधुर भाषण करे और हमारी दृष्टि भी मधुरिमामयी हो जावे।"

अनेक स्थानों पर लौकिक जीवन की सफलता के उपदेश दिये गये है और इसके लिये सगठन अत्यन्त आवश्यक बतालया गया है। ऋग्वेद का अतिम सूक्त इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। "तुम्हारा सकल्प और अध्यवसाय समान हो, तुम्हारे हृदय समान हो और तुम्हारा मन समान हो, जिससे तुम्हारा सौहित्य शोभनीय हो जावे।" "हे मनुष्यो ! तुम मिलकर चलो, मिलकर बातचीत करो, मिलकर दूसरे के विचार प्राप्त करो। जिस प्रकार पहिले के देव एक साथ मिलकर ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने-अपने भागों को प्राप्त करते है। इसी प्रकार पणि और सरमा का सवाद सूक्त भी भौतिक स्वार्थ-साधन की दिशा मे अच्छा उदाहरण है। कही-कही स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के विषय में भी अच्छी सूक्तिया पाई जाती है। जैसे उर्वशी का पुरूरवा से कथन—"हे पुरूरवा ! तुम आत्महत्या न करना, न नष्ट ही हो जाना और न हानिकारक भेडिये ही तुम्हे खा जाये। याद रक्खो स्त्रियो की मैत्री कभी स्थायी नही होती। स्त्रियो का हृदय उतना ही कठोर और निर्मम होता है जैसा कि बछडे इत्यादि को छलपूर्वक मारने वाले अन्य पशुओ का हुआ करता है।

धर्मेतर काव्य में दूसरे प्रकार के सूक्त दान-स्तुति के है। इन सूक्तो में परवर्ती राजघरानो के कवियो के समान ही यजमानो के दान का अतिरजित वर्णन किया गया है। कक्षीवान् ऋषि का सिन्धु प्रदेश के शासक भाव्य के दान की प्रशसा का सूक्त इसी बात को प्रकट करता है। (३—१२६) राजा के सहस्र सामेयागो में पुरोहित बनाने की सौ मुद्रा, सौ अश्व, सौ गाये इत्यादि देने की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की गई है। इसी प्रकार इसी सूक्त में स्वनय के द्वारा श्याम अश्व और वधुओ (सम्भवत दासियो) सहित दस रथ और साठ हजार गायो के प्राप्त करने की बात कही गई है। अष्टम मडल में कुरगक राजा की दानशीलता की प्रशसा की

गई है। (८—४—१९) इसी प्रकार और भी अनेक दानो का वर्णन किया गया है। यह मन्त्र साहित्य की दृष्टि से उच्चकोटि के नही कहे जा सकते। किन्तु दान-स्तुतियो में भिक्षु नामक आगिरस ऋषि का सामान्य दान की प्रशंसापरक सूक्त निस्सन्देह उच्चकोटि का है। "देवताओ ने भूख को मनुष्य को मारने के लिये नही बनाया, क्योकि परिपूर्ण भोजन किये हुए व्यक्ति को प्राय मृत्यु प्राप्त हो जाती है। दाता का धन सर्वदा समाप्त ही नही हो जाता किन्तु कृपण को कभी कोई सुखदायक नही मिलता।" सूक्त के अग्रिम भाग मे भी इस बात पर बल दिया गया है कि सच्चा मित्र प्राप्त करने के लिये मनुष्य को उदार बनना चाहिये। इसी प्रसग मे धन की अस्थिरता भी बतलाई गई है और जो एकाकी भोग करता है उसको पापी तथा मूर्ख कहा गया है। "उसका धन प्राप्त करना व्यर्थ है····· वह उसके लिये वध ही है। ऐसा व्यक्ति अपने धन से न तो किसी मित्र को और उससे देवो को ही प्राप्त कर पाता है।" इस प्रकार दान सूक्तो मे एक ओर दानियो की प्रशसा और दूसरी ओर दान की महिमा इन दोनो का वर्णन प्राप्त होता है।

जिस प्रकार कबीर की उलटवासिया और सूर के दृष्टिकूट प्रसिद्ध है, उसी प्रकार ऋग्वेद में कतिपय पहेलिया मिल जाती है। इस दृष्टि से सूक्त १—१६४ ध्यान देने योग्य है। उदाहरण के लिये—"यह जो चमक रहा है। आरोग्य के लिये जिसकी उपासना करना आवश्यक है, जो पालक है, जिसका आह्वान करना उचित है, इसका मध्यम भ्राता सर्वत्र व्याप्त है, इसके तीसरे भाई की पीठ पर घी रहता है, इस सात पुत्रो वाले प्रजा के स्वामी को हम जानते है।" सम्भवत यहा पर सूर्य से अभिप्राय है, जिसकी किरणे स्वास्थ्यवर्धक होती है और जो मेघ इत्यादि के द्वारा जगतीतल का पालक है। इसका मझला भाई वायु बतलाया गया है, क्योकि वह बीच में रहता है और अपहरण किये हुए जल का साझीदार होता है। तीसरा भाई अग्नि है, क्योकि वह भी सूर्य के प्रकाश का भाग लिया करता है। सूर्य के सात पुत्र उसकी सात रगो की किरणे है।

"एक चक्र वाले रथ मे सात घोडे जुते हुए है, इसे सात नामो वाला एक घोडा खीचता है, इस अजर, अमर और सदा गतिशील पहिये मे तीन नाभि है जिसके ऊपर सारा विश्व विद्यमान रहता है"

सम्भवत यहाँ पर भी सूर्य के रथ का ही अभिप्राय है। सात वर्णो वाली किरणो को घोडा माना गया है। अथवा यज्ञ का रथ है और उस के सात पुरोहित घोडे है। इस रथ की तीन नाभि तीन ऋतुये है, सभी के इस रथ पर आरूढ होने का आशय यह है कि सभी इस सूर्य के कारण जीवन निर्वाह करते है। इसी प्रकार "जिसने उसकी रचना की वह उसको बिल्कुल नही जानता। जिसने उसे देखा है उसी से वह छिपा हुआ है, वह माता के गर्भ मे छिपा हुआ पडा है, उसके अनेक पुत्र है फिर भी उसका समूल नाश हो गया है।"

"दो पक्षी एक साथ मिले हुए मैत्री के साथ रहने वाले, एक ही वृक्ष पर

बैठे है उनमें से एक पके हुए स्वादिष्ट फलो को खा रहा है और दूसरा न खाते हुए भी उस को देख रहा है।"

"एक रथ में बारह घुमाव है, एक चक्र है, तीन नाभि है, और तीन सौ साठ घूमने वाले तार है।" यहाँ पर स्पष्ट ही बारह महीने, एक वर्ष, तीन ऋतु और तीनसौ साठ दिनो का उल्लेख है।

"आकाश मेरा पिता है और मुझे जन्म देने वाला है, यहा पर नाभि है माता महता पृथ्वी है, ऊपर को उठी हुई दो चमुओ (सेनाओ अथवा सोम पात्रो) के बीच मे पिता ने पुत्री के गर्भ धारण किया।" यहा पर पर्जन्य का पृथ्वी में गर्भ धारण करने का वर्णन है। इसी प्रकार की अनेक पहेलिया इस ग्रथ में मिलती है। यही वैदिक मुक्तक काव्य के वर्ण्य विषय का सक्षिप्त परिचय है।

उपर्युक्त विवेचन और विश्लेषण के आधार पर सिद्ध होता है कि ऋग्वेद की रचना और सकलन की आधारभूत निम्नलिखित ५ प्रवृत्ति—निमित्त विद्यमान है.—

(१) **रसात्मक काव्य**—यद्यपि ऋग्वेद के संकलन का मूलाधार धार्मिक तथा पौरोहित्य परम्परा मे प्रतिष्ठित सूक्तो का सकलन करना ही था तथापि इसके विशाल कलेवर मे शुद्ध भावात्मक और कलात्मक सूक्त भी प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। इस प्रकार के सूक्तो का प्रवृत्ति-निमित्त एकमात्र रसात्मक आस्वादन ही है। अतः हम इस प्रकार के काव्य को रसात्मक काव्य कह सकते है। यहाँ पर रसात्मक शब्द उपलक्षण मात्र है जिससे सब प्रकार के भावात्मक और कलात्मक काव्य का सकलन हो जाता है।

(२) **धार्मिक काव्य**—धार्मिक साहित्य में प्रचुरता ऐसे ही सूक्तो की है जो यज्ञ-विधि के लिये उपयुक्त है। ऐसे सूक्त काव्यात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नही कहे जा सकते। किन्तु कुछ ऐसे भी सूक्त विद्यमान है जिनमें धार्मिक भावना को काव्यात्मक रूप दिया गया है। इस प्रकार के सूक्तो को हम धार्मिक मुक्तक कह सकते है। इस प्रकार के सूक्तो को, यास्क ने प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक—इन तीन वर्गो में विभाजित किया है। यह विभाजन युक्ति-युक्त और समीचीन है तथा इसमे समस्त धार्मिक काव्य का समाहार हो जाता है।

(३) **सूक्ति-काव्य**—उपदेशात्मक सूक्तो को सूक्ति या सुभाषित काव्य के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस में लोकवृत्त अथवा नैतिक शिक्षा का अभिधान काव्य की अनुरञ्जनकारिणी भाषा में किया जाता है और इसमे गुडमिश्रित औषधि का भाति चमत्कार उत्पन्न करते हुए सदुपदेश दिया जाता है। विद्वानो ने इस प्रकार के सूक्ति-काव्य को निम्नलिखित तीन भागो मे विभाजित किया है —

(अ) धार्मिक सक्ति—इसमें सत्य, त्याग, उदारता, अहिंसा इत्यादि धर्म

के मूल तत्वों का उपदेश रहता है। धार्मिक सूक्ति और धार्मिक काव्य इन दोनों में एक मौलिक अन्तर है। धार्मिक सूक्ति मे सदाचार सम्बन्धी सर्वजनीन मूल सिद्धान्तो का उपादान होता है और धार्मिक काव्य में विशिष्ट धर्म से सम्बन्ध रखने वाले उपास्यो की महत्ता, उनसे समीहित प्राप्ति की आशसा और व्यक्तिगत निवेदन, तत्व निरूपण इत्यादि का कथन किया जाता है। यही दोनो का भेदक तत्व है।

(आ) **आर्थिक सूक्तियां**—भारतीय साहित्य में अर्थशास्त्र के अन्तर्गत केवल वित्त सम्बन्धी विषय ही नही आते। किन्तु उनमें लोक-वृत्तानुकूल उपदेश भी रहते है और यह भी प्रतिपादन रहता है कि एक व्यक्ति अपने भौतिक जीवन मे सफलता किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। कही-कही लोक की सामान्य स्वार्थमयी प्रवृत्ति का उल्लेख करके पाठक को उसके प्रति जागरूक किया जाता है और कही-कही स्वार्थ-साधन के उपायो का भी विवेचन किया जाता है। यह आवश्यक नही है कि इस प्रकार की सूक्तिया सर्वदा धर्मानुकूल ही हो किन्तु यदि ये धर्मानुकूल भी होती है तो भी इनमें स्वार्थ-वृत्ति ही काम्य होती है, धर्म-भावना गौण होती है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इन सभी प्रकार की सूक्तियो का समावेश होने के कारण इनको आर्थिक सूक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। किन्तु इनको व्यावहारिक सूक्ति कहना अधिक समीचीन हो सकता है।

(इ) **कामपरक सूक्तियां**—इस प्रकार की सूक्तियो में स्त्री पुरुष सम्बन्ध के विषय में कुछ मौलिक तथ्यो का प्रस्फुटन किया जाता है। यह तथ्य स्वभाव सम्बन्धी भी हो सकते है और प्रभाव सम्बन्धी भी। रसात्मक काव्य (शृ गार रस) से इनमें यह भेद होता है कि रसात्मक काव्य मे विभाव-अनुभाव इत्यादि का आश्रय लेकर साधारणीकरण की प्रक्रिया अपनाई जाती है और या तो प्रसिद्ध प्रतीको द्वारा या काल्पनिक अनुमेय प्रतीको के आधार पर रसचर्वणा की जाती है तथा व्यक्तिगत क्षेत्र से सर्वसाधारण परिस्थिति में पहुचाया जाता है जब कि कामपरक सूक्तियो मे प्रतीक की आकाक्षा नही होती और न व्यक्तिगत उद्भावना ही अभीष्ट होती है। केवल स्वभाव या प्रभाव सम्बन्धी तथ्यो का उद्घाटन ही कर दिया जाता है।

(४) **प्रशस्ति काव्य**—भारतीय साहित्य और समाज में दानशीलता सर्वदा महत्त्वपूर्ण रही है। सम्पत्ति के उपार्जन और सचय का भार यद्यपि सर्वदा वर्ग-विशेष का ही दायित्व रहा है तथापि सम्पत्ति पर किसी वर्ग का एकाधिकार कभी नही माना गया। किन्तु धार्मिक वृत्ति के आधार पर दानशीलता को प्रोत्साहन देकर इस भावना का निर्वाह किया जाता रहा है, इसके लिये वैधानिक आश्रय की आवश्यकता का कभी अनुभव नही किया गया। केवल दानशीलता ही नही, सामाजिक सुव्यवस्था के लिये जो वीर वृत्ति अपेक्षित होती है उसका सरक्षण, प्रवर्धन और प्रत्यभिनन्दन भी कवि-कर्म का एक प्रधान अग रहा है। इसी प्रकार

दान-वृत्ति और वीर-वृत्ति में प्रवृत्त महानुभावो का अनुरञ्जन भी अपेक्षित होता है। अतएव राजा लोगो के सौन्दर्य की प्रशसा और उनके प्रति अगनाओ का आकर्षण भी दिखलाया गया है। इस प्रकार के वर्णन में अधिकतर अत्युक्ति ही प्रयुक्त होती रही है। इस प्रकार इस वर्णन को हम तीन भागो में विभाजित कर सकते है : (१) दानशीलता का वर्णन, (२) वीरता का वर्णन, और (३) सौदर्य का वर्णन। तीनो को मिलाकर प्रशस्ति काव्य की सज्ञा दा जा सकती है, किन्तु ऋग्वेद में आश्रयदाताओ की दानशालता का ही वर्णन किया गया है। उनकी विजय इत्यादि को देवताओ का प्रसाद मानकर देवताओ के प्रति आभार प्रदर्शित किया गया है और सौन्दर्य वर्णन प्रकृति के प्रसग मे ही किया गया है इस प्रकार एक ओर तो राजा लोग अवलिप्त होने से बच जाते है और दूसरी ओर उनकी काम-वृत्ति भी तीव्र नही होती। बाद के कवियो ने आश्रयदाताओं के वर्णन मे शेष दो प्रकार के वर्णन भी सन्निविष्ट कर दिये। अतएव इस प्रकार के काव्य को दान-विषयक काव्य न कहकर प्रशस्ति-काव्य कहना ही अधिक समीचीन होगा।

(५) **चित्र काव्य**—पहेलिकाओ को इसी वर्ग मे सन्निविष्ट किया जा सकता है। बाद में सर्वतोभद्र, खड्गबन्ध, मुरजबन्ध इत्यादि वर्ण-विन्यास सम्बन्धी भेद और प्रहेलिका इत्यादि अर्थानुगत भेद इसी वर्ग में सम्मलित हो गये।

जहाँ तक चित्रकाव्य का सम्बन्ध है इसे साहित्य शास्त्राचार्यो ने काव्य-सीमा से बाह्य कर दिया। कारण यह था कि चित्रकाव्य के द्वारा न तो रसास्वादन मे सहायता प्राप्त होती है, न चमत्कार-वृत्ति की ही तृप्ति होती है और न कौतूहल वृत्ति की ही शान्ति होती है। केवल वर्ण शब्द और अर्थ की विशेषता से मनोरञ्जन मात्र होता है। केवल तने से ही चित्रकाव्य काव्यत्व का अधिकारी नही हो सकता। सबसे बडी बात यह है कि काव्य का जीवन रस इससे उपहत हो जाता है। इसीलिये काव्य-शास्त्रज्ञो ने इसे उक्ति-वैचित्र्य मात्र माना है। यही कारण है कि बिहारी ने चित्रकाव्य का परित्याग कर दिया। अतएव यहाँ पर हम रसात्मक मुक्तक, धार्मिक मुक्तक, सूक्ति मुक्तक और प्रशस्ति मुक्तक–इन चार प्रकार के मुक्तको की परम्परा का सक्षिप्त परिचय देते हुए बिहारी मे उन चारो प्रकारो के प्रतिफलन का विवेचन करने की चेष्टा करंगे। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि मुक्तक के क्षेत्र मे चारो प्रकार अपनी पृथक् सत्ता सर्वथा स्थापित किये हुए है। किन्तु कही-कही पर विभिन्न प्रकारो का सकर इस प्रकार हो गया है कि उनको किसी एक वर्ग में सन्निविष्ट करना कठिन हो जाता है। यह कठिनता उस समय अधिक बढ जाती है जबकि भक्ति के विकास के साथ-साथ धार्मिकता और भावात्मकता के एकीकरण की चेष्टा दृष्टिगत होती है। ऐसे अवसरो पर प्रवृत्ति-निमित्त विषयक प्रधानता को आधार मान कर ही उन रचनाओ को किसी वर्ग में सन्निविष्ट किया गया है।

———

अध्याय २

रसात्मक मुक्तक

काल विभाजन

पिछले अध्याय में वैदिक मुक्तक काव्य का भावात्मकता और कलात्मकता की दृष्टि से विश्लेषण किया जा चुका है। इस प्रकार की कलात्मक प्रवृत्ति भारतीय सभ्यता के अरुणोदय काल में अनेक शताब्दियो तक प्रतिष्ठित रही। वस्तुतः ऋग्वेद किसी एक काल की रचना नही है अपितु अनेक शताब्दियो में बिखरी हुई एक विस्तृत साहित्य-राशि का सकलन मात्र है। "ऋग्वेद का अभिप्राय एक पुस्तक से नही है जैसा कि उदाहरण के लिये पुराण एक पुस्तक है और न किसी एक समय में सगृहीत कतिपय पुस्तको का एक परिपूर्ण सगृह ही है। जिस प्रकार बाइबिल या त्रिपिटक एक समय के सग्रह है अपितु अनेक शताब्दियो में लिखा हुआ सम्पूर्ण महान साहित्य है जो कि परम्परागत रूप में अनेक शताब्दियो तक चला आया और अन्त मे नवीन पीढी ने इसको पवित्र ज्ञान अथवा ईश्वरीय ज्ञान घोषित कर दिया। इस घोषणा मे केवल प्रचीनता ही कारण नही थी किन्तु इसका महत्त्वपूर्ण विषय भी कारण था।"[1] इसे हम मुक्तक परम्परा का प्रथम उत्थान कह सकते हैं जो कि बहुत समय तक अप्रतिहत गति से प्रवाहित होता रहा और अन्त में अपने भक्तो के हृदयो में श्रद्धा की भावना को प्रश्रय देकर सर्वदा के लिये तिरोहित हो गया। वैदिक सहिता काल के उपरान्त लिखे हुए समस्त साहित्य में संहिताओ की व्याख्या और उनके विनियोग की चेष्टा ही दृष्टिगत होती है। यदि नवीन रचनाओं में किसी प्रकार का अभिनिवेश रहा भी होगा तो भी आज हमें उसका कोई भी ज्ञान नही। वैदिक काल के अन्तिम चरण (उपनिषत्काल) में भी हमें स्वतन्त्र मुक्तक के रूप मे लिखा हुआ कोई भी काव्य-ग्रन्थ समुपलब्ध नही होता। सम्भव है उपनिषदो के आध्यात्मिक निबन्धो में यत्र-तत्र बिखरी हुई सूक्तियो का कुछ अश मुक्तक के रूप मे ही लिखा गया हो और बाद में यथा-स्थान उसे सन्निविष्ट कर दिया गया हो किन्तु उसके आधार पर हम मुक्तक काव्य का कोई स्वरूप स्थिर नहीं कर सकते और न हम उसे मुक्तक परम्परा में सन्निविष्ट ही कर सकते है। आनन्दः वर्धन और अभिनव गुप्त के अनुसार प्रबन्धान्त.पाती मुक्तक भी प्रबन्धाग के रूप

१. History of Indian Lit., by Winternitze.

में ही स्वीकृत किये जा सकते है वे स्वतन्त्र मुक्तक की सामा में नही आते।[1]

बौद्ध-साहित्य में भी रसात्मक मुक्तक की दृष्टि से लिखा हुआ साहित्य उपलब्ध नही होता। केवल थेरगाथा और थेरी गाथा में हमें उसका प्रभाव दिखाई पडता है और यह बात स्वीकार करने के अनेक कारण है कि उस समय भी रसात्मकता और भावात्मकता की दृष्टि से कुछ-न-कुछ रचना अवश्य हुई होगी। किन्तु उस समय का वही साहित्य सुरक्षित रह सका जो कि किसी सम्प्रदाय के द्वारा अपनाया गया अथवा जिसका उपयोग धार्मिक प्रचार के लिये भी किया जाता था। आश्रयदाताओ की कमी से अथवा दीर्घकाल के व्यवधान से दूसरे प्रकार का काव्य सुरक्षित नही रह सका। फिर भी थेर गाथा और थेरी गाथा भारतीय मुक्तक साहित्य की उच्चकोटि की रचनाओ में सन्निविष्ट किये जा सकते है जिनकी तुलना ऋग्वेद से कालिदास तक की जा सकती है। इसका प्रभाव परवर्ती काव्य पर भी यथेष्ट रूप मे पडा है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण मुक्तक ग्रन्थ हाल की गाथासप्तशती है। इस सप्तशती के प्रारम्भ मे निम्नलिखित गाथा दी हुई है :—

सत्तसताइं कइवच्छलेन कोडीय मज्य आरम्भि।
हालेन विरइ आइ साल काराणं गाहाणम्॥ (१—३)

(कवियो के प्यारे हाल ने एक करोड में से अलकारो से युक्त सात सौ गाथाये बनाई) इससे ज्ञात होता है कि हाल के सामने एक करोड गाथाओ का सकलन विद्यमान था और हाल ने उनमें से सात सौ उत्तम गाथाओ का सकलन कर दिया। यहा पर विरचित का अर्थ रचना करना नही है अपितु सकलन करना है। इस प्रकार हमे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ भी ऋग्वेद के समान ही एक स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है अपितु एक विस्तृत समय में लिखे हुए मुक्तक पद्यो का सकलन मात्र है।[2] ग्रन्थ के अन्त साक्ष्य और बहिःसाक्ष्य दोनो आधारो पर सिद्ध होता है कि इसका सकलन आन्ध्र के सुसमृद्ध राज्य में शातवाहन के दरबार में हुआ था। इस ग्रन्थ से हमें उस समय की मुक्तक परम्परा का सुसम्बद्ध और स्पष्ट चित्र प्राप्त होता है। यही से एक परम्परा भी चलती हुई प्रतीत होती है जो गुप्त काल और उसके बाद मे भी प्रतिष्ठित रही। इस परम्परा की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे वैदिक काल की बहुमुखी प्रवृत्ति के स्थान पर एक निश्चित सकुचित धारा मे कविकर्म प्रवृत्त होता हुआ दिखलाई देता है। प्रकृति काव्य-रचना विषयक अभिनिवेश तो जाता ही रहा साथ ही वीरभावो की अभिव्यक्ति का युग भी समाप्त हो गया। मुक्तक काव्य जगत् में सर्वत्र रसराज शृंगार का एक छत्र राज्य स्थापित हो गया और उसकी वेगवती मनोरम धारा प्रवाहित हो चली। इस

१. ध्वन्यालोक लोचन उद्योत ३

२. देखो—History of Indian Sanskrit Literature by Kalt तथा गाथा सप्तशती की भूमिका।

परम्परा की एक बहुत बडी विशेषता यह है कि इसमें विभावो का निर्देश नही है। शृंगार रस की अभिव्यक्ति किन्ही विशेष प्रकार के नायक और नायिकाओ को लक्षित करके नही की गई है। काव्य से केवल इतना ही प्रतीत होता है कि कवि ने किसी विशेष नायक-नायिका की एक विशेष दशा का चित्रण किया है जो कि किसी के विषय में भी सभव हो सकता है। नायक-नायिका के व्यक्तित्व के उन्नयन का भार पाठक पर छोड दिया गया है। यद्यपि इसके अपवाद भी प्राप्त होते हैं जैसे हाल की सप्तशती में दो गाथाये राधा-कृष्ण से सम्बद्ध है, एक गाथा में गोपियों के प्रेम का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार दो-एक गाथाओ में शिव-पार्वती के प्रेम का भी वर्णन है, इसी प्रकार विशेष परिस्थिति में चौर कवि ने अपने प्रेम का आलम्बन राजकुमारी को बनाया है। तथापि ये रचनाये परिमाण में इतनी न्यून है कि इनको हम काल की सामान्य प्रवृत्ति नही मान सकते।

रसात्मक मुक्तक परम्परा की उक्त परिस्थिति में परिवर्तन जयदेव के समय में उपस्थित होता है। अब शृ गार रस के आलम्बन के रूप मे राधा और कृष्ण पूर्ण रूप से आसनासीन हो गये। कही-कही भगवान् राम को भी आलम्बन या आश्रय मानकर रसाभिव्यक्ति की गई। इस प्रकार की रचनाओ को हम धार्मिक मुक्तको में सन्निविष्ट नही कर सकते। इन रचनाओ का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त रसाभिनिवेश और कलात्मकता ही है। दूसरी बात यह है कि इस समय तक आते-आते काव्य-शास्त्र भी अपने प्रौढ प्रकर्ष को प्राप्त हो चुका था और रसात्मक काव्य-धारा एक रूढिबद्ध प्रणाली पर प्रवाहित हो चली थी। मुक्तक के क्षेत्र में शृ गार रस का प्राधान्य था ही। अतएव इस काल में राम-भक्ति के स्थान पर कृष्ण-भक्ति को मुक्तक के क्षेत्र में विशेषता दी गई। यह समस्त काव्य रसात्मक कृतियो में ही सन्निविष्ट किया जा सकता है क्योंकि इसका मुख्य प्रवृत्ति-निमित्त रसात्मकता ही है। धार्मिक मुक्तको में हम उसी काव्य को सन्निविष्ट कर सकते है जिसमें वैदिक परम्परा के अनुसार या तो अपने आराध्य की लोकोत्तर महत्ता की अभिव्यञ्जना की गई हो या किसी प्रकार की आशसा की गई हो अथवा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन, आत्म-निवेदन, भक्ति की ओर प्रेरणा और सासारिकता की गर्हणा मे से कोई बात हो। इसके अतिरिक्त जो काव्य राधा-कृष्ण इत्यादि को विभाव के रूप में स्वीकृत कर रसचर्वणा के मन्तव्य से लिखे गये है उन्हे हम रसात्मक मुक्तक ही कहेगे। यह बात दूसरी है कि इन आलम्बनो को आराध्य के रूप में स्वीकृत कर लेने के कारण ही कवियो में इनके रसात्मक वर्णन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। जहाँ भक्ति के आलम्बन और रसात्मक कविता के आलम्बन में भेद है वहा यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए विद्यापति के आराध्य के रूप में भगवान् शकर जी प्रतिष्ठित हुए है और रसात्मक कविता का आधार राधा-कृष्ण माने गये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में सर्वत्र रसात्मक रचना किसी विशेष विभाव को मानकर ही चलती है। यह परम्परा बिहारी के समय तक चलती

है। इस प्रकार हम इस समस्त रसात्मक मुक्तक परम्परा को निम्नलिखित तीन भागो मे विभाजित कर सकते है .—

१—प्रारम्भिक काल अथवा हाल से पूर्ववर्ती काल—इसमें वैदिक काल तथा बौद्ध, जैन काल सम्मिलित हैं। इस काल की रचनाओं में प्रकृति को प्रधानता प्राप्त थी। अतएव इसे हम **प्रकृति** काल कह सकते है।

२—हाल से जयदेव तक—इस काल में प्राकृत जन विषयक रचनाओं का बाहुल्य था। अतएव इसे हम प्राकृत काल के नाम से अभिहित कर सकते हैं।[1]

३—जयदेव से बिहारी तक—इसे हम भक्ति काल के नाम से अभिहित कर सकते है क्योंकि इस काल की रचनाओ में भक्ति काव्य का बाहुल्य है। अगले पृष्ठो मे इसी विभाजन के आधार पर मुक्तक काव्य-परम्परा का परिचय दिया जावेगा।[2]

(१) प्रथम चरण—प्रकृति काल

(अ) वैदिक काव्य—भावात्मकता को दृष्टि से वैदिक काव्य की समीक्षा प्रथम अध्याय में की जा चुकी है। सक्षेप में रसात्मकता के विषय में हमें ऋग्वेद में निम्नलिखित तत्व अधिगत होते हैं :—

कठोर रस—जातीय संघर्ष का प्रतिफलन होने के कारण वेद में वीर रस की ही प्रधानता है। अन्य रसो की अपेक्षाकृत न्यूनता है। वीर रस का आश्रय इन्द्र हैं और आलम्बन अनेक असुर जो इन्द्र पर असफल बल प्रयोग की चेष्टा करते है और इन्द्र अनायास ही उन पर विजय प्राप्त कर लेते है। स्पष्ट हो है कि हमारे ऋषियों ने आर्यों की विजय का श्रेय योद्धा सम्राटो को देना उचित नही समझा किन्तु इस विजय को इन्द्र देवता का प्रसाद ही माना है। इस प्रकार एक ओर वे योद्धाओ के अवलेप की शाति करते है और दूसरी ओर उन्हे आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। वीर रस के परिपाक के लिये विरोधियो की वीरता को अधिक प्रसार नही दिया गया है किन्तु अनायास ही विजय लाभ दिखलाया गया है। युद्ध वीर के साथ ही रौद्र, बीभत्स और भयानक का भी समावेश हो जाता है। दान वीरता और धर्म वीरता भी स्थान-स्थान पर अधिगत होती है किन्तु अपेक्षाकृत उनका प्रसार कम ही है।

शृंगार रस—शृंगार रस के क्षेत्र मे मानव-भावनाओ का आरोप प्राकृतिक दृश्यों और विशेषकर उषा के प्रसग में किया गया है। इस दिशा में आलम्बन का महत्व परवर्ती काव्य जैसा दिखलाई नही देता। नख, शिख तथा अंग-प्रत्यग का पृथक्-पृथक् वर्णन नही किया गया है, किन्तु सामूहिक प्रभाव कोमलता, सुकुमारता कामुकता इत्यादि का ही चित्रण दिखलाई देता है। कही-कही विशेष अवस्था का

१. यदि अधिक स्पष्ट करना चाहें तो इसे हम अनिर्दिष्ट विभाव काल कह सकते हैं।

२. इस काल को हम निर्दिष्ट विभाव काल भी कह सकते है।

भी चित्रण किया गया है, जैसे सद्यःस्नाता के प्रसग में । अभिसार के दोनो रूप इसमें विद्यमान हैं। एक ओर तो नायिका नायक को अभिसार कराती है दूसरी ओर नायिका स्वय भी अभिसार करती है। वासकसज्जा का भी चित्रण उषा के प्रसग में दिखलाई देता है। सचारी भावो में लज्जा, अवहित्था इत्यादि प्रमुख सचारियो का ही चित्रण है । अन्य भावो की उपेक्षा की गई है। प्रेम के प्रत्याख्यान का भी अच्छा चित्रण है। एक ओर स्त्री के प्रणय की अवहेलना पुरुष की ओर से दिखलाई गई है और दूसरी ओर पुरुष के प्रणय की अवहेलना स्त्री की ओर से दिखलाई गई है। इस दिशा में मानसिक सताप और भावना की तीव्रता का वर्णन प्रशसनीय है। शृंगार रस में स्वकीया और परकीया दोनो प्रकार की नायिकाओ का चित्रण है। रस और रसाभास दोनो के उदाहरण विद्यमान है। ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य दोनो रूपो में शृगार रस का उपादान हुआ है। इस प्रकार शृंगार रस बहुमुखी है और उसमें माधुर्य गुण का सर्वथा बाहुल्य है।

हास्य रस— कही-कही अश्लील शब्दो का प्रयोग किया गया है जो कि भरत के अनुसार हास्य रस की सीमा मे आता है। मण्डूक सूक्त में हास्य रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

करुण रस—मृत व्यक्तियो और आहत सैनिको के प्रसग में करुण रस की हल्की-सी छाया मिलती है।

शांत रस—यजुर्वेद के ४०वे अध्याय में जो कि ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है, शात रस अधिगत होता है।

ऋग्वेद में उपमाओ की भरमार है। ये उपमायें अधिकतर अनायास ही आयी है और रस की परिपोषक है। औपम्य मूलक दूसरे भी अलकार यथास्थान आ गये हैं, जिनमें मालोपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति इत्यादि प्रमुख है। कही-कही कार्य-कारण भाव मूलक अलकार भी विद्यमान है और विरोध मूलक अलंकार अधिक चमत्कार कारक है। शब्दालकार भी अपना पृथक् महत्त्व रखते हैं। अनुप्रास तो एक साधारण सी वस्तु है, यमक और पुनरुक्तवदाभास[1] जैसे प्रौढ कलात्मक अलंकार भी उपस्थित है।[2] सकर और ससृष्टि की कमी नही है। जहां अर्थ शक्ति मूलक ध्वनियो में वस्तु और अलकार दोनो की ध्वनि पाई जाती है वहा शब्द शक्ति मूलक ध्वनि के भी भेद यत्र-तत्र विद्यमान है। इस प्रकार यद्यपि ऋग्वेद का सकलन मुक्तक काव्य के दृष्टिकोण से कम तथा धार्मिक और याज्ञिक दृष्टिकोण से अधिक हुआ है तथापि मुक्तक काव्य के कलात्मक और भावात्मक उदाहरण भी इसमें बडे ही सुन्दर ढग से आ गये हैं। इनका क्षेत्र उतना अधिक व्यापक नही है

१. यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव।

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखिये अध्याय प्रथम।

जितना कि बाद के साहित्य में उपलब्ध होता है तथापि बाद के काव्य जगत् जैसी एकदेशीयता भी इस संकलन में नही है। इसमें अनेक रसों और भावो का उचित समावेश है और अलकारो का भी उचित मात्रा में उपादान हुआ है। यही वैदिक काव्य के भावात्मक अशों का सक्षिप्त परिचय है।

(आ) **थेरी गाथा**—ऋग्वेद के बाद हाल के समय तक प्रथम चरण की सबसे अधिक महत्वपूर्ण भावात्मक मुक्तक रचना है। यह खुद्दक निकाय के १५ भागो में एक है। इसका नाम सर्वदा थेर गाथा के साथ लिया जाता है। इन दोनो पुस्तको में बौद्ध संन्यासियों के आंतरिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है। थेरी गाथा में ७३ खण्ड और ५१८ पद्य हैं। प्रत्येक खण्ड में एक थेरी का नाम लिखा हुआ है। थेरी गाथा पर धम्मपाल नामक एक कवि ने पांचवी शती के आस-पास एक टीका लिखी। इस टीका में थेरियों की जीवन-गाथा लिखी है जो कि या तो पद्यों के आधार पर उन्नीत कर ली गई है या गढ़ ली गई है और सर्वथा विश्वसनीय नही हो सकती। श्रीमती रायस डेविड ने अपने "साग्स् आफ सिस्टर्स" में लिखा है कि गौतम बुद्ध के जीवन-काल में बौद्ध सन्यासियो ने गगा की घाटी में जैसा जीवन बिताया है उसका ठीक उपदेशात्मक चित्र हमें इन गाथाओ में प्राप्त होता है। धम्मपाल ने प्रायः सभी गाथाओ के विषय में लिखा है :—

अर्हत्तं पन पत्त्वा परिपत्ति पंच्चवेक्खित्वा। उदानवसेन इमा गाथा अभासि।" अर्थात् अर्हत पद को प्राप्त होकर भावनावश ये गाथायें कही गई है। रायस डेविड ने इन गाथाओ के विषय में लिखा है, "इन पद्यों में हम भावना या शक्ति की अभिव्यक्ति देखते है जो या तो नवीन रूप में उद्भूत हुई है अथवा नवीन धाराओं में विभक्त कर दी गई हैं, जब इन गाथाओं में शान्ति की प्रतिध्वनि श्रवण गोचर होती है उस समय भी इनमें भावना तथा आनन्द की अभिव्यक्ति होती है।"

ये गाथाये स्त्रियो के विषय में लिखी हुई है और नारी हृदय का ठीक रूप में प्रतिनिधित्व करती है। श्रीमती रायस ने थेर गाथा और थेरी गाथा की तुलना करते हुए शब्द प्रयोग, भावना और शब्द-शक्ति पर ध्यान दिया है। उन्होने लिखा है कि भिक्षुणिओं की गाथा में हृदय तत्व तथा भावना का प्राधान्य है और थेर गाथा में प्रकृति चित्रण किया गया है। भिक्षुणियों की गाथा में वास्तविक जीवन के चित्र अधिक उच्चकोटि के उतरे हैं। इस प्रकार इन गाथाओं में कवित्व की सच्ची भावना अन्तर्निहित है। यदि कविता में भावना की प्राथमिक सत्ता स्वीकार कर ली जावे और उसका उद्बोधन घटना के आधार पर माना जावे तो ऐसी दशा में परिस्थिति-वश भावनाओ के उद्दीपन होने के कारण गाथाये उच्चकोटि की कविता मे आयेगी।

इस सग्रह में विभिन्न भिक्षुणियो के नाम पर अलग-अलग गाथाओ का संकलन किया गया है। अनेक गाथाए ऐसी भी है जो किसी एक भिक्षुणी के नाम

पर सकलित तो कर दी गई हैं किन्तु वे सर्वथा परस्पर असम्बद्ध हैं। इस संकलन की अनेक गाथाओं में उच्चकोटि का कवित्व प्राप्त होता है और गीति काव्य या नाटक का आनन्द आता है।

ये गाथाएं स्वयं भिक्षुणियों ने बनाई हैं या उनसे सुनकर किसी दूसरे ने इन्हें कविता का रूप दे दिया है, यह कहना कठिन है। यदि ये गाथाए स्वयं भिक्षुणियो द्वारा न लिखी गई होती तो इनमें हमें वह हृदय तत्व अधिगत नही होता जो इनमें प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये अम्बपाली की कविता में जो उसकी युवावस्था और वृद्धावस्था की तुलना की गई है वह वास्तव में बहुत ही उच्चकोटि की कविता का नमूना है, इसमें सन्देह नही। इन गाथाओं में कुछ बहुत ही पुरानी हैं। डा० पिशेल ने चाया और सुन्दरी की गाथाओं को बहुत ही प्राचीन बतलाया है। श्रीमती रायस ने ऋषिदासी की कविता में अनेक शैलियों के दर्शन किये हैं और सुमेधा की रचनाओं को अत्यन्त प्राचीन बतलाया है।

इन गाथाओं का सामाजिक चित्रण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनमें हमें वर्ण-व्यवस्था का भेदभाव राजकुमारी, रानी, सेठानी, सुशिक्षित तथा सुसभ्य ब्राह्मणी, दासी, वेश्या, नाचने-गाने और सुन्दरता तथा कटाक्षो के द्वारा जीविकोपार्जन करने वाली भिखारी, पहाडिन, व्याध की स्त्री तथा और भी कई प्रकार की स्त्रियो के दर्शन होते हैं। जीवन के विभिन्न तत्वो के प्रभाव से वे आर्हत जीवन की ओर आकृष्ट होती हैं और गृहस्थ जीवन का परित्याग करती हैं। कही बुद्ध का जीवन तथा व्यक्तित्व, कही किसी शिष्य की उच्चकोटि की शिक्षा, कही सवेग, कही प्राचीन जीवन के सस्कार उनको बौद्ध धर्म की ओर झुकाते हैं। दूसरी गाथाओं में जीवन के कटु अनुभव जैसे पुत्र मरण, वैधव्य, निराशा, पति या पुत्रों का दुर्व्यवहार, खेद, अपमान, दुराचार, दुर्मत पिता के प्रति कर्तव्य बुद्धि इत्यादि के कारण उनका आकर्षण सघ की ओर हो जाता है। इस नयी अवस्था में आकर उन्हे स्वतन्त्रता, आशा, अवसर, उन्नति का पर्याप्त साधन इत्यादि के दर्शन होते हैं। यही उन्हे अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्राप्त होता है। भिक्षुणियां संघ में प्रविष्ट होकर किसी भिक्षुणी से शिक्षा प्राप्त कर इतनी दृढता से अपने सन्मार्ग का पालन करती है कि अन्त में निर्वाण की अधिकारिणी बन जाती है। मोक्ष में दोनो तत्व हैं नकरात्मक भी और स्वीकारात्मक भी। भावना और माया का परित्याग, प्रवृत्तियों का पूर्ण दमन और सत्ता का परित्याग एक ओर है और दूसरी ओर अन्तर्दृष्टि, आनन्द, शाति, सुरक्षा इत्यादि विद्यमान हैं साथ ही नैतिकता का भी पर्याप्त विकास है। कही-कही ऐश्वर्य तथा वैभव के उच्चकोटि के चित्र भी खीचे गये है। सुजाता, अनोपमा, इत्यादि थेरियों ने अपने सौन्दर्य, शृंगार और ऐश्वर्य का अच्छा वर्णन किया है। बाद में ये वैराग्य से प्रव्रज्या लेती हैं। चाला, सुचाला, और उपचाला तीन सगी बहने हैं; तीनो के साथ कामदेव का सवाद बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

अम्बपाली के प्रसग में अग-प्रत्यग का वर्णन किया गया है जिसमें आभूषणो की सुन्दरता भी सन्निविष्ट की गई है। इनकी उपमानो द्वारा यौवन तथा वृद्धावस्था की तुलना बहुत अधिक प्रसिद्ध है।

(इ) **थेर गाथा** में ३६ भाग और १२७९ पद्य है। इनमें प्रस्तावना की तीन गाथायें सम्मिलित नही हैं। ये गाथाये २६४ थेरों की कही हुई है। पद्यो की सख्या के आधार पर इनका वर्गीकरण किया गया है, किन्तु यह क्रम सर्वथा ठीक नही है। गाथा के अन्त में जो सख्या दी हुई है उससे यह संख्या मेल नही खाती। ज्ञात होता है बहुत-सी गाथाओं का लोप हो गया है। इन गाथाओ पर भी धम्मपाल की परमत्थ दीपनी टीका है। संघ के जीवन में आने से पहले यह थेर गृहस्थ थे। किसी घटना से प्रभावित होकर ससार का परित्याग कर दिया। इन्होने नवीन जीवन में आकर जो अनुभव प्राप्त किये उनका इन गाथाओं में वर्णन है। रायस डेविड ने लिखा है कि ११४ थेरों ने बाह्य अनुभव लिखे है, १४१ ने आन्तरिक अनुभव लिखे है और ९ ने सम्मिलित अनुभव लिखे हैं। एक ओर इन गाथाओ में नैतिकता छलकती है, दूसरी ओर प्रकृति-प्रेम तथा मनोमोहक जीवन के चित्र विद्यमान हैं। यह समझ में नही आता कि भिक्षुओ को एकान्त-साधना के निमित्त ससार त्याग देने पर भी इतना प्रकृति मे प्रेम क्यो हो गया। प्रकृति की महत्ता, उच्चता और ऐश्वर्य के कोमल चित्रो को सामने रखकर उनकी गम्भीरता और दुःखवाद के सिद्धान्त को आघात पहुचता है। विण्टर नित्ज ने लिखा है—"इसमें सदेह नही कि इन धार्मिक कविताओ में प्रकृति के मनोमोहक चित्र भारतीय मुक्तक-परम्परा के बहुमूल्य रत्न है। जगल और पर्वतो के दृश्यो के बीच में बैठकर भिक्षुगण साधना करते थे जब गम्भीर दृष्टि होती थी तथा बिजली कडकती थी तब भी इन्हे आनन्द आता था।"[1] ये महात्मा भी जो जीवन के सुख-दुःख के प्रति सर्वथा उदासीन हैं अपने को वसन्त के सौन्दर्य वर्णन से पृथक नही रख सके। श्रीमती रायस ने लिखा है—"थेर गाथा की इन पक्तियो को हम निस्सकोच शैली और कीट्स की किसी भी उच्चकोटि की रचना की तुलना मे रख सकते है। थेरी गाथा के समान इनमें भी सभी वर्गो का सामाजिक चित्रण किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शिल्पकार, कारीगर, मजदूर, अभिनेता, राजा के अवैध पुत्र, सामान्य व्यक्ति इत्यादि सभी प्रकार के व्यक्तियो को इन गाथाओ में स्थान मिला है।"[2]

(ई) **नान्दी** और (उ) **अनुयोगदार** जैन धर्म के दो महान् ग्रथ हैं। परम्परा के अनुसार इनकी रचना देवर्धि ने की थी। विण्टरनित्ज ने लिखा है कि जैन धर्म की जितनी भी ज्ञातव्य बाते हैं, उन सबका इन ग्रंथों में समावेश पाया जाता है। इनमें काव्य रस पर पूरे-पूरे प्रकरण हैं और उदाहरण के रूप में शृंगार रस सम्बन्धी पद्य लिखे गये हैं।

१. देखो हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, द्वारा विण्टरनित्ज।

२. देखो रायल डैविड लिखित पायस आफ बर्मा।

रसात्मक मुक्तक-परम्परा के प्रथम चरण का यही संक्षिप्त परिचय है। चिर व्यवहित होने के कारण इस काल की अधिक सामग्री अधिगत नही होती। साम्प्रदायिक साहित्य के सुरक्षित करने में जो कुछ थोडे-बहुत मुक्तक पद्य इधर-उधर बिखरे हुए दिखाई पडते हैं वे ही इस काल के रसात्मक मुक्तकों की सम्पत्ति हैं। कुछ स्वतन्त्र ग्रथ भी लिखे गये होंगे किन्तु साम्प्रदायिक आश्रय प्राप्त न हो सकने के कारण वे सुरक्षित नही रक्खे जा सके। अतः धार्मिक संकलनो में घुणाक्षर-न्याय से आये हुए इन कतिपय पद्यो पर ही सतोष करना पडता है।

(२) द्वितीय चरण—प्राकृत काल

विक्रम की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में भारतीय रसात्मक मुक्तक काव्य-जगत् का सबसे महान् और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कोष-ग्रथ हाल की गाथा सप्तशती हमारे सामने आती है। यहां से मुक्तक-काव्य के क्षेत्र में हमें नई गति-विधि, नई शैली, नये विषय और नई परम्परा के दर्शन होते हैं। कविता उन्मुक्त प्रकृतिविचरण का परित्याग कर राजघरानों और सामाजिक क्षेत्रो में बन्दिनी बन जाती है और इसका विषय प्रधान रूप से मानव हो जाता है। प्रकृति-सौदर्य के स्थान पर स्त्री-सौन्दर्य अपना अधिकार जमा लेता है और वीर भावो की अभिव्यक्ति के स्थान पर शृंगार रसाभिव्यक्ति प्रधान हो जाती है। कविता में एक नया लचकीलापन, शब्द-प्रयोग में एक नया ढंग और व्यजना का नया स्वरूप दृष्टिगत होने लगता है। इस परिवर्तित परम्परा के स्वरूप को ठीक रूप में समझने के लिये यह नितान्त अपेक्षित है कि उसके कारणो पर सक्षेप में प्रकाश डाला जावे जिससे उसकी पृष्ठभूमि को ठीक रूप में समझकर हम उसके वास्तविक स्वरूप को हृदयंगम कर सकें। इसके लिये हमें उस समय की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियो का सिंहावलोकन करना होगा और साथ ही मानव मनोवृत्ति की उन सामान्य प्रवृत्तियो पर भी संक्षेप में प्रकाश डालना होगा जिन्होंने कवि तथा कलाकारो को एक ही दिशा में चलने की प्रेरणा प्रदान की।

राजनीतिक स्थिति—भारत एक महान् देश है जो कि चिर अतीत से छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित रहा है। इन राज्यों का परस्पर संघर्ष और महत्ता तथा एकछत्र राज्य स्थापित करने का प्रयास ही भारत के इतिहास का मूलसूत्र है। दूसरी ओर भारत जसे सम्पन्न तथा उपजाऊ प्रदेश पर अधिकार करने की विदेशियों की लालसा भी भारत में जन-जीवन को व्यस्त रखने में कारण रही है। इस प्रकार एक ओर तो अन्तःकलह और दूसरी ओर सीमान्त प्रदेशो के आक्रमणो के कारण भारत में प्रायः सघर्ष ही चलता रहा है। किन्तु प्रस्तुत समय के अन्तर्गत (विक्रम की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में) इस प्रकार का कोई भी महत्वपूर्ण संघर्ष दिखलाई नहीं पड़ता। शक, कुशाण और यूनान के लोगों का आक्रमण एक अतीत

की कथा बन गई थी और हूण लोगो का आक्रमण लगभग ४०० वर्ष बाद होने को था। शक, कुशाण और यूनान के लोगो ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये थे और उन्ही में ये लोग पूर्णतया सन्तुष्ट थे। हूण लोग भी भारत की सीमा तक आ गये थे किन्तु अभी तक उन्होने भारत-प्रवेश नही किया था।[1]

ये आक्रामक जातिया अपने साथ कोई विशेष उद्देश्य या किसी विशेष प्रकार की धार्मिक मनोवृत्ति को लेकर भारत में नही आई थी जैसा कि बाद के आक्रांता मुसलमानो के विषय में कहा जा सकता है। इन जातियो का विदेशियो मे सम्बन्ध भी नही था और मूल देश के निवासी इन्हे जानते भी नही थे। ये लोग पूर्ण रूप से भारत के निवासी बन गये थे और भारत को ही स्वदेश समझने लगे थे। भारतीय रीति-नीति और आचार-विचार अपनाने मे ये लोग गौरव का अनुभव करते थे और भारतीय कला तथा विज्ञान के विकास में योगदान देना अपना कर्तव्य समझते थे। इन लोगो की भारतीय मनोवृत्ति का सबसे बडा परिचय इस बात से मिलता है कि इन लोगो के नाम विदेशी थे किन्तु ये लोग अपने पुत्रो का नाम भारतीय ढग पर ही रखते थे। उस समय का सबसे बडा कवि अश्वघोष और आयुर्वेद के सबसे अधिक महान् ग्रथ का निर्माता चरक—ये दोनो कुषाण सम्राट् कनिष्क के दरबार में ही थे। यूनानी शासक मिनेण्डर बौद्ध हो गया था और उसने मिनेण्डर से मिलिन्द का रूप धारण कर लिया था। शको के महाक्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री का विवाह आध्र नरेश वाशिष्ठी पुत्र शातकर्णी से हुआ था। इन सब तथ्यो के आधार पर सिद्ध होता है कि ये विदेशी आक्रान्ता अपने विदेशीपन को छोडकर पूर्ण रूप से भारतीय बनते जा रहे थे और न तो भारतीय ही इनसे उद्विग्न होते थे और न ये ही अपने को भारत में किसी प्रकार विदेशी समझते थे। न भारत को इनसे किसी प्रकार का भय था और न ये ही भारत को विदेश की दृष्टि से देखते थे।

यह तो हुई विदेशियो के भारत पर आक्रमण और शासन की बात। देशी नरेशो मे भी उस समय किसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण सघर्ष दृष्टिगत नहीं होता। बडे राज्यो में शातवाहन शक, कुशाण और कलिग के ही राज्य थे। इनके अतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे राज्य भी स्थापित थे। इस समय आध्र का राज्य सर्वाधिक महत्त्व-शाली था। यहां पर शातवाहन या शालिवाहन परिवार के लोग राज्य करते थे। आध्र की पूर्वी राजधानी प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठान) थी और पश्चिम में कृष्णा नदी के तट पर स्थित धान्यकटक में एक दूसरी राजधानी थी। इन लोगों का राज्य समस्त दक्षिणा पथ पर था और इनकी शक्ति की कल्पना इसी वास्तविकता से की जा सकती है कि दिग्विजयी सम्राटों को भी कभी आध्र में प्रवेश करने का

१. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये Ancient India by Majumdar तथा प्राचीनकाल के इतिहास पर दूसरी पुस्तकें।

साहस नही हुआ । इस काल में कोई ऐसा सघर्ष दिखाई नही देता जिसने व्यापक रूप मे जन-जीवन को आक्रान्त किया हो, केवल शातवाहन और शक राजाओ मे कभी-कभी छोटे-मोटे सघर्ष होते रहते थे जिनमें कभी शातवाहन वश वालो की विजय हो जाती थी और कभी शक लोगो की । एक बात और थी—जिस प्रकार उस समय के विदेशी आक्रान्ताओ ने अपने विजित भू-भाग पर आधिपत्य जमा कर भारत से आत्मीयता का अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया था, उसी प्रकार देशी नरेशो में भी राजपूत युग की भाति मिथ्याभिमान को लेकर व्यर्थ की बातो में लड बैठने की प्रवृत्ति नही थी । इस समय के इतिहास की विशेषता यह है कि यदि कोई महत्त्वाकाक्षी नृपति दिग्विजय के लिये यात्रा करता था तो उसे अधिक प्रतिरोध का सामना नही करना पडता था । कारण यह था कि एक ओर तो उसका मन्तव्य छोटे-छोटे राज्यो का अन्त करना नही होता था किन्तु केवल अश्वमेध के लिये पृष्ठभूमि तैयार करना ही होता था और दूसरी ओर उनका आदान भी विसर्ग के लिये ही होता था ।[1] इस प्रकार यह समय राजनीतिक शान्ति और सुव्यवस्था का युग था जबकि काव्य और कला पूर्ण विकास की ओर अग्रसर हो सकते थे ।

आर्थिक स्थिति—जस प्रकार उस समय की राजनीतिक स्थिति कला, साहित्य और विज्ञान के विकास के लिये सर्वथा उपयुक्त थी, उसी प्रकार आर्थिक स्थिति भी सर्वथा सन्तोषजनक थी । व्यवसाय और उद्योग का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था और जन-जीवन आर्थिक चिन्ताओ से सर्वथा मुक्त था । व्यापार-पद्धति और उद्योग-धन्धो के बल पर भारत विश्व का सबसे अधिक समृद्ध तथा सम्पन्न राष्ट्र बन गया था ।[2] भारत की सम्पत्ति विदेशो मे एक साधारण लोकोक्ति का रूप धारण कर चुका थी । अनेक प्राचीन कथानको के आधार पर प्राचीन भारतीय सम्पत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है । ईसा की दूसरी शताब्दी मे कोशल के अनाथ-पिण्डक नामक एक व्यापारी ने श्रावस्ती का जैत्र वन नामक एक उद्यान बुद्ध को भेट करना चाहा और उस उद्यान के स्वामी से यह शर्त निश्चित हुई कि जैत्र वन में समस्त भूमि पर जितनी स्वर्ण-मुद्राये बिछ जावे उतना मूल्य उस जैत्र वन का होगा । दूसरी शताब्दी के भरहूत के स्तूप पर इस घटना का विस्तार से उल्लेख किया गया है तथा इस बात का वर्णन किया गया है कि किस प्रकार स्वर्ण से भरी हुई अनेक गाडिया जैत्र वन को गई थी । जैन सिद्धान्त साहित्य के कथानको में लिखा है कि आनन्द नामक एक व्यक्ति ने जैन धर्म स्वीकार करने के अवसर पर चार करोड स्वर्ण भार एक सुरक्षित स्थान पर, चार करोड स्वर्ण भार ब्याज

---

१. आदान हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ।—कालिदास

२. कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजसत्ता के जिन विभागों का वर्णन किया है: उससे ज्ञात होता है कि भारत उद्योग धन्धों के क्षेत्र में एक सुसम्पन्न राज्य था ।

पर, चार करोड मूल्य की एक समृद्ध सम्पत्ति और पशुओ के चार समूह छोडे थे जिनमें एक-एक में दस-दस हजार पशु विद्यमान थे। सम्भव है इन कथानको में कुछ अत्युक्ति हो किन्तु इनसे उस समय की भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश अवश्य पडता है। इस प्रकार एक ओर तो आर्थिक सुव्यवस्था और दूसरी ओर राजनीतिक निश्चिन्तता इन समस्त तथ्यो ने मिलकर जीवन में एक विचित्र प्रकार की चमक-दमक, एक अद्वितीय विलास और एक अभूतपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न कर दिया था।

सामाजिक स्थिति—उक्त स्थितियो का प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पर्याप्त मात्रा में पडा था। मेगस्थनीज ने अपने भारतीय विवरण में लिखा है कि भारतीय व्यक्ति सौन्दर्य तथा आभूषण के प्रेमी होते है। उनके वस्त्रों में सोने का काम तथा रत्न जडे रहते है। ये लोग भडकीले रेशमी वस्त्र पहनते है। ....यहा के निवासियो के पास जीवन-यापन के साधन आवश्यकता से अधिक है जिसके परिणाम-स्वरूप ये लोग जीवन-यापन की सर्वसाधारण सीमा का अतिक्रमण कर गये है और उनके व्यवहार में स्वाभिमान की एक झलक दिखलाई देती है। ये कलाओ में भी भली-भाति निपुण है जैसा कि शुद्ध वायु तथा सर्वोत्तम जल का सेवन करने वाले इन व्यक्तियो से आशा ही की जा सकती है। भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में सैकडो आभूषणो का वर्णन किया है जिनमे सुवर्ण तथा रत्नो का ही प्राधान्य होता था। नटो के नेपथ्य विधान में स्वाभाविकता लाने के लिये उनके आभूषण इत्यादि में सर्वसाधारण का अनुकरण सन्निहित रहता था। इस प्रकार नटो के आभूषणो के उल्लेख से उस समय के सर्वसाधारण के जीवन पर भी यथेष्ट प्रकाश पडता है। हमें इस समय के साहित्य में ईंट, पत्थर तथा लकडी के बने हुए विशाल भवनो का वर्णन मिलता है। यह भवन कई-कई मजिल ऊचे होते थे जिनमें प्रकोष्ठो की भित्तिया विभिन्न प्रकार के चित्रो से चित्रित होती थी। इन भवनो में आमोद-प्रमोद की सारी सामग्री सन्निहित रहती थी।

वात्स्यायन के काम-सूत्रो में इस समय के जन-जीवन का बडा ही रोचक तथा विशद वर्णन किया गया है। प्रायः प्रत्येक भवन से लगी हुई एक छोटी वाटिका अवश्य होती थी जिसमें काम-क्रीडार्थ लता-कुंज तथा शीत-गृह यथा-स्थान होते थे। प्रत्येक कार्य के लिए भवन में पृथक्-पृथक् विभाग होते थे यहा तक कि रत्याचरण और सोने के विभाग भी पृथक् ही होते थे। काम-क्रीडा भवन में शय्या के शिरोभाग की ओर काष्ठ वेदिका पर एक इष्ट देवता की मूर्ति रहती थी और दूसरी ओर पलंग के बराबर की ऊचाई में एक दूसरी चौकी पर सहवास के आवश्यक उपकरण जैसे सुगन्धित लेप, पुष्पमाला, मोम के छोटे पात्र, अंगराग के पात्र इत्यादि रहते थे। प्रत्येक गृह में शयनागार में खूंटी पर वीणा रहती थी। बाहर वाटिका में तोता, मैना, बुलबुल इत्यादि क्रीड़ा-पक्षियों के पजरे टंगे रहते थे। शयनागार के

पडोस में एक छोटा-सा प्रकोष्ठ होता था जिसमें बढईगीरी के साधारण उपकरण रहते थे जिसका प्रयोजन यह होता था कि यदि सयोगवश वीणा इत्यादि में कोई कमी आ जावे तो तत्काल उसे ठीक कर लिया जावे। सघन वृक्षो के झुरमुट में कुञ्ज होते थे जिनके पास ही वृक्ष पर झूला पडा होता था। मनोरजन के अनेक उपकरण सर्वदा विद्यमान रहते थे जिनमें चित्रकला के उपकरणो की प्रधानता थी। वर्तिका पात्र, रग इत्यादि यथा स्थान सन्निहित रहते थे। सुभाषित की चुनी हुई पुस्तके भी कमरो में विद्यमान रहती थी।[1]

कन्याओ और बालको की शिक्षा की पृथक्-पृथक् विधिया प्रचलित थी। लडकियो को विशेष रूप से कुमार-अवस्था में ही काम-शास्त्र की शिक्षा देने की व्यवस्था की जाती थी। कन्याओ की शिक्षा मे कलाओ का सर्वाधिक महत्त्व था। उन्हे अनिवार्य रूप से गायन, वाद्य, नृत्य, आलेख्य, शृगार विधि इत्यादि का ज्ञान प्राप्त करना होता था। इसके अतिरिक्त रत्नो का ज्ञान, जल-क्रीडा, ऋतु के अनुसार वस्त्रो के धारण करने का ज्ञान, जादूगरी, बहुरूपियापन, सौन्दर्य-वर्धक योग, पाक-शास्त्र तथा आसव इत्यादि तैयार करने की निपुणता इत्यादि बाते सीखनी पड़ती थी। काव्य-कला, अन्त्याक्षरी इत्यादि में भी निपुणता प्राप्त करनी पडती थी और बढईगीरी की छोटी-मोटी बाते, चटाई बुनना, कढाई का काम, वास्तु-विद्या, पशु-पक्षियो के स्वभाव और उनसे मनोरजन सम्पादन करने की दक्षता भी उन्हे प्राप्त करनी होती थी। नाना प्रकार के जूए का खेल, ताश का खेल इत्यादि में निपुणता उनमें अपेक्षित थी। प्राय सभी स्त्री-पुरुष चित्रकला में निपुण थे जैसा कि उस समय के नाटको को देखने से ज्ञात होता है। स्त्रिया ओठ रगने तथा अगराग इत्यादि बनाने में निपुण होती थी और शरीर के विभिन्न अगो को व्यवस्थित ढग से सजाती थी। मृच्छकटिक में वसतसेना के भवन का वर्णन बडे ही विस्तार से किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय वेश्याये अत्यन्त सम्पन्न जीवन व्यतीत करती थी। इस समय के साहित्य में वेश्याओ का उल्लेख बडे गौरव के साथ किया गया है। राजकुमारियों और ऊचे घराने की स्त्रियों के साथ उनकी गणना होती है तथा राजशेखर ने लिखा है कि प्राचीन काल में वेश्याओ का भी प्रमुख स्थान था। इससे ज्ञात होता है कि उस समय वेश्याये समाज में कलापूर्ण तथा अगर्हित जीवन व्यतीत करती थी।[2]

स्त्री-पुरुषो का सारा समय आमोद-प्रमोद में व्यतीत होता था। दैनिक-चर्या, सामयिक चर्या और उत्सव इत्यादि की चर्या में सर्वत्र आमोद-प्रमोद की प्रधानता थी। सायकाल में मंगीन गोष्ठी नित्य-प्रति होती थी। अभिसारिकाओं और काम-क्रीडा में प्रवृत्त पुरुषो की प्रेम-लीला दैनिक कृत्य में सम्मिलित थी। मदिरा-पान नित्य-प्रति किया जाता था, किन्तु कभी-कभी मदिरा-पान का विशेष आयोजन

---

१. वात्स्यायन सूत्र के द्वितीय अधिकरण में यह सब विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।
२ राजशेखर की काव्य-मीमांसा।

भी होता था जिसमें मित्रमडली के लोग तथा अभ्यागत व्यक्ति भाग लेते थे। इस काल की जितनी भी स्त्री-मूर्तिया प्राप्त हुई हैं वे सब प्रायः नग्न ही है और अनेक स्थानो पर मदिरा-पान-प्रवृत्त स्त्री-पुरुष युग्म दिखलाये गये हैं। उद्यान-गमन, समस्या, क्रीडा-गोष्ठी, समवाय इत्यादि प्रमुख आमोद-प्रमोद के साधन थे। अनेकानेक प्रसिद्ध संगीतज्ञ, गायक, कवि तथा काम-कला निपुण व्यक्ति आमत्रित किये जाते थे और उनको पुरस्कार भी दिया जाता था। कभी-कभी इस प्रकार की गोष्ठी कई दिनों तक चला करती थी। ऋतुओ के अनुसार वनविहार का आयोजन होता था। इस प्रकार की क्रीडाओ का मुख्य लक्ष्य प्रकृति-प्रेम नही किन्तु प्रकृति-सम्पर्क में काम-क्रीडा तथा प्रेम-लीला ही प्रधान थी। सम्भवत यही कारण था कि आगे चलकर प्रकृति का आलम्बन रूप तिरोहित हो गया और प्रकृति उद्दीपन के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गई। जीवन को रसमय बनाने मे रसिकवर्ग इतना अधिक प्रवृत्त हुआ था कि देव-मन्दिरो की यात्रा और धार्मिक समारोहो में कामियो के सम्मिलन का ढग निकाला जाता था। इस प्रकार सारा समाज विलासिता और कामुकता से पूर्णरूप से आक्रान्त था। स्त्रियो को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। सक्षेप में इस काल में स्त्री-पुरुषो का जीवन कला, विलास और आमोद-प्रमोद से परिपूर्ण था। चरक में मित्र-मंडली के गुणो में उनका हर समय विलास-वासनामय होना एक विशेष गुण माना गया है। बौद्ध धर्म ने जिस त्याग, तपस्या और उदारता का प्रचार किया था वह भावना धीरे-धीरे लुप्तप्राय होती जा रही थी और भौतिकता प्रसार पाती जाती थी।

कवि-जीवन—ऊपर जिस रहन-सहन का वर्णन किया गया है वह सर्व-साधारण के विषय में है। कवियो तथा कलाकारो का जीवन इसकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट और अधिक सम्पन्न था। उनके जीवन में सुख-समृद्धि का विशेष स्थान था। राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र ने कवियो की जिस जीवनचर्या का वर्णन किया है वह केवल उनके समय से ही सम्बद्ध नही है, किन्तु चिर अतीत में भी कवियो का जीवन कुछ उसी प्रकार का होता था। कवियो का निवास-स्थान अधिकतर नदी या सरोवर के तट पर सुरम्य प्रदेश में होता था। जहा नदी या सरोवर का तट सम्भव नही होता था वहां कृत्रिम तडाग बनाये जाते थे और इस बात का ध्यान रखा जाता था कि ये भवन सब ऋतुओं में सुखकर हो। यद्यपि छोटा-सा उद्यान प्रत्येक घर के समीप विद्यमान रहता था किन्तु कवियो के भवनो के उद्यानो में एक वाटिका विशेष सुसज्जित और सुसमृद्ध रहती थी। इस वाटिका मे अनेक प्रकार के वृक्ष लगाये जाते थे और लता-मंडप विशेष मनोहर होते थे। भवन से कुछ दूरी पर एक क्रीडा-पर्वत बनाया जाता था जहा कवियो के खेल तथा आमोद-प्रमोद इत्यादि की व्यवस्था रहती थी। भवन के पास एक वापी तथा एक छोटा सरोवर होता था जिसमें कमल लगाये जाते थे। नदियों अथवा समुद्र के आवर्तन की शोभा भी इन भवनो में विद्यमान होती थी। कुल्यायें इधर-उधर जल को प्रवाहित करती थी। वाटिका में अनेक

प्रकार के पशु-पक्षी निवास करते थे। वाटिका मे इस प्रकार की कु ज बने होते थे जिनमें आतप का सताप सरलता से नष्ट हो सके। एक झूला विद्यमान रहता था। भवन में धारागृह यन्त्र भी होते थे और लतामडप भी विद्यमान रहते थे। कक्ष या तो सर्वथा निर्जन होता था या ऐसा परिचारक वर्ग रहता था जो कि काव्याभिनिवेश से उत्पन्न हुए निर्वेद को शान्त करने के लिये मौन होकर सभा प्रकार के आदेशो का पालन करने के लिये तत्पर रहे। अन्तःपुर शिक्षित होता था और मित्र-मण्डल सभी भाषाओ में निपुण होते थे।

राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र ने उस समय के कवियो का दैनिकचर्या का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। दिनचर्या में काव्य-गोष्ठी का भी उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय इस प्रकार की गोष्ठियां प्रतिदिन होती रहती होगी। केवल पुरुष ही नही स्त्रिया भी इस प्रकार का कवियो जैसा जीवन-यापन करने की अधिकारिणी थी। राजशेखर के समय तक स्त्री-शिक्षा पर प्रतिबन्ध लग चुका था और स्त्रियों का कवयित्री हो सकना एक अतीत की घटना बन गई थी। किन्तु राजशेखर के समय में यह परम्परागत प्रसिद्धि अवश्य विद्यमान थी कि चिरअतीत में राजकुमारिया, महामात्य इत्यादि की पुत्रिया, गणिकाये और नटो की भार्याये कविता करने में निपुण होती थी। प्रतिभा कभी भी प्रतिबन्ध को सहन नही कर सकती। अनेक प्रतिबन्धो में भी उसका प्रस्फुटन अनिवार्य होता है। यही कारण है कि अनेक प्रतिबन्धो के होने पर भी प्रत्येक काल मे कवयित्रिया होती रही है। इसी लिए राजशेखर ने "सुनी जाती है और देखी भी जाती है"—इन दोनो क्रियाओ का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि राजशेखर के समय तक स्त्री-शिक्षा तथा स्त्रियो की काव्य-रचना गर्हित दृष्टि से देखी जाने लगी थी। इसीलिए राजशेखर ने स्त्रियो के कवयित्री होने का सबल भाषा मे समर्थन किया है।

कवि-सम्मेलन—इस काल मे कवि-सम्मेलनो की भी भरमार थी। कवि-सम्मेलन प्राय राजा लोगो की अध्यक्षता में हुआ करते थे। इन सम्मेलनो के लिये विशेष प्रकार के भवन बनवाये जाते थे जो अत्यन्त विशाल और विस्तृत होते थे। राजशेखर की काव्य-मीमासा से ज्ञात होता है कि कवि-सम्मेलनो का आयोजन कई कई दिन तक चलता था। कवि-सम्मेलन भवन मे यथा-स्थान बैठने का नियम था। बीच-बीच मे आलोचना भी चलती थी। इन भवनो से सयुक्त क्रीड़ा-प्रागण भी होते थे जिनमे समयानुसार क्रीडा का आयोजन किया जाता था। अन्त में बाहर से आये हुए कवि तथा कलाकारो का दान-मान आदि द्वारा सतोष किया जाता था। इस विषय मे राजशेखर ने वासुदेव, शातवाहन, शूद्रक और साहसाक का उल्लेख किया है तथा लिखा है कि बहुत समय तक राजा लोगो के दान के आदर्श यही लोग बने रहे। इससे एक तो यह लाभ होता था कि विभिन्न प्रदेशो के निवासी कवि तथा कलाकारो का परस्पर परिचय हो जाता था, शास्त्रीय विषयों का मन्थन भली-भाति

हो जाता था, कवि तथा कलाकारो का सर्वसाधारण मे सम्मान बढ जाता था और राजोपजीवी धनवानो को कवियो का सम्मान करने की प्रेरणा प्राप्त हो जाती थी। क्योंकि जैसा आचरण राजा का होता था उसी का अनुसरण करने की प्रवृत्ति सर्व-साधारण मे हो जाती थी।

राजशेखर ने जिन कवि-सम्मेलन सम्बन्धी भवनो का वर्णन किया है ठीक उन्ही से मिलते-जुलते दो भवन अब भी कन्नौज में पुराने किले के ध्वसावशेष पर विद्यमान है। एक कन्नौज के पूर्व मे है और दूसरा पश्चिम मे। इन भवनो मे अनेक स्तम्भ है, जिनके मध्य में एक वेदी के उपयुक्त स्थान बना हुआ है। सम्भवतः यही स्थान कवियो के बैठने के लिये प्रयुक्त किया जाता होगा। इसके अतिरिक्त मत्तवारणी और बहिर्द्वार की गणना भी राजशेखर के वर्णन से मेल खा जाती है। मध्य भाग मे चारो ओर से घिरा हुआ एक विशाल केन्द्रीय स्थान है। किन्तु अब ये भवन मुसलमानो के हाथ में है। इसीलिये केन्द्रीय स्थान को तोडकर मुसलमानी शैली पर उनको धार्मिक स्थान के रूप मे परिणत कर दिया गया है और दोनो में ही पश्चिमी भाग को तोडकर एक लम्बी दीवाल उठा दी गई है। उन भवनो को देखने से ही इस परिवर्तन का पता चल जाता है। सम्भवत ये भवन प्रारम्भ में कवि-सम्मेलनों को आयोजित करने के लिये बनाये गये होगे और बाद में जब मुसलमानो के आक्रमण के अवसर पर कन्नौज का विशाल दुर्ग धराशायी किया गया, उस समय ये स्थान मुसलमानो के सरक्षण में आ गये होगे। अब भी हिन्दू पश्चिमी भवन को सीता-रसोई के नाम से पुकारते है और इस प्रकार उनके हिन्दू काल से सम्बन्ध की स्मृति परम्परागत रूप मे सुरक्षित बनी हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष सुविधापूर्वक निकाले जा सकते हैं.—

१ ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास भारत मे राजनीतिक दृष्टि से सुख-शान्ति थी। न तो किसी प्रकार का वाह्य आतक ही था और न आन्तरिक उपद्रव ही जन-जीवन को किसी प्रकार विक्षुब्ध करने का कारण बन रहा था।

२ इस समय मे सर्वाधिक समृद्ध साम्राज्य आन्ध्र के शातवाहनो का था और उनका आधिपत्य मगध पर भी स्थापित हो चुका था।

३. आन्ध्र राज्य ऐश्वर्य, विलासिता और आमोद-प्रमोद का एक प्रधान केन्द्र बना हुआ था और यहा के राजा लोग कला, कविता तथा सास्कृतिक चेतना को आश्रय देने में उदाहरण बन गये थे।[1]

४ देश धनधान्य से परिपूर्ण था। कुछ तो विदेशी व्यापार के कारण, कुछ आन्तरिक सुविधाओ से देश में चारो ओर सुख-समृद्धि की एक लहर दौड़ी हुई थी।

---

१. राजशेखर ने काव्य-मीमासा में दान में शातवाहन का अनुकरण करने का प्रतिपादन किया है।

५ सम्पत्ति के साथ विलासिता तथा आमोद-प्रमोद का आधिक्य अनिवार्य होता है। यही बात उस समय सर्वसाधारण के जीवन में दृष्टिगत हो रही थी। चारो ओर विलासप्रियता तथा मनोरजन इत्यादि का प्राधान्य था और लोगो की दिनचर्या विलासितामय थी।

६. रमणिया कलापूर्ण जीवनयापन करती थी और उनको कलाओ की शिक्षा देना अनिवार्य था।

७. कलाओ के साथ काम-शास्त्र की शिक्षा भी कन्याओ को देना आवश्यक समझा जाता था।

८. समाज में इस प्रकार का वातावरण विद्यमान था जिससे कला, साहित्य और विज्ञान की ओर सर्वसाधारण की तथा कलाकारो की प्रवृत्ति हो सकती थी।

९. कवियो का जीवन आमोद-प्रमोदमय और अधिकतर कृत्रिम ही था। प्रकृति के सम्पर्क से व्यवहित होकर वे एकान्त-साधना में जीवन व्यतीत करते थे और कवित्व के लिये उपयुक्त वस्तुओ का सकलन अपने निवास-स्थानो पर ही करने की चेष्टा किया करते थे।

१०. उन दिनो कवि-सम्मेलनो और कवि-गोष्ठियों की भरमार थी। कवि लोग दूर-दूर तक इन सम्मेलनो में सम्मिलित होने के लिये यात्रा किया करते थे। इससे इन्हे देश-विदेश का ज्ञान प्राप्त होता था।

उपर्युक्त परिस्थिति का काव्य को प्रभावान्वित करना अवश्यभावी था। यह बात स्वाभाविक ही थी कि काव्य-जगत् में प्रकृति का तिरोधान हो जाता और उसका स्थान नरकाव्य को अधिगत हो जाता। जब सारा समाज और विशेष रूप से कविवर्ग प्रकृति से व्यवहित होकर भौतिक चकाचौध में जीवनयापन करने लगा था, जबकि प्रकृति का सम्पर्क भी पारस्परिक प्रेमास्वादन के निमित्त ही स्थापित किया जाता था और जब दिनचर्या, नैमित्तिकचर्या तथा वार्षिकचर्या में सर्वत्र कला का आस्वादन ही प्रधान हो गया था तब उस समय के काव्य से शुद्ध प्राकृतिक चित्रो को प्राप्त करने की सम्भावना हो ही कैसे सकती थी? दूसरी बात यह भी थी कि उस समय जन-जीवन किसी प्रकार के सघर्ष मे व्यस्त नही था। अतएव वैदिककाल की सच्ची वीर भावनाओ की अभिव्यक्ति का अवसर भी नही था। कविता में शृगार रस का शासन पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गया था और दूसरे रस एक तो सामने आने का साहस ही बहुत कम करते थे अथवा यदि आते भी थे तो भी उन्हे जन-समाज का सम्मान प्राप्त करने में निराश ही होना पडता था। मुक्तक काव्य के क्षेत्र में तो कवि अपने काव्याभिनिवेश के अनुसार विषय का उपादान करने के लिये स्वाधीन हुआ करता है। अतएव उस क्षेत्र मे शृगार रस का साम्राज्य हो जाना कोई आश्चर्य की बात नही थी। प्रबन्ध काव्यो तथा नाट्य

काव्यों में भी हमें शृंगार रस की प्रधानता ही दृष्टिगत होती है। कही-कही कवि प्रबन्ध-निर्वाह के लिये भी अपने शृंगार रस के व्यामोह का सवरण नही कर सकते थे। इसके बहुत ही सुन्दर उदाहरण हमे बृहत्त्रयी के काव्यो में उपलब्ध हो जाते है। शिशुपाल वध में भगवान् कृष्ण की इन्द्रप्रस्थ की यात्रा के प्रसग में केवल रति-क्रीडा के वर्णन करने मे ही आधे से अधिक महाकाव्य व्यय कर दिया गया है जो कि प्राकरणिक कभी नही कहा जा सकता। उसी प्रकार किरातार्जुनीय में अर्जुन की तपस्या को भंग करने के लिए गन्धर्व और किन्नरी भेजी गई है। मार्ग में उनके शृगार को विस्तार देने के लिए लगभग उतना ही भाग व्यय किया गया है। वेणी सहार में वीर रस के बीच में भी शृगार रस की प्रधानता का यही कारण है जैसा कि कालिदास ने ताटका वध में और माघ ने युद्ध वर्णन में यत्र-तत्र किया है। कही-कही युद्ध-वर्णन में भी शृगार रस के समावेश करने की चेष्टा की गई है। आशय यह है कि शृंगार रस की प्रधानता उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल थी। जन साधारण के अनुरञ्जन के लिये कवियो को अप्रासगिक भी शृंगार रस का उपादान करना पडता था।

शृंगार रस की प्रधानता के मनोवैज्ञानिक कारण—उपर्युक्त सामयिक परिस्थितियो के अतिरिक्त शृगार रस की प्रधानता के और भी अनेक कारण है। सबसे पहली बात यह है कि कवि-कर्म का मुख्य व्यापार सौन्दर्य-चित्रण करना और रस का आस्वादन कराना है। यह सौन्दर्य रूप-सौन्दर्य भी हो सकता है और नाद-सौन्दर्य भी तथा करणेतर सम्बद्ध भी हो सकता है। इस सौन्दर्य का पर्यवसान स्त्री-रूप में होता है। चरक मे कहा गया है :—

इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्था. परं प्रीतिकराः स्मृता.।
किं पुनः स्त्री-शरीरे ये संघातेन व्यवस्थिताः॥
सघातो हीन्द्रियार्थानां स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते। चिकि० अ० २

(इन्द्रियो का एक-एक भी विषय अभीष्ट तथा अत्यन्त आनन्द देने वाला होता है, फिर स्त्री के शरीर का तो कहना ही क्या जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये सभी इन्द्रियो के अर्थ सामूहिक रूप में स्थित होते तथा आनन्द देते हैं। इन्द्रियो के अर्थो की समूहावलम्बनात्मक स्थिति केवल स्त्री शरीर में ही होती है। कही दूसरे स्थान पर नही होती। अतएव सर्वाधिक सौन्दर्य-पूर्ण स्त्री शरीर के चित्रण में कवि-कर्म का प्रधानतया प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही था। दूसरी बात यह है कि भारतीय मनीषियो ने धर्म, अर्थ और काम को सर्वदा समान महत्व दिया है। तीनो का सतुलन और अविरोध ही वैयक्तिक साधना की सफलता का मूल मत्र है और सामूहिक गति-विधि की पूर्णता का परिचायक है। धर्म और अर्थ साधन है तो काम साध्य है। यदि धर्म और अर्थ साधना रूप वृक्ष के मूल तथा स्कन्ध है तो काम फल है। बिना काम प्राप्ति के धर्म और अर्थ निरर्थक हो जाते है। धर्म और अर्थ साधना प्रधान होते हैं और काम उपभोग प्रधान। इसलिये भी उपभोग रूप

काव्य रसास्वादन मे काम की प्रधानता होना संगत ही है।

ध्वनिकार ने माधुर्य गुण का परिचय देते हुए कहा है—"शृंगार रस ही परम आह्लादजनक होता है, अतः वही मधुर कहा जाता है। शृंगार रस का आश्रय लेकर माधुर्य गुण का अवस्थिति होती है।" इस कारिका की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है कि शृंगार रस की भावना ही ऐसा है जो देव, तिर्यक्, पशु और मनुष्य प्रत्येक स्थान पर पाई जाती है। जिस प्रकार ज्ञानी-अज्ञानी, स्वस्थ कोई भी व्यक्ति जैसे ही शक्कर को अपनी जिह्वा पर डालता है वैसे ही उसे मधरता का अनुभव होने लगता है, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति क्यो न हो, शृंगार रस से उसकी आत्मा वासित अवश्य होती है। अत सबके लिये सर्वाधिक आह्लाद-जनक होने कारण शृंगार रस ही मधुर रस होता है। भरत मुनि ने शृंगार रस की परिभाषा करते हुए लिखा है कि ससार में जो कुछ भी पवित्र, उज्ज्वल, मेध्य अथवा दर्शनीय हो, उस सबका अनुमान शृंगार के द्वारा हो जाता है तथा जो भी व्यक्ति उज्ज्वल वेश वाला हो वह शृंगारमय कहा जाता है।

अनेक साहित्याचार्यों ने विभिन्न तर्कों के आधार पर कई रसो को रस-राज सिद्ध करने की चेष्टा की है। कुछ समालोचक भरत मुनि के निम्नलिखित श्लोक को लेकर शान्त रस को रसराज सिद्ध करने की चेष्टा करते है :—

स्वं स्वं निमित्तमाश्रित्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥

(चित्त की प्रशमावस्था या शान्तावस्था से ही अपने-अपने निमित्त का आश्रय लेकर कोई भी भाव उद्भूत होता है और निमित्त के अभाव में पुनः वह भाव शान्त अवस्था में हो जाता है।) इसी प्रकार दूसरे लोगो ने रस में चमत्कार की प्रधानता का आधार लेकर अद्भुत रस को रसराज सिद्ध करने की चेष्टा की तथा कुछ और आलोचकों ने सभी रसो का उद्भव दु ख की भावना से ही मान कर, करुण रस को रसराज के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। किन्तु इन आलोचकों की सम्मति अधिक सम्मानित नही हो सकी। कारण यही है कि भावना के दो छोर माने जाते है—सुख और दुःख। शृंगार रस ही केवल ऐसा रस है जिसका विरोध किसी पक्ष से नही होता। इस रस में दोनो पक्ष विद्यमान रहते है। दूसरी बात यह है कि सचारियो का जितना बाहुल्य शृंगार रस में होता है, इतना दूसरे रसो में नही होता। रस-विरोध परिहार के प्रकरण में ध्वनिकार ने लिखा है कि विरोध-परिहार का विशेष विचार शृंगार रस में ही होना चाहिए। कारण यह है कि शृंगार रस की आत्मा रति का परिपोष ही है और रति स्वल्पतम विरोध के कारण के उपस्थित होते ही भंग हो जाती है इसीलिये रति सर्वाधिक सुकुमार मानी जाती है। कहा जाता है कि यों तो रसत्व जाति ही सुकुमार होती है। दूसरे रस तो कुछ-न-कुछ विरोधी रसों को सहन कर लेते हैं, किन्तु शृंगार रस थोड़े से भी विरोध को सहन नही कर सकता। निःसदेह शृंगार रस सभा

सांसारिक व्यक्तियों के लिये नियमपूर्वक अनुभव का विषय होता है। इसीलिये सभी रसो की अपेक्षा अधिक कमनीय होता है और सभी की अपेक्षा अधिक प्रधान माना जाता है। यह तो हुई शृंगार रस मे दूसरे विरोधी रस के समावेश की बात। इसके प्रतिकूल दूसरे रसो में शृंगार रस का उपादान दूषित नही माना जाता। आशय यह है कि विनेय व्यक्तियो को उन्मुख करने के लिये यदि काव्य-शोभा का आधान करना हो तो शृंगार रस अथवा उसके अगो का स्पर्श दूषित नही माना जाता। उदाहरण के लिये शान्त रस शृगार का सर्वथा विरोधी है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि—"जिस प्रकार कोई तरुणी अपने प्रियतम के वियोग में सासारिक सतापो का अनुभव करती है और फिर जब सयोगवश उसे अपने प्रियतम का स्पर्श प्राप्त हो जाता है, तब वह आनन्दातिरेक से अपने को भूल-सी जाती है, उसी प्रकार हे भगवन्! मेरी चेतना आप से वियुक्त होकर ससार के विभिन्न सतापो का अनुभव करती है और जब कभी थोडा सा भी आपका सस्पर्श प्राप्त कर लेती है तब आनन्दातिरेक मे अपने को भूल सी जाती और सर्वथा अपने को आप मे ही लीन कर देती है।" यहा पर शान्त रस के विभावो और अनुभावो का शृगार रस की भगिमा के साथ निरूपण किया गया है। आशय यह है कि काव्य का सबसे बडा प्रयोजन विनेय व्यक्तियो को विनय के उपदेश ग्रहण कराना है। यह कार्य तब तक भली-भाति नही हो सकता, जब तक विनेय व्यक्ति उन्मुख न हो जावे और तब तक काव्य-शोभा का ठीक रूप मे सम्पादन भी नही माना जा सकता। अधिकतर व्यक्तियो का अन्तःकरण शृगार रस की वासना से वासित होता है। अतः शृंगार रस के द्वारा वे व्यक्ति सरलतापूर्वक आनन्द का अनुभव करते हुए विनय के उपदेशो की ओर उन्मुख हो जाते है। इस प्रकार सभी रसो का अधिकारी होने के कारण शृगार रस ही सबसे अधिक प्रधान माना जाता है।

काव्य के क्षेत्र में शृगार रस के प्रधान रूप से प्रतिष्ठित हो जाने का एक और बहुत बडा कारण था। धीरे-धीरे कवि-कर्म ध्वनिकार की वैदग्ध्य-भंगी-भणिति और कुन्तक की वक्रोक्ति की पृष्ठभूमि तैयार करने में प्रवृत्त हो रहा था। यो तो काव्य का सबसे बड़े लक्ष्य लोकोत्तर आनन्द का अनुभव कभी स्वशब्द वाच्य हो ही नही सकता और उसकी निष्पत्ति विभाव और अनुभाव द्वारा ही साध्य होती है किन्तु इस काल तक आते-आते वस्तु-व्यंजना और अलकार-व्यजना ने पूर्ण रूप से काव्य के क्षेत्र में अपना अधिकार जमा लिया था। किसी बात को इस रूप में कहना कि वह केवल सहृदय-हृदय-सम्वेद्य ही हो सके और वाच्य-व्यतिरिक्त नवीन अर्थ की उद्भावना के साथ-साथ सहृदय के हृदय मे एक तडप उत्पन्न कर सके यह कवि-व्यापार का प्रधान क्षेत्र बन गया था। वही भाव कवि-कर्म का प्रधान विषय हो सकता था जिसमें अधिक-से-अधिक किसी बात को छिपाकर कहने का अवसर हो कहने की आवश्यकता नही कि इस दिशा में सर्वाधिक प्रशस्त पद पर आसीन होने का एकमात्र अधिकारी शृंगार रस ही हो सकता था। इस रस में उक्ति-वैचित्र्य का जितना अवसर है

उतना और किसी दूसरे रस में हो ही नही सकता। स्वाभाविक बात है कि अंतस्तल में जितनी प्रेम-पीड़ा उद्भूत होती है उतना ही सकोच बढता है। जब तक अभीष्ट वस्तु का उपभोग प्राप्त न हो जावे तब तक हृदय में शान्ति स्थापित नही होती और वह अभीष्ट प्राप्ति जिस व्यक्ति के हाथ में होती है उस व्यक्ति के सामने ही उसको प्रकट करने में सबसे अधिक सकोच होता है। प्रियतम पर अपनी भावना व्यक्त करने की जितनी उत्कण्ठा होती है उतना ही उससे अपना भाव छिपाया जाता है। यही नही जब वही प्रियतम अपनी भावना स्वय व्यक्त करने आता है तब भी उसके सामने निष्ठुरता धारण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यदि भावना प्रकट हो जाती है तो अवधीरणा का भय रहता है। इसी बात को अमर कलाकार कालिदास ने इस प्रकार कहा है :—"महती उत्कण्ठा के होते हुए भी प्रियतम की प्रार्थना पर कुटिलता धारण कर ली जाती है। बालाये प्राय: सम्भोग-सुख की कामना करते हुए भी स्वागदान में कातर हो जाती है। इस प्रकार कुमारियो को केवल कामदेव ही पीडित नही करता अपितु समय का अतिक्रमण कर कुमारिया भी कामदेव को पीडित करती है।"[1] बिहारी के शब्दो में:—

सरस सुमिल चित तुरग की करि करि अमित उठान।
गोइ निबाहै जोतियै खेलि प्रेम चौगान॥

उपर्युक्त परिस्थिति के अतिरिक्त लोक का भय भी सबसे बडा प्रतिबन्धक होता है। एक ओर अपने प्रियतम पर अपनी भावना को इस रूप मे व्यक्त करने की आकाक्षा होती है कि प्रियतम कही उपेक्षा न कर दे और दूसरी ओर इस बात का भी भय होता है कि कही लोक-निन्दा न होने लगे। दूसरी ओर प्रियतम की छोटी-छोटी बाते, उसका चलना-फिरना, उठना-बैठना—सभी कुछ मधुर प्रतीत होता है जिसको अपने निकटवर्ती सहचर पर प्रकाशित करने में एक अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। साथ ही केवल अपनी ही नही दूसरे की रति का अवलोकन भी आनन्दमय कौतूहल का कारण बन जाता है। प्रेम की अनेक दिशाये होती है। सम्भोग के अनन्त रूप होते है। प्रेम की योजना के लिये मध्यस्थ अपेक्षित होता है जिसको स्वय ही इतनी अधिक निपुणता से चलना पडता है कि प्रेम की सयोजना भी सुविधापूर्वक हो जावे और किसी प्रकार का दोष भी न उत्पन्न हो। इन सब कारणो से रति-भाव मे वैदग्ध्य-भगी-भणिति और वक्रोक्ति का अनन्त क्षेत्र है और यही कारण है कि काव्य के क्षेत्र में शृगार ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी बात को भरत मुनि ने इस प्रकार कहा है.—"जो कि कामना होते हुए भी स्त्रियो की अभिलाषा विपरीत व्यवहार में होती है, जो कि स्त्रिया सम्भोग बचा जाने की इच्छा किया करती है, जो कि समाज में उनके स्वच्छन्द रत्याचरण का निषेध किया जाता है और जो कि स्वतन्त्रतापूर्वक स्त्रियो की प्राप्ति कठिन होती है

१. शाकुन्तल।

बस ये, ही बातें रति के एक बहुत बडे आनन्द का हेतु हैं। अर्थात् स्त्रियों का विच्छिन्त सम्भोग ही मनुष्य को बहुत बडा आनन्द देनेवाला होता है।"

संक्षेप में उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थिति शृंगार-भावना के अनुकूल थी। कवियों की व्यक्तिगत परिस्थिति भी कवियों को इस दिशा में प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान कर रही थी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी शृंगाररस ही समस्त जीव-जन्तुओं और सभी प्रकार की परिस्थितिवाले व्यक्तियों की भावना के अनुकूल होता है। अन्य रसो का क्षेत्र इतना व्यापक नही होता। शृंगार रस में सुख तथा दुःख दोनों पक्षो का समान प्राधान्य होता है। सञ्चारीभावो की पर्याप्त अधिकता होती है। शृंगार रस सबसे अधिक कोमल होता है। इसमें किसी भी विरोधी रस का समावेश उसे मलिन बना देता है किन्तु शृंगार रस के माध्यम से व्यक्त किया हुआ कोई भी भाव अधिक शोभा धारण कर लेता है। उक्ति-वैचित्र्य जो कि काव्य का जीवन है इस रस में सबसे अधिक सम्भावित हो सकता है। वस्तु-व्यजनाओ तथा अलकार-व्यजनाओं का सबसे अधिक अवसर शृंगार रस में ही है। इन्ही कारणों से काव्य के क्षेत्र में शृंगार रस ही सबसे अधिक महनीय पद का अधिकारी हुआ और उसी का अखण्ड साम्राज्य समस्त काव्य-जगत् पर अबाध रूप से स्थापित हो गया। यही उस समय के परिवर्तन के मूल प्रवृत्ति-निमित्त थे।

सामान्य विशेषतायें

इस काल की समस्त काव्य-वस्तु को हम दो भागो मे बाट सकते है—प्रकृति-काव्य और नर-काव्य। पहले बतलाया जा चुका है कि इस काल में प्रारम्भ मे ही प्रकृति-वर्णन का स्थान नर-काव्य ने ले लिया। काव्य-जगत् मे स्त्री-पुरुष सम्बन्धी काव्य की ही प्रधानता हो गई और प्रकृति-सौन्दर्य के स्थान पर स्त्री-सौन्दर्य-चित्रण में ही कवि-कर्म प्रवृत्त रहा। किन्तु इसका आशय यह नही है कि उस समय प्रकृति-काव्य का सर्वथा अभाव ही बना रहा। समय-समय पर प्रकृति-काव्य भी लिखा गया और कतिपय बडी ही महत्त्वपूर्ण रचनायें सामने आयी। किन्तु इस काल के प्रकृति-काव्य में एक व्यवस्थित पद्धति पर ही रचना करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। कालिदास इत्यादि दो-एक कवियो को छोडकर शेष कवि न तो प्रकृति के सम्पर्क में ही आना चाहते थे और न उनका प्राकृतिक ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता था। अधिकतर निश्चित प्रणाली का अनुसरण किया जाता था और उसके लिये उस समय ग्रथ भी तैयार थे। इस कार्य के लिये देश और काल का विभाजन कर लिया गया था तथा उसी के अनुसार वर्णन किया जाता था। राजशेखर ने इस प्रकार के विभाजन का वर्णन बडे विस्तार से किया है। प्राकृतिक चित्रण की दिशा में षड्ऋतु वर्णन की ही प्रधानता थी, प्रत्येक ऋतु के लिये पृथक्-पृथक् पशु, पक्षी तथा वृक्ष और दूसरे प्रकार की विशेषताओ की कल्पना कर

ली गई थी और उसी आधार पर उन ऋतुओ के वर्णन करने की परम्परा चल दी थी। कही-कही ऋतुओ की गणना वर्षा से की जाती थी और कही-कही वसन्त से। वर्षा, शरद्, वसन्त और ग्रीष्म में वृक्षो और पशु-पक्षियो का बहुतायत से वर्णन किया जाता था। किन्तु हेमन्त और शिशिर में एक-दो को छोडकर, पुष्पो का सर्वथा अभाव ही बतलाया जाता था। प्रस्तुत समय में प्रकृति-वर्णन के अनेक रूप उपलब्ध होते है। कही-कही प्रकृति पर मानव-भावनाओ और अनुभावो का आरोप किया गया है तथा दूसरे स्थानो पर प्राकृतिक-सौन्दर्य का तादात्म्य मानव-सौन्दर्य से दिखलाया गया है। कहीं-कही प्रकृति को मानव मनोवृत्ति के प्रकाश में देखने की चेष्टा की गई है तो अन्यत्र इन भावनाओ का बिना स्पर्श किये हुए प्रकृति अपने स्वच्छन्द तथा निर्मुक्त अवस्था में दिखलाई गई है। कही-कहीं प्रकृति भाव विशेष की उद्दीपक होकर भी आई है। प्रकृति से सादृश्य-विधान भी इस युग की एक विशेषता रही है। अतएव अनेक अलकार प्रकृति से ही अनुप्राणित हुए है। कही-कही कोई प्रेमी या प्रेमिका प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन के द्वारा संकेत स्थान की व्यजना करते हुए दिखलाये गये है और कही-कही उन स्थानो के द्वारा स्मृति जागृत करने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार प्रकृति-काव्य को हम निम्नलिखित प्रकारों में विभाजित कर सकते है :—

(१) **मानव-वृत्त का प्रकृति पर आरोप**—इस प्रकार के वर्णन में प्रकृति मानव की भावनाओ अथवा अनुभावो से ओत-प्रोत दिखलाई गई है।

(२) **प्रकृति-वृत्त का मानव पर आरोप**—इसमें प्राकृतिक वर्णन स्त्रियो के सौन्दर्य-वर्णन के मन्तव्य से किया जाता है और मानव-सौन्दर्य के उपक्रान्त होने के कारण गौण स्थान का अधिकारी होता है। कवियो ने कहीं-कही नायिकाओं के शरद् के रूप में दर्शन किये हैं और कही निशा के रूप में तथा कही सध्या के रूप में। इन सब वर्णनो में मानव पर प्राकृतिक सौन्दर्य का आरोप मिलता है।

(३) **चेतन वृत्त का प्रकृति पर आरोप**—इस वर्णन में मानव वृत्त का नहीं अपितु चेतन वृत्त का प्रकृति पर आरोप किया जाता है। अनन्त विस्तृत नीलाकाश रूपी गहन वन में चन्द्रमा का सिह के रूप में वर्णन करना एक सामान्य विषय रहा है, इसी प्रकार अन्य वर्णन भी पाये जाते है।

(४) **स्वतन्त्र प्रकृति का वर्णन**—आनन्दवर्धन ने लिखा है कि स्वतन्त्र प्रकृति वर्णन हो ही नही सकता। प्रकृति वर्णन में किसी-न-किसी रूप में चेतन वृत्त का आरोप रहता अवश्य है। यह कथन इसी अर्थ में सही माना जा सकता है कि अधिकतर आरोपित प्रकृति का ही वर्णन इस काल में हुआ है। दूसरी बात यह है कि कवि और सहृदय की भावनाओ से निरपेक्ष प्रकृति का वर्णन सम्भव ही नही है। यही आनन्दवर्धन का मन्तव्य हो सकता है। अन्यथा काव्य में स्वतंत्र प्रकृति का वर्णन उपलब्ध हो ही जाता है। यह वर्णन दो रूपो में

मिलता है—या तो प्राकृतिक वस्तुओं का इस रूप में तथा ऐसे संयोग के साथ परिगणन करा दिया गया है जो कि चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हो अथवा बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से प्राकृतिक वस्तुओं की तत्समकक्ष दूसरी वस्तुओं से तुलना कर दी गई है।

(५) **मानव भावनाओं के प्रकाश में प्रकृति के दर्शन**—मानव की मनोवृत्ति जिस समय जैसी होती है उसे प्रकृति का भी वैसा ही स्वरूप दृष्टिगत होता है। एक संयोगी को सायंकाल की सध्या की अरुणिमा प्रकृति के द्वारा आकाश पर बिखरे हुए कुंकुम के समान प्रतीत होती है तो वियोगिनी को वही दृश्य रक्त की लाली के समान दिखाई देता है। मानव सदा अपने सुख-दुःख को प्रकृति से मिलाने का अभ्यस्त रहा है और उसी के रूप में प्रकृति का उपादान भी कवि-कर्म का एक प्रधान लक्ष्य रहा है।

(६) **उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन**—भावुकता मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। किन्तु परिस्थितियो का इन भावनाओ पर प्रभाव अवश्य पडता है। चन्द्रिका पूर्ण प्रकाश के साथ छिटकी हुई हो, मल्लिका की सुगन्ध नासा-रंन्ध्र को आप्यायित कर रही हो और सुदूर से आती हुई गीतिध्वनि कर्ण-प्रीणन बन रही हो ऐसी दशा में प्रियतम की स्मृति स्वभावतः जागृत हो ही जाती है और मानव-भावना उद्दीप्त हुए बिना नही रहती। चतुर्थ कोटि में इससे अन्तर यह है कि चतुर्थ कोटि में प्रकृति का वर्णन प्रधान होता है और परिस्थिति सापेक्ष उसका वर्णन किया जाता है तथा इस वर्णन में मानव भावनाओ के उद्दीपन के रूप में प्रकृति का उपादान होता है।

(७) **अलंकारों के रूप मे प्रकृति का चित्रण**—कालिदास इत्यादि प्रतिष्ठित कवियो ने उपमा, रूपक इत्यादि के रूप में प्राकृतिक तत्त्वों का अधिकतर उपादान किया है। इस रूप में भी प्रकृति के सुन्दर चित्र उपस्थित किये गये है।

(८) **व्यंजक के रूप में प्रकृति-चित्रण**—कही-कही प्रकृति वर्णन के व्याज से या तो सकेत-स्थान की सूचना दी जाती है या हृदयगत अभिलाषा अपने प्रियतम के सामने इस रूप मे व्यक्त की जाती है कि उसे तटस्थ व्यक्ति न समझ सके और प्रियतम के सामने हीनता भी न हो। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक वर्णन वाच्य होता है और भावान्तर व्यग्य। वाच्यार्थ सामर्थ्य से ही व्यजना निकलती है। अतः इस वर्णन को हम व्यजक के रूप में प्रकृति वर्णन मान सकते हैं।

समस्त प्रकृति चित्रण के लिये यह एक सामान्य नियम है कि इस वर्णन में सच्चाई होनी चाहिए।[1] सच्चाई का अर्थ यह है कि उस वर्णन के द्वारा कवि का अज्ञान प्रकट न हो। वर्णन को देखकर यह प्रभाव अवश्य पडना चाहिए कि कवि को प्राकृतिक परिस्थिति का ज्ञान है। कारण यह है कि असत्यता का प्रतिभास ही

१. 'देखो-रसज्ञ रंजन' श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखित।

काव्यरस का सबसे बड़ा प्रतिबन्धक होता है। यदि केशव के समान धनिया और धान एक साथ दिखलाये जावें तो पाठक विरक्त हो जावेगा। उसे उस वर्णन में किसी प्रकार का आनन्द नही आएगा। इसके प्रतिकूल यदि कालिदास का ईख और धान का वर्णन सामने आवेगा तो उस वर्णन मे एक सत्य प्रकट होगा और उससे पाठक कभी विरक्त नही होगा। किन्तु परम्परा के आधार पर कुछ वर्णनो के विषय में कवियो में समझौता रहता है। यद्यपि ये वर्णन लोकानुगत नही होते तथापि अनेक शताब्दियो की परम्परा मे विकसित होने के कारण वे लोकानुगत के समान ही हो जाते है और असत्य के रूप मे उनका प्रतिभास नही होता। इन वर्णनो में जो तथ्य स्वीकृत रहते है उन्हे कवि-समय-ख्याति के नाम से पुकारा जाता है।

नर-काव्य—पहले बतलाया जा चुका है कि इस काल मे प्रकृति-काव्य गौणातिगौण अवस्था को पहुँच गया था। प्रकृति-सौन्दर्य का स्थान नारी-सौन्दर्य ने ले लिया था। वस्तुत: इस काल का लगभग समस्त रसात्मक मुक्तक-काव्य स्त्री-पुरुष की प्रेम-लीलाओ से भरा है और सामान्य भाव का चित्रण भी अनिर्दिष्ट नायक-नायिकाओं के प्रसग में किया गया है। भरत मुनि का आदेश है कि काव्य अथवा नाट्य-वस्तु तथा उसकी उपचार विधि का उपादान कामसूत्रो से होना चाहिए।[1] वास्तविकता यह है कि इस काल के समस्त रसात्मक मुक्तक काव्य-जगत् पर वात्स्यायन का कामसूत्र छाया हुआ है। कामसूत्रों में कामशास्त्र की प्राचीन परम्परा के अनुसार सात अधिकरण रखे गए है। साधारण, साम्प्रयोगिक, कन्या-सम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक तथा औपनिषदिक। औपनिषदिक अधिकरण आयुर्वेद मे सम्बन्ध रखता है। अत: यह काव्य के उपयुक्त नही हो सकता। शेष ६ प्रकरणो का रसात्मकता के सम्पादन के लिए पूरा उपयोग किया गया है। इन अधिकरणो में अनेक अध्याय है और अध्यायो में कई-कई प्रकरण है। इन अधिकरणो का विषय अत्यन्त व्यापक है। दैनिक आमोद-प्रमोदमय जीवन किस प्रकार का होता है? वार्षिक उत्सव कौन-कौन से होते है? सामयिक आमोद-प्रमोदो का आयोजन किस प्रकार किया जाना चाहिए? इत्यादि प्रश्नो का उत्तर बड़े विस्तार से दिया गया है। इसके अतिरिक्त सुरत समय के चुम्बन इत्यादि क्रिया-कलापो का भी पर्याप्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। किन्तु कामसूत्रो का सर्वाधिक भाग भावनाओ के निरूपण में व्यय हुआ है। विभिन्न प्रकार की स्त्रियो को किस प्रकार वश्य करना चाहिए। किन अवस्थाओ में स्वय अभियोग हितकर होता है और किन अवस्थाओ में दूती का प्रयोग अच्छा होता है? किन चेष्टाओं से भाव-परीक्षण करना चाहिए? स्त्रियों को पुरुषो पर किस प्रकार अधिकार करना चाहिए? इत्यादि प्रश्नो का विस्तृत उत्तर देना ही कामसूत्र का प्रधान विषय है और इन सबका समावेश मुक्तक-काव्य में पूर्णरूप से हुआ है।

---

१. उपचारविधि सम्यक् कामसूत्रसमुत्थितम्।

काम-सूत्रो के जो विषय काव्योपयोगी थे और काव्यो में जिनका समावेश हुआ था उनका ठीक वर्गीकरण और विभाजन बाद के आचार्यों ने साहित्य-शास्त्र में किया। नायिका-भेद, नायिकाओं के अलकार, दूतीकर्म, अनुभाव, सञ्चारी भाव इत्यादि रसोपयोगी तत्त्वो के निरूपण में कामसूत्रो का आधार सर्वत्र लिया गया है और इस प्रकार के निरूपण का मुख्य मन्तव्य तत्कालीन काव्यो की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करना ही है। इन सबका पर्याप्त विस्तार अलकार-ग्रन्थो में विद्यमान है, अत अनपेक्षित होने के कारण इनका उल्लेख नही किया जा रहा है। सक्षेप में निम्नलिखित विशेषताये इस काल के काव्यो में पाई जाती है —

१. कविता के विषय का उपादान कामसूत्रो के आधार पर होता था।

२ अनिर्दिष्ट नायक और नायिका की किसी विशेष दशा का वर्णन करना ही इस काल की कविता का मुख्य लक्ष्य था।

३ कविता के क्षेत्र में उच्च घराने की, सामान्य कोटि की और निम्न-श्रेणी की सभी प्रकार की नायिकाओ का समावेश होता था।

४ कविता में व्यजना की प्रधानता थी और उक्ति-वक्रता सबसे अधिक भावपोषक मानी जाती थी।

५. कविता में बाह्य चमत्कार और तडकीले-भडकीलेपन का महत्त्व नही था। शब्द-चमत्कार के स्थान पर अर्थ-चमत्कार ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था।

६. कविता के क्षेत्र में अनुभावो का अधिक चमत्कार था। स्त्री-सौन्दर्य के दर्शन अधिकतर भावना से सम्वलित रूप में ही किये जाते थे।

७. प्रेम-प्रसंग के वर्णन में सामयिक रीति और नीति, आचार-व्यवहार इत्यादि का भी पर्याप्त मात्रा में प्रतिफलन हुआ है।

८. कवि प्रस्तुत विधान में या दूसरे रूप में अपनी अनेक शास्त्र-विज्ञता का परिचय दिया करते थे। वैद्यक, ज्योतिष इत्यादि अनेक शास्त्रों के विभिन्न सिद्धान्तो के आधार पर उद्भावनाये की जाती थी।

९. यद्यपि ये कवितायें लक्षण-ग्रन्थों के उदाहरण सकलित करने के लिये नही लिखी जाती थी तथापि इनमे लक्षण-ग्रन्थो के उदाहरण प्रस्तुत करने की पर्याप्त क्षमता थी। कवि-कर्म एक विशिष्ट बन्धे हुए मार्ग पर चलने का अभ्यासी होता जा रहा था और कवियो को सहायता देने के लिये अनेक पुस्तकें प्रस्तुत की जा रही थी। इस बात का विस्तार से निरूपण किया जा रहा था कि कवियो को किन-किन अवस्थाओं में कौन-कौन-सी भावनाओ और अनुभावो का वर्णन करना चाहिये।

१०. कविता धीरे-धीरे दिखावटी वस्तु और मनोरञ्जन का साधन बनती जा रही थी। कवि लोग प्रत्यक्ष आधार पर नही अपितु पुस्तकीय आधार पर कविता करने के आदी होते जा रहे थे।

११. प्रारम्भ में काम-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली कविता प्राकृत भाषा में ही होती थी। बाद के कवि सस्कृत में भी इस प्रकार की कविता करने लगे थे।

१२. इस काल की प्रारम्भिक और परवर्ती रचनाओ में प्रवृत्ति-निमित्त मूलक पर्याप्त अन्तर है। अपभ्रश कविता-काल तक आते-आते कविता में बाह्याडबर की प्रधानता बढ़ चली थी। काव्य कही-कही अलकार के मन्तव्य से ही लिखे जाने लगे थे। अपभ्रश की कविता मे कामिनियो की कामना के रूप मे जहा एक ओर शृगारिक व्यजनाएँ हुई है, वहा दूसरी ओर वीर भावो की भी बहुत ही सुन्दर व्यजनाए दृष्टिगत होती है।

१३ इस काल की कविता मे कही-कही देवताओ के विषय में रति भाव का भी वर्णन मिलता है किन्तु इस प्रकार के वर्णन की बहुत कमी है। अधिकतर कविता लौकिक-क्षेत्र में ही विचरण करती रही है।

१४. उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार भी इस काल में प्रधान थे, किन्तु इस कार्य के लिये अस्वाभाविकता हेय समझी जाती थी।

१५ अत्युक्ति अलकार केवल अतिशयोक्ति के रूप में ही समीचीन माना जाता था। अन्यथा यह अरसिक लोगो की वस्तु माना जाता था। ग्राम्यता एक बहुत बडा दोष समझा जाता था।

ये ही उस काल के सामान्य प्रवृत्ति-निमित्त थे।

इस काल की प्रमुख रचनायें

(१) **गाथा सप्तशती**—जैसाकि पहले बुतलाया जा चुका है, लगभग एक करोड गाथाओ से सकलित करके चमत्कारपूर्ण सात सौ गाथाओ का यह कोष-ग्रन्थ आन्ध्र के सुसमृद्ध राज्य में प्रस्तुत किया गया था। इस समय आन्ध्र में शातवाहन अथवा शालिवाहन राजाओ का शासन था। गाथा सप्तशती का सकलन करनेवाले शातवाहन के विषय मे स्वर्गीय श्री दुर्गाप्रसाद जी महामहोपाध्याय ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। डाक्टर पेटरसन को बूदी-नरेश से गाथा सप्तशती की एक प्रति प्राप्त हुई थी। इसकी समाप्ति पर कवि के विषय में सक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसमे ज्ञात होता है कि कुन्तल नरेश शातवाहन की सभा अनेक विद्वानो से परिपूर्ण थी। वृहत्-कथा के लेखक गुणाढ्य तथा कलाप व्याकरण के रचयिता शर्ववर्मा इत्यादि इन्ही की सभा के रत्न थे। इनकी राजधानी प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठान) थी। पिता का नाम द्वीपिकर्ण और पत्नी का नाम मलयवती था। ये मलयवती के उपदेश से पडित हुए थे। कहा जाता है कि एक बार जल-क्रीडा के अवसर पर मलयवती ने इन महाराज की सस्कृतानभिज्ञता की हँसी उडाई थी। इससे सन्तप्त होकर इन्होने शर्ववर्मा से व्याकरण का पाडित्य प्राप्त किया

था और उसके पुरस्कार में शर्ववर्मा को भरु कच्छ का प्रदेश समर्पित किया था। इनके हाल, शाल, शालवाहन इत्यादि अनेक नाम थे। हाल का उल्लेख बडे गौरव के साथ अनेक कवियो और शास्त्रकारो ने किया है तथा इनको दानियो का आदर्श माना है। इनकी रसिकता का पता इसी बात से चल सकता है, जैसा कि कामसूत्र में लिखा हुआ है, इन्होने सुरत काल में हर्षोन्मत्त होकर अपनी प्रियतमा मलयवती के कैंची मार दी थी जिससे उसका देहावसान हो गया था। इन महाराज ने प्राकृत के प्रसार के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया था[1] जिसका उल्लेख श्री भोजदेव ने अपने सरस्वती कण्ठाभरण मे किया है —

के नासन्ना दयराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिण ।
काले श्रीसाहसांकस्य के न संस्कृतभाषिण: ।।

इस सतसई में स्थान-स्थान पर शालिवाहन महाराज की दानशीलता और वीरता की प्रशसा की गई है। इससे ज्ञात होता है कि इन गाथाओ का सकलन भी स्वय शालिवाहन ने नही किया होगा। इनके आश्रित किसी दूसरे कवि ने इन गाथाओ का सकलन कर महाराज को अर्पित कर दिया होगा और यह सतसई शालिवाहन महाराज के ही नाम पर प्रचलित हो गई। साहित्य मे प्राय हाल के द्वारा श्रीपालित नामक कवि के सरक्षण का वर्णन मिलता है। सम्भव है, इन्ही श्रीपालित ने इस सप्तशती की रचना अथवा सकलन किया हो और यह भी सम्भव है कि कही-कही इसमें हाल की बनाई हुई गाथाये भी सन्निविष्ट की गई हो।

सस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार कीथ महोदय ने लिखा है कि इन गाथाओ में केवल ४३० गाथाये ऐसी है जो कि अब तक उपलब्ध होनेवाली समस्त प्रतियो में मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि इस पुस्तक मे परिवर्तन तथा परिवर्धन भी पर्याप्त मात्रा मे हुआ है। आज जिस रूप में यह पुस्तक उपलब्ध होती है वह रस का एक अखण्ड भण्डार है। इसने स्वय को ही नही प्राकृत भाषा को भी अमर बना दिया है। सस्कृतसाहित्य में कविगण इस सप्तशती की प्रशसा करते नही थकते। आचार्य गोवर्धन ने अपनी आर्या सप्तशती की रचना करते हुए लिखा है कि "इस प्रकार की सरस वाणी प्राकृत भाषा में ही सम्भव है। किन्तु मैने इसे संस्कृत में अवतरित किया है। यह मेरी चेष्टा ऐसी ही है जैसे मैने यमुना की कलकल-वाहिनी धारा को आकाश में पहुचा दिया हो।" बाण ने इस रचना को अविनाशी और अग्राम्य कहा है तथा विशुद्ध जातिवाले रत्नो से भरे हुए कोष के समान माना है। इसी सप्तशती के आधार पर यह प्रायोवाद चल दिया कि प्राकृत भाषा में ही शृगार-रसमयी रचना हो सकती है।

वस्तुत: यह ग्रन्थ भारतीय काव्य-जगत् में अपना जोड नही रखता। सस्कृत काव्य शास्त्र के लक्षणों से यह सर्वथा परिपूर्ण है। व्यजना का जैसा सुन्दर, सुमधुर

१ राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में लिखा है कि शातवाहन का अन्त:पुर प्राकृत-भाषामय था.

रसावेश हमें स सग्रह में मिलता है वैसा कही अन्यत्र दुर्लभ है। रस की दृष्टि से यह काव्य सर्वथा भरा-पूरा है। शृगार रस धान है और उसका अप्रतिद्वन्द्वी साम्राज्य प्रत्येक स्थान पर लक्षित होता है। यह ग्रन्थ ठीक रूप में वैदर्भी शैली में लिखा गया है। इसमें अलकारो का स्थान-स्थान पर बडा ही सुन्दर और उचित प्रयोग किया गया है। व्यग्य का तो ऐसा साम्राज्य है कि एक भी पद्य ऐसा नही है जिसमें व्यग्यार्थ अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता हुआ न दिखलाई दे। इसके काव्य-शास्त्रीय उत्कर्ष का इसी से पता चल सकता है कि रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त इत्यादि महान् आचार्यों ने सस्कृत का महत्त्व स्थापित करने की चेष्टा करते हुए भी उदाहरणो के लिए इनके सामने अपने हाथ फैलाये है। व्यग्यार्थ का प्रसिद्ध उदाहरण--"भ्रम धार्मिक- विश्रब्ध ....." वाला पद्य इसी सप्तशती का है। यह बात पूर्ण बल के साथ कही जा सकती है कि मुक्तक काव्य का इस रूप में सबसे पहला यह ग्रन्थ सभी परवर्ती न्थो का आदर्श रहा है और इसमें कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य विद्यमान है, जिनका अतिक्रमण न हो ही सका है और न हो ही सकता है।

लक्षण-शास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है, उतना ही अपने वर्ण्य-विषय के विस्तार की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। समाज के प्राय प्रत्येक वर्ग का इसमे प्रतिनिधित्व किया गया है। एक ओर नागरिक जीवन का चित्रण है, दूसरी ओर देहाती निम्न वर्ग के व्यक्तियो का भी चित्रण पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। इसमें मानव जीवन का इतने निकट से अध्ययन किया गया है जैसा कि सस्कृत के दूसरे ग्रन्थो में कम सम्भव हो सका है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि इसमें मानव-जीवन की सीधी-साधी अभिव्यक्ति ही प्रधान लक्ष्य है। कही-कही बहुत ही उच्चकोटि की अलकृत कविता विद्यमान है। किन्तु यह कविता भी ऐसे कवियो की लिखी हुई प्रतीत होती है जो जीवन को निकट से देखना चाहते थे। इसमें सभ्य समाज का और साथ-ही-साथ गोप, गोपी, खेत की रखवाली करने वाली, चक्की पीसनेवाली, शिकारी, मजदूर इत्यादि सभी का वर्णन आता है। इसमें साधारण दृष्टिकोण आकर्षक और मनोरजक है। साधारण प्रेम साधारण परिस्थितियो में दिखलाया गया है। यदि वर्षा दो प्रेमियो को एक स्थान पर छिपने के समय प्रेम रसास्वादन का अवसर देती है तो शीतकाल उसी प्रकार में मिलाता है। कही कोई नायिका अपने अभिसार-स्थान शालिक्षेत्र के पक जाने पर अभिसार स्थान के व्याहत होने के कारण दुखी हो रही है तथा उसे उसकी सखी दूसरे सन के खेत के तैयार हो जाने की बात कहकर समझाती है। कोई नायिका किस प्रकार आखो में आसू भरकर अपने प्रियतम को रोकने की चेष्टा करती है, जरा इसका भी एक चित्र देखिये —

एको विकल्ल सारो न देइगन्तुं अपाहिणवलन्तो।
किं उण वाहा उलिय लोअण जअल पिय अमाए॥ (१-२५)

(यदि एक भी काला मृग यात्रा के समय दाहिनी ओर से बाई ओर को आ रहा हो तो यात्रा सम्भव नही होती। (क्योकि कृष्ण-सार यात्रा के समय दाहिनी ओर से बाई ओर आ रहा हो तो यह अशकुन माना जाता है और यात्रा सम्पन्न नही होती।) फिर भला प्रियतमा के आसुओ से भरे हुए दो नेत्ररूपी काले मृगो के सामने आ जाने पर तो कहना ही क्या ?) भावना की पराकाष्ठा वहा पर हो जाती है जहा पर प्रियतम के लौटने पर भी नायिका वस्त्राभरण इसलिए धारण नही करती क्योकि अभी उसका पडौसी नही लौटा है और उसके शृंगार करने से उसकी पडोसिन को कष्ट होगा। किसी वैद्य जी से एक नायिका अनुरक्त है। अभिसार का समय आ गया है। नायिका के पति महोदय घर पर बैठे है। अब भला नायिका अपने प्रियतम वैद्यजी से मिलने किस प्रकार जा सकती है ? उसे चटपट एक उपाय सूझता है। वह बिच्छू के काट लेने का बहाना करती है। उसकी सखी उसका हाथ पकडकर वैद्य जी के यहा ले जाने की बात कहती है और नायिका हाथ कपाती हुई तथा रोती हुई उक्त वैद्यजी से मिलने चली जाती है। इसी प्रकार कही कोई नायिका गोदावरी तट पर पके हुए मधूक वृक्ष के नीचे मिलने का नायक को कुशलतापूर्वक सकेत देती है। दूसरे स्थान पर डाकुओ द्वारा घेरी हुई नायिका का वर्णन है। कही कोई दत्त-सकेता नायिका कुञ्ज मे बैठी हुई जीर्ण पर्णो की आहट ले रही है। दूसरे स्थान पर सखी मान के कारण विमुख लौटे हुए नायक के कारण पश्चात्ताप करती हुई नायिका को उपालम्भ दे रही है। इस प्रकार इस पुस्तक में भारतीय प्रेम के सभी स्वरूप प्राप्त होते है। दृष्टि के मिलने से लेकर गृहस्थ और बच्चो के प्रेम तक का वर्णन किया गया है। इसमें शहरी जीवन की अपेक्षा देहाती जीवन का ही अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन है कृति के आलम्बन और उद्दीपन रूप में नाना दृश्यो का इसमें वर्णन मिलता है। कुछ भागो पर थेर गाथा और थेरी गाथा का भी प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित होता है, जिसमें बौद्ध सन्यासिनी प्रकृति के नाना रूपो का वर्णन करती है। इस ग्रन्थ मे नीति-सूक्तियो का भी अच्छा समावेश हुआ है तथा दूसरे वर्णन भी इसमें यथास्थान सन्निविष्ट हो गए है। कई गाथाओ में श्री शातवाहन महाराज की दानशीलता और वीरता का भी वर्णन किया गया है। यह वर्णन भी दूसरे प्रशस्ति-काव्यो के समान अधिक अतिरजित नही है। कही-कही किसी दुर्गत कुटुम्बी की दशा का भी अच्छा वर्णन है। यद्यपि नख-शिख वर्णन का आग्रह तो नही दिखलाई देता तथापि अनेक अगो का कवित्वमय वर्णन किया गया है। ऋतुओ का वर्णन भी अच्छा बन पडा है।

कवि गृहस्थ-जीवन के प्रेम को ही महत्व देता है और स्वकीया प्रेम को ही प्रेम का आदर्श समझता है। पत्नी के आदर्श की स्थापना करते हुए कवि कहता है— 'जो महिलाये घर के सुख-दुख तथा कीर्ति और अकीर्ति को जानती है वे ही वास्तविक महिलाए होती है। शेष महिलाएं मनुष्य के लिए साक्षात् जरा-रूपिणी

होती हैं। इन कुलवती महिलाओ का उपालम्भ हासपूर्वक ही होता है। ये आवश्यकता से अधिक आदर दिखलाकर ही अपना क्रोध प्रकट करती है और इनके प्रणय-कलह की सीमा अश्रुकण ही होते है।" किन्तु समाज में सर्वत्र सुमहिलाए ही तो नही होती। समाज का पूर्ण चित्रण करने के लिए कवि को रसाभास का भी काव्य में समावेश करना पडा है। देवर के प्रेम का वर्णन इसी रसाभास के अन्दर कहा जा सकता है। कही-कही पर इनका वर्णन औचित्य की मर्यादा का अतिक्रमण भी कर जाता है। कोई नायिका किसी मन्दिर में अपने प्रयतम से मिला करती थी और सहवास के अवसर पर और कुछ सुलभ न होने पर गणेशदेव की मूर्ति पीठ के नीचे लगा लिया करती थी। अब प्रियतम के वियोग हो जाने पर जब वह गणेशदेव का पूजन करने जाती है तभी वही मूर्ति उसके लिए उद्दीपन का कार्य करती है। इसी प्रकार पुष्पवती के पास लिटाने का भी वर्णन अनुचित है। छोटी बालिका को पैरो पर बिठाकर खिलाने में पुरुषायित की कल्पना भी अनुचित है। सम्भव है कवि का मन्तव्य भावज का देवर से मजाक करने का रहा हो और वह बालिका देवर की बहन हो। किन्तु ऐसे वर्णन सख्या में बहुत थोडे है और इस काव्य के महत्त्व को कम नही कर सकते।

इस ग्रन्थ में कई एक पद्य देवताओ के प्रेम के विषय में भी है। कही-कही पार्वती और शकर के प्रेम का वर्णन किया गया है। दो-एक पद्यो में राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण का भी नाम आता है। लक्ष्मी-नारायण के प्रेम का चित्रण भी दो एक गाथाओ का विषय है। किन्तु ये वर्णन परिमाण मे इतने न्यून है कि इन्हे हम इस काल की सामान्य प्रवृत्ति नही कह सकते। एक गाथा में विक्रमादित्य की दानशीलता का भी उल्लेख किया गया है तथा एक दूसरी गाथा में बुद्ध का भी नाम आया है— "पृथ्वी पर शुको के मुखो के समान कान्तिवाले पलाश-कुसुम इस प्रकार पटे पडे है मानो बुद्ध भगवान् के चरणो की वन्दना करने के लिए भिक्षुओ का समूह पृथ्वी पर पडा हो।" इस ग्रथ मे हमें उस समय के आचार-विचार, रहन-सहन, उत्सव, वस्त्र इत्यादि का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है तथा प्राकृतिक दृश्यो में मध्यदेश, विन्ध्याचल, नर्मदा, गोदावरी इत्यादि का विशेष वर्णन किया गया है। परवर्ती मुक्तककारो के लिए यही सतसई आदर्श सिद्ध हुई और गोवर्धनाचार्य की आर्या-सप्तशती तथा बिहारी की सतसई तो स्पष्ट रूप में इसी सतसई के आदर्श पर लिखी गई।

(२) **ऋतुसंहार** नामक एक छोटा-सा काव्य महाकवि कालिदास के नाम से प्रसिद्ध है। नही कहा जा सकता कि यह काव्य कालिदास का ही लिखा हुआ है अथवा किसी दूसरे कवि ने अपने काव्य की प्रतिष्ठा बढाने के लिये इसको कालिदास के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। इसमें हमें कालिदास की कला के सच्चे दर्शन नही होते। यदि यह काव्य कालिदास का लिखा हुआ भी होगा तो यह सबसे पहले लिखा

गया होगा। इसमें उद्दीपन के रूप मे विभिन्न ऋतुओ का चित्रण किया गया है। ऋतुओं का वर्णन ग्रीष्म काल से प्रारम्भ होता है। ऋतु-सौन्दर्य की उद्दीपकता दिखलाई गई है और साथ मे कामिनियो का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा मे किया गया है। इस काल के प्रकृति काव्यो में उसका अच्छा मान है।

(३) **अमरुशतक**—आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त ने अमरुशतक को मुक्तक काव्य का आदर्श माना है तथा लिखा है कि प्रबन्धो के समान मुक्तको मे भी कवियो का रसबन्धाभिनिवेश देखा जाता है जैसे अमरुक के शृंगार रसनिष्यन्दी मुक्तक प्रबन्ध के समान महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध ही है। कहा भी जाता है कि "अमरुक का एक-एक श्लोक सौ प्रबन्धो के समान महत्त्वपूर्ण है।" वस्तुतः यह रचना महत्त्व की दृष्टि से इस आदर की सर्वथा अधिकारिणी है। यदि गाथा सप्तशती को छोड दिया जावे अथवा दूसरे शब्दो में केवल सस्कृत मुक्तक काव्य पर ही विचार किया जावे तो अमरुक शतक से बढकर दूसरी मुक्तक रचना सस्कृत साहित्य-जगत् में समुपलब्ध नही होती। यद्यपि इसमें गाथा सप्तशती के समान जीवन की अनेकरूपता दृष्टिगत नही होती, यद्यपि इसमें आलम्बन की बहुमुखी प्रवृत्ति तथा उद्दीपन की विविधता के दर्शन नही होते यद्यपि इसमें समाज का उतना स्पष्ट और विशद चित्रण नही और व्यजना का उतना चमत्कार दृष्टिगत नही होता तथापि भावनाओ का जैसा घात-प्रतिघात और तीव्रता इस शतक में समुपलब्ध होती है, वह साहित्य-जगत् मे सर्वथा अद्वितीय है, इसमें सदेह नही।

अमरु या अमरुक का व्यक्तित्व सर्वथा रहस्यमय है। कुछ लोगो का कहना है कि शकराचार्य ने परकाय प्रवेश द्वारा काश्मीर के राजा के शरीर में प्रवेश किया था और उस राजा के रूप में कामशास्त्र का अनुभव प्राप्त करने की चेष्टा की थी जिससे मण्डन मिश्र की पत्नी को कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नो का उत्तर दिया जा सके। उस राजा के अन्तःपुर में १०० पत्निया थी। इसी आधार पर उन्होने १०० पद्यो की रचना की थी। इसी आधार पर इनके पद्यो की शान्तरस-परक व्याख्या करने की भी चेष्टा की गई है। किन्तु न तो इस किवदन्ती को विश्वसनीय ही कहा जा सकता है और न इसके मानने का कोई पुष्ट प्रमाण ही प्राप्त होता है। आनन्दवर्धन (७५०) ने भी इसका उल्लेख किया है और वामन (८००) ने भी इसके पद्यो को उद्धृत किया है। इससे ज्ञात होता है इनका समय आठवी शताब्दी या उससे पहले ही होगा। कुछ लोग इन्हे कालिदास से भी पहले ले जाते है। किन्तु भाषा और शैली की दृष्टि से ग्रथ ७वी शताब्दी के पहले का नही जान पडता। इस शतक की संख्या अनियत है। कीथ ने अपने इतिहास मे लिखा है कि अमरुक की ४ प्रतिया प्राप्त हुई है, जिनमें एकसी सख्या नही है। जो पद्य सभी में प्राप्त हो जाते है उनकी संख्या केवल ५१ है। कुछ लोगो ने इसके आधार पर नायिका-भेद का निरूपण करने की चेष्टा की तथा दूसरे लोगो ने इस ग्रथ को

अलंकारो के उदाहरण के रूप में लिखा हुआ सिद्ध करने का प्रयत्न किया। किन्तु यह ग्रथ इन दोनो उद्देश्यों से लिखा गया नही जान पड़ता। इस ग्रथ का एक मात्र मन्तव्य शृंगार रस के मुक्तकों की रचना करना ही था, इसके अतिरिक्त और कुछ नही।

इस शतक में अधिकतर विप्रलम्भ शृंगार का ही चित्रण किया गया है और विप्रलम्भ में भी मान-विप्रलम्भ का। मान के अनेक रूप दृष्टिगत होते है। मुग्धा का मान, मध्या का मान, प्रौढा का मान, नायिका को नायक द्वारा मनाने की चेष्टा, सखी द्वारा मनाने की चेष्टा, नायक का निराश होकर लौट जाना, नायिका का पश्चात्ताप, सखी का उपालम्भ इत्यादि अनेक मान-विषयक वर्णन किये गये है। कही नायिका दूती प्रेषण करती है, कही सखी नायिका को मान की विद्या सिखा रही है और नायिका उसको वैदग्ध्यपूर्ण उत्तर देती है। सखी नायिका को मान की विधि सिखाती है। वह कहती है—"अरी मुग्धे, क्या तूने अपने इस लड़कपन में ही सारा समय बिता देने की सोची है ?"

मान धारण करो, दृढता धारण किये रहो और अपनी इस सिधाई का परित्याग कर दो (इसीसे जीवन का आनन्द प्राप्त होगा)। इसपर नायिका एकदम घबरा उठती है और वैदग्ध्य के साथ सखी से कहती है—"धीरे-धीरे कहो कही ऐसा न हो कि मेरे प्रियतम जो कि मेरे अन्त.करण में ही विद्यमान है, कही तेरी इस बात को सुन ले।" जरा इस नायिका की परेशानी को देखिए—सखी ने मान-विधि सिखाई है और नायिका ने प्रयत्नपूर्वक मान की चेष्टाये धारण कर ली है—किन्तु उससे रहा नही जाता। उसने भ्रूभग रचा है किन्तु चितवन में अधिक उत्कण्ठा दृष्टिगत हो रही है। चित्त को कठोर बना लिया है किन्तु शरीर फिर भी अत्यधिक रोमाचित हो रहा है। "मैने अपनी वाणी रोक ली है किन्तु इस दग्ध मुख पर मुस्कराहट आ ही जाती है। जब प्रियतम के परोक्ष में ही स्थित होने पर मान की यह दशा हो रही है तब भला यदि प्रियतम सामने आ गया तब मान का निस्तार किस प्रकार हो सकेगा।" नायक और नायिका ने एक-दूसरे से मान किया है। दोनो एक ही शय्या पर एक-दूसरे की ओर से करवट बदले हुए लेटे है। एक-दूसरे से बोलना-चालना बिल्कुल बन्द कर रखा है और रोष प्रदर्शन का अभिनय कर रहे है, यद्यपि एक-दूसरे के हृदय में अनुनय करने की उत्कण्ठा विद्यमान है, तथापि गौरव की रक्षा कर रहे है। इसी समय दोनो के अपाग घूमते है और उनके नेत्र मिल जाते है। इस प्रकार उनका मान-कलह भग हो जाता है और दोनो हास, उत्तेजना और वेग के साथ एक-दूसरे के गले में चिपट जाते है। यह तो हुई प्रणय-मान की बात, अब जरा ईर्ष्या-मान के भी एक दो नमूने देख लीजिये—नायिका प्रियतम के अपराधो से दुबली होती जा रही है, आशका, भय और कोप से उसके शरीर में कम्पन उत्पन्न हो रहा है।

प्रियतम प्रेमपूर्वक पूछता है—"तुम्हारे शरीर में इतनी कृशता क्यो उत्पन्न हो गई है, यह कम्पन क्यो उत्पन्न हो रहा है और तुम्हारे मुख पर कपोलो की पाण्डुता क्यो बढ रही है ?" इस प्रकार प्रियतम के पूछने पर नायिका ने भोलेपन से उत्तर दे दिया कि यह स्वाभाविक ही है। यह कह मुह घुमाकर अपने पलको में लगे हुए अपने आसुओ को एक गहरी सास के साथ गिरा दिया। नायिका के मनाने के समय का यह उत्तर-प्रत्युत्तर भी कितना सुन्दर है। नायक—"बाले ?" नायिका—"नाथ" (प्रियतम नही) नायक—"हे मानिनि ! यह रोष छोड़ दो।" नायिका—"रोष करके मैने क्या कर लिया ?" नायक—"तुम ने रोष करके मेरे हृदय में खेद उत्पन्त कर दिया।"

नायिका—"तुम्हारे हृदय में खेद क्यो उत्पन्न हुआ ? तुमने क्या अपराध किया है?" नायक—"फिर तुम गद्गद स्वर मे रो क्यो रही हो ?" नायिका—"मैं किसके सामने रो रही हू ?" नायक—"यह देखो, मेरे ही सामने रो रही हो?" नायिका—"मै तुम्हारे सामने क्यो रोऊगी, मै तुम्हारी कौन लगती हू ?" नायक—"तुम मेरी प्रियतमा हो।" नायिका—"प्रियतमा ही तो नही हू इसीलिये तो रो रही हू।" मान की पराकाष्ठा भी देखिये, नायिका ने मान किया है, सखी समझाते-समझाते थक गई है। वह अन्त में कहती है, "तुम्हारा प्राण-प्रियतम बाहर नीचे को सर किये हुए अपने नाखून से भूमि कुरेद रहा है। सखियो ने खाना-पीना छोड रखा है और निरन्तर रोते-रोते उनकी आँखे फूल गई है। पिजड़े मे बन्द शुको ने सारा हसना और पढना छोड रखा है। तुम्हारी यह दशा है, अरे कठोर हृदयवाली, अब तो मान छोड दो।" प्रवास के प्रसग में ही नायिका की क्या दशा हो गई है, इसका भी एक चित्र देखिये। नायिका कह रही है—"प्रियतम के प्रस्थान का समाचार मिलते ही मेरे वलय निकलकर कलाइयो को छोड़ गये। मेरे प्यारे मित्र आसू भी निरन्तर जा ही रहे है। धैर्य क्षण भर भी रुकना नही चाहता, चित्त पहले ही जाने को तैयार बैठा है। प्रियतम ने जाने का निश्चय किया ही था कि यह सब साथ ही जाने को उद्यत हो गये। हे जीवन, जाना तुम्हे भी है ही फिर वलय, आँसू इत्यादि तुम्हारे जीवन के साथी है, इनका साथ क्यो छोड रहे हो ? तुम भी इन्ही के साथ क्यो नही चले जाते ?" सयोग शृगार के भी दो-एक उदाहरण अच्छे है किन्तु इनकी सख्या बहुत ही कम है। दो एक उदाहरण देखिये—"कमरा अकेला है (सखिया छोडकर चली गई है)। नायक नीद का बहाना किये हुए लेटा हुआ है। नायिका वासगृह को शून्य और नायक को सोता हुआ देखती है। चुपके से उठती है और यह निश्चय करने के लिये कि क्या नायक वास्तव मे सो रहा है बडी देर तक उसके मुख को देखती रहती है। जब विश्वास हो जाता है कि नायक वास्तव मे सो रहा है तब स्वच्छन्दतापूर्वक उसका चुम्बन करती है और जब देखती है कि उसके चुम्बन करने से नायक का चेहरा प्रफुल्लित हो गया है

और कपोल रोमाचित हो गये है तब लज्जा से अपना सर झुका लेती है। प्रियतम उठता है और हसते हुए उस बाला (नवोढा) का बहुत समय तक चुम्बन करता रहता है।" जरा नायिका की निपुणता भी देख लीजिये। "दम्पति रात-भर बाते करते रहे। वही पर घर के शुक भी टगे हुए थे। शुको ने उन सब बातो को सुना और याद कर लिया। प्रातःकाल नायक और नायिका तथा समस्त गुरुजन और परिवार के लोग उपस्थित है। तोता सबके सामने ही रात की बातो को दोहराना प्रारम्भ कर देता है। नायिका चतुरतापूर्वक अपने आभूषणो में से पद्मराग का एक टुकडा लेकर तोते की चोंच में रख देती है। तोता उसे अनारदाना समझकर कतरने लगता है और इस प्रकार उसका मुख मुद्रण हो जाता है तथा नायिका की लज्जा रह जाती है।" कही-कही सीधे-सादे वर्णन भी प्राप्त होते है—कोई व्यक्ति किसी अभिसारिका से पूछ रहा है—"हे बाले, इस घने अन्धकार मे तुम कहा जा रही हो ?" अभिसारिका उत्तर देती है, "जहा मेरा प्राणाधिक प्रियतम निवास करता है मै वही जा रही हू।" वह व्यक्ति पूछता है—"तुम अभी बाला ही हो फिर भी अकेले तुम्हे भय क्यो नही लगता ?" इस पर अभिसारिका कहती है—"धनुष चढाये हुए कामदेव हमारी सहायता के लिये उपस्थित है, फिर भला हमें भय किस बात का ?" कही-कही पर कला का उत्कर्ष भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। मगलाचरण में कवि ने लिखा है—"शकरजी के बाण की अग्नि त्रिपुर युवतियो से जिसका व्यवहार अपराध में आर्द्र-कामुक के समान रहा तुम्हारे सब दु:ख और दैन्य को काट डाले। जिस प्रकार अपराधी नायक नायिका को मनाने के लिये यदि उसका हाथ पकडता है तो नायिका झटककर उसे अलग कर देती है, उसी प्रकार जब शकरजी के बाण की अग्नि त्रिपुर-युवतियो के हाथ में लगी तब उन युवतियो ने उसे झटककर अलग कर दिया। इसी प्रकार वस्त्र पकडने पर झटक दिया, बाल पकडने पर पृथक् कर दिया और चरणो में गिरने पर सम्भ्रम के कारण उसे देखा भी नही।" इस प्रकार यह रचना शृंगार रस की एक अद्वितीय रचना है। इसमे भावात्मकता और कलात्मकता दोनो का मनोहर सामजस्य है। अलकारो का बडा ही उचित और मधुर प्रयोग है। शैली सीधी-सादी और प्रसाद गुण पूर्ण है। भाषा शक्तिशालिनी है और दीर्घ तथा अस्वाभाविक समासो का सर्वथा अभाव है। सबसे बडी बात यह है कि सूक्तियो की दृष्टि से नही, इसके पद्य रस-निष्पति की दृष्टि से लिखे गये है और पाठक के हृदय मे अपना अभूतपूर्व सौन्दर्य का जादू प्रसारित करने मे समर्थ है। वास्तव में सहृदय व्यक्तियो पर अमरुक का एक बहुत बडा आभार है और हम अमरुक की कृति प्राप्त कर धन्य हो गये है।

(४) चौर पंचाशिका—इस नाम की पुस्तक की दो प्रतियां प्राप्त हुई हैं। एक काश्मीर में और दूसरी दक्षिण भारत में। दोनों प्रतियो में केवल ३४ पद्य ऐसे

हैं जो समान रूप से मिलते है, शेष पद्य पृथक्-पृथक् है। इन दोनो प्रतियो में इस के कर्ता का नाम विल्हण लिखा हुआ है। सम्भवत ये विक्रमाकदेवचरित के रचयिता ही विल्हण है। दोनो ही पुस्तको में लिखा है कि कवि का गुप्त प्रेम एक राजकुमारी से था। इस रहस्य के प्रकट हो जाने पर राजा ने कवि को मृत्यु-दण्ड का आदेश दिया। कवि ने अपने प्रेम की अतीत घटनाओ के सस्मरण में प्रस्तुत पुस्तक के ५० पद्यों की रचना की और मृत्यु-दण्ड प्राप्त होने के पूर्व वह पुस्तक राजा की सेवा में भेज दी। राजा पुस्तक की कोमल-कान्त पदावली; भावो की मनोहरता और कला की रमणीयता से मुग्ध हो गये तथा मृत्यु-दण्ड का आदेश वापस लेकर अपनी पुत्रा का विवाह कवि से करा दिया। पुस्तक देखने से भी इस कथा की सत्यता सिद्ध होती है। पुस्तक में पुराने संस्मरण ही है और पुस्तक से यह भी सिद्ध होता है कि इसकी नायिका राजकुमारी है। एक पद्य मे मृत्यु काल का वर्णन भी किया गया है। उक्त दोनो प्रतियो मे राजा तथा राजकुमारी का नाम भी दिया गया है किन्तु दोनो प्रतिया परस्पर मेल नही खाती। काश्मीर की प्रति मे लिखा है कि महिलापत्तन के वीरसिह की पुत्री चन्द्ररेखा के साथ कवि का प्रेम था और उसी के प्रेम के स्मरण के रूप मे इस ग्रन्थ की रचना की गई थी। दक्षिण की पुस्तक मे लिखा है कि पाचालेश्वर मदनाभिराम की पुत्री यामिनी पूर्णतिलका से कवि का प्रेम था। टीकाकार राम तर्कवागीश के अनुसार इस पुस्तक मे चौरपल्ली के राजकुमार सुन्दर के द्वारा कालिका की प्रार्थना कराई गई है जबकि वीरसिह ने विद्या के साथ गुप्त प्रेम करने के अपराध मे उन्हे मृत्यु-दण्ड दे दिया था। यह भी कहा गया है कि इस पुस्तक का कवि चौर था। विल्हण की दूसरी रचना से उनका किसी राजकुमारी के साथ प्रेम करना सिद्ध नही होता। सम्भव है विल्हण के चौरमय प्रेम की काल्पनिक कथा लेकर इस काव्य की रचना की गई हो। विल्हण काश्मीरी थे और दक्षिण के दरबार मे रहे थे, सम्भव है कि यह विल्हण की ही कृति हो। इसकी रचना-शैली प्रौढ है जो कि विक्रमाकदेवचरित्र मे उपलब्ध नहीं होती। इन दोनो काव्यो की शैलियो मे इतना अतर है कि दोनो एक ही व्यक्ति की रचना है इस पर विश्वास करना कठिन हो जाता है। किन्तु दोनो काव्यो में प्रसाद गुण पूर्ण शैली अपनाई गई है। यद्यपि ग्रन्थ में केवल चौरी प्रेम के स्मरण सचारी का ही प्रधानतया काव्य के विषय के रूप में उपादान किया गया है तथापि काव्य में एकरूपता नही आती और प्रेम के अनेक रूपो के इसमें दर्शन हो जाते हैं। कवि अनेक आनन्द-क्रीडाओ का स्मरण कर खेद का अनुभव करता है। "आज भी मुझे उस समय का स्मरण आ रहा है जबकि वह (राजकुमारी) दर्पण देख रही थी। सहसा मैं पीछे से आ गया। जैसे ही मेरी प्रतिमा दर्पण में सक्रात हुई कि उस के अन्दर सहसा कम्पन उत्पन्न हो गया, एक दम हडबडा गई, लज्जाकुल हो गई और उसमें विलास का आविर्भाव हो गया।" कितना सुन्दर भाव-शवलता का चित्रण

है। राजकुमारी में कितनी उत्कण्ठा है जरा इसके भी दर्शन कर लीजिये—"मैं एक बार किवाड की आड में छिपा खडा था। (किन्तु उसे मेरी उपस्थिति का पता नहा था) वह अपने मुख को अपने हाथ पर रखे हुए मेरे ही मार्ग की ओर अपनी दृष्टि लगाये बैठी थी और कोमल काकली स्वरो में ऐसे गानो को गुनगुनाती हुई गाने की इच्छा कर रही थी जिसमें मेरे नाम के वर्ण आ जाते थे। मैं अपने अन्त करण से उसकी दशा का स्मरण कर रहा हूं।"

इसके बाद सम्भोग का चित्र देखिये। "उसने अपनी भुजलताओं का कण्ठपाश मेरे कठ में डाल दिया था और अपने दोनो स्तनों से मेरे वक्षःस्थल को परिपूर्ण रूप से वेष्टित कर कुछ थोडा अपने नेत्र प्रान्तो को सिकोडती हुई लीला और विलासों में कटाक्ष करती हुई मेरी ओर देखती जाती थी और मुख का पान कर रही थी। आज भी मुझे उस भोले-भाले मुख वाली राजकुमारी की उस दशा का स्मरण हो रहा है।" सम्भोग के उपरान्त सोने के अवसर पर उसके शब्द भी कितने मधुर है—"एक बार वह (सहवास के उपरान्त) कुछ निद्रित हो गई थी। निद्रा से उसके नेत्र मिच गये थे। एक तो वह वैसे ही मदमस्त थी। उस समय निद्रावस्था में ही बडबडाते हुए उसने कुछ शब्दो का उच्चारण किया जो कि बडे ही मधुर थे और जो न तो निरर्थक ही थे और न सार्थक ही। आज भी जब मुझे उन शब्दो का स्मरण हो आता है तब मेरे हृदय में उन शब्दो की एक विचित्र प्रकार की प्रतिध्वनि उत्पन्न हो जाती है।" केवल सम्भोग शृ गार ही नही वियोग शृ गार की उत्कठा भी दर्शनीय है। प्रणय-मान और ईर्ष्या-मान दोनो का सुन्दर और सजीव वर्णन हुआ है। प्रणय-मान का चित्र देखिये—"रात में हम दोनो लेटे हुए थे। वह कोप में भरी हुई थी तथा मुझ से बोलती नही थी। इसी समय मुझे छीक आ गई। (छीक आने पर मगल कामना से कोई व्यक्ति या तो 'जीवेम शरद शतम्' कहे या कान में स्वर्ण लगा दे—यह एक सामान्य परिपाटी है।) वह उस समय बोल नही सकती थी। अतएव उसने 'जीवेम शरद. शतम्' तो नहीं कहा परन्तु कान में कनक पत्र लगा दिया। आज भी वह बात याद कर मेरे हृदय में उसका चित्र घूम सा जाता है।" अब एक चित्र ईर्ष्या-मान का भी देखिये—"मुझ से अपराध हो गया था। मै उसको मनाने के लिये उसके चरणो पर पडा हुआ था किन्तु उसने मेरी परवाह भी नहीं की और सहसा मुझे छोडकर जाने लगी। मैंने उसके वस्त्र का छोर पकडा तो मेरे हाथ से झटक कर छुटा लिया और क्रोध में भरकर कठोरता के साथ 'मुझ से मत बोलो', 'मुझ से मत बोलो' कहती हुई चली गई। आज भी मुझे उसके उस स्वरूप का ध्यान आ रहा है।" ये पद्य बड ही सरस और उच्चकोटि की भावनाओ से भरे हुए है इसमें सन्देह नही।

(५) **मयूराष्टक**—बाण के श्वशुर मयूर का लिखा हुआ एक छोटा-सा ग्रंथ है। इसमें शृंगार रस के पद्य लिखे गये हैं। मयूर हर्ष के दरबारी कवि थे।

कहा जाता है कि एक बार बाण से उनकी पत्नी ने मान किया। बाण उसको रात भर मनाते रहे किन्तु वह मानने को उद्यत नहीं हुई। बाण ने उसको मनाते हुए एक पद्य बनाया :—

गतप्राया रात्रिः कृशतनुः शशी शीर्यतइ व।
प्रदीपोऽय निद्रावशमुपगतो घूर्णत इव ।।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो।

(हे प्रियतमे ! रात्रि प्राय: व्यतीत हो चुकी है। चन्द्रदेव भी अपना सौन्दर्य खो चुके है। दीपक मानो निद्रावश झूम रहा है। मान की अवधि प्रणाम ही होनी चाहिये, फिर भी तुम क्रोध को नही छोड़ रही हो।) बाण यही तीन पाद बना पाये थे कि सहसा मयूर आ गये और उन्होंने चौथे पाद की पूर्ति कर दी :—

स्तनप्रत्यासत्त्या हृदयमपिते चण्डि कठिनम्।

(कठोर स्तनो के पास रहते-रहते हे कोपने ! तुम्हारा हृदय भी कठोर हो गया है।)

यह सुनकर मयूर-पुत्री (बाण की पत्नी) ने अकाल में ही रस भग से दुखित होकर शाप दे दिया और मयूर कुष्ठी हो गये। इस कुष्ठ को दूर करने के लिये उन्होने सूर्य-शतक की रचना की। तब कही कुष्ठ से इनका छुटकारा हुआ। इनका मयूराष्टक काव्य कला की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि का नही कहा जा सकता। शैली क्लिष्ट और दुरूह है, जिससे ये उच्चकोटि के कवि ज्ञात नही होते। इनकी शैली बाण से बहुत अधिक मिलती है, इससे इनका बाण का समसामयिक होना सिद्ध होता है। एक नायिका का चित्र देखिये, जो कि प्रियतम से सम्भोग कराकर लौटी है :—

एषा का स्तनपीनभारनमिता मध्ये दरिद्रावति।
विभ्रान्ता हरिणीव लोलनयना सत्रस्तयूथोद्गता।।
अन्तःस्वेदगजेन्द्रगण्डगलिता संलीलया गच्छति।
दृष्ट्वा रूपमिदं प्रियांगगहनं वृद्धोपि कामायते।।

(यह कौन स्थूल स्तनों के भार से मध्य में झुकी हुई तेजी से बढती चली जा रही है। इसके नेत्र चचल हो रहे है मानो विभ्रम में पडी हुई हरिणी डरे हुए मृगो के झुण्ड से भागकर आई है। इसके शरीर पर पसीने की बूदे आ गई हैं और कभी-कभी यह विलासपूर्वक चलने लगती है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो मद गलित कपोलों वाली कोई हथिनी हो। इसके इस मधुर प्रिय अगो से गहन रूप को देखकर वृद्ध के हृदय मे भी कामना उत्पन्न हो जाती है।)

आर्यासप्तशती—बारहवीं शताब्दी के आस-पास लिखी हुई एक ७६० आर्याछन्दों की पुस्तक है। दूसरी रचना बगाल के लक्ष्मणसेन के पच रत्नों में

अन्यतम गोवर्धन की लिखी हुई है और इसकी रचना का आदर्श हाल की गाथा सप्तशती रही है। कवि ने स्वयं कहा है कि शृंगार रस की जो धारा प्राकृत में प्रवाहित हो रही थी उसको मैंने सस्कृत में अवतीर्ण किया है। यह मेरा प्रयास ऐसा ही है जैसे भूमि पर प्रवाहित होनेवाली कालिन्दी को मैने आकाश में पहुचा दिया हो। इससे सिद्ध होता है कि गाथा सप्तशती के ढंग की एक पुस्तक सस्कृत में भी प्रस्तुत करने का कवि का विचार था। इसीलिये कवि ने आर्याछन्द चुना जो कि गाथा के विलकुल अनुकूल पडता था। इस पुस्तक में ७०० आर्याछन्द है जिनको वर्णानुक्रम से क्रमबद्ध किया गया है। इसमें प्राकृत गाथाओ का अवाञ्छनीय अनुकरण है तथा ७०० की संख्या पूरी करने के लिये अनेक बार एक ही भाव आया है। रचना भी शिथिल है। यदि यह ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप ले लिखा गया होता, प्राकृत गाथाओ के अनुकरण की प्रवृत्ति न रही होती तो सम्भवत कवि को अधिक सफलता प्राप्त होती। कवि की प्रतिभा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि स्वय जयदेव ने इनकी प्रशसा में कहा है—"शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्य—गोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।" आचार्य गोवर्धन ने अपनी सफलता की दर्पोक्तिया भी सरल भाषा में की है। अपनी आर्याओ के विषय में उन्होने लिखा है—"गोवर्धन की आर्याओं के पद रीति और गीत सभी कुछ कोमल है। ये रसपूर्ण आर्या सज्जनो के हृदयो का निरन्तर अभिसार करने वाली है, मदन के अद्वैत की उपनिषद् हैं और सर्वथा निर्मल है।" इसी प्रकार आर्याओ की ध्वनि, उक्ति इत्यादि की भी प्रशंसा की है तथा अपने सन्दर्भ को कवियो के समर में सिंहनाद करने वाला कहा है और अमृत से तुलना प्राप्त करने वाला तथा विश्व के आनन्द का मूल बतलाया है। यह दर्पोक्तियों की परम्परा इतनी अधिक बढी कि परवर्ती कवि अपने को सर्वोत्तम धन्य घोषित करने लगे।

आचार्य गोवर्धन ने अधिकतर विषय हाल से ही लिये हैं तथापि उनमें सर्वत्र चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा की है। यदि हाल का महत्त्व ध्वनि की दृष्टि से है तो गोवर्धन ने उसे अलंकृत करने की चेष्टा की है। यदि गाथा सप्तशती मे विष्णु की कौस्तुभ मणि को भगवती लक्ष्मीदेवी का दर्पण कहा गया है तो गोवर्धन ने उसमें पुरुषायित काल में मुख देखने की कल्पना कर ली है। गाथा में "हे सुभग सहस्रो महिलाओ से भरे हुए तुम्हारे हृदय में न समाती हुई वह नायिका प्रतिदिन दूसरा काम न करते हुए अपने कृश शरीर को और भी कृश बनाती जा रही है।" इस प्रकार नायिका की प्रेम दशा व्यक्त की गई है। आर्याकार ने इसमें नष्टकील की कल्पना बडी सुन्दर की है। "स्थूल और विशाल जंघा तथा ऊरुओं वाली वह नायिका यद्यपि बाहर दृष्टिगत नही होती तथापि नायक के हृदय में ऐसी समा गई है जैसे मानो पूरी तौर से कील गाड दी गई हो और वह दिखाई न

पड रही हो। इससे दूसरी नायिकाओं को हृदय में आने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता।" "नायिका दिन में विनय से नम्र रहती है और रात्रि में काम कला विलास से उसका शरीर शोभित रहता है। जिस प्रकार प्रज्वलित और शान्त औषध का प्रत्यभिज्ञान कठिनाई से हो सकता है उसी प्रकार रात और दिन में वह एक ही है इस बात का ज्ञान भी कठिनाई से हो सकता है।" यही बात गाथा में साधारण ढंग से कह दी गई है। "रति काल मे सैकडों आदेश देती है और उसके कपोल निरन्तर हर्ष से विकसित रहते है किन्तु प्रातःकाल उसका मुख लज्जा से झुक जाता है। तब यही पता नहीं चलता कि यह वही रातवाली ही नायिका है।" इस नायक की ओर भी देखिये जो ऐसी नायिका से तो प्रेम करता है जो उससे प्रेम नही करती और जो उससे प्रेम करती है उसकी ओर वह ध्यान भी नही देता। उसकी ऐसी ही दशा है जैसे समुद्र दोनों कूलो के बीच मे रहता है। समुद्र तो कूलों का स्पर्श किये रहता है किन्तु इस अभागे नायक को इनमें किसी का सम्पर्क प्राप्त ही नही होता। गाथा सप्तशती मे इन शब्दों मे उपालम्भ दिया गया है। "हे सुन्दर यद्यपि तुम धवल हो फिर भी तुमने हमारे हृदय को श्वेत नही किया। मैंने तुम्हे अपने अनुराग भरे हृदय मे बसा लिया है किन्तु फिर भी तुम रक्त नही हो सके।" इसी आशय को लेकर आर्याकार ने लिखा है।' 'हे सखी ! तुम महान् रसमय सुन्दर आशय वाले उसके हृदय में निरन्तर निवास करती रहती हो फिर भी कुछ भी आर्द्रता तुम में नही आती जिस प्रकार वडवाग्नि निरन्तर समुद्र में रहती है फिर भी उसमें आर्द्रता नही आती।" किसी नायिका की कामना कितनी सुन्दर है— "यदि प्रियतम के वियोग में मेरा हृदय फट भी जावे तो भी मुझे उसी प्रकार आनन्द का अनुभव होगा जिस प्रकार प्रियतम की सुरत-क्रीडा में जोश के कारण शय्या के वस्त्र फट जाने में आनन्द का ही अनुभव होता है।"

गाथा के समान आर्या में भी स्थान-स्थान पर सदाचार की मर्यादा का उल्लघन पाया जाता है। कही पुष्पवती के सहवास का वर्णन किया गया है, कही पुआर पर देवर-भावज की सुरत-क्रीडा की व्यजना की गई है। कही पर-पुरुष-समागम के अवसर पर गृह-पति के आ जाने से उसे अपने नैहर का बताकर छुपाने की बात है और कही अन्धकार में प्रियतम की भुजाओं पर मस्तक रखे हुए पर-पुरुष से सहवास की प्रशंसा की गई है। कहीं-कही नग्न नायिका का पर्याप्त रूप में वर्णन किया गया है। प्रियतमा के चरण प्रहार की बात तो एक साधारण सी बात है। "नायक चरणप्रहार के भय से कुपित नायिका को बिलकुल छोडना नही चाहता क्या वायु से संचालित पर्णपुटों से ताड़ित होकर भ्रमर लता का परित्याग कर देता है।" नायक को इस प्रकार की मार में भी आनन्द ही आता है। "क्रोध से चञ्चल नेत्र वाली होकर नायिका जैसे-जैसे अपने हाथो और पैरों से उस पर प्रहार करती जाती है नायक वैसे ही वैसे उसको और अधिक रुठाता जाता है।" यद्यपि परकीया नायिका का भी

वर्णन शास्त्रसम्मत है, तथापि वर्णन ऐसा होना चाहिये जिससे रस में व्याघात उपस्थित न हो, आदर्श नीचे न गिर जावे और अश्लीलता स्फुरित न होने लगे। साहित्यमर्मज्ञों का सिद्धान्त है कि औचित्य का उपनिबन्धन भी रस का सबसे बडा सहायक है। किन्तु असती, कुलजा प्रतिवेशिनी की आसक्ति का मर्यादा के उल्लघन के साथ वर्णन करना कभी समीचीन नही कहा जा सकता, जिसके आनन्द के सामने आचार्य गोवर्धन ब्रह्मानन्द को भी तृण मानते है वह आनन्द रसज्ञो का आनन्द कभी नही हो सकता। आचार्य गोवर्धन मर्यादा का इतना अधिक उल्लघन कर गये है कि शव के चुम्बन का भी वर्णन निसकोच रूप मे किया है। यद्यपि चमत्कार की दृष्टि से आर्या अच्छी बन पडी है और कही-कही अप्रस्तुत योजना भी सुन्दर है तथापि गाथा के आदर्श पर आर्याओ के लिखने का आचार्य गोवर्धन का दावा सत्य सिद्ध नही हो सका, इस में संदेह नही।

संग्रह ग्रन्थों में उल्लिखित कवि[1]

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है अनेक कवियो की कृतियो का परिचय हमें केवल सग्रह ग्रन्थो और लक्षण ग्रन्थो से ही प्राप्त होता है, अन्यथा उनका कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हो सका है। ऐसे कवियो मे पाणिनि नामक एक कवि का उल्लेख किया गया है। अभी तक तो यह समझा जाता था कि ये व्याकरणकर्ता ही पाणिनि है। किन्तु अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि ये दूसरे ही पाणिनि थे। इनके नाम पर उद्धृत पद्य बड़े ही सरल और मनोहर है। "तन्वगी के स्तनो को देखकर युवक आनन्द विभोर होकर प्रशसा में अपना सर हिलाने लगता है, मानो स्तनो के बीच में गडी हुई अपनी दृष्टि को खीच-खीच कर निकालना चाहता है।" कोई स्त्री अपने प्रियतम के अपराध को सुनकर दुखित हो रही है और उसको समझाते हुए एक सखी कह रही है—"हे कृशोदरी ! तुम्हारे हाथो के तलभाग बड़े ही लाल वर्ण के है, इन पर तुम ने अपना क्षीण कपोल रख लिया है, उन कपोलो पर आखो के अञ्जन से मिले हुए आसू बहकर आ रहे है जिससे तुम्हारे लाल हाथ काले हुए जा रहे है। तुम व्यर्थ ही ऐसा क्यो कर रही हो ? हे मुग्धे चञ्चलता के कारण भ्रमर कही जाकर किसी कन्दली का चुम्बन कर ले किन्तु क्या वह खिली हुई मालती के परिमल को भुला सकता है ?" कही-कही पर इनका प्रकृति वर्णन बडा ही सुन्दर बन पडा है। "पूर्व दिशा ने देखा कि पश्चिम दिशा का सूर्य के साथ समागम हो रहा है और उससे उसका राग बढ़ रहा है तब पूर्व दिशा ने अपना मुख काला कर लिया। सच ही है स्त्रिया ईर्ष्या रहित हो ही नही सकती।" इसी प्रकार मेघ वर्णन में "रात्रियो को क्षीण करके, बलात् नदियो के जल का अपहरण करके, समस्त पृथ्वी को तपाकर और समस्त वृक्षो के समूह को सुखा कर सूर्य

१. संग्रह ग्रन्थों में सुभाषित रत्न भाण्डागार विशेष प्रसिद्ध है।

न जाने कहाँ चला गया, इसी बात को देखने के लिये बिजली रूपी दीपक लिये हुए मेघ चारो ओर घूम रहे है।" इसी प्रकार बादलो की गरजना को चन्द्रबिम्ब रूपी बछडे को न देखने के कारण रात रूपी गाय की हुकार बतलाया गया है। निस्सन्देह ये एक उच्चकोटि के कवि सिद्ध होते है और हम इनकी मनोहर कृतियो से वचित रह गये है। कही-कही इन्होने असाधु शब्दो का प्रयोग किया है जिससे भी यही ज्ञात होता है कि ये वैयाकरण पाणिनि से भिन्न कोई दूसरे ही पाणिनि थे।

सग्रह ग्रथो में ऐसे भी कवियो का उल्लेख मिलता है जिन की कविता विद्यमान नही है किन्तु काव्य की दृष्टि से उनका अधिक महत्त्व है। बहुत से पद्य ऐसे ही कवियो के नाम पर दिये गये है जिनके वे पद्य हो ही नही सकते। एक सखी नायक को नायिका की दशा कितनी सुन्दर व्यजना वृत्ति मे बतला रही है—"अब तुम विश्वस्त रहो और सतोष करो नायिका ने अपना साराबि योग-जनित दु ख दूसरो को बाट दिया है। निरन्तर निकलनेवाला नेत्र जल तो उसने अपने बान्धवो को प्रदान कर दिया, चिन्ता गुरुओ को समर्पित कर दी, दैन्य परिपूर्णरूप से परिजनो को प्रदत्त कर दिया तथा सन्ताप सखियो को दे दिया। अब केवल श्वासो का ही सताप उसे रह गया है। वह भी आज ही कल मे छोडनेवाली है।" सखिया तालवृन्त से नायिका के सताप को शात करने की चेष्टा कर रही है तब नायिका कहती है—"हे सखी रुको नलिनीदल ताल वृन्त से तुम मेरे ऊपर वायु क्यो कर रही हो? मेरे हृदय में जो मदनाग्नि विद्यमान है वह कही प्रज्वलित न हो उठे।" वाक्कूट की नायिका के सताप की भी पराकाष्ठा है। देखो वह अपने प्रियतम को सदेश देती हुई क्या कह रही है—"हे पथिक यदि तुम्हे वहा जाना पडे जहा मेरा प्रियतम रहता है तो तुम कह देना कि ससार के लिये असह्य ग्रीष्म का सताप नवीन जल-पतन की सम्भावना से भयभीत होकर पु जीभूत होकर विरहिणी के हृदय में प्रविष्ट हो गया।" वाक्कूट को किसी ओर देखने का अवकाश ही नही—"एक ओर आम के वृक्षो पर धुएँ के समान भौरे निरन्तर मँडरा रहे है। फूटनेवाली कलियो के उद्भेद से दूसरी ओर अशोक के वृक्ष प्रज्वलित हो रहे है। तीसरी ओर किशुक की कलिया अंगारो के समान दिखलाई पड रही है। कष्ट की बात है हम अपने नेत्रो को कहा विश्राम दें चारो ओर विधाता वाम ही प्रतीत हो रहा है।" प्रसिद्ध बौद्ध धर्मकीर्ति को इसी बात का दु ख है कि लोग बडे-बड़े कवियो की बडी से बडी अत्युक्ति को सहन कर लेते है पर छोटे कवियो की अत्युक्ति को दोष बतलाया जाता है—"वानरो से लाये हुए शैलो से वाल्मीकि ने समुद्र ही बधवा दिया। वेदव्यास ने समुद्र का बन्धन अर्जुन के बाणो से ही करा दिया। फिर भी कोई भी उनकी अत्युक्ति की बात नहीं कहता। किन्तु हम सरीखो के प्रबन्धो में लोग वाणी और अर्थ को तराजू के समान तोलते है और जरा भी कमी आई कि निन्दा के लिये मुंह फैला दिया। हे प्रतिष्टे! मै तुम्हे नमस्कार करता

हूं।" धर्मकीर्ति के शृंगार-रस सम्बन्धी पद्य बडे अच्छे बन पडे है और लक्षण ग्रथो में प्रायः आचार्य उनके उदाहरण देते है।

भारतीय साहित्य में हास्य रस की सर्वत्र कमी रही है।[1] किन्तु कही-कही अच्छी उक्तिया पाई जाती है। हास्यरस का आलम्बन वैद्य और ज्योतिषी ही प्रधान रूप से रहे है। एक कवि वैद्य को प्रणाम कर रहा है—"हे वैद्यराज मै तुम्हे नमस्कार करता हू। तुम अनेक मानवो को नष्ट करने में बडे ही निपुण हो। तुम्हारे ऊपर भार रखकर यमराज सुखपूर्वक विश्राम करते है।" एक वैद्य का उत्तर कितना सुन्दर है। "हे वैद्य मुझे दाह का बहुत बडा ज्वर सतप्त कर रहा है। कोई औषधि बतलाओ।" वैद्य उत्तर देता है—"एक शकोरा शराब पी लो और खपरे में मेरे लिये भी लेते आओ।" वैद्यो और ज्योतिषियो के अशुद्ध शब्दो पर किसी ने अच्छा कटाक्ष किया है—"व्याकरण रूपी सिह से डरे हुए अपशब्द रूपी मृग बेचारे कहा जावे यदि गुरुजन, ज्योतिषी, वैद्य और पडितो के मुख रूपी गह्वर उन्हे न मिल जावे।" कही-कही समस्या पूर्तिया भी देखी जाती है। कालिदास अथवा किसी दूसरे कवि के किसी चरण को लेकर पद्य को पूर्ण करने की परम्परा रही है। क्षेमेन्द्र ने एक पद्य या एक पाद को लेकर पद्य को पूर्ण करना कवित्व के अभ्यास का एक साधन माना है और प्रायः इस प्रकार की रचनाये प्राप्त हो जाती है। कालिदास से मेघदूत का अनुकरण अनेक कवियो द्वारा किया गया है। सबसे पहले घटकर्पर सामने आया। कहा जाता है कि यह कालिदास का बनाया हुआ है। किन्तु न तो इसकी सत्यता में कोई प्रमाण ही है और न यह सम्भव ही प्रतीत होता है। इसमें एक विरहिणी नायिका ने वर्षा-काल के प्रारम्भ मे नायक के पास २१ पद्यो मे सदेश भिजवाया है। यह परिस्थिति मेघदूत के सर्वथा विपरीत पडती है। काव्य के अन्त में लेखक ने कहा है कि यदि अनुप्रास तथा यमको में मेरा कोई भी अतिक्रमण करेगा तो मै फूटे घडे में उसका पानी भरूगा। इसी दावे के आधार पर पुस्तक का नाम घटकर्पर रखा गया है। प्रो० जैकोबी ने कल्पना की है कि यह पुस्तक मेघदूत से पहले लिखी गई होगी। क्योकि यदि यह बाद में लिखी गई होती तो लेखक को इस प्रकार के दावा करने का साहस ही नही होता। किन्तु शैली इत्यादि से इस प्रकार की कल्पना का समर्थन नही होता। दूसरी बात यह है कि इसमें अनुप्राम तथा यमक के क्षेत्र में सबका अतिक्रमण करने का दावा किया गया है जो कि किसी काव्य के मुख्यत्व का द्योतक नही है और न कालिदास के मेघदूत से इस दावे में कोई विरोध ही आता है। इसमें कही-कही भावनाये कोमल तथा मनोरम है किन्तु सब बातो को देखने से यह रचना आधुनिक मनोवृत्ति का

१. हास्य रस के क्षेत्र में श्री नीलकण्ठ दीक्षित लिखित कलि-विडम्बन अच्छा काव्य है, परन्तु भारतीय साहित्य मिमत को ही उत्तम हास्य मानता है। लोट-पोट हो जाने वाली हंसी अधमों की मानी जाती है। देखिए साहित्य दर्पण परि० ३।

अनुवर्तन करती हुई नही जान पडती। फिर भी रचनाकाल में इसको अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ था जैसाकि इनको विक्रम के नवरत्नों में स्थान दिये जाने से प्रमाणित होता है।

कुछ कवियो ने मेघदूत की पक्तियो को समस्या के रूप में मानकर रचना की है[1] जिनमें चरित्रसुन्दर का लिखा हुआ शीलदूत अधिक प्रसिद्ध है। यह जैन कवि थे। इसने मेघदूत की प्रत्येक पक्ति को समस्या के रूप में स्वीकार कर उसकी पूर्ति करने की चेष्टा की है। इसकी रचना प्रौढ है। अन्तिम पद्य में कवि ने स्वय रचना काल दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि इसकी रचना १४२० में हुई थी।

मेघदूत की पक्तियो को लेकर समस्या पूर्ति के रूप में लिखा हुआ दूसरा ग्रन्थ "नेमिदूतम्" है। यह नेमि आचार्य जैनियो के तीर्थकर है। जैन धर्म-प्रचारको ने सर्व साधारण को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये नेमि आचार्य का भगवान् कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित किया था। नेमि आचार्य भगवान् कृष्ण के बडे भाई थे। वैराग्यवश ये चित्रकूट चले गये थे और वहा तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया था। विरह व्यथित होकर इनकी पत्नी राजीमती भी वही जाती है और अपनी विरह वेदना निवेदित कर अपने घर लौटा लाने की चेष्टा करती है। मेघदूत के समान ही वह पहले अपने प्रियतम को घर का मार्ग निर्दिष्ट करती है और बाद में अपनी विरह-वेदना निवेदित करती है। कवि ने कालिदास की कला में अपनी कला ऐसी मिला दी है कि सहसा भेद लक्षित करना असम्भव हो जाता है। वही वैदर्भी शैली, वही प्रसाद-गुणपूर्णता और वही माधुर्य इन गीतिकाओ मे भी समुपलब्ध होता है, जिनके दर्शन हमे मेघदूत में हुए थे। ग्रन्थ देखने से प्रतीत होता है कि कवि प्रतिभाशाली है और रचना-कौशल भी उसमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। मेघदूत की अतिम पक्ति प्रत्येक पद्य के अन्त में आती है।

इस परम्परा मे पार्श्वाभ्युदय भी अधिक प्रसिद्ध है। इसमें मेघदूत की प्रत्येक पक्ति को लेकर समस्या पूर्ति के रूप में रचना की गई है और इस प्रकार समस्त मेघदूत को भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति में वेष्टित कर लिया गया है।

मेघदूत की परम्परा में सनेह रासय (सदेश रासक) एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ की रचना मुलतान निवासी अब्दुल रहमान ने ११ वी शताब्दी के अतिम चरण में की थी। इस ग्रन्थ में विजयनगर की प्रोषितपतिका स्तम्भ तीर्थ को जानेवाले सामोह के एक पथिक के द्वारा धन प्राप्त करने की इच्छा से स्तम्भतीर्थ में रहने वाले अपने प्रियतम के पास सदेश भिजवाती है। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभाजित किया गया है। पहले भाग में कवि-परिचय तथा कवि का

१. मेघदूत-खण्ड काव्य तथा मुक्तक काव्य दोनों रूपों का माना जाता है, परन्तु मेघदूत के आधार पर लिखे हुए काव्य मुक्तक ही हैं।

आत्म निवेदन है। सदेश का वास्तविक विषय दूसरे भाग से प्रारम्भ होता है। विजयनगर की एक प्रोषितपतिका अपने प्रियतम की वियोग दशा से पीडित है। इसी समय वह एक पथिक को जाते हुए देखकर शीघ्रतापूर्वक उसकी ओर बढती है। उस नायिका के वस्त्रो तथा अगो की अस्तव्यस्तता का वर्णन बडी ही कवित्व-पूर्ण शैली मे किया गया है और हमे रघुवश तथा कुमारसम्भव की अज तथा शकर को देखने के लिये उत्कठित रमणियो की स्मृति दिलाता है। वह विरहिणी उस पथिक के परिचय तथा गन्तव्य स्थान के विषय मे पूछती है और पथिक सामोह का कुछ विस्तृत वर्णन कर अपने गतव्य स्तम्भतीर्थ को बतलाता है। इस पर नायिका उमड पडती है और उस पथिक से अपना सदेश ले जाने की प्रार्थना करती है। पथिक यात्रा की शीघ्रता मे है परन्तु विरहिणी के आसू उसको विरह दशा सुनने के लिये विवश कर देते है। वह विरहिणी से प्रियतम के वियोग की ऋतु के विषय में प्रश्न करता है और तृतीय भाग मे नायिका बडे विस्तार से षड्ऋतु वर्णन करती है। नायिका सदेश देकर जैसे ही परावृत होती है वैसे ही उसका प्रियतम आ जाता है और काव्य दोनो प्रणयी व्यक्तियो का सयोग कराकर समाप्त हो जाता है। काव्य मे सामोह के पेड-पौधे तथा नागरिक जीवन के वर्णन, विरह वर्णन, षड्ऋतु वर्णन इत्यादि की प्रधानता है और इन्ही फुटकर विषयो को लेकर पद्यो की रचना हुई है। केवल उनमे एकसूत्रता स्थापित करने के उद्देश्य से पथिक की सक्षिप्त कहानी गढ ली गई है। यद्यपि रचना एक मुसलमान की है किन्तु कवि ने इतना अधिक हिन्दू शैली को आत्मसात् किया है कि इसमे किसी अहिन्दू की कृति होने का भान ही नही होता। कवि ने रचना मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

स्त्री कवयित्रियां :—

सग्रह ग्रन्थो और प्रशस्तियो में अनेक स्त्री कवयित्रियो का उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु इनका कोई भी मुक्तक सकलन अभी तक समुपलब्ध नही हो सका है। सग्रह ग्रन्थो मे जहा कही भी उदाहरण के रूप में इनकी कविताये उद्धृत की गई हैं उससे ज्ञात होता है कि समय-समय पर अनेक कवयित्रिया होती रही हैं और इनकी कविताये भी पुरुषो से किसी प्रकार कम नही होती थी। यदि इनकी रचनाओ का पूर्ण और सुव्यवस्थित संकलन सुरक्षित रखा गया होता तो उसका हमारे काव्य-जगत् में बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता। किन्तु खेद है कि आज हमें इन कवयित्रियो के फुटकर पद्य ही यत्र-तत्र बिखरे हुए दिखाई देते हैं और कुछ का तो केवल नाम ही उपलब्ध होता है। अनेक कवयित्रियो की प्रशंसा में तो सूक्तिया भी प्रसिद्ध है। काव्य मे सर्वोत्तम वैदर्भी रीति मानी जाती है और उसके बाद पाचाली का नम्बर आता है। वैदर्भी रीति के सर्वोत्तम कवि कालिदास हैं और पाचाली रीति के बाणभट्ट। किन्तु यदि इनके बाद दूसरा किसी का नाम आता है तो वे स्त्री कवयित्रिया ही हो सकती है। वैदर्भी रीति में कालिदास के बाद सरस्वती के समान कविता मे निपुण विजया कर्णाटी का नाम ही आता है —

सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ ।
या वैदर्भगिरां वास कालिदासादनन्तरम् ॥

सम्भवत: ये वही कर्णाटी (कर्णाट-राजप्रिया) है जिन्होने अपने विषय में लिखा है—"एक कवि (ब्रह्माजी) कमल से उत्पन्न हुए। दूसरे (वेदव्यास) नदी तट पर उत्पन्न हुए तथा तीसरे (वाल्मीकि) वल्मीक से प्रादुर्भूत हुए। ये महान् कवि है। इन्हे हम नमस्कार करती है। किन्तु यदि आजकल के कविगण अपनी गद्य-पद्य रचनाओ से चित्त को चमत्कृत करने का दावा करते हो तो कर्णाट-राज की पत्नी मै उनके सर पर अपना बाया चरण रखने को प्रस्तुत हू।"

इसी प्रकार पाचाली रीति में भी बाण के बाद शील भट्टारिका का ही नाम लिया जा सकता है।

शब्दार्थयो समो गुम्फ पांचाली रीतिरिष्यते।
शीलभट्टारिका-वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥

स्त्री कवयत्रियो मे सबसे अधिक विज्जिका का नाम लिया जाता है। विज्जिका की निम्नलिखित गर्वोक्ति कितनी चत्मकारपूर्ण है.—

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जिकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्त सर्वशुक्ला सरस्वती ॥

"दण्डी ने कहा है कि सरस्वती सर्वथा श्वेत है। मालूम पडता है दण्डी ने मुझे देख नही पाया था। मै विज्जिका तो नीलोत्पल के समान श्यामवर्ण की हू। फिर उन्होंने (मुझ सरस्वती को) सर्वशुक्ला कैसे लिख दिया।"

विकटनितम्बा के विषय मे यह उक्ति कितनी सुन्दर है

के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन रजिता ।
निन्दन्ति निजकान्तानाम् न मौग्ध्यमधुरं वच ॥

"ऐसे कौन लोग है जो विकटनितम्बा की वाणी के समूह से अनुरक्त होकर अपनी प्रियतमाओ के मुग्धता के मधुर वचनो का तिरस्कार नही करते।" इसी प्रकार :—

सूक्तीनां स्मरकेलीनां कलानां च विलासभू ।
प्रभुदेवी कविर्लाटी गतापि हृदि तिष्ठति ॥

प्रभुदेवी नाम की लाट देश की कवयित्री जो कि सूक्तियो, काम-क्रीडाओं और कलाओ की विलासभूमि थी यद्यपि आज इस लोक मे नहा है तथापि सहृदयो के हृदयो में अपना घर किये हुए है।

विकटनितम्बा, विज्जिका, मारुला और मोरिका इत्यादि कवयित्रियाँ अधिक प्रसिद्ध है, इनकी रचनाओ मे सर्वत्र शृगार रस की ही प्रधानता है। एक कवयित्री की वैदग्ध्य भगी भणिति का एक नमूना देखिये —

धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि,
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ॥

नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण,
सख्य शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ।

कोई नायिका सखियो की गोष्ठी में प्रियतमों के साथ प्रेमालाप करने की चर्चा चलने पर कहती है—सखियो, तुम धन्य हो जोकि प्रियतम के समागम के अवसर पर सैकडो प्रकार के प्रेमालाप स्वच्छन्दतापूर्वक कर लेती हो । मेरी तो नीवी की ओर प्रियतम जैसे ही हाथ बढाते है (मैं इतनी आनन्द विभोर हो जाती हूं) कि मैं शपथ खाकर कहती हू कि मुझे कुछ भी स्मरण ही नही रहता कि मैं कहा हू ।

यह श्लोक कितना सुन्दर है .—

चतुर. सखि मे भर्ता स्वय हि यल्लिखति तत्परो न वाचयति ।
तस्मादप्यधिको मे स्वयमपि लिखितं स्वय न वाचयति ॥

कोई स्त्री कह रही है—"हे सखी मेरा पति बडा ही निपुण है जो कुछ लिख देता है उसे कोई पढ ही नही सकता ।" "इस पर दूसरी स्त्री उत्तर देती है—"इससे भी अधिक मेरा पति निपुण है कि स्वय लिखा हुआ स्वय ही नही पढ सकता ।"

इन कवयित्रियो की नीति-सूक्तियो मे भी शृगार रस का पुट पाया जाता है ।

प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के मुक्तक

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है प्रेमप्रधान शृंगारिक रचनाओ के लिये देश भाषाओ को ही प्रमुखता दी जा रही थी । पहले प्राकृत भाषाओं में शृंगार रस के मुक्तक लिखे जाते थे फिर उनका स्थान अपभ्रंश भाषाओं ने ले लिया । हमें प्राकृत और अपभ्रश मुक्तको की कोई भी क्रमबद्ध परम्परा उपलब्ध नही होती और न उसका कोई महत्त्वपूर्ण सकलन अभी तक अधिगत हो सका है । श्वेताम्बर जैन जयवल्लभ कृत वज्जलग्ग एक प्रसिद्ध रचना है । इसका समय नियत नही है । इसमें चरित्र-व्यवहार और प्रेम सम्बन्धी कविता है । प्रेम-सम्बन्धी पद्य सम्पूर्ण ग्रथ में दो-तिहाई में है । इसमें अपभ्रंश मिश्रित महाराष्ट्री मे आर्याछन्द का प्रयोग किया गया है ।

अपभ्रंश के रसात्मक मुक्तको के सकलन की दृष्टि से हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है । यह व्याकरण सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन और सिद्धहेमचन्द नाम से प्रसिद्ध है । वस्तुतः अपभ्रंश भाषा की कविता के विकास की दिशा में जितना उपकार इस एक ग्रन्थ से हुआ है उतना दूसरे ग्रन्थ से नही हुआ । इसमें उदाहरण के रूप में प्राकृत, सस्कृत और अपभ्रंश तीनो के उदाहरण दिये गये है । प्राकृत और सस्कृत जनसमाज में अधिक समादृत थी [1]। अतएव लेखक ने इन दोनो भाषाओं के शब्दों का उद्धरण मात्र ही पर्याप्त समझा किन्तु अपभ्रंश भाषा की पूरी गाथाये दे दी हैं । इनका समय ईसा की १२वीं

शताब्दी है। ये गुजरात के सोलंकी नरेश सिद्धराज जयसिंह तथा उनके भतीजे कुमारपाल के सभा-भूषण थे और इनके दरबार मे हेमचन्द्र का सर्वाधिक सम्मान था। इन्होने ही अन्त में कुमारपाल को जैन धर्म में दीक्षित किया था। कहा जाता है कि सिद्धराज जयसिंह के आदेश से ही हेमचन्द्र ने व्याकरण की रचना की थी। वास्तविकता यह है कि यदि इन महानुभाव का आविर्भाव न हुआ होता तो अपभ्रंश की महती साहित्य-राशि के प्रकाश मे आने में एक बहुत बडा व्याघात उपस्थित हो जाता। इस व्याकरण में जो उदाहरण संकलित किये गये है वे एक काल की रचना नही जान पडते। अभी तक यह पता नही चलाया जा सका है कि इन मुक्तको का सकलन किन ग्रन्थो से किया गया है।

इन उदाहरणो में स्थान-स्थान पर शृगार रस के बडे ही उत्कृष्ट पद्यो का समावेश हुआ है। इनको देखने से हमे हाल की गाथाओ का स्मरण हो आता है।

प्रिय सगमि कडनिद्दडी पियेहापरक्खहोकेव।
मयि विन्निवि विन्नासिया निंदन ऐवन तेव॥

(प्रियतम के समागम मे नीद कहा और प्रियतम के वियोग में भी नीद कहा ? मैं दोनो प्रकार से नष्ट हुई। नीद न ऐसे ही आती है और न वैसे ही।)

सखी कितनी निपुणता से नायक की विरह-व्यथा का वर्णन कर नायिका को नायक की ओर आकर्षित करना चाहती है—

बिहो एमइं भणिय तुहुँ माकुरुवांकी दिट्ठि।
पुत्तिसकराणी पल्लिजिव मारयिहियइ पइट्ठि॥

(हे बिटिया, मैने तुझ से कहा था कि बाकी दृष्टि मत कर। हे पुत्री, वह अनीदार बर्छी की भाति हृदय में प्रविष्ट होकर मारती है।)

एक नायिका की कथा सुनिये :-

अंगहि अगुन मिलिउ हलि अह रे अहरुन पत्तु।
पिअ जोअत्तिहे मुह कमलु एत्वइ सुरउ समत्तु॥

(हे सखी, न तो प्रियतम के अग में अग ही मिला और न अधर को ही अधर प्राप्त कर सका। प्रियतम का मुख कमल देखते ही देखते यो ही सुरत समाप्त हो गया।)

कही-कही अत्युक्ति भी मनोरम बन पडी है। प्रियतम के आगमन के अवसर पर नायिका की चूडिया एक दम टूटकर गिर जाती है क्योकि वह आगमन की प्रसन्नता में इतनी अधिक मोटी हो जाती है। इसी प्रकार वियोग होते ही एक क्षण में चूड़िया निकलकर भूमि पर गिर जाती है।

पइं मेलन्तिहें मुहुमरणु मइ मेलन्त हो तुज्झु।
सारसु जसु जो वेग्गला सोविकृअन्त हो सज्झु॥

(तुझे छोडते हुए मेरा मरण है और मुझे छोडते हुए तेरा मरण है। सारस के समान जो दूर रहेगा वह कृतान्त का साध्य होगा।)

कही-कही उद्दीपनो का समावेश भी अच्छा है। उद्दीपनों में पपीहा पर विशेष रूप से सूक्तिया प्राप्त होती है।

उग्गकणिआरु पफुल्लि अउकचण कति पयासु।
गोरी वयण विणिज्जिअउ व सेवउ वणवासु।।

(यह देख कचन के समान कान्ति वाला कर्णीकार प्रफुल्लित हो गया। ऐसा मालूम पडता है जैसे मानो गौरी के वदन से पराजित होकर वनवास सेवन करता हो।)

निम्नलिखित उत्प्रेक्षा भी कितनी सुन्दर है :—

विम्बाहरि तणुरयण वणु किहिठिउ सिरिआणन्द।
निरुवम रसु पिये पियेविजणु सेसहोविण्णीमुद्द।।

(सखी के बिम्बाधर पर रदन-व्रण (दन्तक्षत) की आनन्दश्री कैसी स्थित है। निरुपम रस पीकर प्रियतम ने मानो शेष पर मोहर लगा दी है।)

भण सहि निहुअउ तेवं मइ जइ पिउ दिव्ठु सदोसु।
देवं न जाणइ मज्झु मणु पकखावडग्गंतासु॥

(हे सखी यदि मेरा प्रियतम सदोष है तो यह बात मुझसे ऐसे एकान्त में कहो जहा मेरा मन भी न जान सके क्योकि यह प्रियतम का पक्षपाती है।)

नायिका प्रियतम को सदेश देने में लज्जित होती है क्योकि एक तो वह प्रवास में साथ नही गई और दूसरे वियोग हो जाने पर मरी नही। यह नायिका कितनी रूपगर्विता है। इसे विश्वास ही नही होता कि प्रियतम चले ही जावें— "यदि प्रियतम जा रहे हैं तो जाने दो रोको नही। मैं भी देखूं कि यह कितने पग चल सकते हैं। हृदय में तिरछी होकर तो मैं ही अडी हूं प्रियतम केवल जाने का आडम्बर कर रहे है।"

एकाध पद राधा और कृष्ण के प्रेम से सम्बन्धित भी है.—

हरि नचाविअ पगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एकवहिं राह पओहरहं जभावइ त होउ।।

(हरि को प्रागण में नचाया। लोगो को विस्मय में डाल दिया। अब राधा के पयोधरो को जो भावे सो हो।)

कही कोई नायिका सन्ध्या समय में प्रियतम से कलह कर लेने पर पश्चात्ताप कर रही है, कही नित्यप्रति शीन को कलकित करने पर पश्चात्ताप किया जा रहा है। कही किसी पथिक को आसुओ और श्वासो से अचल को गीला-सूखा करती हुई गोरी के दर्शन होते है। एक नायिका का चित्र और देखिये —

वलयावलि निवडणभएणधण उद्धब्युअजाइ।
वल्लह विरह महावहहो थाइ गवेसइ नाइ॥

(नायिका विरह व्यथा मे इतनी कृश हो गई है कि इस डर से कही वलय

न गिर जावें निरन्तर ऊपर को बांह उठाकर ही चला करती है। तब ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रियतम के विरह सरोवर की थाह ले रही है।)

किन्तु इन उदाहरणों में नायिकाए प्रियतम की विरह-व्यथा में जलने और कुढ़ने वाली ही नही है और न इतनी कोमल ही है कि कपोलो पर गुलाब की पंखुडी लगने से शरीर में खरोंच पडने का भय हो। इनमें अनेक नायिकायें बड़ी ही वीर वृत्ति वाली है और केवल रसिक ही नही अपितु गुणवान् तथा वीर पति की कामना करती है। इस प्रकार इन गाथाओं में वीरभावो की बडी ही सुन्दर व्यजनायें स्थान-स्थान पर लक्षित होती है और वीरो के गुणो का काव्य शैली में बडा ही मनोरम चित्रण किया गया है।

निम्नलिखित पद्य बहुत ही प्रसिद्ध है :—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं जु वयं सियहु जइ भग्गा घर एंतु॥

(हे बहन, यदि मेरा पति मारा गया तो यह अच्छा ही हुआ। यदि वह भागकर घर आता तो मुझे समवयस्काओ में लज्जित होना पडता।) एक नायिका पार्वती जी से क्या मागती है —

आपहिं जम्महिं अन्नहिं विगोरि सुदिज्जहिं कंतु।
गय मत्तहं चत्तकुसहं जो अब्भिडइ हसन्तु॥

(हे गौरी! इस जन्म में और दूसरे जन्म मे भी वह कन्त दीजिये जो मतवाले और त्यक्ताकुश गजो से हसता हुआ जा भिडे।)

इस नायिका को प्रियतम की सिह की उपमा भी अच्छी नही लगती :—

कंतुजु सीहहो उवमिअहतं महु खण्डिउ माणु।
सीहु निरक्खय गयहणइ पिउ पय रक्ख समाणु॥

(प्रियतम जो सिह से उपमित हुआ उससे मेरा मान खण्डित हुआ। सिह नीरक्षक (रक्षक रहित) गजो को मारता है जब कि प्रियतम पद रक्षकों सहित गजो को मारता है।)

एक नायिका के प्रियतम मे सभी गुण है किन्तु केवल दो दोष उसे अखरते है एक तो यह कि दान देते हुए केवल नायिका ही बच गई और युद्ध करते हुए केवल तलवार शेष रही। इसी प्रकार एक नायिका को केवल यह चिन्ता है कि उसके प्रियतम के युद्ध करने पर कोई भी कपाल बिना फूटे नही रहता। अब तो बेचारे कापालिक अभग्न कपाल के अभाव में अपनी साधना किस प्रकार करेगे। एक दूसरी नायिका अपने प्रियतम की इस वीर वृत्ति को देखकर आनन्दित हो रही है कि उसके प्रियतम के पैरो मे आते उलझी हुई है, कन्धे पर सर झूल रहा है फिर भी उसके हाथ से तलवार नही छूटती। वह अपने प्रियतम की इस वीर वृत्ति पर निछावर हुई जा रही है। कही-कही सर्वसाधारण में भी वीर भाव की अच्छी अभिव्यक्ति दिखाई पडती है।

नायिकाओ के सौन्दर्य का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। वयः सधि के कुछ अच्छे पद्य विद्यमान है। स्तनो के बीच की दूरी इतनी कम है कि नायक का मन भी वहा नही पहुच पाता। साथ ही विस्तार का भी अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। स्तन इतने बढ जाते हैं कि प्रियतम अधर चुम्बन कर ही नही पाता। यह तो लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। एक नायिका की कामना भी प्रशसनीय है कि यदि प्रियतम का समागम उसे प्राप्त हो जावेगा तो वह उस के अगो में ऐसे ही समा जावेगी कि जिस प्रकार मिट्टी के घडे में पानी समा जाता है।

अपभ्रशभाषाओ के ये मुक्तक नि सदेह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अभी तक उस मूल स्रोत का अनुसन्धान ही नही किया जा सका जहा से यह सकलन प्रस्तुत किया गया है। यदि मूल गाथा सकलनो का कभी अन्वेषण किया जा सका तो साहित्य-जगत् मे यह एक बडी ही महत्त्वपूर्ण खोज होगी और हम महत्त्वपूर्ण काव्य राशि को प्राप्त कर सकेगे। कतिपय स्फुट मुक्तक इधर-उधर बिखरे हुए मिलते है।

(३) तृतीय चरण—भक्ति-काल

विक्रम की १२वी शताब्दी के अन्तिम चरण में मुक्तक-काव्य जगत् में नवीन परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस समय से लेकर काव्य जगत् मे हमें नई गति-विधि, नई शैली, नये विषय और नई विचारधारा के दर्शन होते है। रसात्मक मुक्तक के क्षेत्र मे अभी तक नायक और नायिका अनिर्दिष्ट ही रहते थे। किन्तु इस समय से लेकर नायक-नायिका के प्रतिष्ठित पद पर विशिष्ट व्यक्ति स्थापित कर दिये गये। यद्यपि यह प्रवृत्ति सर्वथा नवीन नही थी जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है। सामान्य वर्णन के बीच-बीच मे कही पर राधा-कृष्ण, गोपी-कृष्ण, शिव-पार्वती इत्यादि को शृगारिक लीलाओ का वर्णन भी दृष्टिगत हो जाता है किन्तु इस प्रकार की रचनाओ की सख्या इतनी न्यून है कि हम उसके आधार पर इस प्रकार की रचना को समय की सामान्य प्रवृत्ति नही मान सकते। इसके प्रतिकूल १२वीं तथा १३वी शताब्दी से निर्दिष्ट विभावो के विषय मे रचना करने की एक सामान्य प्रवृत्ति बन गई। यद्यपि इस काल में भी दो-चार रचनाये पुरानी शैली पर भी अनिर्दिष्ट विषयक पाई जाती है तथापि समय की सामान्य प्रवृत्ति निर्दिष्ट व्यक्तियो के विषय मे ही रसात्मक रचना करने की बन गई थी।

ये निर्दिष्ट व्यक्ति राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण थे। कुछ कवियो ने राम-सीता तथा शिव-पार्वती को लेकर भी मुक्तक रचनाएँ की है। विशिष्ट व्यक्ति देव या देवकल्प ही थे। अतएव इस काल को दिव्य काल या भक्ति काल के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इस परिवर्तन में उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा दार्शनिक परिस्थिति मूल कारण थी। अतएव उस पर संक्षिप्त विचार कर लेना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

(क) सामाजिक स्थिति

आलोच्य काल राजनीतिक पतन का काल था। हर्ष के बाद कन्नौज की केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो जाने पर भारत छोटे-छोटे राज्यो मे विभाजित हो गया था और ये राज्य परस्पर सघर्ष में भारत की शक्ति क्षीण करतेजा रहे थे। इस परिस्थिति का अनुचित लाभ लेकर विदेशी आक्रान्ता (मुसलमान) अपना पैर जमाते जा रहे थे। धीरे-धीरे विदेशी सस्कृति को अपने साथ लेकर आई हुई मुसलमान जाति भारतीय समाज के साथ घुल-मिल गई थी और उसका प्रभाव भी समाज पर पर्याप्त मात्रा में लक्षित होने लगा था। दूसरी ओर हिन्दू समाज में बौद्ध धर्म के ध्वसावशेष वज्रयानियो का प्राधान्य बढ गया था। हिन्दू-समाज में यह युग तन्त्र-युग के नाम से पुकारा जाता है।

तन्त्र साहित्य का अवलोकन करने से उस समय की सामाजिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। वैसे तो अथर्ववेद मे ही अनेक प्रकार के जादू-टोने, वशीकरण, मारण-मोहन, उच्चाटन इत्यादि के दर्शन होते है किन्तु ईसा की चौथी शताब्दी के आस-पास महायानियो ने धारणी नाम से नये साहित्य को जन्म दिया जिसमें जादू-टोने इत्यादि के लिये एक वर्ग ही बन गया और उसे अति शीघ्र प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। ११वी १२वी शताब्दी तक पहुचते-पहुचते सर्वसाधारण में अन्धविश्वास का प्राधान्य हो गया और इस क्षेत्र मे मिथ्याडम्बर की प्रतिष्ठा बढ़ गई। अशिक्षित तथा आडम्बर धारण करने वाले व्यक्ति जनता के आदर भाजन बन गये। तन्त्र, यन्त्र, मन्त्र इत्यादि की प्रधानता हो गई और छोटे-छोटे बीज मन्त्रों की शक्ति पर विश्वास किया जाने लगा।

हिन्दू समाज में हमें इस समय तीन सम्प्रदायों के दर्शन होते हैं—शाक्त, शैव तथा वैष्णव। शाक्त साहित्य को तन्त्र कहा जाता है। इसी प्रकार वैष्णवो की सहिताये तथा शैवो के आगम प्रसिद्ध है। तीनो पुस्तको में एक ही सी बातें पायी जाती है। ये पुस्तके रहस्यमयी पुस्तके मानी जाती थी और बिना गुरूपदेश के इनको पढने का किसी को अधिकार नही था। इनके मन्त्र साधक के कान में दिये जाते थे और इस प्रकार गुरु से कान फुंकवा कर साधक स्वय सिद्ध बन जाता था तथा दूसरे को उपदेश देने लगता था। सिद्ध होने तथा गुरुत्व को प्राप्त करने के लिये न तो उच्च शिक्षा ही अपेक्षित थी और न साधना। मन्त्र को कान मे फुकवा लेना ही पर्याप्त था।[1] तन्त्र ग्रन्थो में योग साधना पर बल दिया गया है। किन्तु वह योग साधना परमात्मा से एकता प्राप्त करने के लिये नही अपितु जादू की शक्ति प्राप्त करने के लिये होती थी। इसी प्रकार सर्वसाधारण को अपनी ओर खींचने के लिये महात्माओ को कुछ न कुछ दार्शनिक उपदेश भी देना पडता था। किन्तु यह

१. आचार्य शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास।

दार्शनिक उपदेश किसी सिद्धान्त विशेष पर स्थिर नही होता था और न इसमें कोई व्यवस्थित विचार धारा ही चलती थी। तत्रो में कही अद्वैतवाद की छाप दिखाई पडती है और कही एकेश्वरवाद की। इसके अतिरिक्त तन्त्र ग्रन्थो में उत्सव, रीति-रिवाज तथा सामाजिक स्थिति का भी वडे विस्तार से वर्णन किया गया है।[1]

विण्टरनित्ज ने लिखा है कि "हिन्दुत्व के दूसरे विषयो में जो बात सत्य है उससे भी अधिक मात्रा मे शाक्त तन्त्रो के विषय मे यह बात कही जा सकती है कि इनमें मनुष्य के मस्तिष्क के द्वारा सोचे हुए ऊचे से ऊचे और नीचे से नीचे विचार साथ-साथ पाये जाते है। शाक्तो की पवित्र पुस्तको में एक ओर देवत्व के विषय में उच्चतम विचार तथा दार्शनिकता के दर्शन होते है और दूसरी ओर सबसे अधिक जगली अन्धविश्वास और चक्कर में डालने वाले रहस्यमय जादू-टोना के दुराचारो (Occultism) का वर्णन मिलता है।" उच्चकोटि की दार्शनिकता सर्व-साधारण पर प्रभाव जमाने के लिये है और निम्नकोटि की दुराचार की सामग्री समय का प्रतिनिधित्व करती है। इन तन्त्रो का सर्वाधिक प्रभाव बगाल में था और बंगाल से ही बौद्धो के साथ आसाम, नैपाल, तिब्बत और चीन तक इनका प्रचार हुआ था।

तन्त्र साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि इनमे शक्ति की उपासना के विषय में विचार भारत के प्राचीन साहित्य से ही लिया गया है। इनमे ब्रह्मवाद अपने उसी रूप में पाया जाता है जिस रूप मे उपनिषदो मे विद्यमान है। शाक्तो के अनुसार ब्रह्म केवल चिरन्तन शक्ति है और कुछ नही। ससार के समस्त प्राणियो का आविर्भाव माता के गर्भ से होता है अतएव सबसे बडी रचनात्मक शक्ति पिता के रूप में नही परन्तु माता के रूप में देखी जानी चाहिये, यही कारण है कि रचनात्मक शक्ति के सभी वाचक स्त्रीलिंग है। यही शक्ति प्रकृति कहलाती है और इसी को उमा, काली, दुर्गा, लक्ष्मी, राधा आदि अनेक नामो से पुकारा जाता है। ये समस्त नाम एक ही शक्ति के परिचायक है और इन्ही को जगन्माता के नाम से पुकारा जाता है। जैसे एक ही चन्द्र का अनेक स्थानो में अनेक प्रकार का प्रतिबिम्ब पडता है उसी प्रकार एक ही शक्ति अनेक देवी-देवताओ के रूप में प्रतिफलित तथा प्रतिबिम्बित होती है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसी शक्ति के प्रतिफलन है। यह शक्ति ही महाकाल की माता है और यह महागत मधूक मद्य का पान कर शक्ति के समक्ष नृत्य किया करते है।

इस आनन्दमयी रचना शक्ति की उपासना में पचतत्वो की प्रधानता है—मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। मद्य वह शक्ति है जो समस्त चिन्ताओ को भुलाकर आनन्द देने मे समर्थ होती है। मास और मत्स्य से शारीरिक तथा बौद्धिक शक्ति बढती है और मनुष्य मे सन्तानोत्पादन की शक्ति आती है। मुद्रा या

१. Winternitze—History of Indian Literature Vol. II.

स्वादिष्ट भोजन ही तीनो लोको के कल्याण का साधन है और भूमि से उद्भूत शक्ति का मानव में सचार करनेवाला है। मैथुन सभी जन्तु-जगत् के लिये सर्वातिशायी आनन्ददाता, समस्त प्राणियो का मूल और आदि-अन्त रहित विश्व का मूल कारण है।

इन पच तत्वो का सेवन चक्र के अन्दर किया जाता था। "प्रवृत्ते भैरवी-चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातय.। निवृत्ते भैरवी-चक्रे सर्वे वर्णा: पृथक्-पृथक्।" भैरवी-चक्र के अन्दर एक विशेष प्रकार की विधि का सम्पादन किया जाता था जिससे सभी पुरुषो के लिये सभी स्त्रिया उपभोग्य हो जाती थी। वर्ण-व्यवस्था का भी विचार छूट जाता था। माता को छोडकर कोई भी स्त्री उपभोग्य हो सकती थी। कोई भी साधक चक्र में आकर किसी भी स्त्री से अपने को सम्बद्ध कर सकता था और एक सूक्ष्म विधि के द्वारा उसे अपनी पत्नी बना सकता था। एक ओर देवी की उपासना हृदय-कमल पर देवी को बैठाकर अपना हृदय-कमल प्रदान करने के द्वारा बतलाई गई है और दूसरी ओर मद्यमास इत्यादि पच तत्वो के द्वारा बतलाई गई है।

इस तन्त्र पद्धति पर अनेक सम्प्रदाय बन गये थे, जिनके द्वारा केवल मानव की ऐहलौकिक उपभोग लालसा की तुष्टि होती थी। श्री सम्प्रदाय, चोली सम्प्रदाय इत्यादि अनेक सम्प्रदायो मे यही उपभोग की प्रधानता थी। कौल धर्म भी योग और भोग का अपूर्व सम्मिलन स्थल था। कौल-धर्म में भी उपर्युक्त पच तत्व ही मुक्ति तथा भुक्ति के साधन माने जाते थे। कुलार्णव-तन्त्र मे लिखा है कि—"ब्राह्मण को हर समय मद्यपान करना चाहिये, क्षत्रियो को युद्ध मे, वैश्यो को गाय खरीदने मे और शूद्र को दाह कर्म सस्कार के अवसर पर मद्यपान करना चाहिये। मदिरापान का पराकाष्ठा भी अत्यन्त उदारता के साथ निश्चित की गई है—"शराब तब तक पीते जाना चाहिये जब तक भूमि पर गिर न पडे। गिर पडन के बाद पुन: उठकर पीनी चाहिये। इससे पुनर्जन्म नही होता।" कुल चूडामणि में भी केवल अपनी स्त्री से ही सतुष्ट न रहने तथा दूसरी स्त्रियो का भी उपभोग करने का उपदेश है। प्रपच सार में लिखा हुआ है कि कौल-धर्म के किसी भी साधक के वश में देव तथा दानव-मानव इत्यादि किसी की भी स्त्रिया शीघ्र उसकी हो जाती है, वे उसके पास प्रेम की मदिरा का पान किये हुए आती है और अपने आभूषण उसकी ओर फेकती है, उस समय उनका रेशमी वस्त्र लटकता है और बिखरे हुए बालो के मध्य से उनके मुख-मण्डल के दर्शन होते है। उनका प्रत्येक अग प्रेम की असह्य वेदना से काँपता है ..... वे उस समय काम बाणो से विद्ध होती है और उनके मुख से प्रेमोच्छ्वास निरन्तर निकलते रहते है। तन्त्र साहित्य में कही-कही कृष्ण और राधा की प्रेम-लीलाओ का भी वर्णन है और राधा को महाकाली का एक प्रतिरूप माना गया है। ज्ञानार्णव तन्त्र में कुमारी-पूजन को ही सबसे बडी साधना माना गया है।

इस प्रकार एक ओर भारतीय समाज दुराचारों में फसा हुआ था और जनता के चरित्र का स्तर अत्यन्त गिर गया था, दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था अपना भीषणतम रूप धारण कर चुकी थी। चार वर्णों के अतिरिक्त एक पाचवा वर्ण अन्त्यज भी सत्ता में आ गया था।

समाज में स्त्रियो की दशा और भी गिरती जा रही थी। लडकियो की छोटा आयु में विवाह करने की प्रथा बढ़ रही थी और यदि उनका पति मर जावे तो या तो उन्हे वैधव्य जीवन बिताना पड़ता था या चिता मे जल जाना होता था। विधवाओ के साथ व्यवहार अच्छा नही होता था, अतएव अधिकतर दूसरा मार्ग ही अपनाया जाता था। स्त्रियो की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई थी। कालिदास इत्यादि की रचनाओ में हमें जिस स्त्री-स्वातन्त्र्य के दर्शन होते है, उसका सर्वथा अभाव हो गया था। पर्दा प्रथा बढ रही थी। स्त्रियो को एकात जीवन व्यतीत करना पडता था, स्त्रिया केवल उपभोग की ही वस्तु मानी जाने लगी थी। कही-कही स्त्रियो के कारण राजा लोगों में युद्ध होते थे और स्त्रियो को विवश होकर ऐसे व्यक्तियो के साथ विवाह के बन्धन में पडना पडता था जिन्हे वे नही चाहती थी। कभी-कभी उनके कारण भी स्वयम्वर-स्थल अथवा विवाह-मण्डप रक्त-रजित हो जाते थे। पुरुष अनेक विवाह करके स्त्रियो को यातना देते थे।

अलबरूनी ने हिन्दू-धर्म की प्रशसा की है और लिखा है कि "हिन्दुओ के पास बहुत उच्चकोटि की पुस्तके हैं किन्तु ये पुस्तके थोडे से पढ़े-लिखे लागों के लिये ही है जबकि सर्वसाधारण का सम्बन्ध केवल मूर्तियो तथा मन्दिरों में निरर्थक रीतियो, निरर्थक साधनाओ और कष्टदायक प्रतिबन्धो से ही है।" अलबरूनी ने आश्चर्य प्रकट किया है कि जिस देश में अमृत की धारा बहती है वहा पर लोगों को विष पान कराया जा रहा है।

उदार धर्म केवल कतिपय ब्राह्मणों की ही संपत्ति बन गया था। सर्व साधारण को अज्ञानान्धकार में तथा अनुचित अन्धविश्वासो में रखा जाता था। इस समय प्रत्येक वस्तु असम्बद्ध प्रतीत हो रही थी और राष्ट्रीय जीवन बुझ चुका था।

निस्सदेह हिन्दू जाति को अपने इस असयत जीवन के लिये बहुत बड़ा दण्ड देना पडा। इस समय के उपरान्त ८०० वर्ष के लिये उनका इतिहास शून्यवत् हो गया। विश्व की सर्वप्रथम सभ्य हुई जाति सामाजिक रूप में जीवन-हीन और राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा उपहासास्पद बन गई।

(ख) धार्मिक स्थिति

ऊपर जिस सामाजिक अवस्था का चित्रण किया गया है उसका अर्थ यह नही है कि उस समय विद्वान् थे ही नहीं। उस समय भी उच्चकोटि के विद्वान् थे यद्यपि उनकी संख्या बहुत थोडी थी। ये विभिन्न शास्त्रों का गम्भीरता-

पूर्वक अध्ययन करके अपने मौलिक सिद्धान्तों के प्रवर्तन की चेष्टा मे निरत रहते थे किन्तु इन शास्त्रो का अध्ययन-अध्यापन इने-गिने शिक्षितो का ही व्यापार था। सर्वसाधारण का सम्बन्ध अन्ध-विश्वासी और पाखण्डी अशिक्षितप्राय धर्म-गुरुओ से था। ये धर्म-गुरु सर्वसाधारण पर अपना प्रभाव जमाने के लिए विभिन्न शास्त्रो का परिचय देने की चेष्टा किया करते थे किन्तु उनकी यह योग्यता प्रत्यक्ष नही अपितु अप्रत्यक्ष सुनी-सुनाई बातो तक ही सीमित थी। उस समय की सबसे बड़ी विशेषता भक्ति का विकास है।

सामान्यरूप से हमें उस समय हिन्दू-धर्म पर प्रभाव डालने वाले तीन तत्व अधिगत होते है (१) बौद्धधर्म की महायान शाखा, (२) जैन-धर्म और (३) मुसलमान धर्म।

(१) बौद्ध धर्म की महायान शाखा– बौद्ध धर्म त्याग तपस्या और उदारता का धर्म था। भगवान् बुद्ध ने चार आर्य सत्यो और आठ मार्गो का प्रतिपादन करते हुए सर्वसाधारण के लिये मोक्ष मार्ग प्रशस्त किया था। यदि हम सक्षेप मे बौद्ध धर्म की अन्तरात्मा का परिचय देना चाहे तो कह सकते है कि बौद्धधर्म के अनुसार सर्व साधारण जीवन में दुःख की सत्ता सर्वत्र लक्षित होती है। दुःख का उद्गम व्यक्तिगत सुख-सतोष की उद्दीप्त कामना से ही होता है। यदि हम दुःख का अत्यन्ताभाव चाहते है तो कामना का परित्याग ही उसका एकमात्र साधन है। कामना का परित्याग तथा निर्वाण का अधिगम ऐहिक सुख-भोग और पूर्ण सन्यास के मध्य मार्ग का अवलम्बन करने से तथा नैतिक और व्यवस्थित जीवन के निर्वाह के द्वारा ही सम्भव है। सासारिक सफलता तथा निर्वाण प्राप्ति के लिये नैतिकता तथा धार्मिक जीवन निर्वाह पर इतना अधिक बल दिया गया है कि इस प्रकार के जीवन के सामने ईश्वरोपासना को भी तुच्छ तथा हेय ठहराया गया है।

धीरे-धीरे भारत की राजनीतिक स्थिति बदलती गई। भारत पर यवन, शक, हूण इत्यादि अनेक जातियो के आक्रमण हुए और ये जातिया पूर्ण रूप से भारतीय समाज में मिल-जुल गयी। अतएव आवश्यकता इस बात की हुई कि बौद्ध धर्म में कुछ ऐसे परिवर्तन कर लिये जावे जो एक ओर तो विदेशी आगन्तुको को अपनी ओर आकृष्ट कर सके और दूसरी ओर नव विकसित हिन्दू धर्म के अनुयायियो में भी प्रतिष्ठित हो सकें। नैतिकता तथा संन्यास सर्वसाधारण के वश के बाहर की बात थी। अत बौद्धधर्म में एक नवीन शाखा का आविर्भाव हुआ और वह शाखा महायान (अर्थात् सर्वसाधारण को निर्वाण पद पर ले जाने वाला यान) नाम से विख्यात हुई। इस शाखा ने इस बात का प्रतिपादन करना प्रारम्भ कर दिया कि केवल बौद्ध धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति ही निर्वाण का अधिकारी नही होता अपितु जो व्यक्ति भगवान् बुद्ध से प्रेम करता है वह भी निर्वाण का

अधिकारी हो जाता है। अवश्यकतानुकूल महायान सम्प्रदाय का साहित्य भी बहुत अधिक लिखा गया है। ललित-विस्तर महा-वस्तु जैसे महाग्रन्थो का प्रणयन हुआ और साथ ही महायान सूत्रो को लिखकर महायान की पृष्ठभूमि तथा उसका सिद्धान्त पक्ष भी समझाने की चेष्टा की गई।

महायान शाखा मे बुद्ध पूर्ण ब्रह्म के पद पर आसीन हो गये जिन की कृपा के आकाक्षी ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्र इत्यादि सभी देवता रहते है। बुद्ध अनादि-निधन अव्यय ब्रह्म है जो सर्वदा रहे है और सर्वदा रहेगे। बुद्ध अपने विषय में स्वय कहते है—"मे इस ससारका पिता हू, मै स्वयभू तथा विश्व का त्राता शिक्षक हूं। मै जानता हू कि ससार के व्यक्ति किस प्रकार कुपथागामी है। यही कारण है कि मै अपने को ससार से चला गया प्रकट कर दिया करता हू।" भूतदया तथा मान और दुर्बलता के विचार से ही बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए से ज्ञात होने लगते है। इस बात को समझाने के लिए अनेक कथानक लिखे गये है। उदाहरण के लिए एक वैद्य पिता के अनेक पुत्र है। पुत्र बीमार हो जाते है। वैद्य उन को औषध प्रदान करता है। पुत्रो में कुछ औषध पान कर लेते हैं और कुछ हठ वश औषध लेना स्वीकार नही करते। तब वैद्य वहा से चला जाता है। पुत्र अपने को असहाय पाकर औषध सेवन करने लगते हैं तब पिता उन को बार-बार देखने आता है और इस प्रकार उन्हे रोग से मुक्त करने की चेष्टा करता है। यही दशा बुद्ध की भी है। बुद्ध अपने भक्त पुत्रो को सुबुद्धि प्रदान करने के लिये निर्वाण में गये हुए से प्रतीत होने लगते हैं किन्तु पुन. पुन उपदेश देने के लिये मृत्यु लोक मे आया करते है। उन का मृत्यु-लोक में अवतीर्ण होने का मन्तव्य होता है—"सद्धर्म की महती वृष्टि करना, सद्धर्म का ढोल पीटना, सद्धर्म की मैत्री ध्वजा फहराना, सद्धर्म का महान् प्रकाश विकीर्ण करना··· ·"इत्यादि। "जो व्यक्ति बुद्ध का उपदेश सुनता है, जो व्यक्ति किसी प्रकार का धर्माचरण करता है, जो व्यक्ति नैतिक जीवन व्यतीत करता है वह बुद्ध पदवी को प्राप्त हो जाता है। साथ ही जो व्यक्ति चिन्हो की पूजा करता है, जो स्तूप बनवाता है, जो किसी प्रकार की बुद्ध की रत्न, पाषाण अथवा काष्ठ की मूर्ति की प्रतिष्ठा करता है, बच्चे भी यदि वे क्रीडा में धूलि के स्तूप बनाते हैं या भित्तियो पर बुद्ध की मूर्तिया बनाते है, जो व्यक्ति बुद्ध स्तूपो पर पुष्प अथवा सुगधित द्रव्य चढाते है या उन के सामने नृत्य गान करते है अथवा जो एक बार भी संयोगवश भी बुद्ध का आदरपूर्वक स्मरण करते है वे समस्त व्यक्ति निर्वाण पद को प्राप्त होकर बुद्ध बन जाते है।" शिष्य, अनेक बुद्ध और बोधिसत्व का भेद बाह्य भेद ही है आन्तरिक नही इस विषय में सद्धर्म पुण्डरीक मे एक बडी ही रोचक कथा दी हुई है—"एक ही माता के कई पुत्र है। वे सब एक पुराने टूटे-फूटे मकान में रहते है। सयोगवश मकान में आग लग जाती है। द्वार एक ही है। पिता में इतनी शक्ति है कि वह अपनी गोद में लेकर पुत्रो को बाहर ले जा सकता है। परन्तु पुत्र अग्नि का भय न जानते हुए पिता के पास आते नही है किन्तु इधर-उधर खेलते

हुए घूमते-फिरते है, पिता उन को खिलौनों के भिन्न-भिन्न प्रलोभन देता है। किसी को बैल गाडी, किसी को घोडा गाडी, किसी को दूसरे प्रकार की गाडी देने का प्रलोभन देता और इस प्रकार इन खिलौनो के लोभ मे बच्चे बाहर दौड आते है। पिता उन सबको एक एक प्रकार की बहुमूल्य गाडिया प्रदान कर देता है, बच्चे सतुष्ट हो जाते है। ठीक यही दशा बुद्ध की भी है। बुद्ध भी अपने तीन प्रकार के शिष्यो को एक ही प्रकार का निर्वाण दान करते है यद्यपि प्रलोभन भिन्न प्रकार के देते है। बुद्ध की लोकातीत शक्ति का भी अतिरजित वर्णन इन महायान सूत्रो मे किया गया है। भगवद्गीता के कृष्ण की ही भाति हमे अनेक स्थानो पर बुद्ध के अनेक रूपो का वर्णन प्राप्त होता है। सब कुछ वर्णन करते हुए भी बुद्ध की अनिर्वचनीयता शेष ही रह जाती है।

महायान शाखा में बुद्ध के त्रिकाय की कल्पना की गई है :—

(१) **धर्मकाय**—यही बुद्ध का वास्तविक स्वरूप है। इसमे न आदि है न अन्त है न परिवृत्ति है, न प्रकटीभाव ही है और न अन्तर्धान ही है।

(२) **सम्भोगकाय**—समयानुसार भक्तो पर अनुकम्पा करने के लिये बुद्ध महापुरुष का सुन्दर स्वरूप धारण कर लेते है। इस काया में बुद्ध के अनेक प्राचीन जन्मो में अधिगत गुणो का समवाय होता है।

(३) **रूपकाय**—सामान्यतः सर्वसाधारण के पथ-प्रदर्शन के लिये बुद्ध एक भौतिक स्वरूप धारण कर लेते है। इस प्रकार के रूपकाय असख्य है जो कि अनेक लोको का नेतृत्व करते है। गौतम बुद्ध इसी रूपकाय में है। इस त्रिकाय कल्पना ने सर्वसाधारण के सामने आराधना का एक विस्तृत क्षेत्र उपस्थित कर दिया। इस धर्म द्वारा सर्वसाधारण को एक बलवती और व्यापक प्रेरणा प्राप्त हुई। बुद्ध के साथ ही अनेक बोधि सत्वो की भी पूजा की जाने लगी।

महायान शाखा के अनुसार बुद्ध निर्वाण-पदवी पर स्वत आरूढ नही हो जाते, किंतु उनका यह व्रत है कि जब तक ससार के सभी प्राणी निर्वाण पदवी को प्राप्त नहीं हो जावेगे, तब तक मै स्वय निर्वाण पदवी पर आरूढ नही हो सकता। बुद्ध कहते है—"मैने यह व्रत अपने ऊपर ले लिया है। सभी प्राणी—नरक में रहने वाले प्राणी भी जो दण्डस्वरूप इन लोकों में भेजे गये है—मेरी करुणा के अधिकारी है। इन सभी प्राणियो का दुख भार मैं अपने ऊपर लेता हू, मै इसे सहन करता हू, मै इससे पीछे नही हटता हू, मै इस पर कम्पायमान नही होता ·····समस्त प्राणियो का भार मुझे वहन करना है, क्योकि मैने समस्त प्राणियो के उद्धार का व्रत लिया है। मैने समस्त जीवित प्राणियो को जन्म, जीवन, रोग, मृत्यु, पुनर्जन्म के घने जगल में होते हुए सुरक्षित रूप में निर्वाण पद तक ले जाने का व्रत लिया है। अतएव मै समस्त प्राणियो का दुःख भार अपने ऊपर ले लेता हू। मै अपने मोक्ष का विचार नहीं करता हूं, किन्तु समस्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान का साम्राज्य प्रदान करना चाहता हूं। मैं

समस्त प्राणियों का दु ख-भार अपने ऊपर लेता हूं··· क्योंकि यह अधिक अच्छा है कि सभी प्राणियो के स्थान पर मै ही दुःख-भार अपने ऊपर ले लू । ····· मैं समस्त प्राणियो के लिये ही कष्ट अपने ऊपर ले लेता हू ।" इसीलिये बुद्ध त्रिकाय में स्थित है। धर्मकाय ससार में व्यापक है, सम्भोगकाय की सत्ता केवल स्वर्ग में है और तब तक स्थित रहेगी, जब तक विश्व के समस्त पदार्थ धर्मकाय में विलीन नही हो जावेगे। रूपकाय का ही जगतीतल मे आविर्भाव होता है।

आगे चलकर महायान शाखा भी दो भागो मे विभक्त हो गई— (१) मन्त्र-यान और (२) वज्रयान। मन्त्रयान में मन्त्रो द्वारा बुद्ध भगवान् की आराधना तथा भक्ति ही पर्याप्त मानी गई, जबकि वज्रयान वाले एक पग और आगे बढ गये। वज्रयान के अनुसार बुद्ध और बोधिसत्व की शक्ति ही रचना मे कारण है। बुद्ध और बोधिसत्व पुरुष है और उनकी शक्ति स्त्री है। बुद्ध चैतन्यस्वरूप और निर्लेप है तथा उनकी शक्ति क्रियाशील है। बुद्ध (परमात्मा) तक पहुचने के लिये देवियो (प्रकृति या शक्ति) का माध्यम अपनाना चाहिये। प्रपच रचना दाम्पत्य सयोग और सुरत के द्वारा होती है। इसीलिए इन विचारो के विस्तार के साथ दाम्पत्य-सयोग तथा सुरत धर्म के प्रधान अग बन गये और उनका उपदेश धर्म के रूप मे दिया जाने लगा। हीनयान ने ध्यान और आत्मनिग्रह द्वारा व्यक्तित्व के ह्रास का उपदेश दिया था। महायान ने बुद्ध तथा बोधिसत्वो की कृपा के द्वारा मोक्ष प्राप्ति उसमे और जोड दी थी। नवीन सम्प्रदाय वज्रयान में मोक्ष प्राप्ति के लिये देवियो की उपासना तथा आतरिक विधियो से उनका वशीकरण आवश्यक बतलाया गया। वज्र शब्द के अनेक अर्थ है। रत्न, इन्द्रायुध, शून्य, विज्ञान इत्यादि अनेक अर्थो के साथ वज्र का अर्थ पुरुष का लिग भी है। यही अर्थ शाक्तो और वज्रयानियो की रहस्यात्मक प्रवृत्ति में कारण बना।

वज्रयान शाखा वालो ने जिन देवियो की कल्पना की थी, उनमें प्रमुख थी, तारा अर्थात् तारने वाली। परमात्मा की शक्ति का आश्रय लेकर मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, इसीलिये इस शक्ति को तारा कहते है। निम्नकोटि की भी कतिपय देविया है, जिनमें अधिकतर निम्न जाति की स्त्रिया ही है। इन देवियो को जिस साधना से वश्य किया जाता था, उसे तन्त्र (वश में करने वाला) कहते थे, इसी से तन्त्र विद्या का उदय हुआ। शाक्त धर्म के समान वज्रयानियो की भी साधना के चार अग थे। इस प्रकार बौद्ध धर्म की शिक्षा इस काल तक आते-आते सर्वथा परिवर्तित हो गई थी।

ऊपर बौद्ध धर्म के धार्मिक दृष्टिकोण मे परिवर्तन का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। जैन-धर्म की कथा इससे सर्वथा विपरीत थी। जैन धर्म का विस्तार ईसा की तीसरी शताब्दी पर्यन्त उत्तर से दक्षिण तक प्रायः समस्त भारत में हो

गया था। जैनियो ने अनेक बार राजाश्रय भी प्राप्त किया और कई राजा लोगो को स्वधर्म में दीक्षा भी दी। किन्तु जैन धर्म कभी भी सर्वसाधारण धर्म न तो बन ही सका और न जैन धर्म ने इस बात की चेष्टा ही की। वस्तुत जैन धर्म व्यक्तिगत साधनापरायण धर्म है। इसमे उदाराशय आत्मसयमी व्यक्तियो के लिये ही अवसर है और ऐसे व्यक्ति प्रत्येक काल मे बने ही रहते है। यही कारण है कि अपने जन्म से लेकर आज तक जैन-धर्म सर्वदा ही बना रहा। किन्तु इसके अनुयायियो ने सर्वसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की आवश्यकता नही समझी। ये अपने सीमित क्षेत्र मे ही सन्तुष्ट रहे। केवल इतना अवश्य हुआ कि जैनियो ने बौद्ध तथा हिन्दू-धर्म से होड लेने के लिए तीर्थकरो की प्रार्थना मे स्तोत्र बनाये और अन्य देवी-देवताओ पर तीर्थकर का महत्त्व भी स्थापित किया। इससे आगे बढकर इन साधको ने तीर्थकरो की माधुर्योपासना के प्रतिपादन की आवश्यकता नही समझी। अतएव कृष्ण-सम्प्रदायके विकास में इन महात्माओ का केवल इतना ही हाथ रहा कि ये भी हिन्दू धर्म की प्रतिद्वन्द्विता में खडे हुए और इन्होने भी तीर्थकरो की उपासना की ओर जनता को किसी-न-किसी रूप में आकृष्ट करने की चेष्टा अवश्य की। अतएव इस नवीन उत्थान मे उनका योग नही के बराबर रहा है।

भारतीय धर्म साधना को प्रभावित करने वाला तीसरा धर्म था मुसलमान धर्म। मुसलमान बहुत पहले दक्षिण भारत में आ गये थे और वहा उनका पर्याप्त प्रसार हो गया था। दक्षिण के अनेक व्यक्तियो ने मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया था। उत्तर भारत मे भी सिन्ध, मुल्तान और पजाब में मुसलमानो के राज्य स्थापित थे ही। गजनवी के वार्षिक आक्रमणो से इनका प्राय: समस्त उत्तर भारत में प्रसार हो गया। यद्यपि महमूद गजनवी ने भारत मे राज्य स्थापित करने की चेष्टा नही की तथापि जहा-जहा उसने विजय प्राप्त की वहा-वहा स्वभावत: उसके कुछ अनुचर छूटते गये। जब दो सस्कृतियो का सम्मिलन होता है, तब आदान-प्रदान प्राय: अनिवार्य हो जाता है। फलत मुसलमान धर्म ने भी नवीन धार्मिक आन्दोलन को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया और उसे प्रगति भी दी।

इस्लाम शब्द का अर्थ है—"ईश्वरेच्छा के प्रति आत्मसमर्पण तथा उससे उत्पन्न होने वाली शान्ति।" मुहम्मद साहब ने एक ही ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, जिसके अतिरिक्त न तो कोई देवता है और न कोई दूसरा पूजा के योग्य है। ईश्वर को अल्लाह कहा जाता है जिसका अर्थ है—"केवल एक श्रेष्ठतम दैवी शक्ति।" मुहम्मद साहब का आदेश था—"केवल एक ही ईश्वर की सत्ता है, न तो कोई उसका सहचर है न सहयोगी। कोई भी दूसरा व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ पूजनीय है ही नही, केवल ईश्वर की पूजा करो।" इस्लाम धर्म का मूल सूत्र है—"ईश्वर के अतिरिक्त और कोई देवता नही है और मुहम्मद ईश्वर के दूत हैं।" हमें विश्व में

जो अनेकरूपता के दर्शन हो रहे है उसमे एकसूत्रता का अनुसन्धान परम आवश्यक है। इस्लाम धर्म अपने अनुयायियो को दैवी एकता का सौन्दर्य समझाने के लिये एक मनोमोहक चित्र प्रदान करता है। ईश्वर एक है न तो उसकी समानता की कल्पना ही की जा सकती है और न उनकी समानता विद्यमान ही है। न उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी है न सहचर। ईश्वर की एकता सत्ता की एकता की परिचायिका है। जीवन के सौन्दर्य, शक्ति तथा ज्ञान सब एक ही है और यह एकता ईश्वर की एकता मे ही पर्यवसित होती है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि हम भव-सागर के प्राणी ईश्वरीय ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकते है ? हम उसके निकट किस प्रकार पहुच सकते है ? हम ईश्वर पर विश्वास किस प्रकार कर सकते है ? दृश्यमान जीवन का आध्यात्मिक चिन्तन ही ईश्वरीय ज्ञान का साधक होता है। प्रकृति, क्रिया कलाप तथा मानव जीवन के शक्तिमय आनन्द के चिन्तन से हमारे अन्त करणो में ईश्वर के कतिपय गुणो का स्फुरण हो जाता है। यही ईश्वरीय गुण ईश्वरीय ज्ञान के साधक होते है। ईश्वर का सर्व धान गुण जो हमारे हृदयो में स्फुटित होता है वह है उसकी दयालुता। मनुष्य जाति की सख्यातीत बढी-चढी आवश्यकताये ही ईश्वर की दयालुता को सिद्ध करती है तथा उसका अनुभव सहृदय व्यक्ति ही कर सकता है। पवित्रता ईश्वर का दूसरा गुण है। मनुष्य जाति की यातनाओ पर विचार करने मे यह बात निश्चित रूप मे सिद्ध हो जाती है कि ईश्वरीय नियमो की अवहेलना मानव जाति पर आपत्ति लाने वाली होती है। ईश्वर ने सद्धर्म के नियम बना दिये है, जिनके द्वारा उसकी करुणा बिना किसी भेद भाव के चारो ओर को विस्तारित होती है। यह करुणा सभी जातियो, सभी वर्गो और सभी प्राणियो के लिये एक समान होती है। किन्तु नियम की अवहेलना मानव को दण्ड की ओर ले जाने वाली होती है। मुहम्मद साहब ने ईश्वरीय दूत के रूप मे इस सत्य मार्ग का दिग्दर्शन कराया है।

ईश्वर तक पहुचने का मार्ग है प्रार्थना और भक्ति। न तो महात्माओ की प्रार्थना करो, न मध्यवर्ती व्यक्तियो की और न पैगम्बरो की केवल ईश्वर की प्रार्थना करो। ईश्वर-प्रार्थना को ही सर्वोपरि मानकर समस्त दिन को प्रार्थना के आधार पर विभाजित कर दिया गया है, जिससे सासारिकता मनुष्य को अधिक व्यथित न कर सके और समय-समय पर परमात्मा की प्रार्थना का ध्यान आता रहे। ईश्वर-उपासना के अग के रूप मे ही व्रत, उपवास और तीर्थ यात्रा का भी महत्त्व पर्याप्त मात्रा में इस्लाम मे स्थापित किया गया है। डा० ताराचन्द ने मुसलमान धर्म का परिचय इन शब्दो मे दिया है—"मुहम्मद साहब ने जिस धर्म का उपदेश दिया वह अत्यधिक साधारण था। इसमे कम-से-कम सिद्धान्त निरूपण और कर्म-काण्ड पर कम-से-कम बल दिया गया था, क्योंकि कुरान के अनुसार ईश्वर मनुष्य के भार को सरल और हल्का करना चाहता था। उसका प्रधान तत्त्व ईश्वर का एक होना है और

सबसे प्रधान कर्म-काण्ड दैनिक प्रार्थना है । व्रत-दान, तीर्थ-यात्रा और ईश्वर के पैगम्बर के रूप मे मुहम्मद साहब पर विश्वास ये ही इस्लाम धर्म के प्रधान आधार-स्तम्भ है ।.....ईश्वर के एकत्व के सिद्धान्त से बहु-देवोपासना तथा मूर्ति-सस्करण का सर्वथा प्रत्याख्यान हो गया । इस्लाम धर्म के उद्‌बोधन के प्रधान तत्त्व थे, परमात्मा की सार्वकालिक निकटता तथा उसकी सर्व-व्यापिनी शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव, ईश्वरेच्छा की प्रतिकूलता से उत्पन्न होने वाले भयानक परिणामो से भय, परमात्मा के लिये सर्वभावेन आत्मोत्सर्ग का विचार और उसकी कृपा तथा अनुकम्पा पर परिपूर्ण निर्भरता ।

सामान्य रूप से इस्लाम धर्म का यही मूलतत्व था । हजरत मुहम्मद साहब ने यही कल्याण मार्ग प्रदर्शित किया था । किन्तु काल-क्रम से मुसलमान धर्म अनेक शाखा भेदो में विभाजित हो गया । इनमे शिया लोगो का प्रमुख स्थान था । इन शिया लोगो मे अनेक वर्ग ऐसे थे जो हिन्दू धर्म से बहुत अधिक साम्य रखते थे । वे गुलूव और तक्सीर में विश्वास करते थे । गुलूव गुणातिरेक को कहते है, जिससे मनुष्य ईश्वर हो सकता है और तक्सीर दोषो को कहते है, जिसके द्वारा ईश्वर भी मनुष्यता को प्राप्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त कतिपय वर्गो मे पुनर्जन्म (तमासुख) तथा अवतार (तश्वीह) जैसे सिद्धान्त भी माने जाने लगे । ये लोग इमाम की दिव्यरूपता को अगीकार करते है और इनमे से कुछ ऐसे थे जो कुरान के प्रकट अर्थ को न स्वीकार कर रूपक के रूप में उसकी व्याख्या करते थे । इनके मत में प्रार्थना का अर्थ है, इमाम की प्रार्थना, जकात का अर्थ है इमाम के लिये दान और हज (तीर्थयात्रा) का अर्थ है इमाम के स्थानो के दर्शन । शिया लोगो के सभी वर्गों का एक तत्व यही है कि वे दैवी भावापन्न व्यक्ति की सत्ता कल्याण मार्ग के लिये अनिवार्य मानते है । इस सत्ता को इमाम के नाम से अभिहित करते है । अली तथा उनके पुत्र हसन तथा हुसेन की मृत्यु से इन लोगो का राजनीतिक नेतृत्व समाप्त हो गया था किन्तु उनका धार्मिक नेतृत्व अक्षुण्ण बना रहा है । अली तथा उनके उत्तराधिकारी इस्लाम के अनिवार्य नेता बन गये । इनमे प्रकाश विद्यमान था । अत ये सर्वथा निर्दोष थे और दूषण इन मे कभी आ ही नही सकता था । ये परमात्म-शक्ति से परिपूर्ण अवतार माने जाते थे । इन्ही शिया लोगो में अब्द अल्लाह इब्ने मैमून द्वारा प्रवर्तित एक वर्ग आविर्भूत हुआ जो हिन्दू धर्म के समान ही ईश्वर को निर्गुण, निर्विकार, निराकार मानता था । इनके मत मे वही निर्विकार ब्रह्म सृष्टि के पहले विद्यमान था और उसने अपनी इच्छा से ही एक दूसरी सगुण शक्ति ससार की रचना और नियन्त्रण के लिये उत्पन्न की । इस प्रकार ब्रह्म तथा ईश्वर की भावना इन लोगो मे विद्यमान थी ।

उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि इस्लाम के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वर्ग शिया सम्प्रदाय में एक प्रकार की अवतार-निष्ठा, पुनर्जन्म की

भावना और दैवी शक्ति मे मानवी भाव-प्राप्ति के प्रति आस्था विद्यमान थी। इस विचार धारा में हिन्दू विचार-धारा के बहुत मे तत्त्व विद्यमान थे।

(ग) दार्शनिक स्थिति

वैदिक काल और जैन बौद्ध काल पर्यन्त उत्तर भारत धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक इत्यादि क्षेत्रो में समस्त भारत का नेतृत्व करता रहा किन्तु ८वी शती के आस-पास यह नेतृत्व अकस्मात् परिवर्तित हो गया और इन समस्त क्षेत्रो मे दक्षिण भारत का नेतृत्व समस्त भारत मे स्वीकार कर लिया गया।

विक्रम की ८वी शताब्दी में श्री शकराचार्य जी का आविर्भाव मालावार में हुआ। उस समय दक्षिण भारत की धार्मिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। समस्त धार्मिक जगत् अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया था। शैव और वैष्णव सम्प्रदायो के रूप में भक्ति की भमिका प्रस्तुत की जा चुकी थी। किन्तु साम्प्रदायिक सघर्ष धीरे-धीरे उग्र रूप धारण करता जा रहा था। श्री शकराचार्य जी ने उचित समय में रगमच पर अवतीर्ण हो कर समस्त मतवादो और सम्प्रदायो के एकीकरण के लिये अपना महत्त्वपूर्ण ब्रह्मवाद स्थापित किया। वैसे तो भेदमें अभेद दर्शन समस्त चिन्तन-धाराओ का मूल तत्व है तथापि भगवान् शकर ने अभेद दर्शन की जो महत्त्वपूर्ण पराकाष्ठा ब्रह्मवाद के रूप मे प्रतिष्ठित की है उसकी तुलना अन्यत्र विश्व में दुर्लभ है। "धार्मिक विचार-धारा से सर्वथा पृथक् केवल शुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से ही विचार करने पर, श्री शकराचार्य जी के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त भारतीय भूमि पर उत्पन्न सभी प्रकार की दार्शनिक चिन्तन-धाराओ मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे अधिक आनन्ददायक है। न तो वेदान्त का ही शकर के सिद्धात से पृथग्भूत कोई सिद्धान्त और न वेदान्त के अतिरिक्त कोई भी दार्शनिक विचार अपनी शक्ति, गम्भीरता, सूक्ष्मता और विचारशीलता मे शकर की तुलना में खडा हो सका है।" शकराचार्य जी ने एक ओर अद्वैत ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा कर ज्ञान के क्षेत्र मे अभेद-वाद की स्थापना की दूसरी ओर अविद्या के क्षेत्र में आकर लौकिक दृष्टि मे वैयक्तिक साधना का भी सर्वथा प्रत्याख्यान नही किया। एक ओर शकर का ब्रह्म वाद व्यक्ति को सकुचित क्षेत्र से ऊपर उठा कर उस में असीमित ब्रह्मरूपता का आधान करता है और दूसरी ओर माया के व्यवधान से आभासित होने वाले चैतन्य मे जीवत्व और ईश्वरत्व की स्थापना कर व्यक्तिगत साधना को महत्त्व प्रदान करता है।

ब्रह्म की अद्वैतता और जगत की मायिकता ही शकर के दर्शन का सार है। तुरीयावस्था मे जीव और प्रकृति दोनो ही ब्रह्ममय प्रतीत होने लगते हैं और उस समय सर्वथा अभेद तथा अद्वैत दृष्टि का आविर्भाव हो जाता है। बुद्धि-भेद सर्वथा तिरोहित हो जाता है। माया के आवरण में प्रतिभासित होने वाली समूहावलम्बना चैतन्य सत्ता ही ईश्वर की सज्ञा से अभिहित होती है। यह ईश्वर उपासना का

विषय भी हो सकता है और इसी आधार पर शकर मतानुयायियो ने भी समय-समय पर विभिन्न देवताओ की उपासना की है तथा तन्निमित्तक स्तोत्रो की रचना की है किन्तु इस उपासना में दो दोष आते हैं—एक तो उपासना के लिये उपास्य-उपासक का तात्त्विक भेद अनिवार्य होना है जो कि अद्वैत मत मे प्रतिपादित नही किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि जिसको हम ईश्वर के नाम से अभिहित करते है वह भी तो वस्तुत. माया अथवा अविद्या से आवृत है। जब हमे उसकी अविद्या-जन्यता तथा अविद्या से आवृत होना प्रतीत ही होता रहता है तब उसके प्रति वास्तविक उपास्य बुद्धि को प्रश्रय प्राप्त नही हो सकता। ऐसी दशा में अद्वैतवाद दार्शनिक दृष्टि से पूर्ण होते हुए भी भक्ति के सिद्धान्त के अनुकूल नही पड़ता इसी लिये अद्वैतवाद के प्रतिकूल वेदान्त सूत्र के दूसरे व्याख्याकारो और वैष्णव सम्प्रदायो का आविर्भाव हुआ। इस काल के वेदान्त-सूत्रो के व्याख्याकारो में तीन प्रमुख है—रामानुज, माध्व और निम्बार्क। इन व्याख्याकारो ने भेदवाद को किसी न किसी रूप में तात्त्विकता प्रदान की।

रामानुज का लक्ष्य शंकर के विवर्तवाद और मायावाद का खडन करना था। इनके मत में ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और उसे ईश्वर, पुरुषोत्तम इत्यादि अनेक नामो से पुकारा जाता है। विश्व की रचना, सरक्षण और विनाश उसी के क्रिया-कलाप है। रामानुज शून्य से विश्व की उत्पत्ति नही मानते। क्योकि ऐसी दशा मे विश्व के प्रतिभास की कल्पना ही नही की जा सकती। रामानुज के परिणामवाद का सार यह है कि प्रारम्भ में ब्रह्म सर्वथा अद्वैत था। ब्रह्म से ही प्रकृति और जीव की उत्पत्ति हुई। प्रकृति और जीव दोनो सत्य हैं और ईश्वरेच्छा से प्रवृत्त होने वाले हैं। जीव नित्य, शुद्ध-बुद्ध, चैतन्यस्वरूप और इन्द्रियातीत होता है तथा इसकी सत्ता ईश्वराधीन होती है। जीव ईश्वर को दो उपायो से प्राप्त कर सकता है—भक्ति के द्वारा तथा प्रपत्ति के द्वारा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यो के लिये भक्ति का मार्ग है और शूद्रो के लिये प्रपत्ति का। भक्ति और प्रपत्ति का लक्ष्य है मोक्ष प्राप्त करना। मुक्तावस्था में जीव ईश्वर के समीप्य का आनन्दानुभव करता है। इस अवस्था में जीव के अन्दर सृष्टि-रचना के अतिरिक्त समस्त ईश्वरीय शक्तिया आ जाती हैं। जीव पांच प्रकार के माने जाते है।

(१) **नित्य**—वे जीव होते है जो कभी ससार चक्र में पडते ही नहीं।

(२) **मुक्त**—वे जीव होते है जो ससार के बन्धन को तोड कर ईश्वर का सामीप्य प्राप्त कर लेते है।

(३) **केवल**—जो व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा को शुद्ध कर जीवन-मरण के बन्धन से रहित हो जाते है।

(४) **मुमुक्षु**—जो मुक्ति की इच्छा करते है और उनके लिये प्रयत्नशील रहते है। और,

(५) **बद्ध**—जो ससार के सम्बन्ध में अब तक पड़े हुए है।

इस प्रकार रामानुज ने उच्च वर्णों की महत्ता स्वीकार करते हुए भी शू. त था अन्त्यजो के लिये भी प्रपत्ति के द्वारा मोक्ष मार्ग सुलभ बना दिया।

वेदान्त सूत्रो के दूसरे प्रतिष्ठित भाष्यकार है आचार्य माध्व। इनका जन्म रामानुज के बाद में हुआ था। इन्होने शकर के अद्वैतवाद तथा मायावाद का खण्डन कर द्वैतवाद की स्थापना की। इन्होने पाच प्रकार का भेद माना है जो सत्य है और जिसके ज्ञान होने से ही जीव को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। पाच भेदो के कारण ही ससार को प्रपच कहते है। माध्व के मत में परमात्मा अनन्त गुणयुक्त है, प्रत्येक गुण असीम है। ईश्वर आठ प्रकार के कार्य करता है—सृष्टि, स्थिति, सहार, नियम, आवरण, बोधन, बन्धन और मोक्ष-लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न चेतन द्रव्य है। यह परमात्मा के आधीन रहती है और परमात्मा के सकेत पर उक्त आठ कर्मो का सम्पादन करती है। प्रकृति दो प्रकार की होती है—अजड तथा जड। अजड प्रकृति लक्ष्मीरूपा है जो भगवान् की पत्नी के रूप में है। सीता, रुक्मिणी इत्यादि उसके रूप है। जड़ प्रकृति काल, त्रिगुण, महत् इत्यादि का कारण तथा इनसे भिन्न है। लक्ष्मी इत्यादि अधिष्ठात्री है। सृष्टि को रचना करने के लिये भगवान् इन्हे तीन गुण-नामक भागो मे विभाजित करते हैं। इन्ही से महत्, अहकार, बुद्धि, मन, इत्यादि की प्रपत्ति होती है। परमात्मा के अनुग्रह से जीव को ज्ञान मिलता है और भगवान् के अनन्त कल्याण समूह का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। फिर भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रेम का नाम परमा भक्ति है। भगवान् के परम अनुग्रह से जीव परमात्मा के लोक तथा अपने स्वरूप में पहुचता है तथा मध्यम और अधम अनुग्रह से स्वर्ग इत्यादि को प्राप्त करता है। प्रकृति तथा अविद्या के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय भगवान् की कृपा प्राप्त करना है।

निम्बार्क या निम्बादित्य माध्व के समकालीन और रामानुज के परवर्ती थे। डाक्टर भण्डारकर ने इनका समय ११६२ दिया है। इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है—वेदान्त-पारिजात-सौरभ तथा दश-श्लोकी। प्रथम पुस्तक ब्रह्म-सूत्रो पर भाष्य है तथा दूसरी पुस्तक मे ज्ञेय पञ्चक का निरूपण किया गया है। इनका एक सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्णस्तवराज भी प्रसिद्ध है, जिसमें २५१ श्लोक हैं। इनके मत में जीव ब्रह्म का भेद भी है और अभेद भी। ब्रह्म चित् और अचित् से भिन्न है, परन्तु दोनो ही तत्व ब्रह्मात्मक है। जिस प्रकार दीप और वृक्ष से रहित रहकर उनकी प्रभा तथा पत्र कार्य नही कर सकते उसी प्रकार दोनो ही तत्व ब्रह्माश्रित ही रहते है। मुक्त अवस्था मे जीव परस्पर मित्र रहते हुए भी ब्रह्म से अद्वैत हो जाते है। जीव ईश्वर से अविभाज्य तथा उसका अश है। प्रकृति भी मकडी के जाले की भाति ब्रह्म से अविभाज्य तथा तदश ही है। इस प्रकार विभाग-सहिष्णु अविभाग ही ब्रह्म, जीव और प्रकृति का सम्बन्ध है। निम्बादित्य

के मत में तत्व के तीन भेद है—चित्, अचित् और ब्रह्म। ब्रह्म सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और अच्युत विभव से पूर्ण है। ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। यह परास्या, जीवास्या तथा मायास्या इन तीन शक्तियो से सम्बन्ध रखता है। वह स्वाधिष्ठित अपनी शक्ति को विक्षिप्त करके जगदाकार में अपनी आत्मा को परिणत करता है। इस मत में कृष्ण ही ब्रह्म है। कृष्ण की शक्ति अचिन्त्य तथा अनन्त है। वे ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनो के आश्रय है। रमा, लक्ष्मी और भू उनके ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री है और गोपी तथा राधा उनके प्रेम तथा माधुर्य की। यही व्रज के कृष्ण जो प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी शक्ति गोपियो से परिवेष्ठित रहते है, निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्य है। चित् तत्त्व जीवात्मा है। यह देहादि अचित् पदार्थो से भिन्न ज्ञानस्वरूप होते हुए भी नित्य ज्ञाता और ज्ञान का आश्रय है। यह अणु परिमाण तथा कर्ता है। यह प्रत्येक शरीर में भिन्न है तथा जीवन, बन्धन और मुक्ति की योग्यता से युक्त है। ईश्वर प्रेरक, जीव प्रेर्य, ईश्वर व्यापक जीव व्याप्य, ईश्वर अंशी तथा जीव अंश है। जीव दो प्रकार के होते है—बद्ध और मुक्त। मुक्त भी दो प्रकार के होते है—नित्य-मुक्त तथा साधन-मुक्त। देव मनुष्य आदि मे अनादि कर्म रूपिणी माया से आबद्ध जीव बद्ध-जीव कहलाते है। सद्गुरु के बताये मार्ग का अनुसरण करने से भगवान् की अहैतुकी कृपा और प्रसाद प्राप्त होते है। फिर जीव भगवान् की कृपा के फलस्वरूप मोक्ष लाभ करता है। मुक्ति दो प्रकार की होती है—क्रम-मुक्ति और सद्योमुक्ति। कर्मादि के द्वारा स्वर्गादि का भोग करते हुए कल्पान्त मे जो सायुज्य लाभ होता है वह क्रम-मुक्ति कहलाती है और श्रवणादि भक्ति के आधार पर जो बन्धन-मुक्त हो जाते है वे सद्योमुक्ति के भागी होते है। जो सकाम भक्ति करते है उन्हे ऐश्वर्यानन्द-प्रधान मुक्ति मिलती है तथा जो निष्काम भक्ति करते है, उन्हें सेवानन्द-प्रधान मुक्ति प्राप्त होती है। भगवान् की अनादि अनन्त इच्छारूप शक्ति मुक्त जीवो के देह का सस्थान करती है। कर्मादि के बन्धन की अवस्था मे जीव की नित्य देह आवृत रहती है। जब जीव भगवत्-कृपा से उसका सामीप्य प्राप्त करता है तभी वह अपने प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर अपने नित्य चित् देह को प्राप्त करता है। भगवत्-प्रसाद के द्वारा प्राप्त देह निर्विकार तथा भगवत्-सेवा के योग्य होती है। नित्य-मुक्त जीव सदैव भगवत् स्वरूप गुणादि का अनुभव करने वाले तथा स्वभावत भगवदनुभावित होते है। गरुड, सनकादि नित्य-सिद्ध तथा नित्य-मुक्त जीव हैं। अचित् तत्व तीन प्रकार का होता है—प्राकृत, अप्राकृत और काल। प्राकृत त्रिगुणात्मक है। कारण अवस्था मे नित्य तथा कार्य-अवस्था में अनित्य है। महत् तत्व से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त समस्त विश्व प्राकृत तत्व का ही कार्य है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है। भगवान् की अपेक्षा रखती है। सत्व, रज, तम इन तीन गुणो के द्वारा प्रकृति आत्मा की देहेन्द्रिय तथा मन बुद्धि आदि के

रूप में परिणत होकर जीव का बन्धन करती है। प्रकृति का यह कार्य जीव के मोक्ष का प्रतिबन्धक है। अप्राकृत तत्त्व अचित् का शुद्ध अश है। यह प्रकृति तथा काल से भिन्न है। नित्य विभूति, विष्णु-पद, परम-व्योम, परम-पद, ब्रह्म-लोक अप्राकृत तत्व के दूसरे नाम है। यह भगवान् के सकल्पमात्र से अनेक रूप लेने वाला है। भगवान् तथा उनके आश्रित नित्य-मुक्त जीवो के भोगो का उपकरण तथा उनके निवासस्थान के रूप में इस शुद्ध तत्व के अनेक रूप होते है। काल के प्रभाव से रहित होने के कारण यह परिणाम तथा विकार से भी रहित है। काल, जड, तत्त्व, सृष्टि का सहकारी तथा प्राकृत सम्पूर्ण पदार्थो का नियामक है। काल सर्वदा भगवान् के आधीन है। यह तत्त्व नित्य तथा विभु है।

भगवान् की कृपा से ही दैन्यादि भाव की भक्ति उत्पन्न होती है। निम्बार्क मत में भगवान् की कृपा का फल भगवान् की शरण का प्राप्त करना है। भगवान् की कृपा के बल से उनकी शरण मिलने के बाद भक्त भी भक्ति-रस का आस्वादन करता है। नवधा-भक्ति के अभ्यास से भगवान् के प्रति प्रेम या रति मिलती है। प्रेम-भक्ति पांच प्रकार की मानी गई है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल। उज्ज्वल भक्ति को ही इस सम्प्रदाय में प्रमुखता दी गई है तथा कृष्ण के साथ राधा की स्तुति की गई है।

इन व्याख्याकारो के अतिरिक्त दक्षिण के सन्तो और महात्माओ की एक बहुत बडी परम्परा है। वस्तुत दक्षिण भारत में सातवी शती से १२ वी शती पर्यन्त दो प्रकार के महात्मा हुए—एक तो अडियार जिन्होने शैव मत का प्रचार किया और दूसरे आल्वार जिन्होने वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार किया। इन्ही लोगो के सतत प्रयत्न से दक्षिण में परवर्ती धार्मिक भावना का बीजारोपण हुआ। दक्षिण से ही भक्ति का प्रचार वृन्दावन, महाराष्ट्र, बगाल, तथा समस्त उत्तर भारत में हुआ। बाद की कई शताब्दियो तक भारतीय काव्य-जगत् इन्ही महात्माओ की विचार-धारा से अनुप्राणित रहा।

ऊपर जिन सामयिक परिस्थितियो का वर्णन किया गया है उनसे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है —

(१) तृतीय चरण के प्रारम्भिक काल में भारत की राजनीतिक स्थिति अव्यवस्थित थी। देश के छोटे-छोटे राज्यो में एकसूत्रता तथा सहयोग का अभाव था और वैदेशिको (मुसलमानो) का आतक तथा प्रभाव बढता जा रहा था।

(२) सस्कृतियो के सम्पर्क से पारस्परिक आदान-प्रदान अनिवार्य हो गया था। साथ ही एक प्रशस्त मार्ग की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था जिसको दोनों सम्प्रदायवादी अगीकृत कर सके।

(३) धार्मिक साधना में सदाचार पालन के स्थान पर पूजा का महत्त्व बढ़ता जा रहा था। बौद्ध धर्मानुयायी बुद्ध के उपदेशों को पालन करने के स्थान

पर भगवान् बुद्ध की पूजा में ही कर्तव्य की इतिश्री समझने लगे थे। महावीर स्वामी तथा जैनियो के दूसरे तीर्थकरो की भी उपासना प्रारम्भ हो गई थी।

(४) जनता में अनाचार का पूर्ण प्रसार हो चुका था। तन्त्र वाद के नाम पर अनेक दुराचारो को प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा था। ऐसे अवसर पर इस बात की आवश्यकता बनी हुई थी कि जनता की शृगारिक भावना को भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख कर दिया जावे। भगवद् विषयक रति भाव के आस्वादन में तत्कालीन समाज के बहुत कुछ दुर्गुणो के दूर हो जाने की सम्भावना का अनुभव किया जा रहा था।

(५) शकर के मायावाद और ब्रह्मवाद के प्रतिरोध के रूप में अनेक आचार्य उत्पन्न हो गये थे। इन आचार्यों ने शास्त्रीय पद्धति पर भक्ति का प्रतिपादन कर दिया था। विशेष रूप से कृष्णभक्ति के प्रसार की दिशा मे इन आचार्यो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था।

सामान्य विशेषताएं

इस काल में द्वितीय उत्थान काल की भांति नर-काव्य का ही प्राधान्य रहा। उसी प्रकार का आलम्बनोद्दीपनादि का चित्रण, वे ही अनुभाव, वे ही सचारी भाव और स्थायीभाव साहित्य जगत् मे अखण्ड साम्राज्य स्थापित किये रहे। प्रकृति अब भी कवियो की दृष्टि से व्यवहित ही रही। अन्तर केवल इतना हुआ कि अभी तक कल्पित नायक-नायिकाओ के प्रसग में शृगार आदि रसो का चित्रण होता था, अब विशिष्ट आलम्बन उनके स्थान पर आरूढ हो गये। अभी तक प्राकृत काव्य लिखा जाता था अब दिव्य अथवा दिव्यादिव्य रूप में उसका परिणमन हो गया। इस काल पर सबसे अधिक प्रभाव श्रीमद्भागवत का रहा है। वैसे हमारे साहित्य में कृष्ण के अनेक रूप पाये जाते है। वेदो में कृष्ण ऋषि रूप में आते है। कौषीतकी ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद् में घोर आगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख वेद-वेदाग के ज्ञाता के रूप में हुआ है। महाभारत में कृष्ण बलवान् योद्धा अदम्य साहसी, निपुण राजनीतिज्ञ, कुशल वक्ता तथा महान् कर्मवीर के रूप में आये है। गीता में कृष्ण कुशल वक्ता के रूप में आते है और समस्त उपनिषदो का सार अर्जुन को अर्पित करते है। आगे चलकर भगवान् का यह लोक-रक्षण रूप समाप्त हो जाता है और उनका लोक-रजन का रूप सामने आता है। हरिवश पुराण में, जो कि महाभारत का ही परिशिष्ट है, कृष्ण के बाल चरित्र का प्रथम बार उल्लेख किया गया है और कृष्ण को गोपियो से सम्बद्ध किया गया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण और श्रीमद्भागवत में कृष्ण की कथा विस्तार के साथ कही गई है। पद्म पुराण, वायु पुराण और वामन पुराण में भी कृष्ण की कथा आई है, किन्तु अत्यन्त सक्षेप में। इन पुराणो में महाभारत तथा गीता के कर्मवीर कृष्ण दृष्टि से ओझल हो जाते है और भगवान् की प्रेम मूर्ति के दर्शन होने लगते है। भगवान् की उपासना

रस रूप में की गई है और रसो में भी शृगार रस ही प्रमख है । असुरों के वध में अन्य रसो का सकेत मात्र दे दिया गया है ।

कृष्ण चरित्र का सर्वाधिक रमणीय और सर्वाधिक महत्वपूर्ण चित्रण श्रीमद्-भागवत में किया गया है । इसमें राधा को छोडकर कृष्ण चरित्र के सभी प्रेममय रूप विद्यमान है । प्रस्तुत काल पर श्रीमद्भागवत का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है । किन्तु ब्रह्मवैवर्त पुराण की राधा का भागवत के कृष्ण से अविच्छिन्न और अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया । इस काल में हमें कृष्ण-साहित्य के दो रूप अधिगत होते है । कुछ कवि तो, जिनमें हमारे मूर्धन्य कवि जयदेव और विद्यापति भी है, सामान्य नायक-नायिका के रूप में कृष्ण का चित्रण करते है । नाम-मात्र से ही हम इसे कृष्ण-साहित्य में सन्निविष्ट कर सकते है अन्यथा इसकी योजना सामान्य नायक-नायिकाओ में भी पूर्ण सफलता के साथ की जा सकती है । दूसरे कवि कृष्ण चरित्र की विशिष्ट परिस्थितियो का उल्लेख करते है, जो कि सामान्य चरित्र से कृष्ण को सर्वथा पृथक् कर देती है । इस प्रकार के कवि भागवत के विभिन्न चरित्रो को लेकर मुक्तक रचना में प्रवृत्त हुआ करते थे । उन चरित्रो में प्रधानता गोचारण, चीर हरण, रास लीला और भ्रमर गीत की हुआ करती थी । कुछ कवियो का काव्य तो भागवत के अनुवाद के रूप मे अवतीर्ण हुआ था । इनमें सयोग और वियोग दोनो प्रकार के शृगार का पूर्ण तन्मयता के साथ चित्रण किया गया है । शृगार रस के शास्त्रीय दृष्टि से सभी रूप कृष्ण चरित्र में मिल जाते है । स्वकीया और परकीया दोनो रूपो मे गोपियो के दर्शन किये गये है । शृगार रस के अतिरिक्त वात्सल्य का भी इन काव्यो में पूर्ण परिपाक हुआ है । माखन चोरी इत्यादि में इसी वात्सल्य के दर्शन होते है । राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण के प्रेम के अतिरिक्त मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे दूसरे आलम्बन भी प्रतिष्ठित हुए, जिनमें राम तथा शिव मुख्य है । किन्तु कृष्ण चरित्र की व्यापकता के सामने दूसरे चरित्र प्रसार न पा सके । जैसा कि बतलाया जा चुका है इस काल में व्यक्तित्व की उपासना का प्राधान्य बढ रहा था । वैष्णव धर्म के लिये यह सिद्धान्त विदेशी नही था । वासुदेवोपासना बहुत प्राचीन काल से भारत में चल रही थी और कृष्ण का गोप रूप भी ईसा की दूसरी शताब्दी में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था । गाथा सप्तशती की कतिपय गाथाये कृष्ण-गोपी प्रेम के विषय में लिखी गई थी और कालिदास ने भी गोप वेष विष्णु का उल्लेख किया है । समय आने पर यही गोप रूप शृगार रस के रूप मे अपना लिया गया । इससे दो लाभ हुए । तान्त्रिक युग की घृणित चरित्रहीन परम्पराओ के स्थान पर एक ओर शुद्ध भक्ति का प्रचार हुआ ओर दूसरी ओर दुर्व्यसनो मे आसक्त जन-समूह भगवद्भक्ति की ओर उन्मुख किया गया ।

इस क्षेत्र में अधिकतर महात्माओ के द्वारा ही कार्य हुआ । ये महात्मा किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे और निवृत्ति मार्ग के अनुयायी थे । भगवल्लीला विषयक

रचनायें गा-गा कर नृत्य करते थे जिस से सभी दर्शक गण मुग्ध हो जाते थे। इस परम्परा में परकीया प्रेम ही आदर्श प्रेम माना गया है क्योंकि प्रेम की जितनी तीव्रता परकीया प्रेम में होती है उतनी दूसरे प्रकार के प्रेम में नही। नारद भक्ति सूत्र मेंलिखा है "ब्रज गोपियों के समान भगवान् में समस्त आचारों का अर्पण कर देना और भगवान् के वियोग में परम व्याकुलता का अनुभव करना ही सच्ची भक्ति है। किन्तु इस अवस्था में भी भगवान् के माहात्म्य ज्ञान की विस्मृति नही होनी चाहिये क्योकि उस अवस्था में वह प्रेम जारो का जैसा हो जाता है।" यह भक्ति वास्तव में निवृत्तिपरक होती है क्योकि—"इस में लोक और वेद के व्यापार का परित्याग हो जाता है, प्रियतम भगवान् में अनन्यता उत्पन्न हो जाती है और विरोधी विषयो में उदासीनता भी होती ही है अतः यह भक्ति कामनायुक्त नही हो सकती।" इस भक्ति परम्परा में सदाचार का भी माहात्म्य है। नारद भक्ति सूत्र में लिखा है—"दुस्संग का तो सर्वथा परित्याग कर ही देना चाहिये क्योकि इस से काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश तथा सर्वनाश उत्पन्न होते है। ये काम-क्रोध इत्यादि यद्यपि तरंगो की भांति हृदयो में उठते हैं किन्तु धीरे-धीरे समुद्र बन जाते है।..... एकान्त सेवी, निस्त्रैगुण्य और योगक्षेम का त्याग करने वाला ही लोक बन्धन का उन्मूलन कर सकता है। जो व्यक्ति कर्म फलो का भी छोड देता है, कर्मो को भी छोड देता है, वेदो का भी परित्याग कर देता है. केवल भगवान् के प्रति अनुराग को धारण करता है वही व्यक्ति स्वय भी तरता है और लोको को भी तार देता है।" भक्ति सूत्रो में लिखा है कि भगवान मे सभी चरित्रों को अर्पित कर देना चाहिये और यदि काम-क्रोध इत्यादि करना हो तो भगवान् के प्रति ही करना चाहिये।

इन महात्मा कवियो का सदेश है कि भगवान् से किसी न किसी प्रकार का व्यक्तिगत सबन्ध अवश्य स्थापित कर लेना चाहिये। भगवान् की प्रेमरूपा भक्ति ११ प्रकार की बतलाई गई है जिस में भगवान् के साथ अनेक सबन्धो के स्थापित करने की ओर सकेत किया गया है। यह सम्बन्ध दास्य, सख्य, कान्तासक्ति या वात्सल्य रूप में कोई भी हो सकता है। साराश यह है कि इस परम्परा में भगवान् की अनन्त लीलाओ में आनन्द लिया जाता है जिसका लीलाओ में आनन्द लेने के अतिरिक्त और उद्देश्य नही होता और न कोई फल ही होता है, सबसे बडा फल निर्वाण भी उन भक्त महात्माओं के लिये सर्वथा हेय ही होता है। काव्य जगत् में भगवान् की लीलाओं में आनन्द दोनों रूपो में प्राप्त होता है—कवि स्वय भगवत्-प्रेम का आश्रय होकर आया है और विरह-वेदना का आलम्बन भगवान् को बनाया गया है तथा गोपियो को भी आश्रय मानकर भगवत्-प्रेम का वर्णन किया गया है।

इस काल की रचना मनोरंजन के लिये नही अपितु सिद्धान्तो का प्रचार

करने के लिये हुई है। वीर गाथा काल में ही धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हो गये थे जो आगे चल कर पुष्पित और फलित हुए। सर्वप्रथम व्यापक प्रतिष्ठा कबीर ने प्राप्त की। कबीर की शिष्य-परम्परा ने हिन्दी को माध्यम बनाया और धीरे-धीरे हिन्दी सर्वविध विचारो के प्रचार के लिये उपयुक्त हो गई। यह राजनीतिक युग न था। धार्मिकताकी प्रधानता थी। इस काल मे धर्म को ही भावना या मनोविकार का साधन बनाया गया। भक्तिमूलक धार्मिक आन्दोलनो का नेतृत्व रामानन्द और वल्लभाचार्य तथा उनकी शिष्य-परम्परा ने किया। कबीर के वैष्णव होने में सदेह हो सकता है। उन पर सूफी मत की छाप बतलाई जाती है। किन्तु वैष्णव सम्प्रदाय और सूफी मत दोनो मे बहुत बातो में साम्य है। सम्भव है दोनो ने एक-दूसरे को प्रभावित किया हो। कबीर यद्यपि अवतार के विरोधी तथा निर्गुणवादी थे तथापि उनकी रचनाये वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखी जा समती है। विद्यापति यद्यपि शैव थे तथापि उनकी रचनाये वैष्णव भक्तो का कण्ठ-हार है। चैतन्य महाप्रभु उनके पदो को गाते-गाते भक्ति विभोर हो जाते थे। उनका प्रभाव सूर पर ही नही चण्डीदास जैसे अहिन्दी भाषियो पर भी लक्षित होता है। राम और कृष्ण काव्य-कारो ने काव्य कला को अपने चरम उत्कर्ष पर पहुचा दिया। एक ओर पूर्व में विद्यापति के ललित मनोरम पद, दूसरी ओर गिरिधर गोपाल की मतवाली मीरा के मरुस्थल को भी सुरभित कानन बना देने वाले गीत, सूर की लोकातीत कविता हिन्दी साहित्य की अपूर्व निधि हैं इस में सदेह नही। इस काल में धर्म तथा लौकिक रागात्मकता का इतना गहरा सम्बन्ध हो गया था कि दोनो को पृथक् कर सकना सर्वथा असभव प्रतीत होता है। यही कारण है कि रीति काल के कवियों की शृ गार भावना में भी भक्तो को भगवद् भक्ति की गन्ध आती है। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि द्वितीय उत्थान काल की प्राकृत जन विषयक प्रवृत्ति के भी दर्शन यदा कदा इस काल में हो जाते है। प्रकृति फिर भी उपेक्षित ही रही। उसका उपादान प्रधानतया उद्दीपन रूप में ही हुआ। इस काल में दूसरे छन्दो की अपेक्षा गीत का प्राधान्य रहा और भाषाओ में ब्रज तथा अवधी अपनाई गई। नीचे बहुत ही सक्षेप में इस काल के प्रमुख कवियो का परिचय दिया जाता है।

इस काल के प्रमुख कवि

(अ) कृष्ण काव्य की बृहत्त्रयी

(१) **जयदेव**—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जयदेव के विषय में लिखा है—"जयदेव का अभिमान कि 'अगूर और ईख की मिठास उनकी कविता के आगे फीकी है" बहुत सत्य है। इस मिठाई में न पुरानी होने का डर है न चीटो का डर है। निर्जन में, जगल में, पहाड में जहा बैठने को बिछौना भी न हो वहां गीत गोविन्द सब आनन्द सामग्री देता है। जहा कोई मित्र, भक्त, प्रेमी न हो वहा यह सब कुछ बनकर साथ रहता है। जहा गीत गोबिन्द है, वही वैष्णव गोष्ठी है, वही रसिक समाज है

वही वृन्दावन है, वही प्रेम सरोवर है, वही भाव समुद्र है, वहीं गोलोक है और वहीं प्रत्यक्ष ब्रह्मानन्द है।"

जयदेव का केवल एक ही काव्य है गीत गोविन्द। यह कलेवर तथा विस्तार की दृष्टि से बहुत बडा काव्य नही है। किन्तु इसका जितना प्रभाव हिन्दी वैष्णव साहित्य पर पडा है उतना किसी पुस्तक का प्रभाव नही पडा। इसमें १२ सर्ग है। सर्वप्रथम मगलाचरण और प्रस्तावना तथा कवि परिचय के चार पद्य दिये गये है, फिर एक अष्टपदी और एक पद के द्वारा भगवान् के दश अवतारो का वर्णन है। इसके बाद एक अष्टपदी और एक पद्य के द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है। इतना अश प्राक्कथन कहा जा सकता है। इसके बाद वास्तविक ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। विरहोत्कण्ठिता राधा के सामने उद्यान-भ्रमण के अवसर पर एक गोपी वसन्त वर्णन करती है और दूर मे भगवान् कृष्ण की रास-लीला दिखलाती है जिस में अनेक गोपिया अपनी प्रेममयी चेष्टाओ के साथ भगवान् कृष्ण से विहार कर रही है। यह देख कर राधा को ईर्ष्या होती है और वे रुष्ट होकर चली जाती है। यह जान कर कृष्ण भी वियोग-व्यथा से पीडित होकर अन्य गोपियो का साथ छोड कर यमुना तट पर एक कुंज में राधा के विषय में चिन्ता करने लगते है। इस के बाद दूती प्रयोग किया जाता है जो कि राधा से कृष्ण की विरहव्यथा का निवेदन करती है। इसी प्रकार राधा भी दूती प्रयोग करती है जो कि कृष्ण के सामने राधा की विरहव्यथा का निवेदन करती है। यहा पर हमें प्रोषितपतिका का अच्छा चित्रण प्राप्त होता है। सखी राधा की वियोग व्यथा से पीड़ित होकर कृष्ण को राधा के पास लाने की चेष्टा करती है। इसी समय चन्द्रोदय हो जाता है। कवि ने इस प्रसग में वासकसज्जा, विप्रलब्धा और कलहान्तरिता का अच्छा चित्रण किया है। कृष्ण के आगमन में विलम्ब देख कर राधा एकदम उत्पीडित हो जाती है। राधा मानिनी हैं, कृष्ण आकर उन्हे मनाने की चेष्टा करते है। राधा कलहान्तरिता है। सखिया उन्हे समझाती है। कृष्ण राधा को मना कर चले जाते है। रात्रि आ जाती है। सखी राधा को अभिसार के लिये प्रेरित करती है। इसके बाद राधा का प्रसाधन प्रारम्भ होता है। राधा की अभिलाषाओ का वर्णन आता है। सखी कृष्ण की उत्कण्ठा का वर्णन कर राधा को अभिसार की शीघ्रता के लिये प्रेरित करती है। इसके बाद अभिसार होता है। फिर स्वाधीनपतिका का वर्णन है। रति-श्रान्त भी कृष्ण से राधा अपने प्रसाधन की अभ्यर्थना करती है। इसके बाद सयोग शृगार का वर्णन आता है। अन्त में गीतगोविन्द की प्रशसा के साथ काव्य समाप्त हो जाता है।

गीतगोविन्द का यही सक्षिप्त कथा-सार है। इतनी छोटी सी पुस्तक का साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि साहित्य की धारा ही बदल गई और काव्य में एक नवीन चेतना स्थायी रूप से घर कर गई। इसका सबसे बड़ा कारण

यह है कि इस पुस्तक में भाषा को छोड़कर और कुछ भी पुराना नही है। सभी कुछ मौलिक ही है। गीत शैली में सर्वप्रथम लिखने का श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। इसके पहले गीत नही लिखे गये थे। गीत परम्परा इन्ही से प्रारम्भ होती है। दूसरी विशेषता है तुकबन्दी की। हिन्दी साहित्य में तुकबन्दी का जो अखण्ड साम्राज्य छाया है उस पर जयदेव की काव्य-कला की बहुत बडी छाप है। इनसे पहले तुकबन्दी किसी भी काव्य में नही दिखलाई देती और न पुराने आचार्यो ने इसका लक्षण ही लिखा है। अभी तक राधा प्रकाश में नही आयी थी। यह जयदेव का ही प्रभाव था कि राधा-कृष्ण प्रेम का आदर्श केवल काव्य जगत् में ही नही हमारे समाज की नसो में भी समा गया। इसी प्रकार शताब्दियो से चली आती हुई मुक्तक-काव्य परम्परा को राधा-कृष्ण प्रेमपरक बना देने का श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। वैष्णव भक्ति का काव्य से सयोग करा देना भी जयदेव का ही काम था। इनके प्रभाव का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि कृष्ण-काव्य के विषय में प्रबन्ध परम्परा ही समाप्त हो गई। भागवत के अनुवाद के नाम पर सूर सागर लिखने वाले महात्मा सूरदास ने भी अपनी रचना को जयदेव की शैली पर सर्वथा गीतात्मक तथा मुक्तक ही रखा है।

इस पुस्तक का गुम्फन बडा ही मनोहर तथा विवेकपूर्ण है। भावनाओ का चित्रण गीतो में किया गया है और प्रसग-योजना तथा कथानक-निर्देश के लिये दूसरे पद्य काम मे लाये गये है। कही-कही दूसरे पद्यो द्वारा गीत का साराश भी व्यक्त कर दिया गया है। गीतो और पद्यों के सयोग से काव्य में नीरसता नही आने पाती है। इसकी जैसी ललित कोमल-कान्त पदावली अन्यत्र दुर्लभ है। पण्डितवर ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर ने लिखा है—"इस महाकाव्य गीत गोविन्द की रचना जैसी मधुर, कोमल और मनोहर है, उस प्रकार की दूसरी कविता सस्कृत साहित्य में अत्यन्त अल्प है। वरच ऐसा ललित पद-विन्यास, श्रवण-मनोहर अनुप्राम-छटा तथा प्रसाद गुण और कही नही है।" जयदेव जी नितान्त करुण-हृदय और परम धार्मिक थे। भक्ति-विलसित महत्त्व छटा और अनुपम प्रीति व्यजक उदार भाव ये दोनो उनके अन्त-करण में निरन्तर प्रतिभासित होते थे।

जयदेव श्री रामादेवी और भोजदेव के पुत्र थे तथा उमापति, शरण, गोवर्धन और धोयी कवि के साथ बगाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभा-पण्डित थे। इनका विवाह पद्मावती के साथ हुआ था। कहा जाता है कि इस कन्या के पिता को स्वप्न मे भगवान् जगन्नाथ देव ने जयदेव के साथ पुत्री के विवाह करने का वरदान दिया था। जयदेव के विषय मे अनेक किवदन्तिया प्रसिद्ध हो गयी। इनके जन्म-स्थान पर प्रति वर्ष मेला लगता था। प्रताप रुद्रदेव ने आदेश दिया था कि उनके राज्य में केवल गीत गोविन्द ही गाया जावे। इस पर अनेक टीकाये तथा अनुवाद ग्रन्थ लिखे गये और यूरोप में सर विलियम जोस की प्रति से इसका इतना

अधिक सम्मान हुआ जितना कि मेघदूत तथा शकुन्तला का गेटे ने किया था। इसमें सन्देह नही कि इस पुस्तक का प्रभाव केवल काव्य जगत पर ही नही पडा अपितु तात्रिक अनाचारो में फसे हुए समाज को भी वैष्णव-भक्तिमय कर देने का श्रेय इसी पुस्तक को प्राप्त है। चैतन्य महाप्रभु इत्यादि भक्त गण आनन्द विभोर होकर इसके पद्यों को गाया करते थे और सर्वसाधारण पर इसका अभूतपूर्व प्रभाव पडता था। जयदेव ने अपने काव्य की प्रशसा में ठीक ही लिखा है कि–'माध्वीक की (जयदेव की वाणी की तुलना प्राप्त करने की) चिन्ता उचित नही है। हे शक्कर ! तुम बडी कठोर हो, तुममें उतना माधुर्य कहा ? हे द्राक्षा ! तुम्हे अब कौन देखेगा ? हे अमृत ! जयदेव की वाणी के सामने तुम तो मर गये। हे दूध ! तुम्हारा रस तो जलमय है। जयदेव की वाणी समस्त शृगार का सार तथा मगलमय तत्व बिखेर रही है। अतएव हे पक्व आम्रफल ! तुम रोओ, चिल्लाओ और हे कान्ताधर ! तुम तुलना करने का साहस न करो।"

(२) **विद्यापति**—बिसपी जिला दरभगा के रहने वाले थे। ये शिवसिह, लखिमादेवी, विश्वासदेवी, नरसिहदेवी तथा मिथिला के कई अन्य आश्रयदाताओ के सरक्षण में रहे थे। शिवसिह ने इन्हे बिसपी गाव तथा अभिनव जयदेव की उपाधि एक ताम्र पत्र द्वारा प्रदान की थी। ये सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और इनकी लिखी हुई सस्कृत की ११ पुस्तके उपलब्ध होती है। मैथिली भाषा में इनके पद अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनका रूपान्तर बगाली में बहुत पाया जाता है। इनके पदो की महत्ता इसी से प्रकट है कि बगाली लोग इन्हे अपनी ओर घसीटते है, हिन्दी वाले अपनी ओर और मैथिली वाले अपनी ओर। रसमयता के साथ चमत्कार का सयोग इतना सुन्दर और महत्वपूर्ण बन पडा है कि उसकी तुलना हिन्दी-साहित्य में दुर्लभ है। इनकी कविता में शृगार रस का प्रस्फुटन बहुत ही स्पष्ट हुआ है। विभाव, अनुभाव, सचारी भाव और स्थायी भावो की स्पष्ट प्रतीति होती है। इनके काव्य मे बीच-बीच मे कृष्ण-विषयक ईश्वरीय अनुभूति नही होती, कि तु कृष्ण चञ्चल नायक और राधा चञ्चल नायिका के रूप में दिखाई गई है। इनकी दृष्टि में विश्व के समस्त शृगार की प्रतिमूर्ति राधा और कृष्ण ही है। इनके प्रेम-चित्रण में वासना का रग बहुत गहरा है। कृष्ण उन्मत्त नायक के रूप मे सामने आते है और राधा मतवाली नायिका के समान। इनके काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होने बाह्य जगत् का ही विशेष वर्णन किया है, अन्तर्जगत् का बहुत कम।

विद्यापति के पदो को हम तीन भागो में विभक्त कर सकते है.—(१) शृगारिक, (२) भक्ति-सम्बन्धी और (३) विविध विषयक। शृगार रस के विभाव के रूप में राधा-कृष्ण का चित्रण हुआ है और भक्ति के विभाव के रूप में शिव-पार्वती का। शृगार रस का प्रारम्भ यौवन के बाद होता है। शैशव को हटाकर जब यौवन आधिपत्य स्थापित करना चाहता है, तब शैशव सहसा पराजय स्वीकार नहीं

करता। इसीलिये विद्यापति की कविता में सर्वप्रथम शैशव और यौवन की सन्धि के दर्शन होते हैं। यौवन के आने पर किस प्रकार शारीरिक तथा बाह्य चेष्टा-सम्बन्धी परिवर्तन होते है, इसका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यौवन राजा है। उसके आते ही कर्मचारियो को अपने-अपने स्थान पर नियुक्त कर दिया जाता है। शैशव शीघ्र नही हटता, किन्तु धीरे-धीरे उसे पराजित होना पडता है। फिर भी कुछ समय तक नायिका शैशव के प्रभाव से भूल कर ही बैठती है। इसके बाद तारुण्य पूर्ण अधिकार कर लेता है, जिससे नायिका की शोभा बढ जाती है। विद्यापति ने यौवन-जन्य सौन्दर्य का बडा ही विस्तृत तथा रोचक वर्णन किया है। इस दिशा में इनकी उच्चकोटि की एक-एक कल्पनायें दर्शनीय है। दोनो स्तन ऐसे प्रतीत होते है, मानो किसी देवता ने चकई-चकवा को भुजपाश में बाधकर रख दिया है कि कही उड न जायें। कवि ने सद्यःस्नाता का पर्याप्त वर्णन किया है। जब नायिका ने स्नान करने के बाद शरीर पोछा तो ऐसा निर्मल हो गया जैसे सोने के कटोरो को किसी ने लौटकर रख दिया हो। जब स्तनो पर चन्दन लगा कर ऊपर से हार पहिना तो ऐसी शोभा बढ गयी मानो भगवान् शकर ने भस्म रमा ली हो और ऊपर से गगा जी की धारा गिर रही हो।

धीरे-धीरे नायक नायिका के शरीर को देख लेता है। वायु के वेग से वस्त्र गिर जाता है और नायिक उसे उठा कर ठीक कर लेती है। इस बीच में जो दृश्य दिखलाई पड जाता है, कवि ने उसकी उपमा बिजली की चमल से दी है। नायक-नायिका की परस्पर देखा-देखी में बाह्य-सौन्दर्य की ही प्रधानता रहती है। इन प्रसगो में कवि की एक-से-एक उच्चकोटि की कल्पना के दर्शन होते है। दूती की शिक्षा का भी पर्याप्त विस्तार हुआ है। नायक-नायिका रात भर विहार करते रहे है। प्रातःकाल हो गया है। नायक छोडना नही चाहता। नायिका समझाती है। इस प्रसग में प्रात काल का अच्छा वर्णन बन पड़ा है। वसन्त का वर्णन भी मनोरम हुआ है। इसके अतिरिक्त विरह-मान भी विद्यापति का महत्त्वपूर्ण विषय है। भावो तथा मनोदशाओ का वर्णन भी यत्र-तत्र सफलतापूर्वक किया गया है। भाव केवल कल्पित ही नही, किन्तु अनुभवसिद्ध भी है। विद्यापति वास्तव में शृंगारी कवि थे। यद्यपि एक-दो पद्यो में कृष्ण के लोकोत्तर रूप की ओर सकेत भी पाया जाता है और इन्होने हरिहर का अभेद भी प्रतिपादित किया है, किन्तु यह शैव ही थे। राधा-कृष्ण को इन्होने केवल शृगार रस के विभाव के रूप में अपनाया था। कवि की सरसता और सहृदयता में किसी को संदेह ही नही हो सकता। नायक और नायिका के प्रेम को लेकर उसके अग-प्रत्यग का वर्णन करने में कवि सिद्धहस्त है। इनकी कवितायें पढ़ने वालो के मन में रस का सचार करती है। स्वभावोक्ति में तो ये अपना जोड़ नही रखते। अलकारों का प्रयोग बडा ही स्वाभाविक हुआ है। इनकी कविता में भी राधा-कृष्ण सामान्य नायक-नायिका ही बने रहे। कृष्ण के जीवन की विशेष घटनाओं का इन्होंने भी वर्णन नहीं किया।

(३) **सूरदास**—हिन्दी-मुक्तक-परम्परा ही नही समस्त हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य माने जाते हैं। इन्होंने जयदेव और विद्यापति के आदर्श पर गीत काव्य लिखा था। जयदेव और विद्यापति ने भगवान् के लौकिक प्रेम का ही वर्णन किया था, जिसमें कृष्ण और राधा के नाम को छोडकर कही भी उनकी परमात्मसत्ता के दर्शन नही होते और न कृष्ण के प्रेम में जीवन का सर्वांगीण वर्णन ही प्राप्त होता है। कृष्ण चरित्र की विशिष्ट परिस्थितियो और घटनाओ का स्पर्श जयदेव और विद्यापति ने नही किया था। सूर काव्य की दो बहुत बडी विशेषताये तथा मौलिकतायें हैं—एक तो इन्होने कृष्ण के प्रेममय रूप का पूर्ण तथा सर्वांगीण चित्रण किया है, कृष्ण जीवन की विशिष्ट घटनाओ और परिस्थितियो की उपेक्षा नही की, दूसरे इन्होने जयदेव या विद्यापति के समान केवल राधा-कृष्ण-प्रेम की प्रौढावस्था तथा परकीया रूप का वर्णन नही किया, अपितु बचपन से ही राधा-कृष्ण का साहचर्य दिखलाकर प्रेम का बडा मनोरम विकास दिखलाया है। साथ ही राधा-कृष्ण का विवाह करा का स्वकीयात्व की भी स्थापना कर दी है।

हिन्दी में कृष्ण-काव्य के विस्तार का बहुत बडा श्रेय आचार्य श्री वल्लभ को प्राप्त है। इनके पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर ही सूर इत्यादि कृष्ण-काव्यकारो ने भक्ति-रस की अमृतमयी स्रोतस्विनी बहाई है। शकराचार्य जी ने भगवान् की निर्गुण सत्ता को सत्य और साकार सत्ता को मायिक तथा व्यावहारिक माना था। इसके प्रतिकूल आचार्य वल्लभ ने भगवान् की साकार सत्ता (कृष्ण रूप) को सत्य और निर्गुण को उसका आशिक तिरोहित रूप कहा। श्री कृष्ण परब्रह्म है। पुरुषोत्तम कृष्ण में आनन्द की चरम अवस्थिति है और इनकी सभी लीलाये नित्य है। गोलोक में नित्य रूप में यमुना, वृन्दावन, निकुज इत्यादि सब कुछ है। वहा भगवान् की नित्य लीला होती है। भगवान् की इस नित्य लीला में प्रवेश करना ही जीव की सर्वोत्तम गति है। भगवान् अपने को जीवो के रूप में बिखराकर लीला किया करते है। प्रेम साधना द्वारा भगवान् की लीलाओ में आनन्द लेना और उसके द्वारा भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करना पुष्टि कहलाता है। इसी आधार पर वल्लभाचार्य के सिद्धान्त को पुष्टि मार्ग कहते है।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति के ११ भेद किये गये थे। इसी आधार पर ११ प्रकार की आसक्ति का वल्लभ-सम्प्रदाय में विस्तृत विवेचन किया गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय के समस्त कवि और विशेषरूप से सूरदास भक्ति के इसी विभाजन को लेकर चलते हैं। सूर के भ्रमर गीत मे हमें गुणतादात्म्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम-विरहासक्ति के दर्शन होते हैं। बाल-कृष्ण में रूपासक्ति और वात्सल्यासक्ति के दर्शन होते है। इसी प्रकार गोवर्धनधारण में पूजासक्ति, गोपिकाओं के परस्पर वचनो में स्मरणासक्ति, मुरली-स्तुति में दास्यासक्ति, गोचारण में सख्यासक्ति और गोपी-विहार तथा विरह-वर्णन में कान्तासक्ति के दर्शन होते हैं।

सूर-सागर का दशम-स्कन्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें श्री कृष्ण के प्रति माधुर्य और वात्सल्य भावो की व्यंजना बडे ही मनोरम रूप में आ गई है। सूर के कृष्ण माधुर्य और प्रेम की प्रतिमूर्ति है। सर्वप्रथम कृष्ण का बालरूप हमारे सामने आता है। बच्चो की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चेष्टाओ का वर्णन किया गया है। घुटनो चलना, घर की देहरी को नाघ न पाना, तोतली भाषा में बात करना,मक्खन लेकर मणिखम्भ के प्रतिबिम्ब को खिलाना इत्यादि बच्चो की छोटी-छोटी बातो का बडे ही मनोवैज्ञानिक ढग से वर्णन किया गया है। धीरे-धीरे कृष्ण बडे होकर एक नटखट बालक के रूपमें तैयार होते है। क्रीडा क्षेत्र में जाते है। इसी प्रसग में माखन चोरी के मनोमोहक चित्र उपस्थित किये गये है भगवान् का सौन्दर्य सभी गोपियो के लिये आकर्षण केन्द्र है। उनके गोचारण से हम उन्हे मानव से भी आगे बढकर पशु-जगत् से सहानुभूति स्थापित करते देखते है। उनकी रासलीला, दानलीला, मानलीला, चीरहरण इत्यादि में हमें शृगाररस के अभूतपूर्व मधुर चित्र दृष्टिगत होते हैं। विप्रलम्भ शृगार ही रसो में सबसे अधिक मधुर माना गया है और सूर-काव्य मे विप्रलम्भ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन पडा है (भ्रमर गीत में प्रेम-साधना तथा मधुरा-भक्ति पराकाष्ठा पर पहुच गई है।) इस प्रकार सूर मे प्रेम-साधना का सर्वांगीण विकास देखा जाता है।

काव्य-कला की दृष्टि मे सूर का स्थान बहुत ऊचा है। कहा जाता है कि जिस विषय में सूर ने जो कुछ कह दिया है, उससे आगे बढकर और कुछ कहने का अवसर ही नही रहा। उनकी कविता का सबसे बडा गुण है माधुर्य। एक तो ब्रज भाषा यो ही मधुर मानी जाती है, फिर सूर की पद-योजना और गीति-शैली ने उसे और अधिक माधुर्य की चरम सीमा पर पहुचा दिया है। उनकी कविता में हमे मानव के सच्चे उद्‌गार सुनाई देते है। उनके कहने का ढग भी बहुत अच्छा है। जो कुछ वह कहते है, वही पर मानो कथन की समाप्ति हो जाती है। वाक्‌-चातुर्य भी उनमे उच्चकोटि का है। भ्रमर-गीत वाक्चातुर्य का अच्छा नमूना है। इनका काव्य-ज्ञान भी बहुत ऊचा है। रस के सभी अग, सभी प्रकार के सचारी-भाव इनकी कविता मे पाये जाते है। अनुभावो का भी पर्याप्त विस्तार है। इनके अलकारो के प्रयोग-विस्तार मे इनकी कल्पना-शक्ति और चमत्कारिणी प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। काम की दोनो दशाओ का इनकी कविता में समावेश है। इसमें सन्देह नही कि हिन्दी-साहित्य सूर की रचना से कृतार्थ हो गया है और जब तक हिन्दी-साहित्य है सूर अपनी प्रतिभा के कारण सर्वथा उसके मूर्धन्य बने रहेगे।

(आ) कृष्ण काव्य के दूसरे कवि

वल्लभाचार्य के बाद उनकी गद्दी पर आचार्य श्री विट्ठलनाथ जी बैठे। इन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर कविता करने वाले ८ कवियों को सम्मिलित कर अष्ट छाप की स्थापना की। इन में सरदास जी प्रमुख थे। दूसरे थे

परमानन्द दास। ८४ वैष्णवन की वार्ता के अनुसार ये कन्नौज के एक दरिद्र परिवार में उत्पन्न हुए थे। ये स्वभाव से विरक्त थे। इन्होने विवाह नही किया था। प्रारम्भ से ही कीर्तन करने वालो का मण्डल इनके यहा एकत्र रहा करता था। एक बार ये मकर स्नान करने प्रयाग गये और वहा वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आकर वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। ८४ वैष्णवन की वार्ता के अनुसार इन्होने सहस्रावधि पद लिखे थे। इनके पदों का कोई सग्रह प्रकाशित नही हुआ है। केवल कुछ फुटकल पद ही यत्र-तत्र भक्तों के मुख से सुनाई देते है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार इन्होने दान लीला पर एक स्वतन्त्र पुस्तक भी लिखी थी पर इस का कोई पता नही चलता। परमानन्द के वल्लभ सम्प्रदायी पदो में भगवान् की बाल लीला के पद अधिक प्रसिद्ध है जिन में जन्माष्टमी, पालना, छठी, अन्नप्राशन, कन-छेदन, मृत्तिका भक्षण दान के पद इत्यादि अनेक विषय सम्मिलित है। इसी के साथ इनके स्फुट विषयो पर भी पद मिलते है। काकरौली में एक परमानन्द सागर भी प्राप्त हुआ है जिस में भगवान् की अनेक प्रकार की लीला का वर्णन है।

अष्ट छाप के तीसरे कवि है **कुम्भनदास**। ८४ वैष्णवन की वार्ता के अनुसार ये गोवर्धन पर्वत के निकट रहते थे। इनका विवाह भी हुआ था और ७ पुत्र तथा पुत्र-वधुएं भी थी। ये खेती पर निर्वाह करते थे और निर्धनतामय जीवन व्यतीत करते थे। ये सर्वप्रथम वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आये थे। कहा जाता है कि एक बार अकबर ने अपने दरबार में इन्हे बुलवाया और इस पर इन्होने यह पद गाया :—

सन्तन को कहा सीकरी सो काम।
आवत जात पनहियां टूटी बिसरि गयो हरि नाम।
जाको मुख देखे दुख लागे ताको करन परो परनाम॥
कुम्भनदास लाल गिरधर बिनु यह सब झूठो धाम॥

कुम्भनदास के पद वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रन्थो में मिलते हैं। इन के पदो का सग्रह विशेष रूप से कीर्तन सग्रह, राग सागरोद्भव, राग कल्पद्रुम और राग रत्नाकर मे किया गया है। इन पदो में भी जन्माष्टमी, बधाई, पालना, इन्द्रमान-भग, गोबर्धन पूजा, छाक, हिण्डोरा, राखी, धमार, होली, वसन्त, दधिमथन, खण्डिता, सखी वचन, सुरतान्त, स्वामिनी जू के प्रभु के प्रति हास्य वचन इत्यादि अनेक विषयो का वर्णन है

अष्ट-छाप के चौथे कवि **कृष्णदास** का जन्म गुजरात के एक गाँव में हुआ था। इनके मा[illegible] ना शूद्र थे। पर इनकी प्रतिभा बडी प्रखर थी। कहते है कि पिता के असत्य आचरण के विरुद्ध बचपन में ही घर से निकल गये थे। प्रारम्भ में इनकी शिक्षा व्यवस्थित न हो सकी। किन्तु बाद में वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने के बाद इनका ब्रज भाषा पर बडा अधिकार हो गया। नाभादास ने इनकी कविता को निर्दोष लिखा है। विट्ठलनाथ जी ने इनकी व्यावहारिक बुद्धि से प्रसन्न होकर

इन्हे सारा अधिकार सौप दिया था। इन के नाम पर कई ग्रथ प्रसिद्ध हैं पर वे उपलब्ध नही होते। इनके कुछ पद ही प्राप्त होते है जिन में जन्माष्टमी, बाल-लीला, राधा जी की बधाई, दान, मुरली, रास, पालना, कनछेदन, गोसाईं जी की बधाई, हिहोरा, शृ गार, शयन, इत्यादि के पद सम्मिलित है।

सूरदास को छोड कर अष्टछाप में **नन्ददास** का सर्वोच्च स्थान है। ये शुक्ल वश के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इन के दीक्षा गुरु आचार्य विट्ठलनाथ थे। इनका अध्ययन गम्भीर था और ये अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थे। कुछ लोग इन्हे गोस्वामी तुलसीदास जी का भाई बतलाते है पर यह बात प्रमाणित नही है। कहा जाता है कि ये लौकिक प्रेम से भगवद्-भक्ति की ओर झुके थे। ये सूरदासके साथ भी रहे थे। इनके लगभग २२ ग्रथ प्रसिद्ध है। प्रमुख ग्रन्थो में रास पचाध्यायी एक प्रौढ तथा प्रसिद्ध रचना है। इसके पदो में रास का वर्णन किया गया है। इन्होने छन्दो में भी रास लीला लिखी है। इन के ग्रन्थो मे विरहमजरी, रसमजरी, अनेकार्थमजरी तथा रूपमजरी ये पाच मजरिया प्रसिद्ध है इन ग्रथो में विभिन्न विषयो पर सूक्तियों का सकलन किया गया है। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक भ्रमरगीत है जिसमें उद्धव और गोपियो का बडा ही मनोरजक सवाद दिया हुआ है। इन्होने कुछ पद भी लिखे थे जिन में वल्लभ सप्रदाय के अन्य कवियो की भाति जन्माष्टमी, राधा जी की बधाई, दान लीला, मान लीला, बाल लीला रासलीला, हिंडोरा, गोचारण, धमार, कीर्तन इत्यादि अनेक विषयो पर पद लिखे गये थे। भक्तमाल में इनकी रचनाओ को दो भागो में बाटा गया है—रीति विषयक और भगवान् की लीला विषयक। उनकी रस मजरी, नाममाला, अनेकार्थ मजरी रूप मजरी, ये ग्रथ रस रीति से सबद्ध है, शेष कृष्ण लीला मे। भक्ति की दृष्टि से रस रीति के ग्रथों में उस रस-रीति का वर्णन है जिसका पालन नन्ददास ने अपने पदो में किया है और काव्य की दृष्टि से ये ग्रथ नायक-नायिका भेद तथा भाषा की शक्ति से संबन्ध रखते है।

कुम्भनदास के कनिष्ठ पुत्र **चतुर्भुजदास** जी अष्टछाप के कवियों मे एक हैं। भक्त होने के कारण पिता का इन पर सर्वाधिक प्रेम था। इन के दो विवाह हुए थे तथा एक पुत्र भी बतलाया जाता है। पर इन का मन गृहस्थी में नही लगता था। बचपन से ही ये गोसाई विट्ठल नाथ के सपर्क में आ गये थे तथा उनकी सेवा में रत रहते थे। इन के नाम पर भक्तमाल, मिश्र-बन्धु विनोद तथा खोज रिपोर्ट में कई पुस्तकें लिखी है। किन्तु इस नाम के कई कवि हुए हैं। कीर्तन सग्रहों में छपे हुए इनके पदो के अतिरिक्त अन्य रचनाये प्रमाणित नही होती। इनके रचे हुए पदो में जन्माष्टमी, राधा जी की बधाई, दशहरा, गोवर्धन पूजा, श्याम धटा, छाक, पालना, बाल लीला, दान, रास, वसन्त, धमार, खण्डिता, मान छुडाना इत्यादि से सबद्ध १३७ पद उपलब्ध होते हैं। कुछ पद अप्रकाशित भी हैं जिनमें मानापनोदन, सुरतान्त युगल रस वर्णन, भ्रमर गीत इत्यादि विषयों का समावेश है।

अष्टछाप के एक अन्य कवि **गोविन्द दास** का जन्म भरतपुर के एक सनाढ्य परिवार में हुआ था। ये गृहस्थ थे। इनके एक पुत्र और एक पुत्री का उल्लेख मिलता है। ये बाद में अपनी बहन कानबाई के साथ निरक्त होकर गोवर्धन पर रहने लगे थे। वही ये भक्ति के पद बना कर गाते थे। इस कवि की किसी प्रमुख रचना का अभी तक अनुसन्धान नही किया जा सका है। केवल कतिपय कीर्तन तथा पद प्राप्त होते है जिन में अष्टछाप के सामान्य विषयो का समावेश किया गया है।

छीत स्वामी माथुर चौबे थे और गोवर्धन में कीर्तन करते थे। वार्ता के अनुसार ये वीरबल के पुरोहित थे। वार्ता में लिखा है कि वल्लभ सप्रदाय मे आने से पहले ये मसखरा, लपट और गुण्डा थे। नागरीदास ने इन्हे झगडालू प्रकृति का व्यक्ति लिखा है। वल्लभ सप्रदाय में आने पर ये उच्चकोटि के कवि और भक्त बन गये। इनके इन गुणो की प्रशसा नाभादास और ध्रुवदास ने भी की है। कहते हैं कि ये एक बार विट्ठल नाथ से मसखरी करने गये थे, किन्तु विट्ठलनाथ जी का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये उनके भक्त बन गये। अष्टछाप के अन्य कवियो की भाति छीतस्वामी के ग्रंथो का भी पता नही चलता। केवल वल्लभ सप्रदाय के कीर्तन-सग्रहों में इनके रचित पद पाये जाते है। मिश्र बन्धुओ ने अपने पास इनके ३४ पदो का एक सग्रह बतलाया है। इन पदो के सामान्य विषय जन्माष्टमी, गोसाईं जी की बधाई, आचार्य जी की बधाई, खण्डिता के पद, रास पालना, रास मल्हार, धमार, कलेऊ इत्यादि सम्मिलित है।

कृष्ण-भक्त कवियो में अष्टछाप के अतिरिक्त **मीरा** और **रसखान** का नाम बहुत प्रसिद्ध है। मीरा जोधपुर के मेड़ता के राठौर रत्नसिह की इकलौती बेटी थी। इनका जन्म चौकडी नामक ग्राम में हुआ था। इनका विवाह स० १५७३ में मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा सीसोदिया कुल-भूषण भोजराज से हुआ था। कहा जाता है कि विवाह के १० वर्ष बाद मीरा के पति का देहान्त हो गया। किन्तु उन्हे पति-मृत्यु से रच भी दु.ख नही हुआ क्योकि इनके हृदय में गिरधर गोपाल की प्रबल भक्ति जागृत हो गई थी। ये रात-दिन गिरधर गोपाल के ही प्रेम में लीन रहा करती थी। धीरे-धीरे साधु सगति में आने लगी। इनके घरवालो ने इन्हे साधु सगति से रोकने की बडी चेष्टा की किन्तु इनके हृदय में साधु सगति का ऐसा गहरा रंग चढ़ गया था कि इनका मन घर-गृहस्थी की ओर नही फिरा। इस विषय में इन्होने तुलसी को पत्र लिखा और उनका उत्तर पाकर चित्तौड से मेडता चली गयी। जब यहा भी मन न लगा तब वृन्दावन गयी। वृन्दावन में कुछ दिन रहने के बाद द्वारका चली गयी और वही रणछोड जी के मन्दिर में जाकर मीरा भगवान् की मूर्ति में समा गयी।

मीरा का प्रेम माधुर्य भाव का है। इन्होने भगवान् के प्रौढ युवा रूप का

वर्णन किया है, बाल रूप का नहीं। इनका भाव एक सती-साध्वी धर्मपत्नी का भाव है, रूप-मोहिता प्रेयसी का नही। कहा जाता है कि मीरा एक गोपी का ही अवतार थी। इन्होने कई पदो में अपने पूर्व जन्म के साथी का स्मरण किया है। माधुर्य भाव का प्रेम होने के कारण ही इनका ध्यान कृष्ण की बाल लीलाओं की ओर नही गया है। सूर की उत्कृष्ट बाल लीलाओ का मुख्य कारण उनका सख्य भाव ही है, जो वात्सल्य से सटा हुआ है। पत्नी अपने पति के बाल रूप में नही लीन हुआ करती। उसे उसका प्रौढ युवा रूप ही अच्छा लगता है। कृष्ण के नटवर प्रौढ श्यामल स्वरूप की सुन्दरता पर मीरा ने अपने हृदय को चढ़ाया था। मीरा की कविता में भगवान् की रूप व्यजना अपने चरम उत्कर्ष को पहुच गई है। प्रेम का प्रारम्भ रूप के प्रति आकर्षण से ही है जो कि मीरा की रूप व्यजना मे पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। रूप व्यंजना के बाद दूसरा नम्बर लीला विहार का आता है। मीरा में लीला विहार के हेतु वंशी तथा धेनु चराना ही मुख्य है। जयदेव, विद्यापति और सूरदास जैसे महा कवियो में जिस गोपी-कृष्ण या राधा-कृष्ण प्रेम तथा सम्भोग शृ गार का विशद वर्णन पाया जाता है वह मीरा में खोजने से भी न मिलेगा। कारण यह है मीरा का प्रेम सती-साध्वी धर्मपत्नी का भाव है और कोई पत्नी अपने प्रियतम के परस्त्री-रमण की अप्रिय भावना को अपने हृदय मे स्थान नही दे सकती। हा, विरह व्यथा से झुलसे हुए हृदय से एक-दो उपालम्भ अवश्य निकले हैं। ये कुल की कान और लोक लाज तो श्री गिरधर लाल के चरणो में वार ही चुकी थी। स्त्री-सुलभ भाव-गोपन की भावना तो बनी ही रहेगी। जहा कही मिलन की हल्की सी व्यजना है वहा भी प्रेम की प्रफुल्लता द्वारा ही प्रकट किया गया है आलिगन इत्यादि उपकरणो द्वारा नही। सात्विक लक्षणो का भी कम उल्लेख मिलता है। रोमाच, वैवर्ण्य, प्रकम्प, प्रस्वेद इत्यादि के बहुत ही हल्के चित्र मिलते हैं। वैष्णव कवियो में गोपियो के विरहानल का वर्णन विशेष रूप से मिलता है और वे गोपियो की विरह वेदना द्वारा अपनी वेदना व्यक्त करते है। गोपियो की स्थिति में अपने को रख कर विरह की तीक्ष्णता को अनुभव और व्यक्त करने में उन्हे कुछ सुगमता हो जाती है। किन्तु मीरा की भक्ति-साधना में गोपिया मध्यस्थ नही बनी है। उन्होने प्रत्यक्ष रूप में अपनी सारी आकांक्षा और अभिलाषा श्री-कृष्णार्पण कर दी है। मीरा ने कृष्ण को गोपी-वल्लभ या राधा-वल्लभ के रूप में नही अपितु गिरधर लाल और श्याम सुन्दर के रूप में स्मरण किया है।

मीरा का विरह गहरा अधिक है व्यापक कम। उसमें न प्रकृति के साथ तन्मयता स्थापित करने की चिन्ता है और न अवकाश ही। मीरा का विरह उस स्त्री के विरह के समान है, जिसका पति एक क्षण स्वप्न में मिलकर अधरो पर चुम्बन का दाग छोडकर सदा के लिये परदेश चला गया हो। जब-जब मेघ घिर आते हैं, बूंदे रिम-झिम बरसने लगती हैं तब-तब साजन की सुध हरी हो जाती है

और हृदय डावांडोल हो जाता है। फागुन में जब सखिया धमाचौकड़ी मचाने लगती हैं, रग रलिया करने लगती हैं और प्रियतम के मिलने की तैयारी में लग जाती हैं, उस समय मीरा के हृदय में अपने परदेशी के लिये एक गहरी व्यथा उमड़ आती है। मीरा का दुःख तो एक अकथ कहानी है, उत्सर्ग का, प्रेम की वेदी पर सर्वस्व समर्पण का एक सर्वोत्कृष्ट ज्वलन्त उदाहरण है। मीरा के अधिक पद विरह-वेदना के ही हैं। विरह-वेदना में उनका हृदय लिपटा हुआ दृष्टिगत होता है। मेघो के गर्जन और मधुमास की छटा विशेष रूप से उद्दीपन के रूप में गिनाई गई है। सखियो की आनन्द केलि भी कष्टदायक हो जाती है। किन्तु यह भावना आनन्द विधायक है। अश्रु धारा की तह में आनन्द की रेखाये स्पष्ट दृष्टिगत होती है। मीरा का प्रेम रहस्योन्मुख है। ये न तो कबीर की भाति ज्ञानी ही थी और न जायसी की भाति कवि। ये एक मात्र प्रेम की पुजारिन थी। उनकी प्रेमानुभूति में जायसी की भाति व्यापकता भले ही न हो निगूढता कम नही थी। गोपियो के प्रेम मे व्यापकता है, मीरा के प्रेम में गम्भीरता, गोपिया प्रेयसी है मीरा पत्नी, मीरा का प्रेम प्रेम है गोपियो का प्रेम रूपासक्ति।

रसखान का कृष्णभक्त कवियो में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ लोगो का विचार है कि इनका जन्म पिल्हानी में हुआ था और इनका पुराना नाम सैयद मुहम्मद इब्राहीम था। प्रेम वाटिका के एक दोहे से ज्ञात होता है कि इनका सम्बन्ध बादशाही घराने मे था। कहा जाता है कि ये अपने प्रारम्भिक जीवन मे बडे विषयी तथा कामुक थे और भगवान् का चित्र देखकर इन्हे भगवान् की ओर आकर्षण हुआ था। प्रेम वाटिका के एक दोहे से ज्ञान होता है कि इनकी प्रेमिका मानिनी थी। अतएव उससे विरक्त हो, ये भगवान् की भक्ति मे लीन हुए थे। "२५२ वैष्णवन की वार्ता" के अनुसार इनका प्रेम एक साहूकार के लडके से था। बाद में विरक्त होकर ये भगवान् की ओर आकृष्ट हुए थे। इनकी दो पुस्तकें उपलब्ध होती है—प्रेम-वाटिका तथा सुजान-रसखान। प्रथम पुस्तक मे दोहे है और दूसरी में कवित्त-सवैये। इनकी कविता में प्रेम टपकता है। यद्यपि ये वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे तथापि उस सम्प्रदाय की इनकी रचनाये नही है। इन्होने भगवान् के बाल रूप का कही वर्णन नहीं किया है। रसखान ने मुरली-मनोहर की मधुर मुरली का शब्द अपने अन्त करण से नही किन्तु बाह्य श्रवणो से सुना था। उन्होने वृन्दावन-विहारी की बाकी झाकी भौतिक चक्षुओ से देखी थी, केवल दिव्य चक्षुओ से नही। इनकी कविता में राधा कृष्ण प्रेम, मुरली के प्रति सपत्नी-भाव, सखी तथा दूती सम्वाद, रास और विलास तथा व्यंग्य और तानो का पर्याप्त वर्णन है। सखियो की कुब्जा के प्रति ईर्ष्या-भाव का भी पर्याप्त वर्णन है, इनकी भाषा बडी मनोहर तथा परिमार्जित है। भाव सच्चे तथा हृदयस्पर्शी है। मुसलमान होते हुए भी रसखान ने भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम की जो व्यजना की है वह हिन्दी साहित्य की अमर सम्पत्ति है इसमें सदेह नही।

राधा वल्लभ सम्प्रदाय के द्वारा भी कृष्ण भक्ति का पर्याप्त विस्तार हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे हितहरिवश। कहते हैं कि राधा ने स्वप्न में इनको नया सम्प्रदाय चलाने का आदेश दिया था। ये तथा इन की शिष्य परम्परा के अनेक कवि कृष्ण काव्य रचना में प्रवृत्त हुए और इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया। इनके शिष्यो में ध्रुवदास का विशेष महत्त्व है।

मुक्तक काव्य परम्परा की अमरनिधि इसी कृष्ण काव्य में सुरक्षित है। हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, उच्च वर्ण के हिन्दू तथा शूद्र और अछूत सभी प्रकार के व्यक्तियो ने इस काव्य धारा को कृतार्थ किया था। इस काव्य धारा की महत्ता से आकृष्ट होकर गोस्वामी तुलसीदास को भी कृष्ण गीतावली लिखनी पडी। रहीम, केशव, गग इत्यादि हिन्दी के उच्चकोटि के कवियो ने सामान्य शृ गार धारा के साथ कृष्ण काव्य का भी स्थान-स्थान पर समावेश किया था। किन्तु इन्हे हम भक्त कवियों तथा महात्माओ में स्थान नही दे सकते। कारण यह है इन कवियों की कविताये भक्ति भावना से प्रवृत्त नही हुई थी अपितु परम्परा निर्वाह मात्र के उद्देश्य से लिखी गयी थी। इस काव्य धारा के अन्य प्रमुख कवियो में सूरजदास, मदन-मोहन, 'युगल शतक' के लेखक श्री भट्ट, स्वामी हरिदास जी, गदाधर भट्ट, गोविन्द दास इत्यादि का नाम लिया जा सकता है।

(इ) आलम्बनेतर विषयक काव्यकार

सगुण भक्ति धारा की दो प्रमुख धाराये राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी रही है। इनमें राम-काव्य का माध्यम प्रबन्ध रहा और कृष्ण काव्य का मुक्तक। इसी प्रकार कवियो ने राम के लोक रक्षक रूप के दर्शन किये और कृष्ण के लोक रजक रूप को अपनाया। जहा हमें कृष्ण के प्रसंग में कोमल और मधुर भावनाओ के दर्शन होते है तथा कृष्ण का प्रेममय रूप हमारे सामने आता है वहां राम का मर्यादा-पालक रूप ही काव्य का विषय बना है। किन्तु राम काव्य परम्परा में भी थोडी बहुत मुक्तक रचना हुई है। जहा गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रबन्ध-काव्य में प्रमुख स्थान है वहा उन्होने सफल मुक्तक भी पर्याप्त मात्रा में लिखे है। उनकी कृष्ण गीतावली का उल्लेख किया जा चुका है। राम के विषय में उन के रसात्मक मुक्तक सग्रह है राम गीतावली, राम लला नहछू और बरवै रामायण। यद्यपि इन ग्रन्थो का सकलन कथा सूत्र के आधार पर किया गया है तथापि ये है सब मुक्तक-रचनाओ के सकलन ही। गोस्वामी जी ने समय-समय पर जिन पद्यो या गीतो की रचना की उन्ही को कथा सूत्र के आधार पर सकलित कर दिया। इसी कारण इन ग्रन्थो में कथा का सक्षिप्त संकेत मात्र पाया जाता है। रचना अव्यवस्थित है। परिमाण भी नियमित नही। कथा भाग भी उच्छिन्न सा ही है। अतएव ये ग्रन्थ मुक्तक सग्रह ही माने जाते है प्रबन्ध काव्य नही।

गीतावली में गीतो का सकलन है और कवितावली में कवित्त तथा सवैय्यों

का। इस विषय में गोस्वामी जी ने अपने समय की प्रचलित परम्परा का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व किया है। उस समय कृष्ण काव्यके प्रसग में गीत लिखे जाते थे तथा उन में कोमल भावनाओ का चित्रण होता था और राज दरबारो में कवित्त-सवैया में प्रशस्तिया लिखी जाती थी जिन मे वीरता का वर्णन होता था। इसी आधार पर गीतावली में राम चरित्र के कोमल भावो का प्राधान्य है और कवितावली में कठोर भावो को प्रमुखता प्रदान की गई है।

गीतावली में कृष्ण-काव्य का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। कुछ गीत केवल नाम परिवर्तन के साथ सूर सागर से ज्यो के त्यो उठा कर रख दिये है। इस में राम की बाल लीला का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यद्यपि होली, चाचर इत्यादि घटनाये राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप के अनुकूल नही पडती फिर भी जान बूझ कर उनकी योजना चित्रकूट के वर्णन मे तथा उत्तर काड में की गयी है। बाल काण्ड में राम के सौन्दर्य वर्णन की प्रधानता है। प्रारम्भ में राम के बाल सौन्दर्य का वर्णन है और अन्त में जनकपुर की स्त्रियो का आकर्षण दिखलाया गया है। अयोध्या काण्ड में भी मार्ग में स्त्रियो का आकर्षण ही दिखलाया गया है अन्य वर्णन प्राय. उपेक्षित से है। कृष्ण काव्य से साम्य स्थापित करने के उद्देश्य से ही चित्रकूट में चाचर और होला के वर्णनो की योजना की गई है। अरण्य काण्ड मे कथा विस्तार की सर्वथा उपेक्षा है। केवल गीध और शवरी का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस काण्ड में करुण रस का अच्छा परिपाक है। किष्किन्धा काण्ड में शृंगार, वीर, रौद्र तथा शान्त रसो को लेकर गीतो की रचना की गई है। सीता के वियोग शृंगार का अच्छा चित्रण है। वाटिका विध्वस तथा लंका दहन की प्रधान घटनाये छोड दी गई है। लका काण्ड में युद्ध का वर्णन बहुत कम है। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर करुण रस का परिपाक हुआ है। उत्तर काण्ड में राम कथा के साथ राम का विलास, हिडोला, नखशिख इत्यादि का वर्णन कृष्ण काव्य से प्रभावित है। गीतावली में कोमल रसो की ही प्रधानता है। इस में हमें तुलसी की मधुर अनुभूति तथा गीति काव्य के अनेक गुणो के दर्शन होते है।

जिस प्रकार गीतावली में कोमल स्थल छाटे गये है उसी प्रकार कवितावली में कठोर स्थलो का पर्याप्त विस्तार है। इस में राम के ऐश्वर्य और शक्ति का ही प्रधानतया वर्णन किया गया है। किन्तु राम के सौन्दर्य का भी यथास्थान वर्णन कर दिया गया है। राम के बाल रूप तथा वन गमन में मार्ग के वर्णन में शृगार तथा कोमल रसो का भी वर्णन है। वीर, रौद्र भयानक, बीभत्स जैसे कठोर रसो के अनुकूल प्रकरणो का अधिक विस्तार है। लका दहन और युद्ध वर्णन इस सग्रह में पर्याप्त मात्रा में आये है। भयानक रस का भी इसमें अच्छा परिपाक है।

रामलला नहछू में स्त्रियों के गाने के गीत हैं। इसका राम कथा से कम सामान्य वर-वर्णन से अधिक सम्बन्ध है। इस में नाइन, वारिन, मालिन इत्यादि का

शृंगार वर्णन किया गया है और राजा दशरथ का उनके प्रति आकर्षण दिखलाया गया है। ये सब मर्यादा के विपरीत है। तथापि विवाह इत्यादि में इतना वर्णन क्षम्य ही माना जाता है। बरवै रामायण में बरवै छन्दो में राम कथा कही गयी है। यह ग्रथ स्फुट रचना के रूप में लिखा गया है। प्रबन्धात्मकता का ध्यान भी नही रखा गया है। राम जन्मादि का वर्णन ही नही है। बाल काण्ड में सीता सौन्दर्य तथा स्वयवर का ही वर्णन किया गया है। उत्तर काण्ड में शान्त रस की रचनाये है। यदि उत्तर काड को छोड दिया जाये तो सम्पूर्ण ग्रथ अलकार निरूपण की दृष्टि से लिखा हुआ ज्ञात होता है।

राम को आलम्बन मान कर मुक्तक रचना करने वाला कोई और प्रसिद्धकवि दृष्टिगत नही होता। केवल नाभादास जी के कुछ पद प्राप्त हुए है, जिनका निर्देश आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में किया है। राम के अतिरिक्त निर्गुण ब्रह्म को भी प्रेम का आलम्बन बनाने वाले कबीर, दादू, नानक इत्यादि बहुत से सन्त कवि हुए है। किन्तु एक तो ये कवि प्राय अशिक्षित थे तथा सत्सग के बल पर ही थोडा बहुत ज्ञानोपार्जन कर उपदेश देने लग गये थे। दूसरे बिहारी के समय तक पहुचते-पहुचते उनकी परम्परा समाप्तप्राय हो चुकी थी। इन कवियो की वाणी प्राय अटपटी है और काव्यशास्त्र की दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण नही है। निर्गुण को प्रेम का आलबन बनाना अशक्य भी है। यही कारण है कि बिहारी पर इनका प्रभाव बिलकुल नही पडा। अतएव यहा पर उनका विवेचन प्रसग-बाह्य समझ कर छोड दिया गया है।

(ई) पुरानी परम्परा के कवि

ऊपर जिन कवियो का उल्लेख किया गया है वे भक्त और महात्मा कवि थे तथा आराध्य देव की मधुर तथा कोमल लीलाओ मे आनन्द लेते थे। किन्तु इस काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए है जिन्हे महात्मा तथा भक्त कवि की सज्ञा नही प्राप्त हो सकती, जो भक्ति के क्षेत्र से बाहर रह कर ही कविता करते थे। ये कवि हाल के समय से चली आती हुई उस परपरा को जीवित रखे हुए थे जिस मे कल्पित नायक-नायिका की प्रेमलीला का रसास्वादन किया जाता था, जिसमे वर्णित घटना भी कल्पित ही होती थी और जो किसी भी नायक और नायिका के विषय में लागू हो सकती थी। विशिष्ट आलबन और विशेष रूप मे राधा-कृष्ण को लेकर रचना करने की उस समय की सामान्य प्रवृत्ति थी। अतएव ये कवि भी जहा-तहा राधा-कृष्ण का नाम निर्देश कर देते थे और कभी-कभी कृष्ण की विशिष्ट लीलाओ का भी वर्णन किया करते थे। तथापि इन्हे कृष्ण-भक्त कवियो का स्थान नही दिया जा सकता। कारण यह है कि एकतो कृष्ण सबन्धी इन की रचना परिमाण मे इतनी न्यून है कि इनको कृष्ण-भक्त कवियो में स्थान दिला ही नही सकती तथा परपरा पालन का उपचारमात्र रह जाती है। दूसरे कृष्ण-भक्तो के क्षेत्र मे आने के लिये

जिस साधनामय जीवन की आवश्यकता थी और जो त्याग-तपस्यामय जीवन कृष्ण-भक्त कवियो का था उसका इन में अत्यन्ताभाव है। यही कारण है कि इन कवियो को भक्त कवियो की कोटि में न रख कर आचार्य शुक्ल ने सामान्य भक्तिकाल के फुटकर कवियो की कोटि में रखा है। ऐसे कवियो में प्रमुख है गग, रहीम, सेनापति और केशव।

(१) **गंग** अकबरी दरबार के कवि थे। उनका साहचर्य रहीम, वीरबल, मानसिंह इत्यादि से था। ये इकनौर जिला इटावा के रहने वाले ब्रह्म भट्ट थे। इनकी अकबर के दरबार में पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। कहा जाता है कि रहीम की प्रशसा में इन्होंने एक छप्पय लिखा था जिस पर प्रसन्न होकर रहीम ने इन्हे ३६ लाख रुपये का पारितोषिक दिया था। इसी प्रकार मानसिंह और वीरबल से भी ये पुरस्कृत हुए थे। इन्होने अकबर के पुत्र और रहीम के दामाद दानियाल शाह की भी प्रशसा की है। ये जहागीर के समय तक जीवित रहे और अपने जीवनकाल में इन्होने अनेक उत्थान-पतन देखे। एक राजा की आज्ञा से इन्हे हाथी के पैर से कुचलवाकर मार डाला गया था।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट (स० १९३२-३४) में गग रचित तीन पुस्तको का उल्लेख किया गया है—गग पदावली, गग पचीसी और गग रत्नावली। गग पदावली में सात सौ इकतीस पद्य बतलाये जाते है और गग रत्नावली में १४सौ। इसके अतिरिक्त याज्ञिक सग्रहालय में भी गग के कुछ पद्य सुरक्षित हैं। किन्तु अभी तक इनका कोई प्रामाणिक सस्करण प्रकाशित नही हुआ है।

गग ने विभिन्न विषयो में कविता की है—भक्ति भावना, राम कृष्ण महिमा, गगा यमुना वर्णन, भक्ति भाव की अनन्यता तथा व्यग्रता इनके छन्दों के विषय हैं। किन्तु कवि का विशेष रूप में प्रिय विषय शृगार के सयोग और वियोग पक्ष हैं। कवि ने शृंगार के अन्तर्गत नख-शिख वर्णन स्वतन्त्र रूप में किया है जो सर्वथा स्वतन्त्र है और उस पर सूर के समान न तो भगवद्-भक्ति की छाप है न जायसी के समान रहस्य भावना ही व्यक्त की गई है। इनके प्रकृति वर्णन अधिकतर उद्दीपन रूप में हैं। इस प्रकार गग की कविता स्वाभाविक, सुन्दर और चित्ताकर्षक है। कवि ने लाक्षणिक और व्यग्यात्मक शैली को भी अपने काव्य में स्थान दिया है। कही-कही इन्होने समस्या पूर्ति भी की है। इनमें अलकारो का स्वाभाविक समावेश हुआ है। उक्ति-वैचित्र्य और कल्पना-वैचित्र्य भी इनमें पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। संयोग-वियोग वर्णन में कही-कही राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण का भी उल्लेख कर दिया गया है।

(२) **रहीम** बैराम खा खानखाना के पुत्र थे। रहीम की ४ वर्ष की आयु में ही बैराम खा को एक पठान ने कत्ल कर दिया था। बाद में अकबर ने ही इनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। कहा जाता है कि इन्होंने ११ वर्ष की आयु से ही

ग्रन्थ रचना प्रारम्भ कर दी थी। अकबर ने अपनी धाय की पुत्री से इनका विवाह करा दिया था तथा अनेक प्रतिष्ठित पद प्रदान किये थे। ये बडे वीर थे। इन्होंने अनेक किले जीते थे। रहीम की कार्यकुशलता, योग्यता और बुद्धिमत्ता से प्रभावित होकर अकबर ने इन्हे अजमेर की सूबेदारी और रणथम्भौर का किला प्रदान किया था। अकबर के बाद जहागीर ने भी इनका वैसा ही सम्मान रखा। किन्तु अन्तिम समय में उत्तराधिकार के सघर्ष में इनका नूरजहा से मतभेद हो गया। नूरजहा अपने दामाद शाहजादा शहर्यार को बादशाह बनाना चाहती थी और इन्होने खुर्रम (शाहजहा) का समर्थन किया था। इस पर रुष्ट होकर जहागीर ने इन्हे अपदस्थ कर दिया। तब इन्हे बडी आर्थिक विषमता का सामना करना पडा। बाद मे रहीम के क्षमा-प्रार्थना कर लेने पर इन्हे दुबारा खानखाना का पद दिया गया और कन्नौज की सूबेदारी भी प्रदान की गई। रहीम में बहुत बडे गुण थे। वे बडे बुद्धिमान् और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। इन्हे अनेक भाषाओ तथा शास्त्रो का ज्ञान था। इन्होने हिन्दू शास्त्रो का भी पर्याप्त मनन किया था। हिन्दी में अनेक कवियो ने इनकी दानशीलता, लोकप्रियता और काव्य-प्रेम का परिचय दिया है। इनके दान के पात्र सर्वदा हिन्दी के कवि ही थे। अतः हिन्दी के कवियो ने जैसी इनकी प्रशसा की है वैसी फारसी कवियो ने नही की।

रहीम के कई सग्रह प्रकाशित हुए है जिनमें रहिमन, विलास, रहिमन, विनोद, रहीम-कवितावली, रहीम-चन्द्रिका, रहीम-रत्नावली इत्यादि प्रमुख है। रहीम रत्नावली मायाशकर याज्ञिक द्वारा सकलित की गई है और इसमे रहीम कृत सभी पुस्तको का समावेश है। रहीम का बरवै नायिका भेद सर्वाधिक प्रसिद्ध है। जो पुस्तके उपलब्ध होती है उनमें मतिराम के दोहे भी सम्मिलित है जिससे इस पुस्तक में पूर्णता आ गई है। इसके अतिरिक्त रहीम के १०१ बरवै और पाये जाते है। यह रचना बरवै नायिका भेद से अधिक प्रौढ है। इनकी एक और पुस्तक मदनाष्टक है, जिसमें सस्कृत मिश्रित खडी बोली में रचना की गई है। एक रचना नगर वर्णनपरक भी है जिसमें शृगारिक भावना का परिचय मिलता है। इसमें अनेक जाति की कैथिन, जौहरिन, बारिन, रगरेजिन इत्यादि का वर्णन है। सम्भव है इसके लिखने में कवि को मीना बाजार से प्रेरणा प्राप्त हुई हो। बरवै नायिका भेद में नायिका के स्वकीया, प्रोषितपतिका, उत्तमा, मध्यमा इत्यादि भेदो के साथ नायको के भेद भी दिये गये है। इसके अतिरिक्त इसमें स्वप्न इत्यादि दर्शन-भेद, सखी-कर्म, शिक्षा-उपालम्भ, परिहास इत्यादि का भी वर्णन सम्मिलित है। फुटकर छन्दो में शृगार रस और विशेष कर विरह का वर्णन मिलता है। इस वियोग वर्णन पर बारहमासा की छाप प्रतीत होती है। इसमें विरहिणी की दीन दशा का सजीव चित्रण हुआ है। बरवै छन्दो मे व्यक्त विरहकी भावना उत्कृष्ट कला की द्योतक है। मदनाष्टक पुस्तक में कृष्ण की मुरली का व्यापक प्रभाव, गोपियो की विह्वलता, कृष्ण के रूप सौन्दर्य द्वारा उद्दीप्त गोपियों की

तीव्र आकांक्षा का वर्णन किया गया है। यह सम्पूर्ण वर्णन विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत स्मृति सचारी के रूप में हुआ है। गोपियो का प्रेम कृष्ण के वशीनाद, मधुर चाल, रूप माधुरी इत्यादि से उद्दीप्त हुआ है। इनके पदों में कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन मधुर भाषा में हुआ है। भाव और भाषा दोनों दृष्टिकोणों से ये पद सूर से मिलते है। कवित्त-सवैय्यो में भी कृष्ण के बाल रूप, गुण-कथन इत्यादि का वर्णन है और सोरठों में भी शृंगारिक वर्णन आया है।

(३) सेनापति के लिखे दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—काव्य कल्पद्रुम और कवित्त-रत्नाकर। काव्य कल्पद्रुम अभी प्रकाश में नही आया है। कवित्त रत्नाकर में पूर्ण छन्दों की सख्या ३९४ है पर कुछ में पुनरुक्ति है।

कवित्त-रत्नाकरकार ने रस ध्वनि को अपना लक्ष्य माना है, किन्तु पुस्तक पढने से प्रतीत होता है कि कवि अपने लक्ष्य में सफल नही हो सका। अलकारो की ओर कवि की विशेष प्रवृत्ति लक्षित होती है और चमत्कार-विधान ही कवि का मुख्य साध्य बन गया है; यहा तक कि कवि ने अपने पहले प्रकरण को श्लेष वर्णन की सज्ञा प्रदान की है। श्लेष का बहुतायत से प्रयोग किया गया है। इस पुस्तक में शृगार, वीर, रौद्र, भयानक तथा शान्त रस सम्बन्धी कविता दी गई है। स्वभावत अन्य रसो की अपेक्षा शृंगार का बाहुल्य है। शृंगार के आलम्बन नायक-नायिका का वर्णन थोडा होते हुए भी सजीव है। कवि ने अपनी रुचि के अनुसार कतिपय नायिकाये चुन ली है और उन पर कवित्त लिखे है, जो थोडे-बहुत अच्छे बन पडे है। कवि ने क्रिया विदग्धा और वचन विदग्धा के उदाहरणो में व्यजनाओ का अच्छा परिचय दिया है। पर सेनापति ने ऐसे अवसर पर श्लेष से काम चलाया है। श्लेष में कही-कही अश्लीलता भी आ गई है। सेनापति ने परकीया का वर्णन अधिक किया है, पर स्वकीया का महत्त्व अक्षुण्ण रखा है। उद्दीपन विभाव के रूप में नख-शिख का वर्णन किया गया है किन्तु उनमें प्रचलित उपमानो का ही वर्णन पाया जाता है। सेनापति का ध्यान सयोग शृगार की अपेक्षा वियोग शृगार की ओर अधिक है। उनका विरह-वर्णन प्रधानतया प्रवासहेतुक और विरहहेतुक है। ईर्ष्याहेतुक भी वियोग पाया जाता है। विरह वर्णन में अस्वाभाविक उक्तिया कम कवित्तो में पाई जाती है अधिकतर स्वाभाविक उक्तिया ही है। विरह के उद्दीपन के लिये ऋतु वर्णन से विशेष सहायता ली गई है। ऋतु वर्णन स्वतन्त्र रूप में भी किया गया है। विरह वर्णन में सचारियो का वर्णन अधिक नही है। राम कथा पर जो कवित्त लिखे गये है, उनमें वीर रस की प्रधानता है। सेनापति युद्ध वर्णन में इतने प्रवृत्त नही हुए है जितने तैयारी के वर्णन में। भयानक रस भी दो-तीन छन्दो में पाया जाता है।

(४) केशव पर सस्कृत साहित्य का बहुत बडा प्रभाव परिलक्षित होता है। केशव सस्कृत साहित्य के पडित अवश्य थे। परन्तु जिस सस्कृत साहित्य का उन पर अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पडा वह पिछले काल का था जबकि सस्कृत साहित्य के पतन

के दिन थे। भावो की वह गम्भीरता, हृदय की विशालता जो सस्कृत के पुराने कवियों में थी, इन पिछले कवियो में न रह गई थी। भाव-गम्भीरता के स्थान मे शाब्दिक चमत्कार तथा अलकार योजना के वैचित्र्य को महत्त्व दिया जाने लगा था। संस्कृत के साहित्य से तथा अपने आसपास की परिस्थितियो से प्रभावित होकर उन्होने लिखना प्रारम्भ किया था। केशव की अपनी रुचि भी गम्भीरता की ओर उतनी न थी। वे स्वय भी चमत्कार विधान को अधिक महत्त्व देते थे। केशव की भाव व्यजना मे एक बहुत बडा दोष यह है कि उन्होने भाव को स्वशब्द-वाच्य बना दिया है। हास्य रस तथा बीभत्स रस इत्यादि में स्वशब्द-वाच्यता एक दोष माना जाता है। पर केशव ने इस बात का ध्यान नही रक्खा है। दूसरी बात यह है कि इन्होने शृगार को रसराज सिद्ध करने में सभी रसो का समावेश शृगार रस मे दिखला दिया है। कुछ रस तो शृगार के विरोधी है और उनका साहचर्य भी उचित नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त इन्होने शृगार के बडे ही निम्न चित्र खीचे है। परकीया नायिका को शृगार का आलम्बन बनाना एक दोष माना गया था। किन्तु इस दोष से बचने के लिये कृष्ण चरित्र में पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। लौकिक तथा स्थूल दृष्टि से नायिका यद्यपि परकीया थी, किन्तु जीव ब्रह्म के पारमार्थिक प्रेम का प्रतीक होने के कारण-गोपी कृष्ण प्रेम दोष नही माना गया था। किन्तु केशव का राधा-कृष्ण प्रेम दोष की सीमा तक पहुच जाता है। बलराम की वर्षगाठ के अवसर पर सभी स्त्रिया आमोदप्रमोद में लगी हुई है। उस समय राधा-कृष्ण के एकान्त विहार तो कोई बडी बात नही किन्तु जब गाव मे आग लगी हो, चारो ओर त्राहि-त्राहि मच रही हो उस समय कृष्ण का राधा को चम्पा की माला के समान हृदय में लगाना और स्वच्छन्द विहार करना केशव की ही समझ में समीचीन हो सकता है।

कही-कही पर भावाभिव्यक्ति उच्च कोटि की बन पडी है और कल्पनाये भी अच्छी है। इस से ज्ञात होता है कि इन्हे कवि-हृदय प्राप्त था। परन्तु ये व्यजना अथवा ध्वनि को अच्छे काव्य का अ ग नही मानते थे। इसी लिये हृदय के गम्भीर भावो के उद्घाटन तथा अभिव्यजन की आवश्यकता उन्हे प्रतीत नही हुई। साहित्य में अलकारो का महत्त्व अवश्य है पर जब वे इतने प्रभावशाली हो जाते है कि भावो को पैर टेकने का स्थान भी नही मिलता, तब वे काव्य को उच्च आसन से पतित कर देते है।

केशव ने बारहमासा, षड्ऋतु, समुद्र, पृथ्वी इत्यादि का भी वर्णन किया है। १२ महीनो का वर्णन आक्षेप अलकार के उदाहरणो मे किया गया है। प्रत्येक मास मे कोई न कोई नायक परदेश जाने को उद्यत है। उसकी प्रेयसी उसे कोई न कोई बहाना बना कर रोकती है। केशव के अलकारो में चाहे उतनी सहृदयता न मिलती हो परन्तु यह मानना पडेगा कि उनकी सूझ व प्रतिभा विस्तृत तथा गम्भीर थी। एक-एक दृश्य को लेकर उत्प्रेक्षा, सदेह और रूपक की लडी सी बाध देते थे। केशव का स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत महत्त्वपूर्ण है इसमे सदेह नही।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त इस परम्परा में और भी अनेक कवि हुए है। अकबर का राज्य काल इस प्रकार के कवियों से भरा पूरा था। करणेश के करणाभरण, श्रुति भूषण और भूप भूषण इसी काल की रचना है। नरहरि कवि ने भी अन्य विषयों के साथ रूप सौन्दर्य, गोपी विरह, राधा कृष्ण प्रेम इत्यादि विषयों पर कुछ पद्य लिखे थे। ब्रह्म कवि या राजा वीरबल का अकबर से सम्बन्ध प्रसिद्ध है। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय के छीतस्वामी का शिष्यत्व अंगीकार किया था। इनके रसात्मक पदों में बाल लीला, मान, सयोग-वियोग शृंगार, मुरली माधुर्य, राधा कृष्ण केलि, रास, कृष्ण प्रवास, गोपी विरह इत्यादि का वर्णन पाया जाता है। कहीं-कहीं प्रकृति चित्रण भी किया गया है। इन्होंने इत्र, फुलेल, आभूषण इत्यादि का पर्याप्त वर्णन किया है और इनकी रचनाओं में विपरीत रति का वर्णन पाया जाता है। इनकी ब्रज भाषा परिष्कृत है और भाव उच्च कोटि के है।

दूसरी ओर विदेशी परम्परा में भी साहित्य रचना हो रही थी। खडी बोली को उर्दू का नाम दे दिया गया था। उसमें भेदक तत्व अरबी फारसी के शब्दों का बहुत प्रयोग ही था। इसके अतिरिक्त काव्य मे सारा वातावरण, सारे अप्रस्तुत विधान, और समस्त आदर्श विदेशी ही अपनाये गये थे। कविता में सभी पुराने विषय रखे जाते थे केवल रचना कौशल ही उसमे नवीनता का सचार करने वाला होता था। इस काव्य की विशेषतायें थी—अत्युक्ति, रचना कौशल, विरोधालकार, अनुप्रास इत्यादि का बहुल प्रयोग। इस कविता में शृंगार का पोषण, बीभत्स के द्वारा भी किया जाता था। प्राय दिल के कतरे, खून, मास इत्यादि का वर्णन होता था।

ऊपर रसात्मक मुक्तक परम्परा का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। उससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है —

(१) रसात्मक मुक्तक परम्परा को तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है —प्रकृति काल, प्राकृत काल और भक्ति काल।

(२) इस परम्परा के प्रारम्भिक काल मे प्रकृति पर मानव-भावनाओं का आरोप कर उसे रसास्वादन का विषय बनाया जाता था। ये भावनायें कोमल भी होती थी और कठोर भी।

(३) वैदिक युग के अन्तिम चरण मे मानव-भावनायें प्रत्यक्ष रूप मे रस-निष्पत्ति का विषय बनने लगी थी। किन्तु प्रधानता प्रकृति-काव्य की ही रही।

(४) धीरे-धीरे आलम्बन के रूप मे प्रकृति-वर्णन तिरोहित हो गया और उसका उपादान उद्दीपन अथवा अलकार के रूप मे रह गया।

(५) हास के समय से काव्य की दिशा बदल गई। प्राकृत-जनविषयक रति काव्य का प्रधान विषय बन गई। कल्पित नायक-नायिकाओं के कल्पित क्रिया-कलापों का वर्णन किया जाने लगा जो कि किसी भी व्यक्ति के विषय मे घट सकता था।

(६) नायक, नायिका, दूती, सहायक, विभिन्न चेष्टायें, सहकारी भाव इत्यादि का एक निश्चित पद्धति पर वर्णन होने लगा जिसका विस्तृत विवेचन काव्य-शास्त्र में किया गया।

(७) इस काल में कामसूत्रो के आधार पर भावनाओं के घात-प्रतिघात दिखलाये जाते थे।

(८) ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के अन्त में धार्मिक सघर्ष तथा विदेशियो के प्रवेश के फलस्वरूप नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। महापुरुषो के उपदेशो को पालन करने के स्थान पर उनके प्रति श्रद्धा रखने में ही जगत् अपनी इतिकर्तव्यता का अनुभव कर रहा था।

(९) बौद्ध धर्म शाखाओ-प्रशाखाओ मे बट गया था और सर्वसाधारण को स्वधर्म दीक्षा देने की झोक में अनेक प्रकार के अनाचार समाज में प्रविष्ट हो गये थे।

(१०) मुसलमान धर्म की प्रेम -साधना का भारतीय धर्म-साधना पर पर्याप्त प्रभाव पडा था।

(११) दक्षिण के अनेक विद्वान् महात्माओ ने दार्शनिक पद्धति पर परमात्म-तत्व का विवेचन किया था और शकर के मायावाद के प्रतिरोध के लिये अनेक सप्रदाय उठ खडे हुए थे।

(१२) रामानुज, माध्व और निम्बार्क ने किसी न किसी रूप में भेदवाद की स्थापना कर भक्ति मार्ग को प्रशस्त बना दिया था।

(१३) परिस्थितियो के प्रसाद के रूप में कृष्ण-भक्ति का आविर्भाव हुआ था।

(१४) कृष्ण-भक्ति शाखा के दो रूप पाये जाते है—कुछ कवि नाम मात्र को ही कृष्ण और राधा का नाम जोड देते थे। उनका शृगार वर्णन सर्वसाधारण का ही शृगार होता है। इसके प्रतिकूल कुछ कवि कृष्ण चरित्र की विशिष्ट परि-स्थितियो का भी समावेश कर देते है।

(१५) कृष्ण-काव्य के रूप मे नायक-नायिका निरूपण चल पडा था। कृष्ण सौन्दर्य वर्णन मे नख-शिख की परपरा चल पडी। कृष्ण की रासलीला, होली, चाचर इत्यादि को लेकर ऋतु वर्णन तथा बारहमासा चल पडा। इस प्रकार कृष्ण काव्य के रूप में रीतिशास्त्र का परिशीलन प्रारम्भ हो गया था।

(१६) कृष्ण के चरित्रो में बाललीला और किशोरलीला ही मुख्य है। भ्रमर गीत तथा रास की प्रधानता है।

(१७) कुछ कवियो ने कृष्ण की लीलाओ से आनन्द न लेकर उन्हे अपने प्रेम का आलबन बनाया और भगवान् को अपने प्रियतम के रूप में देखा। मधुरा भक्ति के साथ वात्सल्य, सख्य, दास्य इत्यादि प्रकार की भक्ति भी की गई।

(१८) कृष्ण-भक्ति पर पुष्टि मार्ग का विशेष प्रभाव पड़ा।

(१९) राम भक्ति शाखा प्रबन्धात्मकता के अनुकूल ही रहा। इस मे मुक्तक रचना अधिक नही हुई।

(२०) निर्गुण ब्रह्म के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति भी सप्रदाय विशेष की विशेषता रही। पर बिहारी के समय तक आते-आते उस का लोप हो गया था।

(२१) कृष्ण भक्ति परपरा के साथ ही पुरानी परपरा में भी कविता होती रही। उसका अत्यन्ताभाव कभी नही हुआ।

(२२) इस काल के शृगारिक काव्य में अधिकतर आध्यात्मिकता का पुट पाया जाता है। दार्शनिकता प्राय: सर्वत्र दृष्टिगत होती है।

(२३) दूसरी ओर मुगल दरबारो में उर्दू कविता को महत्त्व दिया जाता था जिसमें सारा वातावरण विदेशी था और अत्युक्ति तथा वियोग शृगार के पोषण में बीभत्स का प्रयोग जिसके विशेष गुण थे।

यही रसात्मक मुक्तक परपरा का सक्षिप्त परिचय है।

अध्याय—३

रसेतर मुक्तक

(१) धार्मिक मुक्तक

धार्मिक मुक्तक परम्परा का मूल स्रोत हमे ऋग्वेद मे ही समुपलब्ध होता है। ऋग्वेद मे हमे दोनो प्रकार के धार्मिक मुक्तक प्राप्त होते है—स्तोत्र रूप में भी और सिद्धान्त प्रतिपादन सम्बन्धी भी। यास्क ने धार्मिक दृष्टि से वैदिक साहित्य को जो तीन भागो में विभक्त किया था भारतीय धार्मिक जगत् में यह परम्परा सदा अपना अधिकार बनाये रही और उनके प्रवृति-निमित्त भी सर्वदा वही रहे जो यास्क ने स्थापित किये थे। परवर्ती स्तोत्रो में भी कही देवताओ की लोकोत्तर महत्ता, कही उनसे लौकिक तथा पारलौकिक सुख-भोग की याचना और कही आध्यात्मिकता दृष्टिगत होती है। वैदिक स्तोत्रो में जिस प्रकार प्रस्तुत देवता की महत्ता के प्रतिपादन में अन्य देवो के प्रति हीन भावना अभिव्यक्त की गई है और अन्य देवों को प्रस्तुत देव का वशवर्ती सिद्ध करने की चेष्टा की गई है तथा किसी अन्य देव के प्रस्तुत होने पर इस देव को भी साधारण कोटि मे सन्निविष्ट कर दिया गया है[1] ये ही सब बाते हमें पौराणिक देवो के प्रति प्रयुक्त स्तोत्रो में भी दृष्टिगत होती है। महत्ता की स्थापना में एक बहुत बडा अन्तर यह पड गया कि इन पौराणिक स्तोत्रो में यथास्थान उन समस्त दार्शनिक विचारो की छाप पाई जाती है जिनका विकास कुछ तो वैदिक काल के परवर्ती युग में उपनिषत्साहित्य के प्रभाव से हुआ था और कुछ बाद मे सूत्र ग्रन्थो की परम्परा के कारण इस विचारधारा ने प्रसार प्राप्त किया था। यह भी एक कारण था जिससे प्राकृतिक तत्वो मे उद्भूत देवताओ का परित्याग कर तथा उन्हे गौण स्थान प्रदान कर उनमे उच्च कोटि के दूसरे देवो ने काव्य-जगत् मे पदार्पण किया। उन देवो मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश मुख्य है। इन समस्त देवो का तादात्म्य परमात्म-सत्ता अथवा परब्रह्म-सत्ता से स्थापित किया गया है। साथ ही सांख्य दर्शन द्वारा स्वीकृत प्रकृति अथवा माया भी आराध्य देवो की श्रेणी मे सन्निविष्ट हो गई। पहले तो शिव-शक्ति (शिव की अर्धांगनी) के रूप मे पूजी जाती थी किन्तु बाद में दुर्गा देवी के रूप मे उसका स्वतन्त्र विकास हो गया। सांसारिक सुखभोग की

१. Vedic Age, भारतीय विद्या भवन द्वारा प्रकाशित।

कामना से आराधक गण इसी शक्ति की उपासना करने लगे और इसका चित्रण परा मातृ-शक्ति,समस्त देवो की सगठित शक्ति तथा समस्त देवो को आश्रय देने वाली के रूप में होने लगा। तन्त्रविद्या का भी शक्ति-पूजा पर पर्याप्त प्रभाव पडा। दूसरे पौराणिक देवो में गणेश, गगा इत्यादि मुख्य है। जहा महत्ता प्रतिपादन की दिशा में आध्यात्मिकता का आरोप मुखर हो उठा था वहा याच्य वस्तुओ मे मोक्ष प्राप्ति और परलोक हित मुख्य रूप से प्रतिष्ठित हो गए थे। अब साधक-गण अपने आराध्यो से केवल लौकिक सुख समृद्धि मात्र की आशसा से ही सन्तुष्ट नही होते थे किन्तु आगे बढकर परलोक और मोक्ष की कामना करते थे। इन स्तोत्रो में प्राय· पाठ का फल स्तोत्रो के साथ में ही दे दिया जाता था। कही-कही लौकिक और पारलौकिक सुखभोग के स्थान पर देवता की ओर प्रवृत्त करने मात्र की भी कामना प्रगट की गई है।

इन पौराणिक स्तोत्रो की सख्या गणनातीत है। बहुत से स्तोत्र प्रबन्ध के अग के रूप में लिखे गये है और पौराणिक साहित्य में बिखरे पडे है। दूसरे स्तोत्र मुक्तक काव्य के रूप में भी लिखे गये है। आनन्दवर्धन के अनुसार इन स्तोत्रो का महत्त्व रसमय कविता की अपेक्षा कुछ घट कर है और अनेक स्तोत्रो के विषय मे यह बात सत्य भी है। किसी-किसी स्तोत्र में देवताओ की केवल नामावली दे दी जाती है। किन्तु कुछ स्तोत्र वस्तुत अच्छे हैं और उनमें काव्य-कौशल पर्याप्त रूप मे अधिगत होता है।

ऊपर जिन पौराणिक स्तोत्रो की बात कही गई है उनके अतिरिक्त कुछ जैन-बौद्ध स्तोत्र भी प्राप्त होते है। वस्तुत· जैन धर्म में न तो भक्ति को कोई स्थान प्राप्त हो सकता है और न इनमें स्तोत्र साहित्य का कोई अवसर है। प्रत्येक जीव विकास-क्रम मे अपनी साधना के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यह जिस प्रकार कर्म करने में स्वतन्त्र है उसी प्रकार फल भोगने में भी स्वतन्त्र ही है। "ईश्वर के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता देकर जीव को कर्म करने और फल भोगने दोनो में स्वतन्त्र बनाना जैन धर्म की अपनी विशेषता है।" न तो हमे सासारिक सुखभोग ही किसी अन्य व्यक्ति से प्राप्त हो सकता है और न कोई दूसरा व्यक्ति हमे मोक्ष ही प्रदान कर सकता है। अतएव किसी की स्तुति करना सर्वथा व्यर्थ है। किन्तु जैन साहित्य का परिशीलन करने वाला कोई भी व्यक्ति सरलतापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुच सकता है कि जैन साहित्यकारो की दृष्टि साहित्य के सभी अगो की पूर्ति की ओर रही है। जैनियो की यह एक प्रधान चेष्टा रही है कि किसी भी व्यक्ति को साहित्य के किसी भी अग का अध्ययन करने के लिये परमुखापेक्षी न होना पडे। यही कारण है कि हमे कहानी, उपन्यास, पुराण, महाकाव्य, चम्पू, नाटक इत्यादि के सभी अग जैन साहित्य मे उपलब्ध हो जाते है। सम्भवत. इसी मन्तव्य को लेकर जैन साहित्य में स्तोत्रो की रचना की गई है। एक बात और है। जैन-धर्म-प्रचार ही जैन साहित्य का मुख्य प्रवृत्ति-निमित्त रहा है। ब्राह्मण-धर्मानुयायी जन-वर्ग में पौराणिक स्तोत्रो का बडा महत्त्व

था और अनेक फुटकर स्तोत्रों का प्रचार बढ रहा था। वहां भक्ति और स्तोत्र दोनों का पूरा अवसर था। साधारण जन इन स्तोत्रो को गा कर शान्ति लाभ करता था और उसे एक सहारा सा प्राप्त हो जाता था। जैन साहित्यकारो ने स्वमतानुयायियो को इस लाभ से वचित रखना उचित नही समझा। इसीलिये जैन तीर्थङ्करो की प्रार्थना में अनेक स्तोत्रो की रचना की गई। दृढता के साथ कहा जा सकता है कि जैन धर्म में न तो समर्पण बुद्धि का कोई अवसर है न भक्ति का ही। जैन मत के अनुसार सभी प्रकार के लगाव समाप्त हो जाने चाहिये। सन्यासाग्नि में वैयक्तिक प्रेम जला दिया जाना चाहिये। किन्तु तर्क कितना ही प्रतिरोध क्यो न करे दुर्बल हृदय व्यक्ति तीर्थङ्करो के प्रति एक प्रकार की समर्पण-बुद्धि को विकसित करने के लिये बाध्य होता है एक साधारण जैन धर्मानुयायी को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उसकी नैतिक और धार्मिक अवस्था के अनुकूल एक व्यवस्था और एक परम्परा का विकास किया जाय। जब जैन धर्म अपनी जन्मभूमि (मगध) से बाहर फैलने लगा तब साधारण व्यक्ति के धार्मिक जोश को पूरा करने का प्रश्न अधिक आवश्यक हो गया। अन्यथा दूसरे धर्मों के उपासक जैन धर्म में परिवर्तित किये ही नही जा सकते थे। जिस प्रवृत्ति ने राम और कृष्ण परम्पराओ को जैन धर्म में सन्निविष्ट करने की ओर अग्रसर किया था उसी प्रवृत्ति के अनुसार स्तोत्र ग्रन्थो की रचना भी हुई। इन स्तोत्रो को हम प्रगीत मुक्तक कह सकते हैं।

सर्वप्रथम जैन साहित्यकारो की प्रवृत्ति प्राकृत में ही रचना करने की थी और ये लोग सस्कृत को सर्वदा ठुकराते रहे। किन्तु प्राकृत भाषा बोलचाल की भाषा थी। एक समय में उस भाषा के माध्यम के द्वारा जन-सम्पर्क अवश्य स्थापित किया जा सकता था। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा परिवर्तनो और परिवर्धनो के फेर में पडकर जनता का सम्पर्क खो देती है तथा विनाश की ओर अग्रसर होने के लिये बाध्य अवश्य होती है। इसीलिये ब्राह्मण धर्म के साहित्य की रचना सस्कृत में हुई थी जो स्थायी साहित्य के निर्माण के लिये एक अत्यन्त उपयुक्त भाषा थी। दूसरी बात यह भी थी कि सस्कृत सर्वसाधारण में पूज्य दृष्टि से देखी जाती थी और "सस्कृत प्रमाणम्" की भावना बद्धमूल हो चली थी। इसके अतिरिक्त अनेक राजदरबारो में आश्रय प्राप्त कर लेने के कारण सस्कृत का साहित्य भी नितान्त सम्पन्न हो गया था और प्रत्येक विषय मे उसमें रचना भी पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। सस्कृत सारे देश में बोली जाती थी। अतएव जहा प्राकृत का साहित्य एक प्रदेश विशेष की सम्पत्ति हो सकता था वहा सस्कृत का उपयोग सारे देश में किया जा सकता था। सम्भवत इन्ही कारणो से जैनियो ने प्राकृत के साथ-साथ सस्कृत का भी पल्ला पकडा। जहा अन्य विषयो के लिये सस्कृत अपनायी गई वहा इन स्तोत्रो की रचना भी अधिकतर सस्कृत में ही हुई है। किन्तु प्रादेशिक भाषाओ का भी पूर्ण बहिष्कार नही हुआ और सस्कृत के साथ-साथ प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी स्तोत्रों

की रचना होती रही। जैन धर्म की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसकी साहित्य-रचना प्रत्येक प्रादेशिक भाषा में हुई है।

जैन धर्म के स्तोत्र अधिकतर महावीर स्वामी की प्रशसा मे ही लिखे गये है। इसके अतिरिक्त दूसरे तीर्थङ्करो और जैनाचार्यों की प्रशसा में भी कुछ स्तोत्र अवश्य विद्यमान है। "कतिपय स्तोत्र केवल परम्परा निर्वाह के लिये ही लिखे गये है और कुछ इसके प्रतिकूल प्रगती मुक्तक-काव्य के रूप में प्रतिष्ठित और प्रशसित होने के अधिकारी है।" कुछ स्तोत्र बहुत छोटे हैं और कुछ पर्याप्त विस्तृत है। स्तोत्रो के अनेक सग्रह प्रकाशित हो चुके है जिनमे जैन स्तोत्र-सग्रह, स्तोत्र-रत्नाकर, पञ्च-प्रतिक्रमणादि स्तोत्राणि अधिक प्रसिद्ध है।

जो बात जैन स्तोत्रो के विषय में कही गई है वही बात बौद्ध स्तोत्रो के विषय में भी कही जा सकती है। सर्व साधारण मे धर्म-प्रसार के मन्तव्य से जैनियो और ब्राह्मणधर्मानुयायियो से होड लेकर बौद्ध साधको ने भी अनेक स्तोत्रो की रचना की। कुछ स्तोत्र ललित विस्तर इत्यादि महान् प्रबन्धो में सन्निविष्ट हो गये और फुटकर स्तोत्रो के रूप मे ही विद्यमान रहे। इसके लिये बौद्धोने भगवती तारा नामक एक देवी की कल्पना की और तारा की प्रार्थना में अनेक स्तोत्र लिखे जिनमे ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म की पद्धति का अनुसरण कर तारा की महत्ता और शरणागत-वत्सलता का प्रतिपादन किया गया है। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ब्राह्मणधर्मानुयायी स्तोत्रो में जैन तीर्थङ्करो और बौद्धो के देवताओ का उल्लेख नही मिलता जबकि जैन-बौद्ध स्तोत्रो में स्वच्छन्दतापूर्वक अपने आराध्यो से ब्राह्मण-धर्मावलम्बी देवी-देवताओ का कही-कही तादात्म्य और कही-कही अधिकता प्रतिपादित की गई है।

इस प्रकार इस समस्त स्तोत्र-साहित्य को हम तीन भागो में विभाजित कर सकते हैं.—(१) पौराणिक स्तोत्र—इनमें शिव, विष्णु, शक्ति, गणेश इत्यादि के स्तोत्र आते है और कही-कही पुरानी वैदिक परम्पराके भी कुछ अवशेष दृष्टिगत होते है। (२) जैन स्तोत्र—इनमे जैनियो के तीर्थङ्करो के प्रति लिखे हुए स्तोत्रो का समावेश होता है और (३) बौद्ध स्तोत्र—इनमें बौद्ध धर्म सम्बन्धी स्तोत्र आते है। ये स्तोत्र सख्यातीत है। किन्तु साहित्यिक दृष्टि से कतिपय प्रौढ स्तोत्रो का यहा पर परिचय दिया जाता है।

(क) पौराणिक स्तोत्र

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम हमारे सामने बाण भट्ट का चण्डी शतक आता है। बाण भट्ट कान्यकुब्जाधिपति महाराज हर्ष के सभा-रत्न थे। उनका जन्म वात्स्यायन वश में विक्रम की सप्तम शताब्दी में हुआ था जैसा कि इनके हर्षचरित और ह्वेंत्सांग के यात्रा विवरणो से अवगत होता है। बाण भट्ट गद्य-काव्य के सम्राट् के रूप में प्रसिद्ध है और अतिद्वयी कथा (कादम्बरी) के रचयिता की यह प्रतिष्ठा सर्वथा उचित ही है किन्तु चण्डी-शतक में हमे कादम्बरीकार की कला के दर्शन नही होते।

न तो इसमें काव्य का अभिनिवेश है और न यह रचना बाण भट्ट की धार्मिक मनोवृत्ति की परिचायिका है। चण्डी शतक का भक्तों के हृदय पर प्रभाव भी नाम मात्र को ही पडता है। मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र की गुणरत्नचन्द्र लिखित टीका से ज्ञात होता है कि यह स्तोत्र मयूर के सूर्य शतक के अनुकरण पर बनाया गया था। कहा जाता है कि मयूर ने सूर्य शतक बनाकर कुष्ठरोग से निर्मुक्ति प्राप्त की थी। इस बात को देखकर बाण भट्ट ने अपने हाथ-पैर काट डाले और चण्डी स्तोत्र बनाकर अपने हाथ पैरो को वैसा ही बना लिया। इस कथानक का आशय यही है कि बाण भट्ट ने मयूर का अनुकरण कर चण्डी की महत्ता स्थापित करने के लिये इस स्तोत्र की रचना की थी। इस स्तोत्र में प्रधानतया चण्डी के महिषासुरवध को लेकर प्रशंसा की गई है तथा स्थान-स्थान पर इसमें रक्षा इत्यादि की प्रार्थना भी की गई है। यद्यपि हम इस स्तोत्र से बाण की भक्ति तथा धर्मानुराग से प्रभावित नही होते तथापि कही-कही पर कवि की कला के दर्शन अवश्य हो जाते है। किन्तु अधिकतर पद्य काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही कहे जा सकते। इसके उद्धरण शार्गधर पद्धति, सरस्वती कण्ठाभरण, वाग्भट-लिखित काव्यानुशासन और अर्जुन वर्मदेव लिखित अमरु शतक की टीका में समुपलब्ध होते है। इसमें अधिकतर देवो के निरस्त हो जाने पर पार्वती द्वारा महिषवध का वर्णन किया गया है। अनेक स्थानो पर देवो की गर्हणा भी की गई है और पार्वती द्वारा अनायास ही महिषवध का वर्णन किया गया है। इस प्रसग मे पृथक्-पृथक् अंगो का वर्णन किया गया है। पार्वती के वर्ण का यह कितना सुन्दर वर्णन है—"सर्व प्रथम सारे ससार को कल्पान्त काल से व्याकुल देखकर पार्वती का वर्ण काला पड गया, बाद में जब महिषासुर के विषाण का स्पर्श हुआ और उन्हे उस दैत्य का ज्ञान हुआ तब इनके शरीर का वर्ण क्रोध से लाल हो गया। जबकि महिषासुर को पैर से पीस दिया और वह जीवहीन होकर भूमि पर गिर पडा तब अपने स्वाभाविक गौर वर्ण में आ गई। इस प्रकार काले, रक्त और श्वेत वर्ण को धारण करने वाली पार्वती जी अपने पति शकर जी के नेत्रो की प्रतिमूर्ति सी प्रतीत हो रही थी, वे पार्वती आप सब लोगो की रक्षा करे।"

स्तोत्र साहित्य में दूसरी पुस्तक मयूर का सूर्य शतक है। यह रचना बाण के चण्डी शतक की अपेक्षा अधिक सफल और काव्यात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। कहा जाता है कि मयूर बाण के साले या श्वशुर थे। एक बार बाण की पत्नी ने असमय में इनके उपस्थित होने के कारण रस-भग हो जाने से इन्हे शाप दे दिया था और ये कुष्ठी हो गये थे। इस कुष्ठ रोग से छुटकारा प्राप्त करने के लिये इन्होने सूर्य शतक की रचना की और इन्हे कुष्ठ से निर्मुक्ति प्राप्त हुई थी। कुछ लोगो का कहना है कि सूर्य शतक महाराज हर्ष के पिता-पितामह की सूर्य-भक्ति के उपलक्ष्य में बनाया गया था। बाण के हर्ष चरित से ज्ञात होता है कि हर्ष के पिता ने सूर्योपासना के फलस्वरूप ही राज्यवर्धन, हर्षवर्धन और राज्यश्री को प्राप्त

किया था। हर्ष स्वयं बौद्ध होते हुए भी सूर्य का उपासक था। इस स्तोत्र में कविता अच्छी है और कवि की भक्ति-भावना पर प्रकाश भी पड़ता है।

मयूर की प्रवृत्ति धार्मिक कविता लिखने की ओर ही थी। इसका सबसे बडा प्रमाण यही है कि मयूर के नाम पर जो पद्य प्राप्त हुए है उनमें सर्वत्र धार्मिकता ही पाई जाती है। यदि कही शृगारिक भावना का भी समावेश हुआ है तो वह भी विष्णु और लक्ष्मी अथवा शिव और पार्वती के नाम पर ही हुआ है। इस शतक में के अश्व, रथ, मडल इत्यादि का वर्णन किया गया है। सूर्य को मुक्तिदाता माना गया है और सूर्य की किरणो को मोक्ष मार्ग का यान कहा गया है। ये सूर्य भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश की एकता के प्रतीक तथा विश्व के पोषक माने गये है और अरुण की तुलना नाटक के सूत्रधार से की गई है। मयूर कवि यमक तथा अनुप्रास के परम भक्त है। उपमा, रूपक तथा उच्च कोटि की अतिशयोक्ति इनके प्रिय अलकार है। शब्द विषयानुसार कोमल तथा कठोर होते रहते है तथा कभी-कभी एक ही पद्य में ध्वनि का परिवर्तन भी हो जाता है। इन्होने व्याकरण के कुछ अप्रचलित शब्दो का प्रयोग भी किया है और अलकारो के परम भक्त प्रतीत होते है।

आचार्य शकर अपनी दार्शनिकता के लिये ही प्रसिद्ध है। किन्तु दार्शनिको ने स्तोत्र साहित्य की रचना में सोत्साह भाग लिया है। वे पारमार्थिक सत्ता के रूप मे सर्वदा इस प्रकार की प्रवृत्ति के विरोधी थे तथापि लौकिक तथा व्यावहारिक क्षेत्र मे वे इसे आवश्यक समझते थे। शकराचार्य जी के नाम पर अनेक स्तोत्र प्रसिद्ध है जिनमे अधिकतर साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। किन्तु सभी स्तोत्र एक ही व्यक्ति की रचना नही जान पडते। शकराचार्य जी भी तो अनेक हुए है। शकर की गद्दी प्रसिद्ध ही है। किन्तु इनमे कुछ अवश्य आदि शकर के रचे हुए होगे। विष्णुपादादि केशान्त वर्णन स्तोत्र इन्ही आदिम शकराचार्य का बनाया हुआ कहा जाता है। शकर विजय के चौदहवे सर्ग मे लिखा है कि मृत्यु शय्या पर स्थित माता जी के आदेश से शकराचार्य जी ने विष्णु स्वरूप का वर्णन किया था। कहा जाता है कि वह विष्णु स्तुति यही है। आर्य विद्या सुधाकर के अनुसार शकराचार्य का आविर्भाव काल ईसा की ८वी शताब्दी है। किन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वान् इनका समय इससे पूर्व ६ठी या ७वी शताब्दी मानते है। इस स्तोत्र में विष्णु के नख-शिख का वर्णन किया गया है और साथ ही अस्त्रो का भी वर्णन है। "मेघ के समान श्याम वर्ण की भगवान् की बाहु मे आनन्द करने वाली जिस तलवार की मूर्ति युद्ध मे उठाये जाने पर मेघ मे विस्फुरित होने वाली बिजली की शोभा धारण करती है,जो तलवार त्रास से व्याकुल नेत्रो वाले राक्षसो के रक्त का आस्वाद लेने में दक्ष है और जो मधुमथन भगवान् विष्णु के मन को आनन्द देने वाली है वह हम लोगो को नित्य आनन्द देने वाली हो।" इसी प्रकार भगवान् के नेत्रो का वर्णन करने में सूर्य और चन्द्र से उनके नेत्रो का अद्वैत स्थापित किया गया है और भगवान् के मस्तक को रगमञ्च मानकर प्रार्थना की गई है कि

मेरी मति निरन्तर भावना नामक नाटिका का अभिनय करती रहे। भगवान् के केश-पाश के विषय में सन्देह भी बडा सुन्दर है। भगवान् के कुवलय कलित केश-पाश ऐसे सुशोभित हो रहे है मानो भ्रमरवेष्टित माला की पक्ति हो अथवा मानो शकर जी के मस्तक पर गिरने वाली गगा जी धारा की स्पर्धा से कालिन्दी भगवान् के सिर पर चढकर गिर रही हो अथवा ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त चन्द्र कला की भ्राति से अन्त करण में चचल होकर राहु मुख की ओर आ रहा हो। इस प्रकार भगवान् के केश पाश जो समस्त लोको द्वारा इस प्रकार देखे जाते है आप सब लोगो को मगल प्रदान करे।"

शकराचार्य जी के दूसरे स्तोत्रो में भवान्यष्टक और आनन्द लहरी अधिक प्रसिद्ध है। इन स्तोत्रो मे काव्य की छटा है, नाद सौन्दर्य है, अलकारो का ललित प्रयोग है और भावना की उच्चता है। भवान्यष्टक अथवा अम्बाष्टक में कोई अर्थ-चमत्कार प्रधान नही है। इसमें अप्रचलित शब्दो का अधिक प्रयोग किया गया है जिससे प्रसाद गुण सर्वथा लुप्त हो गया है। इसे हम उच्च कोटि के काव्यो में स्थान नही दे सकते। सूर के दृष्टिकूट पदो के समान ही इससे कवित्व के स्थान पर पाण्डित्य अधिक प्रकट होता है।

पचस्तवी अथवा दुर्गा स्तोत्र किसी अज्ञात नामा कवि की कृति है। इस स्तव के पाच भाग है लघुस्तव, चर्चास्तव, घटस्तव, अम्बास्तव, और सकल-जननीस्तव। इन पाच स्तवो का सकलन पच स्तवी के नाम से पुकारा जाता है। इस स्तोत्र के सग्रहकर्ता का भी नाम ज्ञात नही है। लघुस्तव के दो तीन टीकाकार हुए हैं जिन्होंने इसके तन्त्रपरक ही अर्थ किये है। इसके एक टीकाकार नित्यानन्द ने इस स्तोत्र के कर्ता का नाम धर्माचार्य दिया है। किन्तु यह ज्ञात नही होता कि यह उपाधि ही है अथवा नाम है। यह ग्रथ प्राचीन प्रतीत होता है क्योकि इसके एक पद्य का उद्धरण सरस्वती-कण्ठाभरण में दिया गया है और एक दूसरा पद्य कुवलयानन्द में आया है। इसी पद्य का तृतीय चरण काव्य प्रकाश के दशम उल्लास में दिया गया है। इन स्तोत्रो से कवि की मनोवृत्ति का भी पता चलता है। प्रारम्भिक स्तवो में कवि ने भौतिक कामनाये की और प्रधान रूप से देवी जी से सुन्दरी स्त्रियो के प्रदान करने की प्रार्थना की गई है तथा इस बात पर सतोष भी प्रकट किया गया है कि कवि को भगवती की कृपा से सभी कुछ प्राप्त है। किन्तु क्रमश यह स्वर क्षीण होता जाता है और कवि का झुकाव दार्शनिकता की ओर हो जाता है। मुक्ति प्रधान काम्य हो जाती है तथा पर्यवसान भक्ति मे हो जाता है। तान्त्रिक विधि का सर्वत्र प्राधान्य है और देवी जी के बीज मन्त्र का आश्चर्यजनक चमत्कार बतलाया गया है। उसका ध्यान करने से असख्य कामनाओ की सिद्धि प्राप्त होने की बात कही गई है। कवि बनने के लिये भी देवी जी के बीज मन्त्र का अनुशीलन अनिवार्य बतलाया गया है। जो व्यक्ति देवी जी के सारे विश्व में व्याप्त अपूर्व तेज का क्षण-

भर ध्यान करते हैं उनके वश में त्रस्त-कुरग-शाव-नयनी कामपीडित ललनायें प्रकट रूप में वश्य हो जाती है। उनके घर में सम्पत्तिया स्थायी हो जाती हैं। इसके प्रतिकूल जिनके हाथ भगवती दुर्गा की आराधना में व्यस्त नही हुए उनकी हाथो की रेखाओ के राजचिन्ह भी उन्हे राजा नही बना सकते। द्वितीय तथा तृतीय स्तवों में अधिक प्रौढ रचना है तथा शब्द-चमत्कार भी यत्र-तत्र प्रचुरता के साथ दृष्टिगत होता है।

कालिदास के नाम पर भी अनेक स्तोत्र प्राप्त हुए हैं। किन्तु ये स्तोत्र प्रसिद्ध कालिदास के लिखे नही जान पडते। या तो ये कोई अन्य कालिदास होगे अथवा जैसा कि राजशेखर ने लिखा है काव्यकार परीक्षा में परीक्षित अनेक व्यक्तियों को कालिदास की उपाधि प्रदान की गई थी। उन्ही में किसी कालिदास ने इन स्तोत्रों की रचना की होगी। इन अनेक स्तोत्रों में श्यामला दण्डक (गद्य-पद्यमय), सरस्वती स्तोत्र और यमलाष्टक तजौर के तिब्बती रूप से ग्रहण किये गये है। कालिदास के ही नाम पर नवरत्न माला नामक एक नौ पद्यो का एक देवी स्तोत्र भी प्राप्त होता है जिसमें शब्द चमत्कार पर अधिक ध्यान दिया गया है। अर्थ चमत्कार विशेष नही है। एक उदाहरण लीजिये :—

सारिगमपधनिरतां तां वीणासक्तकान्तकान्तहस्तान्ताम्।
शान्तां मृदुलस्वान्तां कुचभरतान्तां नमामि शिवकान्ताम्॥

श्यामला दण्डक किस कालिदास की रचना है इसका ठीक पता नही चलता। इसमें तन्त्र विद्या की प्रधानता है। आरोहक भदन्त जल्हण संगृहीत मुक्तावली और हरि कवि सगृहीत हारावली में राजशेखर के नाम पर एक श्लोक दिया हुआ है जिस से ज्ञात होता है कि राजशेखर के समय तीन कालिदास हो चुके थे। चौथे एक कालिदास अकबर के समय में हुए थे। ज्ञात नही हो सका कि यह श्यामला दण्डक किन कालिदास का लिखा हुआ है। यह दण्डक मातगी देवी की स्तुति में बनाया गया है। इसमें पाद के प्रारम्भ में सर्वत्र दो रगण और बाद में अनियत संख्या वाले रगण हैं। अत इसका नाम मत्तमातग लीलाकर है। इसमें पाच पाद है (सम्भवत. एक पाद लेखक के प्रमाद से बढ गया है। अन्यथा चार पाद ही होने चाहियें)। मातगी देवी भगवान् शकर की प्रियतमा है, सुधा-समुद्र से उठने वाले मणि द्वीप में उत्पन्न विल्वाटवी में कल्पवृक्ष के समान कदम्ब वृक्षों के वन में निवास करती हैं। देवी जी की नख शिख शोभा का वर्णन किया गया है। देवी जी के बीज को सर्वतन्त्रात्मक, सर्वमन्त्रात्मक, सर्वयन्त्रात्मक, सर्वविद्यात्मक, सर्वशक्त्यात्मक, सर्वयोगात्मक, सर्वनादात्मक, सर्वशक्तात्मक, सर्वविश्वात्मक तथा सर्वव्यापक बतलाया गया है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के नाम पर भी एक देवी स्तोत्र उपलब्ध होता है, जिसकी प्रामाणिकता अधिक है। यद्यपि इसमें रस की अपेक्षा अलकारो को प्रधानता दी गई है, किन्तु इसका समाधान इस प्रकार हो जाता है कि उन्होने स्वय स्तोत्रों में

रस को गौण ही माना है। यह स्तोत्र इस बात को प्रमाणित कर देता है कि समालोचक अच्छे कवि नही होते। उत्पल देव की स्तोत्रावली लगभग ९२५ में लिखी गई जिसमें शिवविषयक २० छोटे-छोटे स्तोत्रो का सग्रह है। कुछ प्रार्थना के पद्य भी हैं। कुछ अच्छे है, किन्तु उच्च कोटि का काव्यत्व इनमें नही पाया जाता। लगभग इसी समय कुलशेखरनृपति ने मुकुन्द-माला लिखी। इसमें भगवान् कृष्ण की स्तुति की गई है। इसके कई एक पद्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसकी कई एक प्रतिया प्राप्त हुई है जिनकी पद्य सख्या समान नही है। पुस्तक में प्रधान रूप से भगवान् कृष्ण की भक्ति को प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है। 'न तो मेरी आस्था धर्म मे है न सम्पत्तियो के समूह मे है और न कामोपभोग में ही है। इन विषयो में जो होने वाला हो वह पूर्व-कर्मानुसार होता रहे। मुझे सबसे अधिक यही प्रार्थना करना अभीष्ट है कि जन्म-जन्मान्तर में भी तुम्हारे दोनो चरण-कमलो में मेरी निश्चल भक्ति बनी रहे।' शरीर के प्रति कवि को कोई मोह नही। यह शरीर तो अवश्य नष्ट होगा। औषधि सेवन की कोई आवश्यकता नही। एकमात्र कृष्णरसायन का ही पान करना चाहिये। किन्तु कवि लौकिक भावना से सर्वथा विरत नही है। उसे विश्वास है कि भगवद्भक्ति उसके समस्त मनोरथो को पूरा करने वाली होगी। ससार की यातनाओ पर विचार कर भय नही करना चाहिये। जब श्रीधर भगवान् हमारे स्वामी है तब हमारे ऊपर ये यातनाए अधिकार कर ही किस प्रकार सकती है? आलस्य छोडकर भगवान् की ही प्रार्थना करनी चाहिये। जो भगवान् लोक की आपत्तियो को दूर करने में समर्थ है वह क्या अपने भक्तो की ही उपेक्षा करेगा ? भगवान् ने सर्वदा भक्तो की रक्षा की है। प्रह्लाद, विभीषण, द्रौपदी, अहिल्या, ध्रुव इत्यादि अनेक निदर्शन विद्यमान है। भगवान् की त्राण करने वाली शक्ति पर ही विश्वास करके मोक्ष के विषय में भी चिन्ता नही करनी चाहिये। आश्चर्य है कि भगवद्भक्ति के विद्यमान रहते हुए लोग शृंगाररसमयी कविताओ [मे लगे रहते है और भगवान् में अपना चित्त नही लगाते। "आश्चर्य है कि मनुष्य लोक में लोग अमृत को छोड कर विषपान करने मे लग जाते है।" मूर्ख कवि लाट देश की स्त्रियो के नेत्रो के सौन्दर्य, पयोधर तट, रेवातट, कुञ्ज, चन्दन वृक्ष इत्यादि के वर्णन में अपना समय बिताया करते है किन्तु जिन्होने अपना मन भगवान् मे ही लगा दिया है उन पुरुषो का समय गोविन्द, जनार्दन, जगदीश्वर, कृष्ण इत्यादि शब्दो का उच्चारण करने में लगता है। अन्त मे कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है, "जिन राजा के शास्त्रज्ञ, कवि-जगत् में प्रसिद्ध, द्विजवश के कल्याण कारक दो मित्र हुए उन कमलनयन भगवान् के चरण-कमलो मे षट्पद के समान रमण करने वाले कुलशेखर नामक राजा ने यह स्तोत्र बनाया है।"

बिल्वमगल के विषय में अनेक किवदन्तिया प्रसिद्ध है। इनका कृष्णामृत या कृष्ण-कर्णामृत नामक स्तोत्र भारत में बहुत प्रसिद्ध है तथा सग्रह ग्रथो मे इसके उद्धरण दिये गये है। इसकी रचना में प्रसाद गुण पूर्ण शैली अपनाई गई है। इसमें भगवान् के वृन्दावन विहार के विषय में अनेक पद्य है।

१२वीं शताब्दी में लक्ष्मण सेन के दरबारी कवियों में जयदेव के साथ अन्य कवियों के कुछ स्तोत्र प्रसिद्ध है। इनका संग्रह रूप गोस्वामी ने पद्यावली में किया है। ये स्वयं भगवद्भक्त थे तथा चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी थे। इसमें एक पद्य लक्ष्मण सेन के नाम पर भी लिखा हुआ है। धोई, धोमी कविराज, श्रुतधर, श्रुतिधर इत्यादि नामो से कुछ पद्य प्राप्त हुए हैं जो एक ही कवि की रचना ज्ञात होते हैं। ज्ञात होता है कि श्रुतधर का ही बिगडा हुआ रूप धोई है।

दूसरे बहुत से स्तोत्रो में शिव महिम्न स्तोत्र आता है। भक्तजनों में इसकी बहुत अधिक प्रतिष्ठा है और शिव मदिर में जब दो-चार विद्वान् मिलकर आनन्द विभोर होकर इस स्तोत्र का गान किया करते है तब एक समा-सा बन्ध जाता है। कुछ लोगों ने इसे पुष्यदत्त का बनाया हुआ विष्णु महिम्न स्तोत्र कहा है। किन्तु इसका ज्ञान न्याय मंजरीकार जयन्त भट्ट को भी था। अतएव इसे हम नवीं शताब्दी के बाद की रचना नही कह सकते। लक्ष्मणाचार्य की चण्डी कुच पचाशिका बाद की रचना है, जिसमें धार्मिक अभिनिवेश के विशेष रूप से दर्शन होते है। इसी प्रकार शिवदास या उत्प्रेक्षा-वल्लभ का लिखा हुआ भिक्षाटन काव्य भी धार्मिकता से विशेष रूप से भरा हुआ है। इसमें स्वर्ग में शिव के भिक्षाटन का वर्णन है। उनके प्रति अप्सराओ का आकर्षण तथा प्रेम दर्शाया गया है। यह जानकर आश्चर्य होता है कि कवि ने इसमें अपने कामशास्त्रीय ज्ञान का परिचय दिया है।

कतिपय स्तोत्र पुराने ऋषियो के नाम पर भी प्रसिद्ध है जिनमें दुर्वासा के लिखे ललिता स्तव-रत्न तथा त्रिपुरमहिम्न स्तोत्र अधिक प्रसिद्ध हैं। ललिता स्तव-रत्न की एक प्रति जयपुर के राज पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। इसमें तन्त्र विधि से श्री ललितादेवी के ध्यान करने के स्थानो का वर्णन किया गया है। सोने का पर्वत है, जिसका निर्माण जगत् चक्र के द्वारा किया गया है और इसकी सोने की कुंजों में देवियो के गीत सुनाई देते है। इसके प्रान्तो में दिक्पाल रहते हैं और तीन शिखरो पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश निवास करते है। उन तीनो शृगो के मध्य में एक बड़ा ही सुन्दर शिखर है जिसके प्रान्त भागो का निर्माण रत्नो की सी कान्ति धारण करने वाली मञ्जरियों से किया गया है। यह शृग ४०० योजनो के विस्तार में है और वहा पर आदि विद्या का ४०० योजन का विस्तृत नगर है, जिसका निर्माण विश्व-कर्मा ने किया है और इस पर अनेक साल वृक्ष विराजमान है जिससे शिखर अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता है। इन्ही साल वृक्षो का तथा उनके मध्य भाग का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है तथा विभिन्न भागों में विराजमान देवियों का ध्यान बतलाया गया है। अन्त में देवी जी का कवच दिया हुआ है। इसमें २१३ पद्य है। त्रिपुर महिम्न स्तोत्र दुर्वासा की दूसरी रचना है। टीकाकार ने लिखा है कि ये दुर्वासा अत्रि और अनसूया से उत्पन्न हुए थे। किन्तु स्तोत्र के अन्त में दुर्वासा की प्रशंसा की गई है, इससे ज्ञात होता है कि ये दुर्वासा कोई दूसरे होंगे अथवा किसी

दूसरे कवि ने अपनी रचना दुर्वासा के नाम पर प्रसिद्ध कर दी होगी । इस स्तोत्र में भी तान्त्रिक विधियो का प्राधान्य है और त्रिपुर सुन्दरी देवी का महत्त्व बतलाया गया है। कोई कितना ही व्याकरण पढे, कितना ही काव्यो को घोटता रहे, कितना ही शब्द-शास्त्र का अध्ययन करे किन्तु तब तक वह कवि नही बन सकता जब तक पार्वती देवी जी की चरण-कमल-सरणि का अनुसरण नही करता है। आकाश में नक्षत्र कितने ही चमकते रहे किन्तु तब तक अन्धकार का विनाश नही होता है जब तक सूर्य भगवान् का उदय न हो, उसी प्रकार अविद्यान्धकार भी कितने ही सिद्धातो और प्रमाणो के अध्ययन से नष्ट नही हो सकता जब तक सूर्य के समान जन्म-विनाशक तेज हृदय में उदित नही होता । इसी प्रकार देवी जी के अग-प्रत्यंग का वर्णन किया गया है और उसका महत्त्व बतलाया गया है। देवी जी के अनेक आभूषणो का भी वर्णन है । स्तनो के विषय में कहा गया है कि देवी जी के स्तन ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो के द्वारा पिये गये है । जो देवी जी के चन्द्रोज्ज्वल मुख का स्मरण करता है वह स्वय स्मर (काम) रूप हो जाता है तथा विश्व की समस्त रमणियो का आकर्षण केन्द्र हो जाता है । इसी प्रकार आभूषणो और वस्त्रो का भी विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है और महत्त्व तथा अभीष्ट प्राप्ति के लिये देवी जी का ध्यान करना आवश्यक बतलाया गया है। लकेश्वर (रावण) के नाम पर भी एक शिव स्तुति प्रसिद्ध है। लेखक के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नही है। स्तोत्र में १० पद्य हैं। इसमें शकरजी के सर्वांग सौदर्य का वर्णन किया गया है तथा पार्वती के साथ शृ गार लीला की ओर भी ध्यान दिलाया गया है। लक्ष्मी को छोड़ कर भगवान् शिव में ध्यान लगाने की कामना प्रकट की गई है। पिशाच बन कर शिव के पास जाना अमर सम्पत्ति की प्राप्ति की अपेक्षा भी अधिक उत्तम है क्योकि इन्द्र इत्यादि तो शंकर जी के भवन की देहरी पर आते है और विकट तुण्ड गणो के दण्डो से पिटकर उनकी मुकुट की कोटि टूट जाती है । इसी प्रकार मेरु की अपेक्षा कैलाश को महत्ता प्रदान की गई है । एकमात्र कामना शकर जी की निकटवर्तिता की ही की गई है। भाषा सरल, सुबोध तथा प्रसाद गुण से पूर्ण है।

राघव चैतन्य का बनाया हुआ महा गणपति स्तोत्र भी प्राप्त होता है। यह राघव चैतन्य शार्गधर से पहले हुए थे । शारगधर पद्धति में राघव चैतन्य के नाम पर कुछ श्लोक लिखे मिलते है। शारगधर के पितामह राघव देव हम्मीर चौहान की सभा में थे। हम्मीर का देहावसान १२९५ में हुआ था। ज्ञात होता है कि इन्ही राघवदेव के सन्यास ले लेने के बाद इनका नाम राघव चैतन्य पड गया होगा। इन्होने महागणपति स्तोत्र १६छदो में लिखा और अत में एक पद्य के द्वारा उसका माहात्म्य बतलाया गया है। स्तोत्र में गणपति का परब्रह्म के रूप में वर्णन किया गया है तथा गणेश जी की पूजनीयता, वदान्यता, सौन्दर्य, शक्ति इत्यादि का वर्णन किया गया है। गणेश जी के ध्यान की विभिन्न अवस्थाओ का भी वर्णन है और यत्र-तत्र तत्र का

भी प्रभाव लक्षित होता है। गणेश को शिव तथा विष्णु की मूर्ति बतलाया गया है और कहा गया है कि गणेश देव जी हुकार मात्र से समस्त दैत्यो का संहार कर देते हैं उनकी आनन्द लहरी के द्वारा समस्त लहरे फीकी पड़ जाती है।

सग्रह ग्रथो में भी कुछ ऐसे पद्य दिये हुए है जो कि स्तोत्रो से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु तत्सम्बद्ध स्तोत्र पूर्ण रूप में अधिगत नही हो सके है। साथ ही अनेक कवियो का भी परिचय प्राप्त होता है। इनमे से कुछ पद्य बहुत अधिक प्रचलित हो गये है। विश्वामित्र के नाम पर भी कुछ पद्य प्राप्त हुए हैं पर ये कौन से विश्वामित्र है यह जानना कठिन प्रतीत होता है। विश्वामित्र के नाम पर जो पद्य प्राप्त हुए हैं वे एक कवि की कृति नही हो सकते।

जैन स्तोत्र—पौराणिक स्तोत्रो के अनुकरण पर लिखे हुए जैन स्तोत्रो की सख्या भी बहुत अधिक है। मुख्य स्तोत्रों का परिचय नीचे दिया जा रहा है.—

(१) **उवसग्गहर स्तोत्र**—यह पाच पद्यो की पार्श्वनाथ की स्तुति है और कहा जाता है कि यह भद्रबाहु की बनाई हुई है। इसका उल्लेख प्रो० जैकोबी ने भद्रबाहु की कल्पसूत्र की भूमिका में किया है। कहा जाता है कि स्तोत्रो में यह सबसे प्राचीन है।

(२) **भक्तामर स्तोत्र**—यह सर्वाधिक प्रतिष्ठित स्तोत्रों में एक है। इसके रचयिता मेरु तुग जैन साहित्य के एक प्राचीन कवि है। कुछ लोग इन्हे तीसरी शताब्दी का मानते हैं, कुछ लोग पाचवी, सातवी, आठवी, और नवी शताब्दी तक ले जाते हैं। स्तोत्र की एक टीका से ज्ञात होता है कि आचार्य मानतुंग वृद्ध भोज के समय में बाण और मयूर के सम-सामयिक थे। मेरुतुंग लिखित प्रबन्ध चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि मानतुग धारा नरेश के समय में हुए थे। इस स्तोत्र को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो का एक सा आदर प्राप्त है। इससे ज्ञात होता है कि ये प्राचीन कवि होगे। दिगम्बर ४२ पद्य मानते है जबकि श्वेताम्बर केवल ४४ ही पद्य मानते है। कहा जाता है कि इस स्तोत्र की रचना मेरुतुंग ने यह सिद्ध करने के लिये की थी कि जैन धर्म में भी अन्य धर्मों की भाति महती शक्ति है। जिस प्रकार मयूर ने कुष्ठ से छुटकारा प्राप्त करने के लिये सूर्य शतक की रचना की थी और जिस प्रकार बाण ने चण्डी शतक के द्वारा अपने कटे हुए हाथ-पैर जोड़ लिये थे इसी प्रकार उन्ही की स्पर्धा कर मानतुंग ने भी ४२ जजीरो में बन्ध कर और एक कमरे में बन्द होकर भक्तामर स्तोत्र के ४४ पद्यों की रचना की थी, जिससे उन्हे छुटकारा प्राप्त हो गया।

(३) **भयहर स्तोत्र**—यह भी प्राकृत भाषा में मेरुतुंग का लिखा हुआ स्तोत्र है। इसमें पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है।

(४) **कल्याण मदिर स्तोत्र**—यह प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर का लिखा हुआ ४४ पद्यों का स्तोत्र है। यह भी पार्श्वनाथ-स्तुति है और भक्तामर स्तोत्र को

ही आदर्श मानकर लिखी गई है। स्तोत्र के अन्त में कवि का नाम कुमुदचन्द्र दिया हुआ है। टीकाकारो का मत है कि सिद्धसेन दिवाकर को दीक्षा के अवसर पर गुरु ने यह उपाधि प्रदान की थी। प्रबन्ध चिन्तामणि में विक्रमादित्य के प्रबन्ध में लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य के राज्य काल में उज्जयिनी मे आये थे। उसी प्रबन्ध चिन्तामणि से इनका श्वेताम्बर होना भी प्रकट है। दिगम्बर लोग इन्हें दिगम्बर मानते है। वाराहमिहिर ने बृहज्जातक के सप्तम अध्याय में सिद्धसेन नामक एक ज्योतिषी का उल्लेख किया है। सम्भवतः ये वही सिद्धसेन है। दो-एक और सिद्धसेन जैनियो में हुए है। कल्याण मदिर स्तोत्र को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो एक सा मानते है। भक्तामर स्तोत्र की भाति इसकी अनेक टीकाये है और प्रत्येक पद्य में मन्त्र तथा उसका प्रभाव दिखलाया गया है। इसमें श्लेष का प्रयोग अधिक किया गया है। कहा जाता है कि इस स्तोत्र को पढने से उज्जैन में शिव लिंग फट गया था और उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल आई थी।

(५) **द्वात्रिंशिका स्तोत्र**—यह भी सिद्धसेन दिवाकर का लिखा हुआ महावीर स्वामी का संस्कृत स्तोत्र है। इसे वर्धमान द्वात्रिशिका भी कहते है।

सिद्धसेन दिवाकर द्वारा उपर्युक्त दोनो स्तोत्रो में जैन-धर्म से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी विषयो का उल्लेख कर दिया गया है तथा हिन्दू-धर्म के अनेक देवी-देवताओ का उनसे तादात्म्य स्थापित किया गया है जैसे "आप मोक्षदायक है अतः आप शिव है। आप बुद्ध है क्योकि आप ज्ञानवान् है।"

इसी प्रकार हृषीकेश, विष्णु, जगन्नाथ, जिष्णु इत्यदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। कही-कही अलकारो का सुन्दर प्रयोग है। प्रारम्भ में कवि कहता है—"हे नाथ यद्यपि मै जड़ आशय वाला हूं तथापि अशेषगुणाकर आपकी स्तुति करने के लिये मैं उद्यत ही हो रहा हू। क्या कोई बालक अपनी दोनो बाहुओ को फैलाकर अपनी बुद्धि से अम्बुराशि की विस्तीर्णता का प्रतिपादन नही करता।" इसी प्रकार "हे विभो! आप अज्ञानान्धकार से सर्वदा रहित है। आप के निन्दक भी हरि-हर इत्यादि रूपो में निस्सदेह आपको ही प्राप्त करने की चेष्टा करते है। क्या काच-कामला के रोगी श्वेत शख को भी अनेक वर्णों के विपर्यय में नही देखते।"

(६) **बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र**—यह समन्तभद्र का लिखा हुआ २४ तीर्थकरों का स्तोत्र है। इसे चतुर्विशति जिन स्तवन कहते है। इसमें सर्वप्रथम स्वयम्भू (स्वयम् आविभूत होने वाले) जिन देव की स्तुति की गई है। इसीलिये इसे स्वयम्भू स्तोत्र कहते है।

(७) **पत्रकेसरि स्तोत्र**—विद्यानन्द अथवा विद्यानन्दि का लिखा हुआ यह एक ५० पद्यो का महावीर स्तोत्र है।

(८) **चतुर्विशति जिन स्तोत्र**—यह वप्पाभट्टि का लिखा हुआ ९६ संस्कृत पद्यों का एक जिन स्तोत्र है। इसके रचयिता वप्पाभट्टि का समय ८वी शताब्दी का

उत्तरार्ध तथा नवी शताब्दी का पूर्वार्ध है। कहा जाता है कि इसके लेखक ने कन्नौज के यशोवर्मा के पुत्र और उत्तराधिकारी अमरराज को जैन धर्म में परिवर्तित किया था।

(९) शोभन स्तुति—यह दशम शताब्दी के शोभन नामक कवि की लिखी हुई २४ तीर्थकरो की स्तुति है। इसकी रचना अत्यन्त अलंकृत तथा चित्र काव्य के रूप में है। द्वितीय और चतुर्थ चरण एक से ही है किन्तु उनके अर्थो में भेद है। इसको शोभन स्तुति इसीलिये भी कहते है कि यह शोभन नामक कवि की लिखी हुई है और इसलिये भी कि यह शोभन (सुन्दर) स्तुति है। इसमें केवल शब्द-चमत्कार के दर्शन होते है।

(१०) ऋषभ पञ्चाशिका—यह शोभन के भाई धनपाल की बनाई हुई ५० प्राकृत छन्दो की स्तुति है। इसमें प्रारम्भ मे ऋषभदेव की जीवन घटनाओ पर प्रकाश डाला गया है और अन्तिम भाग में उनकी प्रशसा की गई है। "आप चिन्ता द्वारा भी प्राप्त न किये जा सकने वाले मोक्ष फल को देने वाले अपूर्व कल्पवृक्ष है। जब आपका अवतार हो गया तब मानो लज्जित होकर कल्पवृक्ष मृत्यु लोक को छोडकर कही जा छिपा।" इसी प्रकार जहा ऋषभदेव जी अभिषिक्त हुए तथा जहां उन्होने शिव-सम्पत्ति प्राप्त की वे दोनो पर्वत पर्वतकुलो मे मूर्धन्य है। जो लोग ऋषभदेव के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध नही हो जाते वे या तो केवली है या हृदय-हीन है।"

(११) अजिय सतिथय—नन्दिषेण का लिखा हुआ यह एक अजितनाथ (द्वितीय तीर्थकर) और शान्तिनाथ (१६वें तीर्थकर) का सम्मिलित स्तोत्र है। सम्मिलित स्तोत्र लिखने का कारण यह बतलाया जाता है कि दोनो तीर्थङ्करों ने अपने वर्षाकाल शत्रुञ्जय पर्वत पर ही बिताये थे। इस स्तोत्र की रचना कवि की उस पर्वत की तीर्थ यात्रा के समय की गई। नन्दिषेण का समय ९वी शताब्दी से भी पहले कहा जाता है। इस स्तोत्र का अनुकरण अनेक परवर्ती कवियो ने किया है। जिनमें १२वी शताब्दी के जिन वल्लभ का अजित शान्ति। लघुस्तवन, वीरगणिन की "अजिय सतिथय", जयशेखर का "अजित-शान्ति-स्तव" विशेष प्रसिद्ध हैं।

(१२) जय तिहुअनस्तोत्र—इसकी रचना ११वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि अभयदेव की की हुई बतलाई जाती है। कहा जाता है कि इस स्तोत्र के द्वारा कवि ने रोग मे मुक्ति प्राप्त की थी तथा पार्श्वनाथ की छिपी हुई मूर्ति को प्रकाश में लाये थे।

(१३) वादिराज के दार्शनिक स्तोत्र—तीन स्तोत्र वादिराज के लिखे बतलाये जाते है—(१) ज्ञानालोचन, (२) एकीभाव स्तोत्र और (३) अध्यात्माष्टक। सम्भवतः इनका रचना-काल ११वी शताब्दी है।

(१४) वीतराग स्तोत्र—प्रसिद्ध कवि हेमचन्द्र ने कुमारपाल के निर्देश पर इस स्तोत्र की रचना की थी। इसमें छोटे-छोटे २० भाग है और प्रत्येक भाग में

८ या ९ श्लोक है। इसे जैन-धर्म की कवित्वमय परिचय-पुस्तिका कह सकते हैं। इसकी भाषा बडी ही सरल, सुबोध और प्रसाद गुण पूर्ण है।

हेमचन्द्र ने दो और स्तोत्र ग्रन्थ लिखे है अयोगव्यवच्छेद तथा अन्य योग व्यवच्छेद। इन स्तोत्रो में महावीर स्वामी की स्तुति की गई है। इन स्तोत्रो में हिन्दू धर्म की निन्दा का अभिनिवेश विशेष रूप में दृष्टिगत होता है। जो लोग धर्म-हेतु की गई हिसा को हिसा नही मानते उनको अपने पुत्र को मारकर राज्य प्राप्ति की इच्छा रखने वाला बतलाया गया है। जो लोग प्रादेशिक शासनो के द्वारा जिन देव के शासन का उल्लघन करना चाहते है, उनकी ऐसी ही चेष्टा है जैसे खद्योत का एक छोटा सा बच्चा सूर्य मडल की बिडम्बना करना चाहे। "मद-मान, मनोभव, क्रोध, लोभ और सम्मद से बलात् पराजित देवो के साम्राज्य का रोग व्यर्थ ही जैन धर्म के विरोधियो को लगा है। दूसरे लोग अपने कण्ठपीठ में कठिन कुठार रखकर कुछ भी कहते रहे किन्तु जो मनीषी है, वीतराग जैन तीर्थंकरो में ही अपना मन लगाते है।"

चौदहवी शताब्दी के आसपास भी अनेक स्तोत्र ग्रन्थ लिखे गये है। प्रारम्भ में जिन प्रेमसूरि ने चतुर्विंशति जिन स्तुति लिखी। इसमें एक-एक पद्य में एक-एक तीर्थंकर का वर्णन है। इनके लिखे हुए दूसरे स्तोत्रो में पार्श्व स्तव तथा श्री वीर निर्वाण कल्याणक स्तव मुख्य हैं। वीर निर्वाण में महावीर स्वामी का वर्णन किया गया है। मुनि सुन्दर का जिन स्तोत्र भी १४वी शताब्दी में लिखा गया। यह स्तोत्रो का बहुत बडा सग्रह है। मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र के भी अनुकरण पर अनेक स्तोत्र लिखे गये, जिनमें भावप्रभ का भक्तामरम् प्रसिद्ध है। देवेन्द्र के शिष्य धर्म-घोष ने "यमक स्तोत्र" और चतुर्विंशति जिन स्तुति नामक दो स्तोत्रो की रचना की। धर्मघोष के ही नाम से 'इसि मडल स्तोत्र' (ऋषि मडल स्तोत्र) भी प्रसिद्ध है। हो सकता है ये कोई दूसरे धर्मघोष हो। रत्नाकर के नाम पर "वीतराग स्तोत्र" अथवा "रत्नाकर पचविंशतिका" नामक एक स्तोत्र भी प्रसिद्ध है। किन्तु इसके रचनाकाल का पता नही। मदनकीर्ति की बनाई हुई एक दूसरी स्तुति शासन चतुस्त्रिंशिका के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रत्येक पद्य के अन्त में "दिग्वाससा शासनम्" आया है। इसीलिये इसे शासन चतुस्त्रिंशिका कहते है। इसमें एक अनुष्टु के अतिरिक्त ३४ शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इस स्तोत्र में तीर्थङ्कर स्तवन किया गया है। एक दूसरा ग्रन्थ मुनि रत्नसिंह का प्राणप्रिय काव्य है। इसका प्रारम्भ प्राणप्रिय शब्द से होता है, इसलिये इसका नाम प्राणप्रिय काव्य रक्खा गया है। इसमें भक्तामर स्तोत्र के चतुर्थ चरण की पूर्ति की गई है। यह प्रसाद गुण पूर्ण उत्तम काव्य है। इनके अतिरिक्त मल्लिषेण प्रशस्ति में वज्रनन्दि के नव स्तोत्र का उल्लेख मिलता है, जिसमें समस्त अर्हत वचन को अन्तर्भुक्त कर लिया गया है।

शब्द-चमत्कार तथा काव्य-कौशल प्रदर्शन की दृष्टि से भी जैन स्तोत्र साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। देवानन्दि के सिद्धिप्रिय स्तोत्र मे श्लेष का चमत्कार दिखलाई

पड़ता है। प्राकृत के महावीर स्तव में एक ही शब्द तीन-तीन बार आया है और प्रत्येक बार उसका भिन्न अर्थ में प्रयोग हुआ है। नेमि जिन स्तव में द्वि-अक्षर पद्यो का प्रयोग किया गया है, जिनमें "ल" और "म" केवल इन दो व्यञ्जनो का प्रयोग हुआ है। जय तिलक सूरि के चतुरहारावली चित्र स्तव में पद्यबन्ध, मुरज बन्ध, स्वस्तिक, सर्वतोभद्र इत्यादि चित्र काव्यो का प्रयोग किया गया है। १२ वी शताब्दी के 'षड्भाषा निर्मित पार्श्वजिन स्तव' में और १४ वी शताब्दी में जिन पद्म के षड्भाषा-विनिर्मित-शान्तिनाथ-स्तव में एक ही स्तोत्र में सस्कृत, महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्र श इन ६ भाषाओ का प्रयोग किया गया है। जैनस्तोत्र साहित्य का यही सक्षिप्त परिचय है।

बौद्ध स्तोत्र साहित्य

हमें कनिष्क के राज्यकाल में दो महान् बौद्ध स्तोत्रकारो का परिचय प्राप्त होता है—एक हैं अश्वघोष और दूसरे है मातृचेता। तिब्बत के ऐतिहासिक विद्वान् अश्वघोष का ही दूसरा नाम मातृचेता भी मानते है तथा इन दोनो महाकवियो की एकता का प्रतिपादन करते है। किन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है। मातृचेता अश्वघोष की अपेक्षा पूर्ववर्ती थे और उन्ही के समय से कुछ पहले हुए थे। अश्वघोष के आश्रयदाता कनिष्क ने मातृचेता को दरबार में बुलाया था जिस पर मातृचेता ने वृद्धावस्था का कारण बतला कर उपस्थित होने में असमर्थता प्रकट की थी। यह पत्र आजकल के विद्वानो को प्राप्त हुआ है जिसमें ८५ पद्य है। इस पत्र में एकान्त जीवन व्यतीत करने का निश्चय प्रकट किया गया है। सातवी शताब्दी में इत्सिग को मातृचेता की बडी प्रतिष्ठा दिखलाई पडी थी। इत्सिग ने एक प्रसिद्धि का उल्लेख किया है कि एक बार बुद्ध शिष्यो के साथ कही घूम रहे थे। उस समय एक कोकिल कही बोल रहा था, जो ऐसा मालूम पड रहा था मानो बुद्ध का यशोगान कर रहा हो। बुद्ध ने कहा कि यह कोकिल एक दिन मातृचेता के रूप में जन्म लेगा। इस प्रसिद्धि से ही मातृचेता की ख्याति का अनुमान लगाया जा सकता है। इनकी लिखी हुई पुस्तकें बहुत अधिक पढी जाती रही है और आज भी बौद्धो में इनका बहुत अधिक सम्मान है। असग और वसुबन्धु जैसे बौद्धो ने भी इनकी अत्यधिक प्रशसा की है। इनकी लिखी हुई दो पुस्तके बहुत प्रसिद्ध है—चतुः शतक स्तोत्र और शतपञ्चाशिका। यह स्तोत्र साधारण अनलकृत भाषा में लिखे हुए स्तोत्रो का सग्रह है। किन्तु भाषा सुन्दर है और विचार बडे ही उच्चकोटि के हैं। इत्सिग ने इन स्तोत्रो को संन्यासियो की सभा में गाते हुए सुना था और लिखा है कि "ये पद्य सुन्दरता में स्वर्गीय पुष्पो के समान है और उच्च सिद्धान्त उनमें सुरक्षित हैं। वे अपनी महत्ता में हिमालय की उच्च चोटियो की तुलना में रखे जा सकते हैं। अतएव भारत में जो भी स्तोत्रों की रचना करता है वह इनको साहित्य का पिता मानकर इनके आदर्श पर रचना करने की चेष्टा करता है। वसुबन्धु और असंग

जैसे बौद्ध महात्माओ ने भी इनकी अत्यधिक प्रशंसा की है। सारे भारत में जो भी संन्यास लेता है जैसे ही वह ५ और १० आर्य सत्यो को सुना देता है उसे इनके दो स्तोत्र अवश्य सुनाने पडते है। यह पाठ्य विषय के रूप मे हीनयानियो और महायानियो दोनो मे प्रचलित है।" इत्सिग को इनकी प्रशसा के शब्द नही मिलते। उन्होने लिखा है कि प्रसिद्ध दिङ्नागाचार्य नामक बौद्ध तार्किक ने इसके प्रत्येक पद्य के पहले एक पद्य बनाकर रखने का प्रयत्न किया और इस प्रकार ३०० पद्यो का एक मिलित स्तोत्र तैयार हो गया।

कनिष्क के राज्य के दूसरे कवि है अश्वघोष। इनके विषय में कहा जाता है कि ऐसा कोई प्रश्न नही था जिसको अश्वघोष हल न कर देते, ऐसा कोई तर्क नही था, जिसका खण्डन न कर सकते। वे अपने प्रतिवादी पर उसी प्रकार प्रायः विजय प्राप्त कर लेते थे जैसे एक शक्तिशाली वायु जीर्ण-शीर्ण वृक्षो को तोड डालता है। अश्वघोष के नाम पर गण्डी-स्तोत्र-गाथा नामक एक ही स्तोत्र ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जोकि चीनी अनुवाद के आधार पर सस्कृत मे परिवर्तित किया गया है। यह स्तोत्र अश्वघोष की प्रतिभा के अनुकूल ही है। बौद्ध स्तोत्र पूर्ण रूप से शैव और वैष्णव स्तोत्रो के आधार पर लिखे गये है।

कुछ उच्चकोटि की कलात्मक तथा काव्यात्मक कृतिया है, कुछ चित्र काव्य है और कुछ नामावली हैं। नागार्जुन का चतु.स्तव तिब्बती अनुवाद में प्राप्त हुआ है। हर्षवर्धन भी अपने अन्तिम जीवन में बौद्ध हो गये थे। इन्होने बौद्ध धर्म के विषय में ह्वेनत्साग से बहुत कुछ सीखा था। इन्होने सुप्रभात नामक एक स्तोत्र की रचना की। इस स्तोत्र में २४ पद्य है। साथ ही उन्होने ५ पद्यो का एक महा श्रीचैत्य-स्तोत्र भी बनाया।

वज्रदन्त कवि देवपाल की देख-रेख में रहते थे। इन्होने ९वी शताब्दी में अवलोकितेश्वर शतक की रचना की। कहा जाता है कि यह शापवश कोढी हो गये थे। तब उन्होने एक स्रग्धरा पद्य श्री अवलोकितेश्वर की सेवा में प्रतिदिन लिखना प्रारम्भ किया। जब १०० पद्य पूरे हो गये तब बुद्ध भगवान् ने इन्हे दर्शन दिये और इनका रोग दूर हो गया। इस उच्चकोटि के स्तोत्र में नख-शिख, उनके पचास नाम, अनेक गुण, उनका प्रेम और दया का वर्णन है।

परमार्थ नाम सगीति एक स्तोत्र है। प्राचीन भारतीय साहित्य में नामावली गिनाने की परम्परा रही है। इसी प्रकार की नामावलिया हमें यजुर्वेद, महाभारत तथा दूसरे पुराणो में भी मिलती है। परमार्थ नाम सगीति में भी इसी परम्परा का पालन किया गया है। ९ पद्यो का एक सप्त बुद्ध स्तोत्र मिलता है, जिसमें कई बुद्धों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार नैपालीय देवता के प्रति कल्याण पञ्चविशतिका एक अज्ञात कवि अमृतानन्द के द्वारा लिखा गया। इसमें २५ पद्यो में नैपाली देवता की नामावली दी गई है।

बहुत से स्तोत्र बौद्ध देवी तारा के विषय में भी प्राप्त होते है। तारा का अर्थ है रक्षिका अथवा तारने वाली। तारा विषयक एक स्तोत्र कश्मीरी कवि सर्वज्ञ-मित्र ने लिखा है। इसको स्रग्धरा स्तोत्र या आर्य तारा स्रग्धरा स्तोत्र कहते है। इस में उच्चकोटि की काव्य शैली अपनाई गई है। स्रग्धरा देवी का भी विशेषण है और इसमें स्रग्धरा छन्द भी अपनाया गया है। कहा जाता है कि कवि सर्वज्ञमित्र कश्मीर के राजा के दामाद थे। ये इतने उदार थे कि इन्होने अपना सर्वस्व दान कर सन्यास ले लिया था। एक दिन जब वे घूम रहे थे, एक ब्राह्मण ने अपनी पुत्री के विवाह के लिये इनसे कुछ रुपये मागे। इन्होने अपने को एक राजा के हाथ बेच दिया। राजा सौ व्यक्तियो का पुरुषमेध करना चाहता था। जब इन्होने सौ व्यक्तियों के रोने चिल्लाने का शब्द सुना तब इन्होने इस स्तोत्र की रचना की और तारा ने सौ बन्दियो की रक्षा की। आर्य तारा नामाष्टोत्तर शतक स्तोत्र मे तारादेवी की नामावली है। एक विशति स्तोत्र में २१ पद्य है तथा इसकी रचना शिथिल है।

रामचन्द्र कवि भारती ने भक्ति शतक नामक एक स्तोत्र लिखा। ये बगाली ब्राह्मण थे और सीलौन के पराक्रमबाहु (१२५०) के मस्करण मे गये तथा बौद्ध बना लिये गये। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण धर्म का भक्ति सिद्धान्त किस प्रकार बौद्ध धर्म में प्रवेश पा रहा था। इसकी शैली हिन्दु स्तोत्रो जैसी है और हीनयान तथा महायान दोनो के द्वारा अपनाई जा सकती है।

स्तोत्र साहित्य का सिंहावलोकन

जैसे कि पहले बतलाया जा चुका है आनन्दवर्धन के मत में स्तोत्र साहित्य में रसानुभूति गौण होती है। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने स्तोत्र साहित्य के इतना विस्तृत होते हुए भी भगवद्भक्ति को रसो में स्थान नही दिया। यद्यपि भक्ति के मूलभूत सिद्धान्तों तथा उसकी प्रवृत्तियो का भक्ति सूत्रो के चिरपूर्व निरूपण हो चुका था और महायान शाखा के विकास के साथ-साथ भक्ति को प्रधानता प्राप्त होती जा रही थी तथापि इन स्तोत्रो में हमें भक्ति की वह प्रगाढता तथा गम्भीरता दृष्टिगत नही होती जो उत्तरवर्ती भक्ति काव्य में प्रधानतया प्रतिष्ठित हो गई थी। न तो इनमें वह हृदय की वेदना ही दृष्टिगत होती है और न उतनी भावविभोरता ही। किन्तु इसका यह आशय नही है कि इन स्तोत्रो में हृदय-तत्व है ही नही। अनेक स्तोत्रो में भक्तो के सच्चे हृदयोद्गार है और चाहे वे देवता हो, चाहे तीर्थकर अथवा अवलोकितेश्वर हो उन्होने हमारे साथ जो उपकार किये है उनके प्रति आभार प्रदर्शित करने तथा उनकी महत्ता के विषय में उनमें श्रद्धा रखने के लिये हम बाध्य हो जाते है। कृतज्ञता तथा श्रद्धा दोनो प्रकार की भावनाओ में एक अभूतपूर्व आनन्द होता है, एक अनिर्वचनीय उल्लास होता है और यह आनन्द व्यक्तिगत न होकर सामाजिकता से परिपूर्ण होता है। कृतज्ञ या श्रद्धालु व्यक्ति सर्वदा अपनी भावनाओं में समस्त समाज को सम्मिलित कर लेने के लिये उत्सुक रहता है और दूसरो के साथ

मिलकर ही अपनी भावना का आस्वादन करना चाहता है। हमें इस स्तोत्र-साहित्य में सर्वत्र इस कृतज्ञता, इस श्रद्धालुता तथा इस सामाजिक मनोवृत्ति के दर्शन होते है। यही कारण है कि अनेक स्तोत्रो का मूल समस्त अनुशीलनकर्ताओ के प्रति आशीर्वाद-परक है और कही-कही उपदेशात्मक भी है। जहा कही व्यक्तिगत सुख-भोग अथवा मोक्ष की कामना की गई है वहा भी कवि लोक के प्रतिनिधि के रूप में ही दृष्टिगत होता है। इस प्रकार रसानुभूति तत्त्व गौण होते हुए भी पर्याप्त प्रभावशाली है और भक्तो को अपनी ओर आकर्षित करने में पर्याप्त रूप से सक्षम है। इन स्तोत्रो में भी एक आनन्दमयी भावना ओतप्रोत है जो पाठको को सर्वदा आप्यायित करती रही है।

ये स्तोत्र ठीक रूप मे वैदिक सूक्तो की परम्परा में आते है और उसी प्रकार उपास्य की महत्ता, व्यक्तिगत कामना अथवा आध्यात्मिकता इत्यादि को लेकर चलते हैं। इन स्तोत्रो में वैदिक सूक्तो की ही भाति उपास्यो की अनेकता दृष्टिगत होती है। साथ ही उसी प्रकार प्रस्तुत उपास्य का अन्य देवो पर आधिपत्य दिखलाया गया है और इस प्रस्तुत उपास्य की शरण्यता तथा भक्तवत्सलता का विषय दूसरे देवो को भी बनाने की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार जब दूसरे देवता का अवसर आया है तब इस उपास्य को भी उसके सामने नतमस्तक होना पडा है। वस्तुतः ये समस्त देव उस एक महती शक्ति के ही विभिन्न अग है तथा उस शक्ति के मूर्तरूप है और जिस समय शक्ति के किसी विशेष स्वरूप की आराधना की जाती है, उस अपेक्षणीय स्वरूप के सामने सभी स्वरूप गौण हो जाते है। इसके साथ ही एक बात और है। इस युग में समस्त धार्मिक समुदाय विभिन्न वर्गों में बटा हुआ था। इन वर्गों में परस्पर सघर्ष की भावना भी पर्याप्त मात्रा में तीव्रता धारण कर चुकी थी। बौद्धो और ब्राह्मण धर्मानुयायियो का सघर्ष प्रसिद्ध ही है। जैन धर्म भी पीछे नही है। ब्राह्मण धर्म के भी अनेक अग हो गये थे, जिनमें प्रधान रूप से शिव, शक्ति और विष्णु की उपासना प्रचलित थी। यद्यपि गणेश, गंगा तथा सूर्य इत्यादि के प्रति भी अनेक स्तोत्र लिखे गये थे किन्तु मात्रा में ये स्तोत्र इतने अधिक नही हो पाये थे कि इनके आधार पर सम्प्रदायो की कल्पना की जा सकती। वैदिक देवता अपना गौण स्थान प्राप्त कर ही चुके थे। अपने-अपने सम्प्रदाय में अधिक-से-अधिक जन समुदाय को दीक्षित करने की धुन सभी में विद्यमान थी। सर्व साधारण उसी सम्प्रदाय के प्रति आकर्षित हो सकता था, जिसके देवता में अधिक-से-अधिक लोकोत्तर शक्ति हो, अधिक-से-अधिक कृतार्थ करने की क्षमता हो और जिससे अधिक से अधिक लौकिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त किया जा सके। अतएव इन स्तोत्र-कारो का दृष्टिकोण एक ओर ऐसे स्तोत्रो की रचना करना था, जिनको गा-गाकर सर्वसाधारण उनके सम्प्रदाय में आनन्द का अनुभव कर सके दूसरी ओर उनके उपास्यों की लोकोत्तर महत्ता अन्य देवो की अपेक्षा विशेष रूप से प्रतिष्ठित हो सके। इसीलिये इन स्तोत्रो में सर्वत्र दूसरे देवो से या तो तादात्म्य की भावना प्रदर्शित की जाती थी या अधिकता प्रतिष्ठित की जाती थी। कही-कही दूसरे

सम्प्रदायो की निन्दा भी की जाती थी। स्तोत्र साहित्य की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि सर्वसाधारण में इनके लोकोत्तर चमत्कार का चारो ओर प्रसार किया जाता था। एक ओर ब्राह्मणधर्मानुयायी मयूर के स्तोत्र द्वारा मयूर के कुष्ठ निवारण की बात कहते थे और बाणभट्ट के चण्डीशतक द्वारा उनके कटे हुए हाथ-पैरो के जुड जाने का प्रचार किया जाता था दूसरी ओर जैन धर्मावलम्बी आचार्य मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र के द्वारा मानतुंग की ४२ जजीरो के टूट जाने और बन्दीगृह की कोठरी स्वतः खुल जाने की बाते करते थे। कई स्तोत्रो के विषय में कहा जाता था उनके प्रभाव से शिवलिंग फट गया और उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति प्रकट हो गई। तीसरी ओर बौद्ध देवी तारा का समर्थन किया जाता था और स्तोत्र के प्रभाव से सौ व्यक्तियो के बन्दीगृह से मुक्त होने तथा बन्दीगृह में डालने वाले राजा के पराजित हो जाने की बात कही जाती थी। किन्तु इसका यह आशय नही है कि इन स्तोत्रो में कवियो की आन्तर-वृत्ति स्वय नही रमती थी। हमें इन स्तोत्रो में धार्मिक उत्साह और विश्वास के दर्शन होते है। स्तोत्रकार कवियो को अपने आराध्यो की लोकोत्तर शक्ति पर विश्वास था। वे समझते थे कि इन आराध्यो की अनुकम्पा के बिना न तो उन्हे लौकिक सुखभोग ही प्राप्त हो सकता है, न परलोक ही बन सकता है, न मोक्ष की ही प्राप्ति हो सकती है और न कवित्व ही स्फुटित हो सकता है। अतएव ये कवि उत्साह के साथ कविता में प्रवृत्त होते थे और जहा जनसाधारण को स्वधर्म दीक्षा की प्रेरणा प्रदान करते थे वहां स्वय भी संतोष लाभ करते थे। इस प्रकार इन स्तोत्रो में कवियो का आन्तरिक विश्वास कविता के रूप में मुखरित हो उठा है।

यद्यपि यह स्तोत्र साहित्य एक रूप में वैदिक सूक्त परम्परा में आता है तथापि वैदिक सूक्तो की अपेक्षा इस स्तोत्र काव्य में कुछ मौलिक अन्तर है। वैदिक काव्य की अपेक्षा इसमें देवताओ का परस्पर तादात्म्य विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया गया है और एकता की विशेष रूप से अभिव्यक्ति हुई है। आध्यात्मिकता के भी इन स्तोत्रो में अधिक दर्शन होते है और वैदिक स्तोत्रो की लौकिक सुखभोग-कामना के स्थान पर पारलौकिकता तथा मोक्ष विशेष रूप से याचना का विषय बन गया है। वैदिक स्तोत्रो में याच्य वस्तुओ का पृथक्-पृथक् गिनाया जाता था किन्तु इन स्तोत्रो में लौकिक कामनाओ को पृथक्-पृथक न गिनाकर केवल देवता में सभी प्रकार के सुख देने की शक्ति का प्रतिपादन कर सतोष किया गया है। इस प्रकार हम देखते है कि इन स्तोत्रो में एक ओर आध्यात्मिकता बढ रही थी दूसरी ओर कवि-कर्म स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो रहा था। इन स्तोत्रो में तन्त्र विद्या के भी पर्याप्त दर्शन होते हैं। देवो की विभिन्न मुद्राओ तथा चक्रों का वर्णन किया गया है और उन स्थानो तथा परिस्थितियो का वर्णन किया गया है, जिनमें उन देवो का हमें ध्यान करना चाहिये। कहा-कही तामसिक उपासना के भी दर्शन होते है। भगवती दुर्गा

तथा दूसरी देवियो के स्तोत्रों में तन्त्रो की विशेष रूप से छाप दिखाई देती है। विष्णु भक्ति अधिकतर सात्विकता लिये हुए है।

जैसा कि पहले कहा गया है, स्तोत्र काव्य लिखने का अवसर केवल ब्राह्मण धर्म में ही है। ब्राह्मण धर्म के अनुसार समस्त मानवीय क्रियाकलापो का नियन्त्रण एक विशिष्ट अदृष्ट शक्ति के द्वारा किया जाता है, वह अदृष्ट शक्ति सर्वथा वर्णनातीत है। मानव को लौकिक तथा पारलौकि सुख-समृद्धि और अन्तिम निर्वाण पद की प्राप्ति के लिये उस शक्ति को स्वानुकूल बनाने की चेष्टा करनी चाहिये क्योकि इस प्रकार की अनुकूलता के अभाव में कोई भी उद्देश्य सिद्ध नही हो सकता। व्यक्तिगत सुख साधना का भी यही माध्यम है और लोक कल्याण का भी यही साधक है इसी सिद्धात से प्रेरित होकर स्तोत्र साहित्य को अवतारणा हुई है और देवताओ की उपासना में सौन्दर्य तत्व का सन्निवेश कर मनोरम काव्य की रचना की गई है किन्तु जैन बौद्ध धर्मों में इस प्रकार की आराधना का न तो कोई महत्त्व है और न उनके सिद्धांतो के अनुसार इस प्रकार की उपासना समीचीन ही कही जा सकती है। इन धर्मों में प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीन है। न कोई अदृष्ट शक्ति उसे नियन्त्रित करती है, और न उसकी समृद्धि कही से प्राप्त की जा सकती है। प्रत्येक जीव धर्माचार्यो का शासन स्वीकार करते हुए तथा अपने जीवन को उसी दिशा में प्रेरित करते हुए केवली का पद प्राप्त कर सकता है अथवा निर्वाण का अधिकारी हो सकता है। ऐसी दशा में इन धर्मो में उपासना का अवसर ही नही रह जाता और न किसी व्यक्ति से कोई वस्तु मागी जा सकती है और न प्रदान की जा सकती है। किन्तु यह स्तोत्र-साहित्य ब्राह्मण धर्म के अनुकरण पर लिखा गया था और उन समस्त बातो को लेकर चलता था जो ब्राह्मण धर्म के स्तोत्र-साहित्य मे विद्यमान थी। इसी लिये इन स्तोत्रों में भी आराध्यो में बहुत कुछ प्रदान करने की शक्ति बतलाई गई है। "जिन व्यक्तियो के शरीर पैरो से सर तक परिपूर्ण रूप से शृखलाओ से जकडे हुए होते है, जिनकी टागे विशाल शृखलाओ से बुरी तरह पिसी जा रही होती है, यदि वे तुम्हारे नाम का स्मरण करते है तो वे तत्काल ही बन्दी गृह के कष्ट से मुक्त हो जाते है और उनकी शृखलाये नष्ट हो जाती है।" इसी प्रकार "जो व्यक्ति सापो के कीलने के लिये अपने हृदय में आपका नाम उच्चारण करता है वह क्रोध मे भरे हुए विषधर सर्पों पर नग्न पैरो से खडा हो जाता है। आपके कमल-सुन्दर चरणो में जो तीर्थ यात्रा करता है वह शत्रु समूह को अनायास ही जीत लेता है। जो नाविक आपका ध्यान करते हुए यात्रा करता है वह निर्भय होकर महासागर पार कर जाता है।" (भक्तामर स्तोत्र–३४–४०) यह बतालाया ही जा चुका है कि इन स्तोत्रो के चमत्कार से सम्बधित किम्वदन्तिया लोक प्रसारित की जा रही थी। जयतिहुअन स्तोत्र के द्वारा अभयदेव को रोग निर्मुक्ति प्राप्त हुई थी और उसी स्तोत्र के द्वारा पार्श्वनाथ की प्रच्छन्न मूर्ति भी प्रकाश में आई थी। सिद्धसेन दिवाकर के कल्याण

ंदिर स्तोत्र को पढने से शिवलिग फट गया था और उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति नेकल आई थी। भक्तामर स्तोत्र से मेरुतुग की ४२ लोह शृंखलाये खुल गई थी। इस प्रकार पौराणिक शैली पर ही इन स्तोत्रो के साथ अनेक अन्धविश्वास जुड़े ुए है।

इस काल में सर्वसाधारण में ब्राह्मण धर्म का विशेष प्रचार था। जैन तथा बौद्ध ार्मों की ओर जन समुदाय का आकर्षण कम था। अतएव पौराणिक स्तोत्रो में जैन ौद्धधर्म के आराध्यो का उल्लेख नही किया गया है मानो ब्राह्मण धर्मानुयायी तीर्थङ्करों के समक्ष देवों को रखने में देवो का अपमान समझते थे। इसके प्रतिकूल जैन ौद्धस्तोत्रो में अपने आराध्यो का तादात्म्य देवो से सिद्ध किया गया है और तीर्थङ्करों ं अनेक देवी देवताओ की सत्ता अगीकार की गई है। "आप बुद्ध है क्योकि देवता ापके प्रबुद्ध मानस की प्रशमा करते है। आप शकर है क्योकि आप तीनो लोकों के ोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते है। आपने अपने ज्ञान से मोक्ष मार्ग की रचना की है ातएव आप पुरुषोत्तम है।" यही नही पौराणिक देवो को काम, क्रोध, लोभ, मोह े वशीभूत बतलाया गया है अतएव उनकी उपासना त्यागने को कहा गया है और तीर्थङ्करो को बीतराग होने के कारण उपास्य बतलाया गया है।

अनेक स्थानो पर तीर्थङ्करो के प्रकाश का भी वर्णन किया गया है और उसके लिये सूर्य तथा चन्द्रमा की उपमा प्राय दी गई है। इस स्तोत्र-साहित्य में भक्तों ो कमल तथा तीर्थङ्करो को सूर्य कहने की भी बहुत अधिक परम्परा है।

किन्तु इस स्तोत्र-साहित्य में भावात्मक अभिनिवेश के साथ कलात्मकता विशेष ूप में समुपलब्ध होती है। अलकारो का स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया गया है और कही-कही श्लेष का बहुत ही सुन्दर प्रयोग बन पडा है। अलकारो में कुछ तो ाचलित तथा विषयानुकूल है और कुछ केवल अलकारो के मन्तव्य से ही लिखे गये ं। जैन स्तोत्र-साहित्य मे चित्रमयता की ओर प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखलाई डती है। जन स्तोत्रो में हृदय-तत्त्व का कम किन्तु मस्तिष्क का अधिक उपयोग केया गया है। अनेक स्थानो पर पाण्डित्य-प्रदर्शन के लोभ से ही श्लेष का प्रयोग केया गया है। जिस प्रकार मध्य काल के महाकाव्यो में और विशेष रूप से किरात था माघ काव्यो में चित्र काव्य रचना दिखलाने के लिये एक पृथक् सर्ग रखा गया ं उसी प्रकार इन स्तोत्रो में भी द्वि-अक्षर पद्य, सर्वतोभद्र, कमलबन्ध इत्यादि चित्र ाव्य के मन्तव्य मे रचना की गई है। जैन स्तोत्रो के विषय में विण्टरनित्ज ने लेखा है —

"स्वाभाविक रूप में जिन-देवो की प्रशसा और प्रार्थना में विषय-वैचित्र्य ाही आ पाया है। कविगण नये विषयो की उद्भावना के लिए नही किन्तु रचना-ैली और स्वरूप के परिवर्तन करने के लिये चेष्टा किया करते थे। यही कारण है के स्तोत्र-साहित्य में आलकारिक दरबारी कविता की शैली का सबसे अधिक विकास

हुआ है। इनमें कुछ कविताये बहुत अधिक अलकृत हैं।.....छन्दो की विविधता का समावेश करने की चेष्टा भी की गई थी। एक ही स्तोत्र में प्रत्येक पद्य के लिये एक नया छन्द चुनने का कवियो का प्रयास दृष्टिगत होता है। सबसे बड़ी विचित्र बात यह है कि कई स्तोत्र एक साथ अनेक भाषाओ में लिखे गये और प्राय: प्रत्येक पद्य के लिये एक नयी ही भाषा चुनी गई। कही-कही तो एक ही पद्य में दो-दो भाषाओं का प्रयोग किया गया।"

स्तोत्र साहित्य के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तो की छाप पौराणिक साहित्य में अपना नया स्थान रखती है। जैन स्तोत्रो में दार्शनिकता की छाप पडी अवश्य है किंतु ऐसे स्तोत्रो की सख्या अत्यन्त न्यून है। सक्षेप मे इस स्तोत्र-साहित्य के द्वारा एक ओर तो धार्मिकता के विकास में सहायता मिली दूसरी ओर मुक्तक काव्य के विकास में तथा अलकारिक रचना की दिशा में भी पर्याप्त सहायता मिली और यह विशाल काव्य-राशि अग्रिम युग में मुक्तक काव्य के क्षेत्र में धार्मिकता को प्रधानता देने में पर्याप्त साधक सिद्ध हुई, इसमें सन्देह नही।

हिन्दी धार्मिक काव्य परम्परा

हिन्दी काव्य-काल में स्तोत्र परम्परा समाप्तप्राय हो गई। दो-चार साहित्यिक स्तोत्र लिखे अवश्य गए किन्तु उनका समावेश या तो प्रबन्ध काव्यो में यथास्थान कर दिया गया या साम्प्रदायिक कीर्तन संग्रहो में उन्हे स्थान प्राप्त हो गया। इस काल में स्तोत्रो के स्थान पर विनय पदों, गीतों और फुटकर पद्यो के लिखने की प्रवृत्ति रही। इन्ही के माध्यम से कवि आत्म-निवेदन किया करता था।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है यह काल दार्शनिक विचारधारा के विकास का रहा है। आचार्य शकर ने जिस ब्रह्मवाद, मायावाद और विवर्तवाद का प्रतिपादन किया था उसका प्रतिरोध अनेक आचार्यों ने किया और इस आधार पर अनेक वाद चलित हुए। भक्ति के विकास के लिए शकर का सर्व-ब्रह्मवाद उपयुक्त नही था, इसीलिए कुछ न कुछ भेद की कल्पना आवश्यक थी, जिसकी पूर्ति बाद के दार्शनिक सम्प्रदायो में हुई किन्तु शकर के ब्रह्मवाद और मायावाद से सर्वथा पीछा नही छूटा और कवियो की वाणी में समय-समय पर इसका प्रस्फुटन होता ही रहा। रामानुज, माध्व और निम्बार्क के सिद्धान्तो का परिचय दिया ही जा चुका है। तत्कालीन धार्मिक साधना में इन आचार्यो का बहुत बडा प्रभाव पडा। इनके कार्य को और आगे बढाने का स्तुत्य कार्य तीन अन्य आचार्यो द्वारा सम्पन्न हुआ—वे थे चैतन्य, रामानन्द और वल्लभाचार्य। चैतन्य महाप्रभु ने निम्बार्क के सिद्धान्त का आधार लेकर पूर्व में राधा कृष्ण की भक्ति का पर्याप्त प्रसार किया और माध्यम के रूप में जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति के पदो का प्रयोग किया। ये पद्य सकीर्तन गोष्ठियों में गाते थे, जिससे जनता मुग्ध होकर इनके सिद्धान्तो की ओर आकृष्ट होती थी। रामानन्द ने विष्णु तथा नारायण के स्थान पर रामावतार तथा राम की भक्ति

पर बल दिया । इन्होंने अपने सिद्धान्तों का हिन्दी में प्रचार किया था। अतएव भक्ति के सिद्धान्त की जड जम गई और राम का मर्यादारूप सर्व-साधारण का आकर्षण केन्द्र हो गया । वल्लभाचार्य का आविर्भाव तेलगू प्रदेश में हुआ था। इन्होंने कृष्ण को ब्रह्म माना और राधा को उनकी पत्नी । गोलोक में स्थित वृन्दावन-धाम में उनकी लीलायें नित्य हुआ करती हैं । परम पद प्राप्त करने के लिए भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करना परम आवश्यक है। यह अनुग्रह भगवान् की लीलाओं में आनन्द लेने और उनका कीर्तन करने से ही प्राप्त किया जा सकता है। वल्लभाचार्य ने भगवदनुग्रह प्राप्ति को पुष्टि-मार्ग की सज्ञा प्रदान की । इस प्रकार इन महात्माओं के प्रभाव से सूर्य, अग्नि इत्यादि वैदिक देवता और ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि पौराणिक देवताओं का स्थान राम और कृष्ण ने ले लिया और अब भक्ति भावना की अभिव्यक्ति राम और कृष्ण के प्रति की जाने लगी। यद्यपि कही-कही पुराने देवताओ के प्रति भक्ति की अभिव्यञ्जना भी दृष्टिगत होती है, किन्तु यह परिमाण में इतनी न्यून है कि इसे हम समय की सामान्य प्रवृत्ति नहीं कह सकते ।

पहले बतलाया जा चुका है कि उपास्य की महत्ता, आत्म-निवेदन और आध्यात्मिकता स्तोत्र-साहित्य के प्रधान तत्त्व थे। हिन्दी काव्य काल की धार्मिक साधना में भी यही तत्व प्रधान बने रहे। किन्तु इनके रूप में अन्तर आ गया। अभी तक भगवान् के बाह्य रूप और बाह्य शक्ति का वर्णन किया जाता था अब भगवान् की व्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, माया पर ईश्वरता, भक्तत्राणकारिता इत्यादि तत्त्वों का वर्णन होने लगा। इसके साथ ही कवि अपनी हीनता का भी वर्णन करते नही थकता था। भगवान् के समस्त गुणों में जिस गुण का उल्लेख हुआ है वह है भक्तों की आर्ति को उन्मूलन करने की शक्ति तथा उनमें अपराधो के क्षमा करने की शक्ति। इसके लिये पुराणों की कथा के आधार पर सैकडो पापियो की नामावली गिनायी जाने लगी और भगवान् से उसी निदर्शन पर उद्धार करने की प्रार्थना की जाने लगी। भगवान् उसी का उद्धार करते हैं जो बडे से बडा पापी होता है। इसके लिये अपने पाप की पराकाष्ठा दिखलाई जाने लगी और जिन पापियो का उद्धार भगवान् ने किया था, उनको अपनी तुलना में कम पापी बतलाया जाने लगा। दूसरा तत्त्व था भगवान् से कुछ याचना करना। अभी तक भगवान् से लौकिक सुख-भोग की याचना की जाती थी अब मोक्ष तथा परम-पद की याचना की जाने लगी। कही-कही मोक्ष को भी नीचा बतलाकर केवल भक्ति की ही प्रार्थना की जाती थी। भक्ति जिसका अन्त न हो, जिसका कोई उद्देश्य न हो और जिसमें कभी विश्राम न हो। इस विषय में सख्य प्रेम का विशेष महत्त्व रहा। कभी-कभी भगवान् के पतितोद्धारक विरुद को चैलेन्ज दिया जाता था, कभी-कभी उद्धार करने में विलम्ब के कारण भगवान् के प्रति खीझ प्रकट की गई और भक्ति करने की दृढता प्रकट की गई।

संसार की असारता और भगवत्तत्त्व की महत्ता बतलाकर कभी-कभी सर्वसाधारण को उपदेश दिया गया और उन्हें विषय-वासनाओं को छोड़कर भगवत्तत्त्व में लीन होने की प्रेरणा भी प्रदान की गई।

वैदिक काल से ही कविता के द्वारा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की प्रवृत्ति चली आ रही थी। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ तथा नासदीय सूक्त इस प्रवृत्ति के निदर्शन हैं। उपनिषदों में यह प्रवृत्ति और अधिक बढी और अध्यात्मवाद का प्रतिपादन करने के लिये कविता का आश्रय लिया गया। जैन-बौद्ध साहित्य में भी सिद्धान्त-प्रतिपादनपरक गाथाएं, स्थान इत्यादि का वर्णन मिलता है। यह प्रवृत्ति इस काल में भी बनी रही। गम्भीर तत्त्व विवेचनपरक पद तथा गीत इस काल में भी लिखे गये। इनमें ईश्वर, जीव, माया, प्रकृति इत्यादि का वास्तविक स्वरूप, इनका परस्पर सम्बन्ध इत्यादि का कवित्वमय शैली में प्रतिपादन होता है और उनका पर्यवसान भक्ति में कर दिया जाता है। इस काल की दूसरी सर्वसामान्य विशेषतायें हैं गुरु की महिमा का वर्णन और भेदभाव का निराकरण। बिना गुरु की कृपा के किसी का निस्तार नही हो सकता। इस साधन मार्ग पर आने का सभी को अधिकार है चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, चाहे ब्राह्मण हो चाहे अन्त्यज। भगवान् का ध्यान सभी को पवित्र करने वाला है। इस प्रकार इस धर्म साधना के द्वारा एक ओर असहाय हिन्दू-जाति को एक सहारा मिला, दूसरी ओर सगठन का भी महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो गया।

जयदेव ने गीत गोविन्द के प्रारम्भ में "जय जगदीश हरे" और "जय-जय देव हरे" इन शीर्षको मे दो स्तोत्र लिखे हैं। प्रथम स्तोत्र में भगवान् के १० अवतारों का वर्णन किया गया है और दूसरे स्तोत्र में भगवान् के सौन्दर्य, सामान्य विभूति और शक्ति का वर्णन अधिगत होता है। कविवर विद्यापति ने अपने रसात्मक मुक्तकों का विषय राधा-कृष्ण को बनाया था और भक्ति का आलम्बन भगवान् शकर को। इनका अधिक समय शृगारिक कविता बनाने में बीता था। किन्तु सम्भवतः जीवन के अन्तिम भाग में विरक्त होकर ये शिवाराधनपरक कविताये करने लगे थे। मिथिला में इनकी बनाई हुई बानियो और नचारियो के गाने की बहुत प्रथा है। नचारियो का एक-एक शब्द आनन्द से भरा हुआ है। इसी को भक्त लोग गा-गाकर आनन्द से पागल हो जाते है। वहा स्त्री,पुरुष, कन्या, बालक सभी प्रकार के लोग इन्हे गाते हैं। निस्सन्देह जो पवित्र और मर्यादापूर्ण चित्रण हमें शिव-पार्वती के प्रसग में प्राप्त होते है वे राधा-कृष्ण के प्रसग में नही मिलते। इन प्रार्थनाओ और नचारियों में भगवान् शिव का अधम-उद्धारण विरुद और अपने दोष तथा पापो का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है तथा यम के दरवाजे पर जब यम के किकर क्रोध के साथ उठावें और जीवन के कर्मों का उत्तर मागें उस समय यम के बन्धन से छुडा लेने की प्रार्थना की गई है क्योकि भगवान् शिव ही अशरण-शरण हैं। इसी प्रकार भगवती

दुर्गा की अभूतपूर्व शत्रु-संहारिणी शक्ति का वर्णन किया गया है तथा युद्ध में उनकी सुन्दरता का भी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार देवी जी की सामान्य सुन्दरता का वर्णन करते हुए उनसे वर देने की प्रार्थना की गई है।

सूरदास ने सूरसागर के प्रथम और द्वितीय स्कन्धों में विनय के पद लिखे हैं तथा अन्यत्र भी इस प्रकार के पद बिखरे हुए हैं। इन पदों में सूर ने स्मरण, भगवद्भजन और कीर्तन पर अधिक बल दिया है। नाम-स्मरण के प्रभाव से जितने भक्त तर गये उनका वर्णन करते हुए सूरदास जी नही थकते "जो लोग राम नाम की आड़ लेते हैं उनका भगवान् अवश्य उद्धार करते हैं।" सूर ने सैकडों पदों में शरणागति से तरने वालों का वर्णन किया है तथा भगवान् से अपने को तारने की प्रार्थना की है और इस बात पर दुःख प्रकट किया है कि सबको तारने वाले भगवान् इस प्रकार सूर के अवसर पर अपने विरुद को भूल गये। कहीं-कही भगवान् के विरुद को ललकारा भी है और यह भी कहा है कि भगवान् तब तक पतित-पावन नही कहे जा सकते हैं जब तक सूर का उद्धार नही करते। सूर के लिये कृष्ण-कीर्तन ही जप-तप, ज्ञान, ध्यान,तीर्थाटन इत्यादि सभी कुछ है यद्यपि सूर कृष्ण के अनन्य भक्त हैं तथापि ये राम और कृष्ण को एक ही मानते है। प्रायः प्रत्येक प्रार्थना में कृष्ण के साथ राम को भी सम्मिलित किया गया है और रामावतार की विशेषताओंकी ओर भी सकेत पाया जाता है। इसी प्रकार भगवान् के दूसरे अवतारों की ओर भी संकेत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सूर ने कृष्ण का शिव रूप में भी ध्यान किया है। सूर की भक्ति-साधना में भय है, व्याकुलता, पश्चात्ताप, दैन्य, भर्त्सना इत्यादि का बहुत बड़ा महत्त्व है। "हृदय की कबहुन जरनि घटी", "अबकी राखि लेहु भगवान्", "कीजै प्रभु अपने विरद की लाज" इत्यादि पदो में सूर ने बडी ही दीनता और व्याकुलता प्रदर्शित की है तथा "कहा कमी जाके राम धनी", "जब जब दीनन कठिन परी" इत्यादि पदों के द्वारा मन को आश्वस्त भी किया है। स्वसाधना के अतिरिक्त सूर ने दूसरों को भक्ति का उपदेश भी पर्याप्त मात्रा में दिया है—"भगति बिनु बैल बिराने ह्वै हौ", "रे मन मूरख जनम गवायो" इत्यादि पदों में मानव जीवन की सफलता इसी बात में बतलाई गई है कि जन्म लेकर भगवद्भक्ति करे। जो भगवान् की भक्ति करता है, उससे बड़ा संसार में कोई नही। जो भगवान् की भक्ति नही करता है उसके सारे गुण व्यर्थ हैं। "रावण गर्व ही गर्व में गल गया और सुदामा भगवान् के समान हो गये, सीता जीवन भर वियोग में ही जलती रही और कुब्जा ने कृष्ण जैसा वर पाया। शकर से बढ़कर कौन योगी होगा, जिनको कामदेव ने छल लिया और नारद से बढकर कौन विरक्त होगा जो घूमते ही फिरते रहे। दूसरी ओर अजामिल से बढकर कौन पापी होगा किन्तु भगवद्भक्ति के प्रभाव से वहां यमराज जाते हुए भी डरता था।" भक्ति के उपदेश के अतिरिक्त सूरने दार्शनिक सिद्धांतों पर भी प्रकाश डाला है। वे भगवान् को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में मानते हैं। भगवान् घट-घट व्यापक हैं वे अपूर्व

ज्योति स्वरूप हैं। उनके विराट् रूप का वर्णन चार, पांच और छः मुख से किया जाता है तथा शेषनाग तो सहस्र मुख से उनका गुण-गान करते हैं परन्तु पार नहीं पाते। जब तक सत्य स्वरूप दिखलाई नही पडता तब तक कस्तूरी मृग के समान भटकना पडता है। इसके अतिरिक्त दर्शनो की पद्धति पर माया, जाव तथा भ्रम से उनके सम्बन्ध के विषय में अनेक पद्य आये है। सूर ने माया को भुजगिनी, नटिनी इत्यादि अनेक गर्हित नामों से पुकारा है। सूर पुष्टि मार्ग के अनुयायी है और उसी आदर्श पर उनकी प्रवृत्ति सगुण लीला गान की ओर है। वे शुद्ध द्वैतवादी होने के कारण जगत्, जीव और ब्रह्म की तात्विक एकता के समर्थक है, परन्तु जीव और ब्रह्म का भेद भी स्वीकार करते है। वे ज्ञानी की भांति निराकार ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त कर बूंद और समुद्र की भाति एकाकार परिणति नही चाहते अपितु मुक्त जाव के साथ नित्य लीला में प्रवेश कर ब्रह्मानन्द से भी श्रेष्ठ परम आनन्द प्राप्त करना चाहते है। सूर तुलसी की भाति ज्ञान को भी परमपद का साधक नही मानते। सूर के मत में प्रेम-लक्षणा भक्ति ही सब कुछ है। यह प्रेम-लक्षणा भक्ति जगत् से विरक्ति तथा भगवदासक्ति पर आधारित है। वल्लभ से पूर्ववर्ती आचार्य विष्णस्वामी ने कृष्ण के गोपाल रूप की उपासना पर जोर दिया था, जिसका अनुसरण कर प्रारम्भ में वल्लभ सम्प्रदाय में बालरूपोपासना ही प्रमुख रहा। बाद में सहजिया तथा शाक्त सम्प्रदायो के प्रभाव से गोपाल के साथ राधा-कृष्ण की काम-कला का समावेश हो गया और पुष्टिमार्गीय भक्तो में भगवान् के मधुर रूप की ही उपासना प्रधान हो गई। सूर में हमें दोनो रूपो के दर्शन होते हैं। सूर साधना के आध्यात्मिक पक्ष में हमें कही-कही वल्लभेतर सम्प्रदाय की भी झलक दिखाई पडती है।

तुलसी की धर्म-साधना में विनय-पत्रिका का प्रमुख स्थान है। इसके अतिरिक्त कवितावली के उत्तरकाण्ड तथा दूसरे स्थानो पर भी यत्र-तत्र तुलसी की भक्ति-साधना दृष्टिगत होती है। विनय-पत्रिका में तुलसी ने विभिन्न देवी-देवताओं से प्रार्थना की है और उनसे राम-भक्ति का वरदान मांगा है। इस ग्रंथ में तुलसी अपनी हीनता और राम की महत्ता कहते नही थकते। निस्सदेह तुलसी की धर्म-साधना में इस ग्रंथ का अभूतपूर्व स्थान है। तुलसी की पुस्तको को देखने से ज्ञात होता है कि इनका दर्शन-शास्त्र का अध्ययन बहुत गम्भीर था। विनय-पत्रिका में स्तुति, आत्मबोध और आत्म-निवेदन के बीच गोस्वामी जी ने अद्वैतवाद के गम्भीर सिद्धान्तो को काव्यमय सबल भाषा में प्रतिपादित किया है। उनका "केशव कहि न जाइ का कहिये" वाला पद इस दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह एक विवादग्रस्त विषय है कि तुलसी विशिष्टाद्वैतवादी थे अथवा अद्वैतवादी। निस्सदेह अन्य क्षेत्रों के समान तुलसी इस दिशा में समन्वयवादी हा थे। आचार्य शुक्ल ने इनको रामानुज का अनुयायी माना है क्योकि उनका निरूपित सिद्धान्त ही भक्तो की भावना के अनुकूल दिखलाई पडता है। संक्षेप में तुलसी की धर्म-साधना समन्वयवादी है।

उन्होंने राम का अनन्य भक्त होते हुए भी अन्य देवों की उपेक्षा नहीं की है। किन्तु अन्य देवों से राम-भक्ति का ही वरदान मांगा है। इनकी भक्ति-साधना में वे सब तत्त्व सन्निहित हैं जो सूरदास में दिखलाये गए हैं। संसार की असारता, अपने दोष, भगवान् की महत्ता, अपराधक्षमापन, उद्धार की प्रार्थना, भक्तों के निदर्शन इत्यादि सभी तत्त्व तुलसी में भी पाये जाते हैं। केवल इनमें समन्वय की भावना विशेष है।

जहां सूर ने लीलागान तक ही अपने को सीमित रखा है, विभिन्न दार्शनिक मतवादों का विवेचन कर स्वतन्त्र मत स्थापित करने की चेष्टा सूर के प्रयत्न क्षेत्र से सर्वथा बाह्य है, वहां तुलसी ने चिन्तन के द्वारा अनेकों दार्शनिक मतों की परीक्षा कर अपना स्वतन्त्र मत स्थापित करने की चेष्टा की है। तुलसी विरति और विवेक से संयुक्त भक्ति के ही समर्थक हैं जो कि श्रुति-सम्मत हो। वे ज्ञान को भी मुक्ति का साधन मानते हैं, किन्तु भक्ति से घट कर। तुलसी के वाक्यो में स्थान-स्थान पर शंकर के मायावाद, भ्रमवाद, सर्व ब्रह्मवाद और अभेदवाद इत्यादि सिद्धान्तो के दर्शन होते हैं। दूसरी ओर रामानुज के अनुसार द्वैत को स्वीकार कर ब्रह्म के सीता-राम रूप में मग्न रहना चाहते हैं। रामानुज, निम्बार्क, माध्व, वल्लभ इत्यादि ने मायावाद का खण्डन कर ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। इसके प्रतिकूल तुलसी दोनो वादों में सामंजस्य स्थापित करते हुए माया द्वारा जगत् की उत्पत्ति मानते हैं तथा ज्ञान द्वारा ही उसकी भ्रमरूपता की पहिचान सम्भव मानते हैं। जब जीव जगत् को भ्रम रूप मान लेता है तभी वह जगत् से विरत होकर मायापति के चरणों में अपने को आबद्ध करने के लिये आतुर हो जाता है। यही भक्ति है। अतः तुलसी के मन में ज्ञान और भक्ति एक दूसरे के विरुद्ध नहीं। दोनों एक लक्ष्य तक पहुचाने के साधन हैं। किन्तु ज्ञान का मार्ग दुस्तर तथा अनेक विघ्न-बाधाओं से परिपूर्ण है, जबकि भक्ति का मार्ग विघ्न-बाधा रहित अधिक श्रेयस्कर मार्ग है। शकर के मत में मायोपाधि-परिवेष्टित ब्रह्म ही साकार ईश्वर है। इसके प्रतिकूल तुलसी सच्चिदानन्द भगवान् का मायावेष्टन ही असम्भव मानते हैं। वे माया को भगवान् की शक्ति मानते है, जिसके आश्रय से भगवान् स्वतः साकार रूप में प्रकट हैं। राम साक्षात् ब्रह्म हैं और सीता माया है। तुलसी ने विनयपत्रिका में राम को अद्वैत, अव्यक्त, अनघ, निस्सीम, निरुपाधि इत्यादि अनेक विशेषण दिये हैं और जगत् को मिथ्या तथा भ्रममय बतलाया है। यह भ्रम सत्य रूप में भासित होता रहता है जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती 'जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी।' दुःख का कारण द्वैत बुद्धि है :—

जौ निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत मोह जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा।

इसी प्रकार :—

कहि न जात मृग वारि सत्य भ्रम ते दुख होइ विसेखे ।
सुभग सेज सोवत सपने वारिधि बूड़त भय लागै ।
कोटिहुं नांव न पार पाव सो जब लगि आपु न जागै ।
+ + + +
तुलसीदास सब विधि प्रपञ्च जग जदपि झूठ श्रुति गावै ।
रघुपति भगति संत संगति बिनु को भव त्रास नसावै ।।

तुलसी की भक्ति की आध्यात्मिकता का यही संक्षिप्त परिचय है ।

अष्ट छाप के प्रायः समस्त कवियों ने भगवद्भक्ति की महत्ता तथा वैराग्य की भावना अभिव्यक्त की है । नन्ददास का भ्रमर गीत इस दिशा में अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है । इसके अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहो में इस प्रकार के पद्य सम्मिलित किये गये हैं ।

कृष्ण-भक्ति शाखा के दूसरे कवियों ने भी भगवान् की लीला के वर्णन के साथ-साथ भगवद्भक्ति, आत्म-निवेदन और आध्यात्मिक तत्त्व पर कुछ पद्य लिखे हैं। इनमें प्रमुख हैं—हित हरिवंश, स्वामी हरिदास, सूरजदास, मदनमोहन, श्री हरिराम जी व्यास, रसखान, ध्रुवदास इत्यादि । इसी प्रकार राम-भक्ति शाखा वालों ने भी इसी क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया है । स्वामी अग्रदास जी ने ध्यान मंजरी, राम ध्यान मजरी, कुण्डलियां—इन पुस्तकों में भगवान् के ध्यान पर पद्य लिखे हैं । नाभा दास जी ने केवल भगवद्भक्ति के विषय में ही नही, भगवद्भक्तों के विषय में भी भक्तमाल लिखा है । इससे हम भक्तो के विषय में बहुत कुछ ज्ञात कर सकते हैं।

तात्त्विक विवेचन की दिशा में निर्गुण सम्प्रदाय वालों का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । विनय और प्रार्थना, योगाभ्यास, नाम महिमा, माया विषयक सिद्धांत, अद्वैतवाद, गुरु महिमा, सत्संगति का उपदेश इत्यादि विषय निर्गुण धारा वालों में प्रमुख है । इस सम्प्रदाय वालों ने बाह्याडम्बर इत्यादि का निर्ममतापूर्वक खण्डन किया है । ये भक्त गण अन्तः साधना को ही प्रमुख मानते थे । कबीर ने अद्वैतवाद और सूफी मत को मिलाकर अपना जो सम्प्रदाय चलाया था उसी का प्रतिफलन उनकी रहस्यात्मक भावना में हुआ है । किन्तु इनका प्रभाव बिहारी पर नहीं के बराबर पड़ा अतएव यहा पर इनका परिचय नही दिया जायगा । इसी प्रकार निर्गुण सम्प्रदाय के दूसरे कवि नानक, दादू, धर्मदास (कबीर के शिष्य), मलूक दास (दादूदयाल के शिष्य) इत्यादि निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों का मुक्तक के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है । किन्तु इनका भी प्रभाव बिहारी पर नही पड़ा है, अतएव इनका भी विस्तृत परिचय नही दिया जायगा ।

धार्मिक साधना के क्षेत्र में कुछ कार्य उन कवियो का भी है, जिन्होंने धार्मिक क्षेत्र से बाहर रहकर रचना की । केशव की विज्ञान गीता प्रसिद्ध ही है । इसके अतिरिक्त अन्य कवि भी साहित्य साधना के बीच में भक्ति काव्य की दिशा में

योगदान देते रहे। उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:—

(१) धार्मिक काव्य रचना का सूत्रपात वैदिक काल से ही हुआ था।

(२) यास्क के अनुसार धार्मिक काव्य के तीन रूप थे—आराध्य की महत्ता का वर्णन, किसी वस्तु की याचना और किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन।

(३) बौद्ध और जैन धर्म के संघर्ष में स्तोत्र साहित्य का पर्याप्त विस्तार हुआ।

(४) पौराणिक काल में वैदिक देवता छूट गए और उनके स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश की स्थापना हो गई।

(५) पौराणिक युग के बाद भारतीय राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनों के साथ धर्म-साधना के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ। ब्रह्मा, विष्णु, महेश का स्थान राम और कृष्ण ने लिया। इस काल में राम और कृष्ण की भक्ति प्रधान हो गई।

(६) इस काल के धार्मिक काव्य में निम्नलिखित विशेषताये दृष्टिगत होती हैं :—

(अ) भगवान् की बाह्य शक्ति तथा सौन्दर्य के वर्णन के साथ शरणागत-वत्सलता पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रसग में अनेक पौराणिक कथाओ की ओर संकेत किया गया है,जिनमें भगवान् ने शरणागतों का उद्धार किया है। व्याध, गीध, अजामिल इत्यादि उनमें प्रधान हैं।

(आ) जिन भक्तों का भगवान् ने उद्धार किया, उनसे अपने पापो की तुलना की गई है और स्वयं को अधिक पापी बतलाया गया है।

(इ) भगवान् को पापियों का उद्धार करने वाला और अपने को पाप करने वाला कहा गया है और अपने-अपने क्षेत्र में भगवान् से होड़ लगाई गई है।

(ई) भगवान् से उद्धार की प्रार्थना की गई है और अपने कर्मों को निकृष्ट कोटि का स्वीकार करते हुए उनकी उपेक्षा करने की प्रार्थना की गई है।

(उ) अपने उद्धार करने पर ही भगवान् के विरुद की सार्थकता बतलाई गई है।

(ऊ) नाम-स्मरण, कीर्तन और पूजन पर विशेष बल दिया गया है।

(ए) बाह्याडम्बरों की निन्दा की गई है और सच्ची भगवद्भक्ति से ही परमात्मा की प्रसन्नता का प्रतिपादन कया गया है।

(ऐ) तीर्थाटन इत्यादि को भक्ति के सामने तुच्छ बतलाया गया है।

(ओ) समस्त धर्मों की एकता का प्रतिपादन किया गया है और भक्ति के क्षेत्र में सभी को एक सा अधिकारी बतलाया गया है।

(औ) भक्ति के स्तोत्रों में भय, व्याकुलता, पश्चात्ताप, दैन्य, भर्त्सना इत्यादि का बहुत बडा महत्त्व है तथा भगवान् की कृपा के बल पर आश्वस्त होने का वर्णन किया गया है।

(अं) सर्वसाधारण की भौतिकतामयी प्रवृत्ति पर खेद प्रकट किया गया है और विरक्ति का उपदेश दिया गया है।

(अः) धर्म-साधना में दार्शनिकता का भी पर्याप्त पुट दिया गया है। भगवत्स्वरूप, जीव, माया, प्रकृति इत्यादि का स्वरूप और इनके परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है। यही धर्म-साधना का संक्षिप्त परिचय है।

सूक्ति काव्य

सूक्ति काव्य का मूल उदय हमें ऋग्वेद में ही अधिगत होता है। ऋग्वेद तथा दूसरे वैदिक सूक्तो में हमें अनेक स्थानों पर सदाचार का प्रतिपादन प्राप्त होता है। लोक का उल्लेख किया गया है और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पर अनेक सूक्तियां कही गई हैं। यद्यपि सूक्ति साहित्य में भी शक्ति ही अपेक्षित होती है जो ज्ञान के साहित्य से उसे पृथक् करती है तथापि इसमें रस-चर्वणा अपेक्षित नहीं होती। न तो इसमें विभाव, अनुभाव व्यभिचारी भाव के संयोग से स्थायी भाव का परिपोष होता है, न व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा साधारणीकरण किया जाता है और न वेद्यान्तर स्पर्श शून्य ब्रह्मानन्द सहोदर आस्वादन के द्वारा मधुमती भूमिका में पहुंचाने की चेष्टा की जाती है। किन्तु सूक्ति काव्य में शक्ति का एक मात्र साधन होता है उक्ति-वैचित्र्य। इसीलिये आनन्दवर्धन ने सूक्ति काव्य में अलंकारों की प्रधानता मानी है। अलंकारों का प्रयोग विशेष रूप में प्रभाव जमाने के मन्तव्य से होता है। सूक्ति-काव्य में अलंकार वस्तु के ही होते है और उसे ही अलंकार कहते हैं।

सूक्ति-मुक्तक-परम्परा हमें वेदो के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों में भी समुपलब्ध होती है। इस प्रकार के ग्रन्थों के लिखने का मुख्य प्रयोजन यज्ञ विधि का प्रतिपादन और वैदिक मन्त्रों का यज्ञों में विनियोग ही था। किन्तु यत्र-तत्र बिखरे हुए उपाख्यानो के बीच कही-कही इस प्रकार की सूक्तियां सकलित की गई हैं। यद्यपि इनकी संख्या बहुत कम है तथापि इन से इस बात पर प्रकाश अवश्य पड़ता है कि इस प्रकार की सूक्तियो का अत्यन्ताभाव कभी नही हुआ। उन सूक्तियो की भाषा कुछ अधिक प्राचीनता लिये हुए है। किन्तु कुछ अपवादों के साथ यह पाणिनीय संस्कृत ही कही जायगी। यत्र-तत्र अलंकारों का प्रयोग बड़ा ही स्वाभाविक हुआ है जो वर्ण्य विषय को अधिक प्रभावशाली बना देता है। जहां कहीं कथावस्तु के अन्दर इस प्रकार की सूक्तियां जोड़ी गई हैं वहां वे बहुत ही उचित प्रतीत होती

हैं और कथावस्तु के कारण प्रभाव अधिक बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए ऐतरेय ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र अपने पुत्र रोहित को वरुण को प्रदान करने के लिए वचन-बद्ध हैं। किन्तु पुत्र-स्नेह के कारण उसे वन को भेज देते हैं और इस प्रकार वरुण के कोपभाजन बनते हैं। जब वन में पुत्र पिता की दुर्दशा का वर्णन सुनता है तब वह घर लौटकर पिता को वरुण के कोप से छुडाने के निमित्त आत्म-समर्पण कर देने के लिये उद्यत हो जाता है। उस समय इन्द्र उसे उद्यम की प्रशसा कर रोकने की चेष्टा करते है। एक-एक सूक्ति के द्वारा रोहित एक-एक वर्ष के लिए रुक जाता है। उद्यम की प्रशंसा बड़ी ही सबल और सालंकार भाषा में की गई है:—

"हे रोहित, हमने सुना है कि जो व्यक्ति पूर्ण रूप से श्रान्त नही होता उसे सम्पति प्राप्त नहीं होती। जो आराम से लेटे रहने वाला व्यक्ति है वह पापी होता है। इन्द्र सर्वदा विचरण करने वाले (उद्यमशील) के ही मित्र होते है।" (ऐतरेय ब्राह्मण)

"जो व्यक्ति बैठा रहता है उसको प्रतिष्ठा भी बैठी रहती है। जो उठ खड़ा होता है, उसकी प्रतिष्ठा भी उठ खड़ी होती है, जो सो जाता है उसकी प्रतिष्ठा भी सो जाती है और जो चलता फिरता रहता है उसकी प्रतिष्ठा भी चलती फिरती रहती है।"

"सोने वाले के लिए कलियुग होता है। उठकर बैठने वाले के लिए द्वापर होता है, खड़े होने वाले के लिए त्रेता होता है और विचरण करने वाले के लिए सत्ययुग होता है।"

"विचरण करते हुए व्यक्ति मधु प्राप्त कर लेता है, विचरण करते हुए स्वादिष्ट उदुम्बर प्राप्त करता है, सूर्य के परिश्रम को देखो जो कि विचरण करते हुए कभी तन्द्रा को प्राप्त ही नहीं होता।" (ऐतरेय ब्राह्मण)।

इसी प्रकार माला-दीपक के द्वारा पुत्र की प्रशंसा की गई है:—

"अन्न ही प्राण है, शरण ही निवास स्थल है, रूप ही स्वर्ण है, पशु ही परिग्रह है, स्त्री ही मित्र है, पुत्री ही दयास्पद है और विशाल आकाश में पुत्र ही प्रकाश है।"

ब्राह्मण ग्रन्थ प्रधानतया यज्ञ-विधिपरक हैं और यज्ञो का मन्तव्य लोकैषणा ही होता है। अतएव इन सूक्तियों में सर्वत्र लोकैषणा ही प्रधान है। लौकिक सुख-शान्ति और सफलता के लिए आवश्यक तथा उपयोगी गुणों पर विशेष बल दिया गया है और उनको लौकिक दृष्टिकोण से ही समझाने की चेष्टा की गई है।

वैराग्यपरक सूक्तियों का प्रारम्भ हमें उपनिषदों में प्राप्त होता है। स्पष्ट ही है कि इन ग्रन्थों का प्रणयन एक ओर तो ब्राह्मण ग्रन्थों की मर्यादातीत लौकिकता और प्रवृत्तिपरता के प्रतिरोध में हुआ था और दूसरी ओर आरण्यकों के ठीक उत्तराधिकारी होने के कारण इनका उपयोग भी वृद्धावस्था के लिए विशेष माना

जाता था। अतएव इनमें वैराग्य का स्वर मुखर हो उठना स्वाभाविक ही है। इन ग्रन्थों में जहां एक ओर अनेक अलंकारों के माध्यम से ब्रह्म-तत्त्व का निरूपण किया गया है, उसके सगुण, निर्गुण रूपों की व्याख्या की गई है, आत्म-स्वरूप का विवेचन किया गया है और साथ ही सबल भाषा में संसार से विरक्ति का उपदेश दिया गया है तथा प्रेय मार्ग को गर्हित बतलाकर श्रेय मार्ग की प्रशंसा की गई है वहां दूसरी ओर इन अध्यात्मविषयक निबन्धों के बीच लोक-व्यवहारोपयोगी सदाचारपरक सूक्तिया जोड़ दी गई हैं जिससे उपनिषदों की ज्ञानपरता के साथ-साथ व्यवहार पक्ष का भी प्रत्याख्यान नही हुआ है और उपनिषद् ग्रव्यावहारिकता के दोष से बच जाते है। इन व्यवहारोपयोगी पद्यों को हम मुक्तक काव्य के अन्तर्गत सूक्ति साहित्य में सन्निविष्ट कर सकते हैं। कही-कही सदाचार के उपदेश के लिए गद्य की शैली भी अपनाई गई है और इसके लिए छोटे-छोटे कथानक भी दिए गये हैं। इन उपदेशों में दान, दया, आर्जव, सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस्या, अनवलिप्तता इत्यादि का बडी ही मनोरम शैली में प्रतिपादन किया गया है और आत्मसयम की पूर्ण शिक्षा दी गई है। कठोपनिषद् में रूपक और उपमा के सकर के द्वारा विवेक की प्रशंसा की गई है। "विद्वान् लोग इन्द्रियों को घोड़ा बतलाते हैं, विषय उनके मार्ग है, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा ही भोक्ता है। जिस प्रकार अविवेकी सारथि के दुष्ट घोड़े उसके वश में नही रहते उसी प्रकार जिस व्यक्ति में विशेष ज्ञान नहीं होता और जिसका चित्त भी असयत होता है, उसकी इन्द्रिया भी उसके वश में नहीं रहती। इसके प्रतिकूल जो विशेष ज्ञान से युक्त होता है और जिसका चित्त समाहित होता है उसकी इन्द्रियां इसी प्रकार उसके वश में हो जाती हैं, जिस प्रकार विज्ञ सारथि के अच्छे घोडे उसके वश में बने रहते हैं।" इसी प्रकार देवयान मार्ग की कल्पना की गई है और उससे जाने के लिये सत्य मार्ग की अनिवार्यता घोषित की गई है तथा विजय का साधन भी एकमात्र सत्य को ही बतलाया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्य के साथ शम, दम, तितिक्षा इत्यादि का भी महत्त्व बतलाया गया है। तात्तरीयोपनिषद् में गद्य में समस्त आचार-शास्त्र का सारभूत अश संकलित कर दिया गया है। इन ग्रन्थो में अलकार अत्यन्त स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। कहीं भी अलंकारो के लिये अलकारों का प्रयोग नही हुआ है। अलंकारो का उद्देश्य विषय का स्पष्टीकरण ही रहा है और कही-कहीं शक्ति के संचार के लिये अलकारों का उपादान किया गया है। प्रधान रूप से काव्यलिग, परिकर, दीपक और रूपक का प्रयोग किया गया है। कही-कही माला रूप में भी इन अलंकारो का उपादान हुआ है। निम्नलिखित पद्य विरोधाभास का अच्छा उदाहरण है :—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपोमातरिश्वा दधाति॥ (ईशावास्य०)

आत्मा एक है, यह चलता नहीं और इसकी गति मन से भी अधिक तेज है। यह पहले ही विद्यमान था और इसको देवता प्राप्त नही कर सके। यह स्थित रहता है और दौडने वाले सभी पदार्थों से आगे निकल जाता है। इसी प्रकार :—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

तथा **अणोरणीयान् महतो महीयान्** में भी विरोधाभास ही है।

संक्षेप में इन सूक्तियो में सदाचार की प्रशंसा की गई है, सत्य, त्याग, उदारता, अहिसा इत्यादि को अपनाने का उपदेश दिया गया है, कर्मशीलता के गीत गाये गये हैं और परमात्म-तत्व तथा पारलौकिकता का महत्त्व स्थापित करते हुए भी लौकिक सफलता की उपेक्षा नही की गई है। अलंकारो का चलता हुआ स्वाभाविक प्रयोग किया गया है। निस्सन्देह उपनिषदों की ये सूक्तियां परवर्ती सूक्ति-साहित्य का कडी को जोड़ने वाली हैं और सूक्तियों की निरन्तरता की परिचायिका हैं।

पुराणों में सभी प्रकार की सूक्तियों का समाहार हुआ है। पुराण भारतीय काव्य-जगत् की समस्त प्रवृत्तियोंको आत्मसात् किये हुए है और यूरोप के अनेक विद्वानों ने इनको भारतीय काव्य-जगत् की इन्साईक्लोपीडिया कहा है। वस्तुत. काव्य के क्षेत्र में जो कुछ भी सन्निविष्ट हो सकता है, वह सब पुराणों में और विशेष रूप से महाभारत में विद्यमान है। नीति सूक्तियो का भी पुराणो में पर्याप्त बाहुल्य है। ये नीति-सूक्तियां पुराणों में दो रूपों में आती हैं, एक तो कथोपकथन के अन्तर्गत किसी वक्ता के वचन के रूप में सन्निविष्ट कर दी गई है, दूसरे कही-कही पर नीति-सूक्तियों के लम्बे-लम्बे प्रकरण ही स्वतन्त्र रूप में इन ग्रन्थो में आ गये हैं। उदाहरण के लिये महाभारत में विदुर-नीति, श्रीमद्भागवत में धर्म का उपदेश और गरुड पुराण में अन्तिम दो-तीन अध्याय। इसी प्रकार प्राय सभी पुराणो में सूक्ति-काव्य से सम्बद्ध कोई न कोई प्रकरण आ ही गया है। इन प्रकरणो के अतिरिक्त जहां-कही सामान्य रूप से कथापकथन के अन्तर्गत नाति-सूक्तिया आई हैं वे भी नीति-सूक्ति के रूप में स्वतन्त्र रचनाए ही ज्ञात होता हैं। एक सूक्ति का अनेक स्थानों पर आ जाना इस बात का द्योतक है कि इस प्रकार की सूक्तिया सर्व-साधारण में प्रचलित रही होंगी और अनेक कथाकारो ने उनको यथास्थान सन्निविष्ट कर दिया होगा, जा बात ब्राह्मणधर्मानुयायी पुराणो के विषय में कही जा सकती है वही जैनानुमत पुराणों तथा बौद्धों के ललित-विस्तर इत्यादि ग्रन्थों के विषय में भी चरितार्थ होती है।

इन पौराणिक सूक्तियो का विषय बहुत व्यापक है। साधारण दिनचर्या की छोटी-छोटी बातों से लेकर राज-धर्म तथा मोक्ष-धर्म पर्यन्त सभी प्रकार के विषय इनमें अन्तर्भुक्त हो गये हैं और सभी वर्गों के व्यक्तियो के लिये इनका उपयोग सम्भव है। कथन अधिकतर साधारण भाषा में हैं। अलकार भी अत्यन्त साधारण किन्तु प्रभावशाली हैं। किन्तु चमत्कार का प्राधान्य सर्वत्र पाया जाता है। कही-

कहीं सौन्दर्यपूर्ण साम्य-विधान ही चमत्कार का कारण बना है। अन्यत्र प्रस्तुत और अप्रस्तुत का साहचर्य चमत्कार में निमित्त हुआ है और दूसरे स्थानों पर स्वाभाविक कथन चमत्कारकारक हुए है। साम्य-विधान के उपमा, रूपक, व्यतिरेक इत्यादि प्रायः सभी रूप इन सूक्तियों में पाये जाते हैं।

इन ग्रन्थों के विषय का यदि सामान्य रूप में विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि इस समस्त वर्णन में धर्म और अर्थ दोनों को समान महत्त्व प्रदान किया गया है। अधिकतर धार्मिक-सूक्तियों में भी स्वार्थ-लाभ का प्रत्याख्यान नही किया गया है और आर्थिक सूक्तियो में भी धार्मिकता का महत्त्व प्रतिष्ठित रखा गया है। धर्म के मार्ग पर चलने से तो कभी अकल्याण होता ही नही और धर्म की ओर प्रवृत्ति भी तभी सम्भव है जबकि पारलौकिक श्रेयोविधान के साथ-साथ लौकिक सुख, समृद्धि का भी पूर्ण आश्वासन प्राप्त होता है। किन्तु आर्थिक सुख-साधन के क्षेत्रों में यदि कही धर्म व्याघात उपस्थित करता हो तो धर्म को नमस्कार करने का ही उपदेश दिया गया है। वैसे तो अनृत सर्वदा हेय है किन्तु शत्रु से व्यवहार करने में "अपनी वाणी को नवनीत के समान कर ले, चित्त को निर्दय बना ले और शत्रु को ऐसा उपदेश दे, जिससे उसका वंश के सहित नाश हो जाय।" इन सूक्तियों में पण्डित और मूर्ख के लक्षण विस्तार से बतलाये गये हैं। इन लक्षणों का सारांश यह है, जो व्यक्ति अपने सासारिक स्वार्थ को नष्ट कर लेता है अथवा जो व्यक्ति धर्म के विपरीत चलता है दोनो ही व्यक्ति मूर्ख हैं। इसके विपरीत पण्डित वह है, जो सांसारिकता में और धर्म के क्षेत्र में दोनों स्थानों पर सफलता प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः इन सूक्तियो में धार्मिक सूक्ति तथा आर्थिक सूक्ति इन दोनो का पृथक्-पृथक् विभाजन अत्यन्त कठिन है। सर्वत्र "धर्मार्थसहितं वचः" को ही महत्त्व दिया गया है। यहां तक कि आर्यशील के वर्णन में सांसारिकता का महत्त्व है और राजधर्म में भी धर्म को ही प्रधानता दी गई है। राजा के लिये काम-क्रोध का त्याग, पात्र में दान, शास्त्रज्ञता ये गुण अनिवार्य माने गये हैं। व्यसनों का त्याग उसके लिये परम आवश्यक है। "जो कर्म मिथ्या-उपेत हों और अनुचित उपायो से सिद्ध होने वाले हों उन कर्मों में मन नहीं लगाना चाहिये। इसी प्रकार अच्छे उपाय के द्वारा लोक विहित कर्म यदि सिद्ध न हो तो भी उस विषय में मन में मलीनता नहीं लानी चाहिये।" राजधर्म में सर्वदा शक्ति की उपेक्षा न करते हुए ही कर्म करना चाहिये। "जो ग्रास खाया जा सके, खाने पर जो सफलतापूर्वक पच भी जाए और परिणाम में भी हितकर हो वही ग्रास खाना चाहिए।" समय के अनुसार समझकर कर्म करने की प्रशंसा की गई है—"जो व्यक्ति वनस्पति के न पके हुए फलों को बीन लेता है उसे उनसे रस नही मिलता और उनका बीज भी नष्ट हो जाता है। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति पके हुए फलों को समय पर प्राप्त करता है वह फलों से रस प्राप्त करता है और बीज भी सुरक्षित रहता है।" प्रजा से धन लेने में अधिक

विवेक से काम लेना चाहिये। "जिस प्रकार भौरा पुष्पों की रक्षा करते हुए मधु ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार मनुष्यों से धन लेना चाहिये किन्तु उनकी हिंसा नही करनी चाहिये। जिस प्रकार माली फूल-फूल चुन लेता है किन्तु जड़ नही काटता, इसी प्रकार धन ग्रहण करना चाहिये किन्तु प्रजा की रक्षा का ध्यान रखना चाहिये। इसके प्रतिकूल लकड़ी का कोयला बनाने वाले की भाति जड नही काटनी चाहिए। जिस राजा से प्रजावर्ग ऐसा भयभीत रहता है जैसे व्याघ्र से मृग डरा करते हैं उसको यदि सागर पर्यन्त भी भूमि प्राप्त हो जाय तो भी शीघ्र ही हाथ से जाती रहती है।" केवल राजधर्म नही साधारण जनता के लिए भी सफलता की कुञ्जी बतलाई गई है। इसके लिए गुप्त-मन्त्रणा, विचारशीलता, इन्द्रियदमन, मद का अभाव इन बातो पर विशेष बल दिया गया है और विस्तारपूर्वक इनका विवेचन किया गया है।

धार्मिक क्षेत्र में अन्धविश्वास का निराकरण और बाह्य धर्म के प्रति अनास्था, जो कि हमें कबीर इत्यादि में पूर्ण रूप से दृष्टिगत होती है इन ग्रन्थो में भी विद्यमान है। महाभारत में भी अनेक पद्य इस आशय के पाये जाते है,जिनमें तीर्थाटन, देवपूजन, गंगा-स्नान पर आस्था रखने का निराकरण किया गया है और सामान्य धर्म की शिक्षा दी गई है, तथा गरुड़ पुराण के अन्तिम अध्यायों में इन बातो का विशेष निराकरण प्राप्त होता है। "जो व्यक्ति प्रमाद तथा आलस्य में पडा रहता है और धन के मोह से आक्रान्त रहता है, उसको वेदाध्ययन पाप से नही बचा सकता। जिस प्रकार पख उग आने के बाद पक्षी घोसले को छोडकर उड जाते है उसी प्रकार अन्त समय में वेद भी ऐसे व्यक्ति को छोड़कर भाग जाते हैं।"

संक्षेप में पुराणों की इन सूक्तियों में धर्म का सामान्य रूप, मोक्षोपयोगी ब्रह्मवाद, अन्धविश्वास का निराकरण इत्यादि अनेक बाते पाई जाती है, जिनकी सत्ता परवर्ती साहित्य में अधिगत होती है। साथ ही अर्थशास्त्र से सम्बद्ध सूक्तिया पाई जाती हैं। किन्तु धर्म और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध सुरक्षित रक्खा गया है और दोनो एक दूसरे के साधक होकर आये हैं बाधक नही। इनका इतना अधिक सामञ्जस्य स्थापित कर दिया गया है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसी विशेष उक्ति को धार्मिक माना जाये या आर्थिक। सूक्तियो में अलकारो का प्राधान्य है। सादृश्यमूलक अलकारों में साधर्म्य और वैधर्म्य दोनो प्रकार अपनाये गये है। कही-कही रूपकातिशयोक्ति का भी उपादान हुआ है। किन्तु इस प्रकार की सूक्तिया मात्रा में बहुत कम है। अधिकतर दीपक का आश्रय लिया गया है और प्रस्तुत और अप्रस्तुत को एक वाक्य में कहने की अधिक चेष्टा की गई है। मुक्तक के क्षेत्र मे प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का विभाजन कठिन होता है इसलिये कहा जा सकता है प्रायः प्रस्तुतो का ही उपादान हुआ है। कही-कही स्वभावोक्ति भी चमत्कारोत्पादक ढग से प्रयुक्त हुई है। इस प्रकार सूक्ति-मुक्तक के क्षेत्र में पौराणिक रचनाये पर्याप्त विस्तृत है और अपना अलग महत्त्व रखती है।

जैन-बौद्ध मुक्तकों में सूक्ति काव्य का अत्यधिक विस्तार है। वस्तुतः जैन-बौद्ध धर्मों के प्रचार में यह सूक्ति-काव्य अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। जैन आगमों में तथा बौद्धों के त्रिपिटकों में काव्य-शैली पर धर्म का प्रचार किया गया था।

जैनियो के धर्म-ग्रन्थ आगम या सिद्धान्त के नाम से प्रख्यात हैं। इन की भाषा प्राकृत है। यह आर्ष प्राकृत कहलाती है। इसे हम उस समय की अर्द्धमागधी कह सकते हैं। महावीर स्वामी ने अपना उपदेश इसी भाषा में दिया था। सम्भवतः इसका कारण यह था कि अर्द्धमागधी एक ओर तो मागधी से मेल खा जाती थी और दूसरी ओर शौरसेनी से भी मिल जाती थी। इस प्रकार यह भाषा मगध से मथुरा तक समझी जा सकती थी। इसी प्रदेश में महावीर स्वामी को अपना धर्म प्रचार करना था। अतएव अर्द्धमागधी से बढकर दूसरी उपयुक्त भाषा हो ही कौन सकती थी ? इन ग्रन्थो में गद्य और कथा साहित्य का बाहुल्य है। किन्तु स्थान-स्थान पर गाथाये (पद्य) भी सम्मिलित हैं, जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। इन पद्यो की भाषा गद्य भाषा से भिन्न तथा अधिक कला-पूर्ण है। ज्ञात होता है कि इन गाथाओ की स्वतन्त्र रचना हुई होगी और सकलन काल में इन्हे मूल ग्रन्थ के साथ जोड दिया गया होगा। हम कह सकते है कि ये गाथाये मुक्तक-काव्य-परम्परा के अन्दर आती है। इनके स्वतन्त्र सकलन की प्रवृत्ति भी दिखलाई देती है। "गाथा-संग्रह", "महावीर वाणी", "तत्व समुच्चय" इत्यादि अनेक संकलन भी प्रकाशित हो चुके है।

जैन साहित्य का परिचय देते हुए विण्टरनित्ज ने लिखा है कि ये गाथायें धूलिवत् नीरस है। इस कथन में आशिक सत्य अवश्य विद्यमान है। भारतीय साहित्य में 'सत्य शिव सुन्दरम्' में चरम गुण सौन्दर्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है और उसके लिये प्रतीयमान अर्थ की मुख्यता, वक्रोक्ति और चमत्कारपूर्ण पद का प्रयोग इत्यादि मान्यताये स्वीकार की गई हैं। किन्तु इन गाथाओ में सौन्दर्य के मूलभूत तत्त्वो का सर्वथा अभाव है। न इनमें चमत्कार लाने की चेष्टा की गई है और न वस्तु को सरस तथा सहृदय-जन-मनोऽभिराम बनाने का कोई प्रयत्न ही लक्षित होता है। हम इन कवियो से ऐसी आशा भी नही कर सकते। "जिनकी दृष्टि में सभी गीत विलापरूप हो, सब नाट्य बिडम्बना रूप हो, आभूषण भार हों और संसार के सभी काम-भोग दु खावह हो" उनसे यह आशा किस प्रकार की जा सकती है कि वे हमें गुड-जिह्विका शृंगार में प्रवृत्त करते हुए वैराग्य की ओर ले जायेंगे। "काव्य का मुख्य प्रयोजन विनेय व्यक्तियो को उपदेश देना ही है। जब तक विनेय व्यक्ति उन्मुख न हो जाये तब तक काव्य-शोभा का आधान ठीक रूप में माना ही नहीं जा सकता। अधिकतर व्यक्तियो का अन्त करण शृंगार की भावना से भावित होता है। अतः शृंगार रस के द्वारा वे व्यक्ति आनन्द का अनुभव करते हुए सरलतापूर्वक विनय के उपदेशों की ओर उन्मुख हो जाते है। ऐसी दशा में विनय के उपदेशों को

समझने और स्वीकार करने में उन्हें कठिनता नहीं होती।" इस प्रकार के जाया-सम्मित उपदेश में न तो उन मुनियो का विश्वास था और न ये उस ओर जाना ही चाहते थे। यदि कहीं संयोगवश किसी अलकार का प्रयोग हो भी गया है तो भी विषय को स्पष्ट करने के लिये ही हुआ है सुन्दरता सम्पादन के लिये नही।

प्रस्तुत गाथाओं का दूसरा बड़ा दोष यह है कि इनमें विषय की विभिन्नता है ही नही। यदि हम एक वाक्य में इनका परिचय देना चाहे तो कह सकते हैं कि इन गाथाओ मे सर्वत्र वैराग्य का ही प्रतिपादन है। शृंगार रस अपने पूर्ण विभावों, अनुभावो और संचारियो के साथ कही परिपोष नही प्राप्त कर सका है। आचारावलियो के वर्णन में गृहस्थो के लिये सासारिक वासनाओ को धीरे-धीरे कम करने का उपदेश दिया गया है। दूसरो से क्या व्यवहार होना चाहिये? विशेष अवसरो पर सदाचार की क्या व्यवस्था हो सकती है? सामूहिक जीवन किस प्रकार का होता है? इत्यादि प्रश्नो पर इन गाथाओ मे विचार नही किया गया है। समाज के प्रति सर्वसाधारण के कर्तव्यो का भी इन गाथाओ में उल्लेख नही है। ये गाथाये व्यक्तिगत साधना क्षेत्र को लेकर ही चलती है और उसी से इनका सम्बन्ध है।

इन गाथाओं के विषय को हम दो वर्गो में बांट सकते है—(१) कर्त्तव्योपदेश-परक गाथाये और (२) तत्त्व-मीमासापरक गाथाये। गृहस्थो और मुनियो के कर्तव्य पृथक्-पृथक् बतलाये गये है। किन्तु दोनो में त्याग वृत्ति की प्रधानता और वृतो की दृढता पर अधिक बल दिया गया है। मुनियो के कर्म गृहस्थो की अपेक्षा अधिक दुरूह और अधिक सयम-साध्य हैं। कर्त्तव्यो के उपदेश में मानस-परिशुद्धि और कर्मशुद्धि दोनो को समान रूप से महत्त्व प्रदान किया गया है और प्रारम्भिक साधना से लेकर मोक्ष पर्यन्त एक सुव्यवस्थित कर्म-परम्परा का प्रतिपादन प्राप्त होता है। जहा तक कर्त्तव्य कर्मों का सम्बन्ध है यह व्यवस्था उपनिषत्काल की व्यवस्था से बहुत दूर नही पडती। इतना अन्तर अवश्य है कि इसमें क्रम स्वतन्त्र रक्खा गया है और इसी कारण वह पृथक् सी जान पडती है। अस्नान और अदन्त-धावन इत्यादि दो चार विधियाँ अवश्य नयी सी है। जैन तत्त्वमीमासा में एक ओर अणुव्रत, गुणव्रत, नयवाद, स्याद्वाद इत्यादि अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन है और जीव तथा प्रकृति इत्यादि का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है वहा दूसरी ओर इनमें विरोधी धर्मो का उल्लेख और यथास्थान खण्डन कर दिया गया है। इस प्रकार ये गाथाये जैन-धर्म के जिज्ञासुओ के लिये अत्यन्त उपयोगी है और यद्यपि इनमें कलात्मकता और भावात्मकता की कमी है तथापि ये मुक्तक-काव्य परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

ऊपर जिस कलात्मकता और भावात्मकता की कमी की बात कही गई है उसका आशय यह नही है कि इन गाथाओ में कवित्व है ही नही। यद्यपि विनय, सदाचार इत्यादि का प्रतिपादन सरल, सुबोध और इतिवृत्तात्मक शैली में किया गया

है किन्तु फिर भी कहीं-कहीं दृष्टान्त, उपमा इत्यादि का बड़ा ही सरल और स्वाभाविक प्रयोग अनायास ही हो गया है। न तो उनमें बनावट ही ज्ञात होती है और न यही ज्ञात होता है कि अलकारो के लिये अलकारो का प्रयोग किया गया है। दो-चार उदाहरण देखिये :—

मलाओ खंधप्पभवो दुमस्य, खंधाधपच्छा समुवेत्ति साहा।
साहा पसाहा विरुहन्ति पत्ता, तओ पसे पुप्फ फलं रसो य।
एवं धम्मस्स विणओ परमो मे मोक्खो। जेण किर्त्ति सुय सिग्धं निस्सेसं चाधिगच्छइ॥

"वृक्ष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध उत्पन्न होता है। स्कन्ध के पश्चात् शाखाये समुद्भूत होती है। शाखाओ से प्रशाखाये और पत्ते उत्पन्न होते हैं। उसके बाद क्रमशः फूल, फल और रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विनय धर्म का मूल है, मोक्ष अन्तिम रस है। विनय के द्वारा ही कीर्ति और सुख सभी कुछ प्राप्त हो जाता है।

"पद्मपत्रमिवाम्भसा" वाला दृष्टान्त भारतीय साहित्य में अनेक बार आया है। किन्तु महावीर की वाणी में एक नवीनता आ गई है। देखिये :—

वोच्छिन्द सिणेहमपणों कुसुमं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेह वज्जिये समयं गोयम मा पमाइये॥

"जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नही छूता। अलग अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी संसार से अपनी आसक्तियां दूर कर। हे गौतम! तू प्रमाद मत कर।"

रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण लीजिये :—

तिण्णो सि अण्णवं महं किं पुण चिट्ठासि तीर भागओ।
अभितुर पार गमिन्तये समयं गोयम मा पमाय ए।

"गौतम! तू महासागर को पार कर चुका है। अब किनारे पर क्यों रुक गया है। पार जाने की शीघ्रता कर। क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

माला रूपक का एक उदाहरण लीजिये :—

जरा मरण वेगेण बुज्झमाणाण पाणियं।
धम्मो दीवो य इट्ठाय गई सरणमुत्तम॥

"जरा और मरण के वेग वाले प्रवाह में बहते हुए जीवो के लिये धर्म ही एकमात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है।"

विश्व-पथ के पथिक के लिये धर्म को पाथेय मानना भारतीय साहित्य में बहुत प्रचलित है। निम्नलिखित पद्यो में उसी का सहारा लिया गया है :—

अद्धाण जो महन्तं तु अप्पोहयो प वज्जई।
गच्छन्तो सो दुही होई छुहा तण्हाए पीड़ियो॥
एवं धम्मं अकाऊण जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो दुहीं होई वाही रोगे हि पीड़ियो॥

"जो पथिक बिना पाथेय लिये बड़े लम्बे मार्ग की यात्रा पर जाता है वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीड़ित होकर अत्यन्त दुःखी होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य बिना धर्माचरण किये परलोक जाता है, वह वहां विविध प्रकार की आधि-व्याधियो से पीड़ित होकर अत्यन्त दुःखी होता है।"

अद्धाणं जो महन्तं तु सप्पाहेयो पवज्जई।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहा तण्हा विवज्जियो॥
एवं धम्मं पिकाउणं जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुखी होइ अप्पकम्मे अवेयणे॥

"जो पथिक लम्बे मार्ग की यात्रा पर अपने साथ पाथेय लेकर जाता है वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीडित न होकर अत्यन्त सुखी होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य यहां भली-भांति धर्म का आराधन करके परलोक जाता है, वह वहां अल्पकर्मी और पीडा रहित होकर अत्यन्त सुखी होता है।"

जहा एक ओर सदाचार का निरूपण किया गया है वहां उसके प्रतिद्वन्द्वी प्रमाद स्थानों का भी उल्लेख मिलता है। अनिगृहीत क्रोध और मान तथा प्रवर्धमान माया और लोभ ये चार कषाय पुनर्जन्म रूपी ससार-वृक्ष की जड़ों को सीचने वाले बतलाये गये हैं। मालोपमा और धर्म-लुप्तोपमा की संसृष्टि भी कितनी सुन्दर और स्वाभाविक है :—

सल्लं कामा विसं कामा आसी विसोपमा।
कामेय प त्थेमाणा अकामा जन्ति दुग्गतिम्॥

"काम भोग शल्य है, विष है और विषधर सर्प के समान है। काम-भोग की लालसा रखने वाले प्राणी उन्हे प्राप्त किये बिना ही अतृप्त दशा में एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।"

जैन साधुओं के लिये गीत और वाद्य सभी मोक्ष मार्ग से विपरीत दिशा में ले जाने वाले है :—

"गीत सब विलास रूप हैं, नाट्य सब विडम्बना रूप हैं, आभूषण सब भार रूप हैं। संसार के जितने भी काम भोग हैं सभी दुःखावह हैं।"

अन्य महात्माओं की भाति जैन साधु भी मृग-चर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटिका इत्यादि बाह्याडम्बरों में विश्वास नहीं करते। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्म-विकास और आत्मोद्धार के प्रायः समस्त साधनों और उपकरणों का उपादान समीचीन रूप में जैन-धर्म में पाया जाता है।

पंडितो और मूर्खों के लिए अलग-अलग सूक्त लिखे गये हैं जिसमें दोनों का विभेद स्पष्ट हो जावे। अनेक सूक्त मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होने वाले साधक की महत्ता प्रकट करते है। अपनी ओर से ब्राह्मण की परिभाषायें दी गई हैं और उन गुणों तथा कर्मों का उल्लेख किया गया है, जिनके आधार पर कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता है।

आर्थिक नीति सूक्तियो में एक ही नाम वाली अनेक पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। एक पुस्तक राजनीति समुच्चय, चाणक्य नीति, चाणक्य राजनीति, वृद्ध चाणक्य, लघु चाणक्य, इत्यादि कई नामो से प्रचलित है। इसकी अनेक प्रतियां प्राप्त हो चुकी हैं और दूसरी प्राप्त होती जा रही हैं। संग्राहको ने उसमें अनेक परिवर्तन कर दिये है और यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उनका मूल रूप क्या था। ये सभी पद्य चाणक्य कृत नही हो सकते। पद्यो की सख्या सब पुस्तकों में एक सी नही है। किसी-किसी प्रति में १७ अध्यायों में ३४० पद्य हैं, जबकि दूसरी में २अध्यायों में ५७६ पद्य है। इन पद्यो को देखने से यह नही कहा जा सकता कि ये केवल राज धर्म के उद्देश्य से लिखे गये है यद्यपि ग्रंथारम्भ में ऐसी ही प्रतिज्ञा की गई है। ज्ञात होता है लेखक ने ग्रथ को चाणक्य कृत सिद्ध करने के मन्तव्य से ऐसी प्रतिज्ञा करा दी है। पद्यो में विषय भेद भी पर्याप्त है, जीवन के व्यावहारिक नियम, चरित्र, सम्पत्ति, विपत्ति, भाग्य, उद्योग तथा अन्य अनेक नैतिक विषयो पर पद्य लिखे हैं। जिस प्रकार अगुत्तरनिकाय, ठानाग, महाभारत इत्यादि ग्रथो में सख्या के आधार पर सदुपदेश दिये गये हैं उसकी झलक इसमें भी मिलती है। कही-कही पर एक ही सख्या को कई बार दोहराया गया है। कही-कही एक ही शब्द का अनेक बार प्रयोग कर उक्ति को प्रभावशालिनी बनाने की चेष्टा की गई है। कही-कही पर उपमा और रूपको का उपादान प्रकृति से किया गया है। इस ग्रथ में भी राज-धर्मोपदेश के साथ-साथ चरित्र की महत्ता पर भी पर्याप्त बल दिया गया है। प्राणों को त्याग करके स्वभिमान की रक्षा करने का उपदेश है तथा तपस्या पर अधिक बल दिया गया है। भाग्यवाद का भी इसमें महत्त्व स्वीकार किया गया है। स्त्रियो को सदोष बतलाया गया है। इस पुस्तक का प्रधान छन्द श्लोक ही है, दूसरे छन्दो का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है।

ऊपर जिन सूक्ति मुक्तको का उल्लेख किया गया है वे वस्तुतः पुरानी शैली में आते है। इस शैली में अधिकतर इतिवृत्तात्मकता और वस्तु की ही प्रधानता है कला की कम। कवि कथन के उद्देश्य से कोई कथन नही करता अपनी सूक्ति में सुन्दरता का सचार और अलकार का उपादान केवल सूक्ति को प्रभावशालिनी बनाने के लिये ही किया गया है। कवि की चेष्टा रहती है कि किसी एक विषय में सभी वास्तविकताये पाठक के सामने आ जावें जिससे वह अपने जीवन को त्याग-तपस्यामय, सत्य-जीवन के रूप में परिवर्तित कर सके और यदि कभी आवश्यकता आ पड़े तो किसी विषम परिस्थिति में अपना स्वार्थ साधन कर सके, साथ-ही-साथ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की रहस्यमयी वास्तविकताओ से भी परिचित हो सके। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए कवियो ने सूक्तियो का सृजन करने की चेष्टा की है। किन्तु बाद में धीरे-धीरे कवि-कर्म सूक्ष्मता की ओर बढता जाता है, उसमें इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर कला की प्रधानता होती जाती है। कवि जीवन-सुधार के मन्तव्य से

नहीं अपितु कला प्रदर्शन के मन्तव्य से कविता करना अधिक पसंद करता है। यह भारतीय साहित्य की विशेषता रही है कि कवि-कर्म स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त होता गया है। कवि गण प्राचीनों के फैले हुए विषय का समाहार करने की विशेष चेष्टा करते हैं और एक पद्य में ही बहुत कुछ कह डालने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होने लगती है। इन कवियो की सूक्तयां स्फुट विचारो के ही रूप में विद्यमान है। किसी विशेष विषय में पाठको को सभी कुछ बतला देने की प्रवृत्ति इनमें नहीं है।

सूक्ति-काव्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध कविवर भर्तृहरि की शतत्रयी है। इसमें इन्होने धार्मिक सवित, आर्थिक सूक्ति, और काम सम्बन्धी सूक्तियो के लिये पृथक्-पृथक् वैराग्य-शतक, नीति-शतक और शृंगार-शतक की रचना की है। भर्तृहरि के विषय में अन्तः साक्ष्य सर्वथा शून्य है। केवल इतना अवगत होता है कि कवि शैव है और वैराग्य की भावना से पूर्ण रूप से प्रभावित है। शृंगार-शतक का भी पर्यवसान वैराग्य में ही होता है। कवि को लोक का भी पर्याप्त ज्ञान प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कवि के विषय में इन शतको से हम कुछ नही जान सकते। इत्सिंग ने अपनी यात्रा के विवरण में बौद्ध भर्तृहरि का उल्लेख किया है जो सात बार गृहस्थ से सन्यासी और संन्यासी से गृहस्थ हुए थे और जिनका देहान्त इत्सिंग के भारत आने के केवल १४ वर्ष पहले हो गया था। यह भर्तृहरि, वैय्याकरण थे। इत्सिंग ने इनकी त्रिशती का उल्लेख नही किया है किन्तु इतना अवश्य लिखा है कि इन भर्तृहरि ने जीवन की व्याख्या की थी। साथ ही इत्सिंग ने इनका एक पद्य भी उद्धृत किया है, जिसमें इन्होने गृहस्थ और संन्यास के बीच में निर्णय न कर सकने के कारण आत्म-गर्हणा की है। सम्भवतः ये शतक इत्सिंग के देखने में नही आये थे अथवा इनका संग्रह बाद में किया गया होगा। संभव है भर्तृहरि पहले शैव रहे हों और बाद में बौद्ध हो गये हों। शैव रहने की अवस्था में जिन शतको की रचना की गई, उन्हें जानते हुए भी इत्सिंग ने बौद्ध-धर्म के प्रति पक्षपात के कारण इस वास्तविकता को प्रकाशित करना उचित न समझा हो। जीवन की व्याख्या के सम्बन्ध में जो बात इत्सिंग ने लिखी है वह इन शतको से बहुत कुछ गतार्थ हो जाती है।

पौराणिक शैली की जीवन-हीनता और अशक्ति इनमें नही पाई जाती। नीति, वैराग्य या शृंगार किसी विषय का क्यों न हो, प्रत्येक पद्य स्वत:पूर्ण है, और प्रसाद गुण पूर्ण शैली में लिखा गया है। यह रचना विश्लेषणात्मक न होकर कलात्मक विशेष है और भावना से ओत-प्रोत होने के कारण हृदय पर प्रभाव अधिक छोडता है। जहां भी सादृश्यमूलक अलंकारो का उपादान किया गया है वहा सादृश्य पूर्णरूप से चौकस बैठ जाता है और बिम्ब ग्रहण के रूप में विषय को अधिक प्रभावशाली बना देता है। जहां दीपक या उल्लेख के रूप में अनेक प्रस्तुतों का एक में उपादान किया गया है वहां प्रायः बड़े छन्द ही प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु कही पर छन्द-पूर्ति के लिये थोप-थाप की हुई नही जान पड़ती। कीथ ने लिखा है कि "यदि हम

इनके एक-एक पद्य को लें तो वे अपने छोटे से कलेवर में उन समस्त तथ्यों को अन्तर्निहित कर लेते है जो कि सम्पूर्ण ग्रीक पद्य संग्रह में पाये जाते हैं। वे हमारे सामने ग्रीक पद्य संग्रह की ही भांति अनेक उच्च कोटि की कवितायें प्रस्तुत करते है जिनमें कुछ भी परिवर्धन असम्भव सा प्रतीत होता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि संस्कृत के बड़े पद्य का प्रयोग सस्कृत के कवि को इतना अवसर प्रदान करता है कि वह एक ही पद्य में अंग्रेजी की पूरी सानेट को अन्तर्भुक्त कर ले।"

(History of Sanskrit Literature by Kieth)

इन्होंने बड़ी ही सफल भाषा में वैराग्य शतक में तृष्णा के दोषो का तथा सासारिक दुर्दशा का वर्णन किया है कि किस प्रकार विषयो की आराधना में ही उनका सारा समय व्यतीत होता जा रहा है। वे लोग धन्य हैं जो पर्वत-कन्दराओं में निवास करते हुए परम-ज्योति का ध्यान करते हुए अपनी आयु व्यतीत करते है। सांसारिक लोगो की याञ्चा दीनता इत्यदि की बड़े ही मार्मिक शब्दो में गर्हणा की गई है और अत्यन्त प्रभावशाली शब्दो में सासारिक व्यक्तियो को वन में जाकर रहने के लिये आह्वान किया गया है। "कितना आश्चर्य है कि वृद्धावस्था व्याघ्री के समान आतकित कर रही है, शत्रुओ के समान रोग शरीर पर प्रहार कर रहे हैं, फूटे हुए घड़े से जल के समान आयु टपकती चली जा रही है फिर भी लोक अपना अकल्याण करने में आनन्द लेता है। इससे बडी आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है।" साथ ही काल किस प्रकार परिवर्तन उपस्थित करता है और सुख किस वस्तु में है इसका भी पर्याप्त विस्तार है। यति और नृपति के सवाद में वैराग्य और राजसेवा-प्रत्याख्यान का समर्थन किया गया है। इसके अतिरिक्त नित्यानित्य वस्तु का विचार किया गया है और अन्त में अवधूतचर्या दिखलाते हुए शिवार्चन का ही प्रतिपादन किया गया है तथा लक्ष्मी का प्रत्याख्यान कड़े से कडे शब्दो में प्राप्त होता है। कही-कही नाटकीय शैली भी बड़ी ही मनोरम बन पडी है और लक्ष्मी को सम्बोधित करके भी अनेक सूक्तिया उसकी अनित्यता के प्रतिपादन में कही गई है। कवि की कामना क्या ही महत्त्वपूर्ण है। "न जाने मेरे वे शुभ दिन कब आवेगे जब गगा के तीर पर हिमालय की कन्दराओ में मै पद्मासन लगाये बैठा होऊंगा और ब्रह्म का ध्यान करते हुए योग निद्रा को प्राप्त होऊगा। उस समय पर वृद्ध हिरण अपना अंग मेरे अंगो में खुजलावेगे और उसका मुझे पता भी न चल सकेगा।"

जिस प्रकार वैराग्यसंबन्धी सभी तत्वो पर प्रकाश डाला गया है उसी प्रकार नीति की सूक्तिया भी अपने में पूर्ण है। मूर्खों और विद्वानो, सज्जनो तथा दुर्जनो में प्रत्येक का १०-१० पद्यो में वर्णन किया गया है तथा इस प्रसंग में जीवन के लिये अपेक्षित तथा अनपेक्षित दोनो प्रकार के तत्वो का समावेश कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त धन की पद्धति, धैर्य, मान, शौर्य, परोपकार इत्यदि का भी वर्णन बडे ही सुन्दर ढग से किया गया है और दैव तथा कर्म दोनो के लिये पृथक्-पृथक् दस-दस

पद्य रखे गये हैं। इस प्रकार नीति शास्त्र सम्बन्धी अनेक विषयों का नीति-शतक में समावेश हो गया है और प्रसाद गुण पूर्ण शैली के कारण यह शतक विद्वानों तथा अल्प-शिक्षितों में सर्वत्र प्रतिष्ठा और आदर की दृष्टि से देखा जाता है। कवि की पूर्ण जीवन की परिभाषा देखिये :—

"विपत्ति में धैर्य धारण, अभ्युत्थान में वाक्पटुता, युद्ध में पराक्रम, यश में अभिरुचि और शास्त्र में व्यसन,ये महात्माओ के स्वभावसिद्ध गुण हैं।" सफल जीवन के लिये जिन गुणों की अपेक्षा होती है, उन्हे एक ही श्लोक में बड़ी ही सफलता के साथ गिना दिया गया है। "स्वजनो के प्रति दाक्षिण्य, परिजनों के प्रति दया, दुष्टों के प्रति शठता, साधुओं के प्रति प्रेम, राजपुरुषो के प्रति नीति, विद्वज्जनो के प्रति सरलता, शत्रु-जनो के प्रति शूरता, गुरु-जनों के प्रति सहनशीलता और कामिनियों के प्रति प्रगल्भता, इस प्रकार जो व्यक्ति कलाओं में निपुण है उन्हीं के बल पर ससार टिका है।" इसी प्रकार—"तुम्हारे अन्दर सहनशीलता है तो तुम्हें कवच की क्या आवश्यकता ? यदि तुम्हारे अन्दर क्रोध है तो तुम्हे शत्रुओं की क्या आवश्यकता ? यदि तुम्हारे पास दायाद विद्यमान है तो तुम आग का लेकर क्या करोगे (वही तुम्हे जला देने को पर्याप्त है) ? यदि तुम्हारे मित्र विद्यमान हैं तो तुम्हें दिव्य औषधियो की क्या आवश्यकता पडेगी ? यदि दुष्ट लोग तुम्हारे साथ रहते हैं तो तुम्हे सर्पों की क्या आवश्यकता ? धनो की क्या आवश्यकता यदि अनिन्दनीय विद्या हो ? लज्जा के होते हुए भूषणों की क्या आवश्यकता ? और यदि अच्छी कविता हो तो राज्य का लेकर क्या करना ?" कवि किन लोगों का साथ करना चाहता है जरा इसे और देख लीजिये—"उस चादी के पहाड़ की क्या आवश्यकता या उस सोने के पहाड की भी क्या आवश्यकता जिस पर उगे हुए वृक्ष अपने स्वरूप में ही विद्यमान रहते हैं। हम तो उस मलय पर्वत को ही आदर देते है, जिस पर उगे हुए जम्बार, नीव और कुटज के वृक्ष भी चन्दन हो जाते है।"

विद्वानो द्वारा वैराग्य और नीति इन दोनों शतको की अपेक्षा भर्तृहरि के शृंगार शतक की कविता अधिक प्रौढ बतलाई जाती है। इसका क्रम भी उक्त दोनों शतको की अपेक्षा अधिक अच्छा है और इसमें सुसम्बद्धता भी विशेष है। सर्वप्रथम स्त्रियो की प्रशसा की गई है—"मुस्कहाट के द्वारा, भाव के द्वारा, लज्जा के द्वारा, भय के द्वारा पराङ्मुख होकर, अर्ध-कटाक्ष से चितवन के द्वारा, वचनों द्वारा, ईर्ष्या-कलह के द्वारा और लीला-विलासो द्वारा समस्त भावो से स्त्री बन्धन ही होती है।" स्त्री के नव-यौवन का उपभोग करने के लिये पुण्य करने की आवश्यकता होती है—"यदि उसके स्तन घने है, यदि जंघायें आकर्षक हैं, यदि मुख मनोहर है तो हे मन ! तुम व्याकुल क्यो हो रहे हो ? यदि तुम उसे प्राप्त करना चाहते हो तो पुण्य करो, क्योकि बिना पुण्य समीहित अर्थ कभी सिद्ध नहीं होता।" इसी प्रकार—"जो अपनी छाती पर पड़ी हुई हों, रति के आवेश में जिनके केश-पाश शिथिल हो गये हों,

रति सुख से अथवा लज्जा के कारण जिनके नेत्र बन्द हो रहे हों तथा उत्कण्ठा से थोड़े खुले हुए भी हों और सुरत के उपरान्त उत्पन्न हुए खेद तथा शान्ति से, जिनके कपोल पसीज रहे हो इस प्रकार के रमणियों के अधर-पान का सौभाग्य विरले ही भाग्य वाले को प्राप्त होता है।" इस प्रसंग में यौवन की अनर्थमूलकता और स्त्रियों की अपरिहार्यता का विस्तारपूर्वक चित्रण किया गया है और शृंगार तथा वैराग्य को साथ-साथ रखकर तुलना की गई है तथा अन्त में—"हे मानव गण ! मैं यह सत्य कह रहा हूं, पक्षपातपूर्वक नही। यह बात सातो भुवनो में सत्य है कि स्त्रियों से भिन्न अन्य कोई भी वस्तु इतनी मनोरम नही है और दुःख का हेतु भी कुछ और नही है।" यह निष्कर्ष निकाला गया है। इसके बाद स्त्री जाति की मोहकता और परित्याज्यता का वर्णन किया गया है—"जो स्मरण करने से सताप देती है, देखने से उन्माद उत्पन्न करती है, स्पर्श से मोह को जगाती है वह प्रिया किस प्रकार हो सकती है ?" स्त्रियो की वञ्चकता और दुःशीलता का भी वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है और उनके त्याग का उपदेश दिया गया है। जो लोग उनका परित्याग कर सकते है उनकी प्रशसा की गई है। ऋतुओ के अनुसार प्रेम का परिवर्तन भी दिखलाया है। इस प्रकार स्त्री-प्रशसा से प्रारम्भ कर शृंगार का पर्यवसान वैराग्य में कर दिया गया है, वस्तुत भर्तृहरि विरागी ही थे। अतः शृंगार शतक में भी वैराग्य की प्रधानता होना स्वाभाविक ही है। नीतिशतक में भी कोई उपदेश ऐसा नही है, जिसमें धर्म का अतिक्रम किया गया हो। सक्षेप में सभी प्रकार की सूक्ति-सम्बन्धी प्रवृत्तियो का समावेश इन शतको मे पाया जाता है और हम कह सकते हैं सूक्ति-साहित्य मे इन शतको का वही स्थान है जो कि ललित मुक्तको में हाल की गाथा-सप्तशती का है। ये शतक सूक्ति-काव्य में आदर्श कहे जा सकते है।

श्री शकराचार्य जी की चर्पटमञ्जरी और प्रश्नोत्तरी भी धार्मिक सूक्ति-साहित्य मे अत्यन्त प्रचलित है। चर्पटमञ्चरी में छन्द की विलक्षणता के द्वारा वैराग्य का उपदेश दिया गया है और प्रश्नोत्तरी में एक ही पक्ति में प्रश्न और उत्तर दोनो लिखे गये है। ये प्रश्नोत्तर अधिकतर वैराग्य-परक ही है किन्तु यत्र-तत्र कुछ प्रश्न ऐसे भी आ जाते है जो लोक-धर्म का उपदेश देते है। इन्ही की प्रश्नोत्तरी के समान श्री विमल कवि की प्रश्नोत्तरी भी प्रसिद्ध है। एक उदाहरण 'नरक क्या है ? परवशता। सौख्य क्या है ? सर्वसग विराग। सत्य क्या है ? प्राणियो का हित। प्रिय क्या है? प्राण।' इसी प्रकार 'हे गुरुदेव? कृपा कर बतलाइये कि अपार ससार सागर मे डूबते हुए मेरे लिये शरण क्या है ? (उत्तर) विश्वेश्वर के चरण कमलो की नाव' 'सोता कौन है ? जो कि समाधि को धारण करता है। जागता कौन है ? जो सत् असत् का ज्ञान रखता है।' 'शत्रु कौन है ? अपनी इन्द्रिया। मित्र कौन है ? वही इन्द्रिया जिन पर विजय प्राप्त कर ली गई हो।' सूक्ति मुक्तको के क्षेत्र में जैन कवियो ने भी पर्याप्त योग-दान दिया है। ये सूक्तिया अधिकतर

सामान्य-धर्म से सम्बद्ध हैं। धर्म, त्याग, उदारता, सत्य, अहिंसा इत्यादि का प्रतिपादन किया गया है और वैराग्य इत्यादि विषयों पर ही ये सूक्तियां लिखी गई हैं, जो कि सामान्यतया किसी भी धर्म से सम्बद्ध हो सकती हैं। कही-कही जैन धर्म की छाप लक्षित होती है जहा जैन-धर्म की विशेषरूप से प्रशसा की गई है या तीर्थकरो के विषय में कुछ कहा गया है। जैन धर्म के मुख्य सूक्ति-मुक्तक निम्नलिखित है:—

(१) **प्रश्नोत्तर रत्न-माला**—यह एक अत्यन्त प्राचीन पुस्तक है। इसमें सर्व-साधारण के लिये प्रश्नोत्तर रूप में उपदेशो का संग्रह किया गया है। इसकी शैली शकराचार्य की प्रश्नोत्तरी की शैली ही है। इसके प्रश्नोत्तर भी केवल जैन-धर्म तक ही सीमित नही हैं। यही कारण है कि ब्राह्मणधर्मावलम्बी और बौद्धधर्मानुयायी दोनो ही इसे अपनी पुस्तक कहते है। श्वेताम्बरो के अनुसार इस पुस्तक के रचयिता "विमल" या विमलचन्द्र हैं। कुछ लोग ९वी शताब्दी के एक शासक अमोघवर्ष को इसका रचयिता मानते हैं और दूसरे लोग कहते है कि यह ग्रन्थ दिगम्बर जिनसेन का लिखा हुआ है।

(२) **उवयेस माला**—इसमें लगभग ५५० प्राकृत पद्यो का संग्रह है। यह धर्मदास की लिखी हुई पुस्तक है और इसमें साधारण गृहस्थो तथा सन्यासियों के लिये पृथक्-पृथक् आचारावलिया दी गई हैं। परम्परा के अनुसार धर्मदास महावीर के सम-सामयिक थे। किन्तु स्वयं इसकी भाषा ही इस कथन की असत्यता प्रमाणित करती है। इसके ऊपर अनेक टीकाओ का होना इस बात का प्रमाण है कि अतीत में इसकी पर्याप्त प्रतिष्ठा रही है।

(३) **सीलोवयेस माला**—यह धर्म-कीर्ति का लिखा हुआ ११६ प्राकृत गाथाओ का उपदेश संग्रह है।

(४) **इष्टोपदेश** और

(५) **समाधिशतक** ये दो मुक्तक-सग्रह प्रसिद्ध पूज्यपाद के लिखे हुए है।

(६) गुणभद्र ने २७० पद्यो का **आत्मानुशासन** नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ की रचना इतनी ललित-शैली में हुई है कि जैन-साहित्य में अपना उपमान नहीं रखती। कल्पनाओ की उड़ान के साथ-साथ भावुकता भी इसमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। उपदेश अधिकतर सर्वसाधारण के लिये है और जो जैन धर्मानुयायी नही भी है उनके लिये भी इसमें पर्याप्त सामग्री विद्यमान है।

दिगम्बर अमितगति के मुक्तक ग्रन्थ

(१) **सुभाषित रत्न सन्दोह**—यह सम्भवतः अमितगति की प्रथम रचना है। इस ग्रन्थ में ३२ सर्गों में जैन-धर्म से सम्बन्धित अनेक विषयों की चर्चा की गई है और ब्राह्मण-धर्म का खण्डन किया गया है। प्रत्येक सर्ग में एक ही पद्य है और एक ही विषय की चर्चा है। अनेक पापो का भी उल्लेख किया गया है। भाषा अलंकारपूर्ण है और इस ग्रन्थ में कला के दर्शन होते है। जैनधर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन भी इस ग्रन्थ के द्वारा किया जा सकता है।

(२) **धर्म परीक्षा**—यह ग्रन्थ सुभाषित रत्न सन्दोह के २० वर्ष बाद लिखा गया। इसमें उदाहरण के रूप में अनेक कहानियों का संग्रह है। इसे हम कथा-साहित्य में भी सन्निविष्ट कर सकते हैं। किन्तु कथाये उदाहरण के रूप में ही लिखी गई हैं। धानता मुक्तक पद्यो की ही है। अतएव यह मुक्तक काव्य ग्रन्थ ही कहा जायगा। इसे हम जैन-धर्म का रूढिवादी साहित्य कह सकते है। इसमें ब्राह्मण धर्म का विशेष रूप से खण्डन किया गया है और पौराणिक कथाओ को तोड़-मरोड़ कर बुरे-से-बुरे रूप में रखने की चेष्टा की गई है।

(३) **योग सार**—अमितगति की यह तीसरी पुस्तक है। इसमें ९ अध्याय हैं जिनमें साधारण श्लोको में धर्म के विविध अगो पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु प्रधानता नैतिक शिक्षा की ही है।

(४) **द्वात्रिंशिका**—यह भी अमित गति की एक पुस्तक है। इसमें नैतिकता के सम्बन्ध में ३२ पद्य है। और कुछ जिन-देवों की प्रशसा तथा स्तुतिपरक पद्य भी हैं।

हेमचन्द्र तथा उनके समय के कवि

(१) कहा जाता है कि सिद्धराज जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल को जैन धर्म में दीक्षित करने के मन्तव्य से यह पुस्तक लिखी गई थी। साधारण पद्यों पर कवि की लिखी हुई वृत्ति विद्यमान है। पुस्तक आलकारिक भाषा में लिखी गई है। योग से साधारण कर्तव्य का अर्थ लिया गया है और पुस्तक के अधिक भाग में गृहस्थ धर्म तथा राजकीय कर्त्तव्यो का उपदेश ही मिलता है। मोक्षोपयोगी वास्तविक योग का सक्षिप्त वर्णन अन्त में कर दिया गया है। पुस्तक सुभाषित रत्न सन्दोह के आदर्श पर लिखी गई है। किन्तु इसमें मौलिकता की कमी नही है। ब्राह्मण धर्म का स्थान-स्थान पर खण्डन किया गया है और मनुस्मृति के दोष दिखलाये गये है। अनेक उपमा और रूपक भारतीय साहित्य की प्रचलित परम्परा से मेल खाते हैं और कही-कही पर ये सूक्तिया हमें भर्तृहरि की याद दिलाती हैं।

(२) **उपदेश रसायन रास**—यह पुस्तक हेमचन्द्र के समकालीन जिनभद्र सूरि की लिखी हुई है। इसमें ८० पद्य हैं। इसमें राधा और कृष्ण की रास-लीला का अनुकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त इनकी लिखी हुई दूसरी पुस्तकें,

(३) "काल स्वरूप कुलकम्" और

(४) "चच्चरी" (चर्चरी) हैं। प्रथम में अपभ्रंश की गीतिकाये हैं और दूसरी में गुरु जिनवल्लभ सूरि की प्रशसा है।

सोमप्रभ सूरि

यह हेमचन्द्र तथा कुमारपाल के सम-सामयिक हैं। इनका लिखा हुआ

(१) कुमारपाल प्रतिबोध अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें मुक्तक-पद्य हैं, कथा साहित्य, पद्य, गद्य, सब कुछ है। पुस्तक का अधिक भाग प्राकृत में लिखा गया है, किन्तु कुछ अंश सस्कृत और अपभ्रंश का भी है। इसमें हेमचन्द्र वक्ता के रूप में

चित्रित किए गए हैं और कुमारपाल के प्रतिबोध का वर्णन किया गया है। इसमें ५ उल्लास हैं, जिनमें धार्मिक गुण-दोषों का वर्णन किया गया है और उदाहरण के रूप में जैन धर्म की प्रसिद्ध कथाये लिखी गयी हैं। इन्होने अपभ्रंश भाषा का एक पार्श्वनाथ स्तोत्र भी लिखा है और

(२) शतार्थ-काव्य नामक एक पुस्तक भी लिखी है, जिसमें एक पद्य के सौ अर्थ किए गए हैं। इनकी लिखी हुई एक पुस्तक

(३) सिन्दूर प्रकर अथवा सूक्ति मुक्तावली भी है जो जैनियों में बहुत प्रसिद्ध है। इनकी रचनाशैली से ज्ञात होता है कि ये अलकार शास्त्र के प्रकाण्ड पडित थे।

(४) सिन्दूर प्रकर अथवा सूक्ति मुक्तावली—यह १३वीं शताब्दी के एक दूसरे सोमप्रभ की लिखी हुई पुस्तक है, इसमें कामशास्त्र की समस्त कलाओ के प्रतिरोध का उपदेश दिया गया है।

संग्रह ग्रन्थ

१२वी शताब्दी के प्रथम चरण में मुनि चन्द्रसूरि का लिखा हुआ गाथा-कोष प्राकृत गाथाओ का एक अच्छा सग्रह है। इसी प्रकार १७ वी शताब्दी के प्रथम चरण में समयसुन्दर ने भी गाथा-साहस्री की रचना की थी। इसमें सस्कृत और प्राकृत की एक हजार गाथाओ का सग्रह है, जिसमें विश्व की दीनता, नश्वरता इत्यादि विषयों के पद्यो का सग्रह है।

फुटकर मुक्तकों पर एक दृष्टि

जैन-धर्म सम्बन्धी फुटकर मुक्तकों का प्रवृत्ति-निमित्त जैनधर्म के प्रति सर्व-साधारण में श्रद्धा और विश्वास की भावना जागृत करना ही था और साधको ने इन गाथाओ और पद्यो में ऐसे ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों से ही सम्बद्ध न होकर सर्वसाधारण धर्म की पीठिका का रूप धारण कर सकते है। इन ग्रन्थो में कही-कहीं जैन धर्म के प्रति आस्था जागरूक करने के लिये महावीर तथा दूसरे तीर्थङ्करो की त्यागवृत्ति की प्रशसा की गई है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र जैनियो के विशेष धर्म से अभिसम्बद्ध पद्य भी पाये जाते हैं। यदि हम इन कतिपय स्थलो का परित्याग कर दे तो हमें इन पुस्तको में जैन-धर्म की एकदेशीयता का कोई लक्षण ही दृष्टिगत नही होता। यद्यपि जैनधर्म का प्रचार ही इन ग्रन्थो का प्रधान प्रवृत्ति-निमित्त था तथापि कवित्व-कौशल का प्रदर्शन भी इन धार्मिक कवियों का उद्देश्य था। अनेक स्थलो पर उच्चकोटि की कला के दर्शन होते है। कही-कहीं अलकारो का मनोरम और स्वाभाविक सन्निवेश प्राप्त होता है जो भावना को उच्चतर बनाने में कारण हुआ है। धर्म से किस प्रकार अतर्कित लाभ होता है इसको एक कवि के शब्दो में देखिये:—

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसञ्चिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते॥ (आत्मानुशासन)

किसी वस्तु को प्राप्त करने के किये कल्पवृक्ष के सामने भी संकल्प करना पडता है, चिन्तामणि के सामने भी चिन्ता करनी पडती है तभी उनसे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। यह धर्म की ही विशेषता है कि उससे बिना ही संकल्प किये हुए तथा बिना ही चिन्ता किये हुए स्वभावतः फल प्राप्त हो जाता है।

स्त्रियो की भीषणता पर भी दृष्टिपात कीजिये—

"सर्प क्रोध में भरकर ही प्राण हरने वाले होते हैं और कभी-कभी दृष्टिपात से ही प्राण ले लेते है। उनकी बहुत सी औषधिया भी होती हैं जो एक दम विष को नष्ट कर देती है। किन्तु स्त्री रूपी सर्पों की दशा ही कुछ विचित्र है। ये सामने होने पर भी और पीछे भी प्राणो को ले लेती हैं। क्रोध में मार डालने वाली होती हैं और प्रसन्नता में भी मार डालती है। योगीन्द्रो (सपेरो) पर सर्पों का वश नहीं चलता। किन्तु स्त्री-सर्प योगीन्द्रो (योगिराजो) को भी मार डालते है। यह देखकर भी प्राण ले लेती है और काट करके भा। इनकी कोई औषधि नही होती।"

इसी प्रकार :—

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः॥

"जिन सासारिक विषय भोगो में मूढ मनुष्य आश्वस्त रहता है, उससे बढकर भय का स्थान दूसरा नही और जिस आत्म-ज्ञान से भयभीत रहता है, उससे बढ़कर और कोई अभय का स्थान नही।"

धार्मिक सूक्तियो की दिशा में बौद्धो का भी कार्य स्तुत्य रहा है। किन्तु भारत में बौद्ध-धर्म के उन्मूलन के साथ-साथ उनके साहित्य को भी बहुत बडा आघात पहुचा। बौद्ध धर्म को साम्प्रदायिक आधार प्राप्त न हो सका, जिसने अन्य धर्मों की सूक्तियो को सुरक्षित रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। कुछ विद्वानो ने तिब्बत, चीन, लका, ब्रह्मा इत्यादि देशो में बिखरे हुए साहित्य को सकलित करने की चेष्टा की है। किन्तु इस समय हमें इस साहित्य का बहुत ही थोडा अश प्राप्त हो सका है। कुछ तो प्राचीन त्रिपिटक के साराश के रूप में ही लिखे गये है और कुछ स्वतन्त्र ग्रथ हैं। त्रिपिटक के साराश के रूप में लिखी गई पुस्तको में धम्म-सिरी की लिखी हुई खुद्द-सिक्खा और महासामि की लिखी हुई मूल सिक्खा अधिक प्रसिद्ध है। इनकी रचना ४४० ई० की बतलाई जाती है, किन्तु भाषा के देखने से ज्ञात होता है कि ये पुस्तके अधिक बाद की है। इनके अतिरिक्त द्वैमातिका (भिक्खू और भिक्खुनी प्रति भॉक्ख) तथा कखा-वितरणी ये पुस्तके उन लोगो के लिये पर्याप्त मानी जाती है जो लोग पूरे विनय को नही पढ सकते। इसी प्रकार बुद्ध के शिष्य सिद्धत्थ का लिखा हुआ सार-सग्रह और धम्मकित्ति का लिखा हुआ धम्म-सग्रह भी प्रसिद्ध है। ये सम्भवतः १२वी तथा १४वी शताब्दी की रचनायें हैं। इनमें सिद्धान्तो का निरूपण है। अभिधम्म का प्रधान रूप से बर्मा में अध्ययन

किया गया। संभवतः १२वीं शताब्दी में वहां पर अनरुद्ध नामक संन्यासी ने अभिधम्म-संग्रह लिखी जो कि बौद्ध मनोविज्ञान तथा सदाचार की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। यह पुस्तक बर्मा के समान सीलोन में भी अत्यन्त आदर के साथ देखी जाती है।

बौद्ध धर्म में कई एक विद्वत्तापूर्ण कवितायें लिखी गईं जिनमें कुछ ये हैं :—

(१) **पारमी-महाशतक**—धम्मकित्ति ने चौदहवी शताब्दी में दस पारमिताओ के विषय में यह पुस्तक लिखी थी।

(२) **सद्धम्मोपायन**—में ६२६ पद्य हैं, जिनमें सामान्यतः बौद्ध-धर्म और विशेषतः सदाचार की शिक्षा दी गई है।

(३) **पज्जा मधु** १०४ उच्चकोटि के पद्यो की एक छोटी-सी पुस्तक है जो तेरहवीं शताब्दी में बुद्धप्पिय के द्वारा लिखी गई थी। इसमें बुद्ध की प्रशसा की गई है और भाषा अधिकतर संस्कृत-गर्भित है।

(४) **तेलकटाह गाथा**—बौद्ध-धर्म की अच्छाइओ के विषय में है। कहा जाता है कि इसका लेखक एक सन्यासी था। कल्याणी के राजा टिस्सा ने अपनी धर्मपत्नी के साथ अनुचित सम्बन्धों के कारण कवि को तेल-कटाह में झोक देने का आदेश दिया। कवि कटाह में झोक दिया गया और उठकर सौ पद्य सुनाये। अपने मरने के पहले उसने कहा कि मैं पूर्व जन्म का एक ग्वाला था और मैने उबलते दूध में एक पतंग डाल दिया था। अब इस शतक में केवल ९८ पद्य मिलते हैं जिनसे उक्त घटना पर कोई प्रकाश नही पडता। कल्याणी के टिस्सा का समय ई० पू० तीसरी शताब्दी है किन्तु पुस्तक देखने से यह १२वी शताब्दी से पहले की नही जान पडती।

काश्मीरी कवि सिल्हण की कविता कम मौलिक है। ज्ञात होता है कि इन्होंने कुछ समय बंगाल में भी कार्य किया होगा। यह प्रकट है कि ये भर्तृहरि के प्रशसक थे। इन्होंने भर्तृहरि से बहुत से भाव लिये हैं और जहाँ पर ये अपने वैष्णव मत से शैवमत की संगति नही भिडा सके है वहां पर इन्होने परिवर्तन कर लिया है। एक पद्य हर्ष के नागानन्द से भी लिया गया है। सिल्हण अपने संग्रह के द्वारा प्राचीन रचनाओं को आदर देना चाहते थे और उसमें अपनी रचना भी सम्मिलित कर दी। इसमें सन्यास की प्रशसा की गई है और बहुत कुछ ऐसा तत्त्व सम्मिलित हो गया है, जो हिन्दू बौद्ध और जैन तीनो धर्मों में एक समान है। इनके संग्रह में एक पद्य विल्हण का भी मिल जाता है। इससे पिशेल को इनके विल्हण होने का भ्रम हुआ है। किन्तु यह बात प्रमाण-प्रतिपन्न नही है। विल्हण शृगारी कवि थे और इस बात पर कम विश्वास होता है कि उन्होने वैराग्यपरक सूक्तियाँ भी लिखी हों। संभव हो सकता है विल्हण अपनी वृद्धावस्था में सन्यासी हो गये हो। नीति के श्लोको में वररुचि के नाम से भी कुछ पद्य प्रख्यात है। कुछ घटकर्पर तथा वेताल के नाम से भी पद्य प्रसिद्ध हैं, जिनमें नीति-रत्न, नीति-सार और नीति-प्रदीप की

शैली अपनाई गई है। इसके कतिपय पद्य बहुत उच्चकोटि के हैं किन्तु उनके समय का पता नही। काश्मीर के भल्लट भी एक प्रसिद्ध कवि हो गये। ये शंकर वर्मा (८८३-९०२) के अवधान में कविता करते थे। इनका शतक प्रयत्नपूर्वक सुन्दर बनाया गया है और अनेक छन्दो में लिखा गया है किन्तु इतना निश्चित है कि इनके शतक में मौलिकता कम है। इनके शतक में दो पद्य आनन्दवर्धन के भी मिल जाते है जिनका पूर्ववर्ती होना असंदिग्ध है। इनकी शैली सरल और सीधी है। इनकी कुछ और रचनाओ का भी सग्रह-ग्रथो से पता चलता है।

क्षेमेन्द्र सस्कृत साहित्य में एक अत्यन्त प्रतिष्ठित कवि हुए हैं। इनका दूसरा नाम व्यासदास भी था। इनकी प्रसादगुण-परिपूर्णता और रचना-शक्ति सस्कृत-काव्य-जगत् में अपना उपमान रही रखती। साथ ही इनका कविता का क्षेत्र भी अत्यन्त व्यापक है। इन्होने छोटी-बडी २८ पुस्तकें लिखी हैं जिनमें विषय-वैचित्र्य बहुत अधिक पाया जाता है। ये काश्मीर के अनन्तराज के राज्य काल के ज्ञात होते है क्योकि इन्होने अपने ग्रथों में प्रायः अनन्तराज का उल्लेख किया है। अनन्तराज का राज्य-काल ईसा की ११वी शताब्दी है। इससे ये भोजराज के सम-सामयिक सिद्ध होते हैं। अनन्तराज और भोजराज की दानशीलता की प्रशसा राजतरगिणी में भी की गई है तथा दोनो को समान बतलाया गया है। क्षेमेन्द्र की पुस्तको में कतिपय रचनाये सूक्ति-मुक्तको के रूप में भी है, जिनमें प्रधान रूप से चारुचर्या, कला-विलास, समय-मातृका, सेव्यसेवकोपदेश और चतुर्वर्ग सग्रह प्रसिद्ध है। चारुचर्या में अच्छे गुणो का उपदेश ऐतिहासिक उदाहरणो द्वारा दिया गया है। प्रथम पक्ति में कर्तव्य का निर्देश किया गया है और दूसरी पक्ति में उसके प्रमाण के रूप मे ऐतिहासिक कथा की ओर सकेत कर दिया गया है। इसी का अनुकरण बाद में श्री गुमाना कवि ने अपने उपदेश-शतक में किया। अन्तर केवल यह है कि जहाँ क्षेमेन्द्र ने दृष्टान्त का आश्रय लिया है वहा गुमानी कवि ने अर्थान्तरन्यास के आश्रय से उपदेश देने की चेष्टा की है।

१७वी शताब्दी में श्री अप्पय दीक्षित का वैराग्य-शतक भी एक प्रसिद्ध रचना है। इनका समय नीलकण्ठ चम्पू के आधार पर ईसा की १७वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है अप्पय-दीक्षित दीक्षित-वंश के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित विद्वान् थे तथा दर्शन के क्षेत्र में इनका बहुत अधिक महत्त्व है। इनकी लिखी हुई बहुत-सी पुस्तके प्रसिद्ध है। वैराग्य शतक में प्रसाद गुण पूर्ण शैली में विषयो से अपरितृप्ति, सासारिकभय, ससार की दशा, इत्यादि का वर्णन किया गया है। एक दूसरा शतक भी पद्मानन्दि का लिखा हुआ है। इस कवि का देश-काल ज्ञात नही है। इस पुस्तक में १०३ पद्य हैं। इस ससार की नश्वरता, स्त्रियो से वैराग्य, मृत्यु की अनिवार्यता इत्यादि का वर्णन किया गया है और विषयो का परित्याग कर वैराग्य धारण करने का उपदेश दिया गया है तथा ज्ञान की प्रशसा की गई है।

अप्पय दीक्षित अथवा उनके सगे भाई के पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित का समय ईसा की १७वी शताब्दी का पूर्वार्ध है। इनके दो शतक प्रसिद्ध है—(१) अन्यापदेश शतक और (२) सभारंजन शतक। कहा जाता है कि अप्पय दीक्षित के नाम से प्रसिद्ध वैराग्य-शतक भी इन्ही का लिखा हुआ है नीलकण्ठ के नाम पर कई एक और पुस्तकें भी प्रसिद्ध हैं। किन्तु नीलकण्ठ अनेक हुए हैं। इनकी शैली प्रसाद गुण पूर्ण है और दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास का अधिक प्रयोग किया गया है।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध लक्षण-ग्रंथकार पण्डितराज जगन्नाथ के भामिनी-विलास में भी कुछ पद्य सूक्तिपरक पाये जाते हैं तथा इनकी कुछ अन्योक्तियां भी प्रसिद्ध है। इसी प्रकार कविवर शम्भु की लिखी हुई अन्योक्तिमुक्तालता भी मुक्तक काव्य-जगत् में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इनके समय का कुछ पता नही चलता और न इनके जीवन के विषय में ही कुछ ज्ञात है। इनकी अन्योक्तिया बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें गुणवान् व्यक्ति का किसी अनुपयुक्त प्रदेश में रहना, किसी रसिक का स्वच्छन्द विहार, दोषो में भी एक गुण के द्वारा ही प्रतिष्ठा प्राप्त करना इत्यादि विषयों पर अन्योक्तिया की गई हैं।

ऊपर जिन ग्रंथो का परिचय दिया गया है वे शुद्ध रूप में स्फुट मुक्तक-सूक्तियों के ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ग्रंथ हैं जिनमें कथा-सूक्तियो का संकलन किया गया है। इस प्रकार की पुस्तकों में सर्वप्राचीन पुस्तक शान्ति देव की बोधिचर्यावतार है। इसमें दर्शन और नैतिक उपदेशों का सम्मिश्रण पाया जाता है। शंकर के नाम पर प्रसिद्ध कुछ पुस्तकें भी इसकी सीमा में सन्निविष्ट की जा सकती हैं। रम्भा-शुक संवाद भी इसी प्रकार का है जिसमें रम्भा ने शृंगार का प्रतिपादन किया है और शुक ने उसका निराकरण कर वैराग्य की स्थापना की है।

काश्मीर के जयापीड (७७२-२१३) के मन्त्री दामोदर गुप्त का कुट्टनी मत एक अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। कल्हण ने दामोदर गुप्त को कवि माना है और मम्मट तथा रुय्यक ने इसके उद्धरण दिये हैं। संग्रह-ग्रन्थों में इनका नाम आता है। इससे ज्ञात होता है कि इन्हे अच्छी ख्याति प्राप्त हो गई थी। इस पुस्तक में आलकारिक भाषा में एक वृद्ध वेश्या के द्वारा मालती को धन कमाने का ढंग सिखाया गया है। बीच-बीच में हास्य का पुट भी पाया जाता है। दामोदर गुप्त के नाम पर जो सामग्री हमें समुपलब्ध होती है उससे ज्ञात होता है कि इन्हे काम-शास्त्र तथा साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान था।

क्षेमेन्द्र ने भी दामोदर गुप्त के अनुकरण पर समयमातृका लिखी जिसमें एक नाई ने एक वेश्या को एक वृद्ध वेश्या के पास शिक्षा के लिये भेजा है। वह बुढ्ढी तथा कुरूप थी। किन्तु कला के प्रभाव से उसने प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। वह शिक्षा देने में निपुण है और किसी युवक तथा उसके पिता को धोखा देकर किस प्रकार धन कमाया जा सकता है इस बात की शिक्षा देती है। क्षेमेन्द्र की दूसरी

पुस्तक कला-विकास है। इसमें दस अध्यायों में मानव के विभिन्न पेशे तथा दुर्बलतायें बतलाई गई हैं। इसका नायक मूलदेव है जो कि समस्त छलो का मानवीकृत रूप है। चन्द्रगुप्त को उसका पिता मूलदेव के पास शिक्षा के लिये लाता है और मूलदेव उसे शिक्षा देता है। इसमें बतलाया गया है कि दम्भ ने मृत्युलोक में आकर अनेक स्थानो पर अपना अधिकार जमा लिया है। यहा तक कि पशुओ और वृक्षो तक इस दम्भ का अधिकार पहुच गया है। क्षेमेन्द्र की शैली में आधुनिकता की छाप है। इसमें वैद्य और ज्योतिषियों की काफी हसी उडाई गई है। एक ज्योतिषी सब कुछ बतलाने का दावा करता है किन्तु यह नही जानता कि उसकी पत्नी पर्दे के पीछे क्या कर रही है। इसी प्रकार एक वैद्य जिसका सर पीतल की बटलोई के समान गञ्जा है किन्तु गञ्जेपन की पेटेण्ट दवा बेचता है और उसे खरीदार भी मिल जाते है। क्षेमेन्द्र के चतुवर्ग सग्रह में जीवन के चार उद्देश्यो पर सौ पद्य लिखे गये है, जिनमें पहले धार्मिक सूक्तिया है और फिर पौराणिक कथाओ से उनकी पुष्टि की गई है। इस पुस्तक का बहुत बडा प्रभाव दयाद्विवेद (१४६४) की नीति-मञ्जरी पर भी पडा, जिसमें सायण के ऋग्वेद भाष्य का सहारा लेकर २०० पद्य लिखे गये। सम्भवत: क्षेमेन्द्र का ही प्रभाव जल्हण के मुग्धोपदेश पर भी पडा, जिसमें ६६ पद्यो में वेश्यागमन के दोषो को समझाया गया है। क्षेमेन्द्र की शैली सुन्दर, प्रसाद गुण पूर्ण और सरस है। इसमें चरित्र से सम्बद्ध रचनाये उच्चकोटि की है और चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्व शृगार-रस के वर्णनो में भी अन्तर्निहित हैं। इन्होने सर्वत्र एक चारित्रिक सन्देश दिया है। क्षेमेन्द्र के लगभग अर्द्ध शताब्दी के उपरान्त अमितगति का सुभाषित-रत्न-सन्दोह लिखा गया। इसमें जैन-नीति का उपदेश है और ब्राह्मण-धर्म वालो पर आक्षेप किया गया है। स्त्रियों की पूरी निन्दा है और वेश्या के विषय में तो पूरा एक अध्याय है। हेमचन्द्र का योग-शास्त्र अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें साधारण श्लोक और उन पर साधारण गद्य में व्याख्या लिखी गई है। प्रथम चार अध्यायों में जैन-दर्शन का और बाद में आठ अध्यायो में जैनाचार का विशद वर्णन किया गया है। यद्यपि हेमचन्द्र एक उच्चकोटि के कवि है किन्तु इस पुस्तक को किसी प्रकार भी उच्चकोटि का नही कहा जा सकता। इस दृष्टि से सोमप्रभ की लिखी हुई शृगार-वैराग्य-तरगिणी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अपभ्रंश के सूक्ति मुक्तक

सस्कृत और प्राकृत भाषाओ की मुक्तक सूक्तियों के साथ-साथ देशी भाषाओं में निरन्तर ही धार्मिक और नैतिक सूक्तियो की रचना होती रही। इन्ही देशी भाषाओ को बाद में अपभ्रंश के नाम से अभिहित किया गया है। अपभ्रंश भाषाओं में सातवी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ही कई एक सन्त कवि हुए, जिन्होने कुछ तो धर्म प्रचार के उद्देश्य से और कुछ सदाचार की भावना भरने के लिये देशी भाषाओं में रचनायें की। इन रचनाओ का एक संग्रह महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने

बंगला अक्षरों में प्रकाशित कराया, जिसमें अनेक कवियों की रचनाओं का परिचय दिया गया है। इन सन्तो की संख्या ८४ है। यद्यपि इनकी रचनाये पूर्ण रूप से काव्य की सीमा में सन्निविष्ट नही होती क्योकि इनमें कलात्मक सौन्दर्य की ओर ध्यान न देकर वस्तु तत्त्व को सीधी-साधी भाषा में कहने की प्रवृत्ति लक्षित होती है, तथापि ये परवर्ती महत्वपूर्ण मुक्तक काव्य की पूर्व पीठिका तैयार करने में कारण हुई हैं और पूर्व तथा परकाव्य की शृंखला को जोड़ने में अन्तर्वर्तिनी कडी का काम देती है अतएव इनका महत्त्व कम नही है। इन सन्तो ने बाह्य साधना से विरत कर अन्तःसाधना की ओर विशेष ध्यान दिया है और दक्षिण मार्ग को छोडकर वाम-मार्ग को अपनाने की शिक्षा दी है। ये सन्त और बौद्ध-धर्म के ध्वसावशेष वज्रयान शाखा के अनुयायी थे। वज्रयानियो की योग तन्त्र साधनाओ में मद्य तथा स्त्रियो के सेवन का विशेष महत्त्व था तथा रजकी इत्यादि निम्न वर्ण की स्त्रियो के सेवन को प्रमुखता प्रदान की गई थी। ये ही समस्त तत्त्व वज्रयान-सम्प्रदाय के सन्तो की वाणी में परिलक्षित होते है।

उपर्युक्त सन्तो के अतिरिक्त कतिपय जैन तथा बौद्ध कवियो ने भी अपभ्रंश भाषा में मुक्तक सूक्तिया लिखी है। इन कविताओ में जोइन्दु (१०वी शताब्दी) का परमात्म प्रकाश और योग सार तथा रामसिह का (११०० ई० के आसपास) का पाहुणदोहा विशेष महत्त्व रखते है। जोइन्दु तथा रामसिंह दोनो ही जैनकवि थे। इसी प्रकार सरहपा अथवा सरोजवज्र (८वी शती) और काव्हा या कृष्ण-पाद (१०वी शती) इन दो बौद्ध महात्माओ के "दोहा-कोष" विशेष प्रसिद्ध है।

धार्मिक सघर्ष के कारण जनता ऊब चुकी थी और अब उसे और अधिक इस बात पर विचार करने की रुचि नही रह गई थी कि कौन धर्म अच्छा है कौन नहीं। धार्मिक विचार-धारा के मन्द पड़ जाने के कारण सामाजिक सदाचार का स्तर भी नीचा पडता जा रहा था। समाज में धर्म के नाम पर बडा ही दुराचार फैला हुआ था। कही श्री सम्प्रदाय, कही भैरवी-चक्र, कही महामुद्रा इत्यादि के नाम पर समाज में बडा ही बीभत्स दृश्य उपस्थित हो रहा था। ऐसी दशा में इन जैन तथा बौद्ध मुनियो ने अपनी वाणी के प्रभाव से इन दोषो के निराकरण की असफल चेष्टा की। परमात्म-प्रकाश में जैन-धर्म के दृष्टिकोण की रक्षा करते हुए सामान्य तथा विशेष अनेक विषयो की व्याख्या की गई है। किन्तु यह रचना अधिक क्लिष्ट है। इन्ही विषयो को लेकर योगाचार में सरल और सुबोध शैली मे लिखे हुए मुक्तक पद्यो का संकलन किया गया है। महामहोपाध्याय श्री हीरालाल शास्त्री के अनुसार पाहुण शब्द का प्रयोग किसी विशेष विषय के प्रतिपादन के अर्थ में किया गया है। कही-कही पाहुण का अर्थ अधिकार भी है। किसी-किसी में पाहुण शब्द प्राभृत शब्द का अपभ्रंश भी माना गया है, जिसका अर्थ है उपहार। इस प्रकार "पाहुण-दोहा" का अर्थ होता है "दोहा का उपहार"। इस पुस्तक में साकेतिक भाषा में योग सम्बन्धी तथा तान्त्रिक विषयो पर अनेक पद्य लिखे गये है।

जैनधर्म सम्बन्धी उपर्युक्त ग्रन्थों का अवलोकन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनमें ये कविजन समाज को मानवता की ऐसी सामान्य भूमिका पर लाने की चेष्टा कर रहे हैं, जहा पर विभिन्न धर्म अपना विरोध छोड़कर एक हो जाते हैं। इन्होने सभी मतों को आदर दिया है और सभी मतो को मोक्ष मार्ग तक ले जाने वाला कहा है। मानव-मिलन की सामान्य भूमिका तैयार करने के लिये यह आवश्यक था कि भेदभाव तथा उसके कारण का भली-भांति निराकरण किया जाता। इसी लिये इन ग्रन्थों में श्रुत-ज्ञान और अक्षर-ज्ञान की निन्दा की गई है। क्योकि इनसे भेदभाव बढता है और साम्प्रदायिकता के विकास तथा प्रसार में सहायता मिलती है। रूढिवाद का इन ग्रन्थो में पूर्ण बहिष्कार किया गया है। इन महात्माओ ने स्वसवेद्य आत्म-ज्ञान को ही प्रधान माना है। आत्मज्ञान के लिये देहेन्द्रिय समवाय परम अभीष्ट है। अतएव इन मुनियो ने देह को देव मन्दिर की उपमा दी है, जहा परमात्मा निवास करता है। अतएव तीर्थाटन इत्यादि व्यर्थ है। आत्म-सुधार तथा देह और मन की निर्मलता पर विशेष ध्यान देना चाहिये। जो व्यक्ति शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में प्रवृत्त होता हुआ भी उनमें आसक्त नही होता वही समभाव रखने वाला प्राणी है, वही परम पद का अधिकारी है। इन्द्रियवश्यता की इन ग्रन्थो में निन्दा की गई है और मन को वश में करने का उपदेश दिया गया है। ये महात्मा कवि बाह्याडम्बरो से सर्वथा घृणा करते हैं। यदि सर मुंडाने से कोई संन्यासी हो जाय तो गन्जे लोग तो सन्यासी ही उत्पन्न होते हैं और उन्हे तो परमात्मा मिल ही जाता होगा। वास्तविकता यह है कि विषयो को छोडने वाला ही सन्यासी होता है (जोइन्दु)। अध्ययन ऐसा करना चाहिए जिससे शिवपुरी पहुचने में सहायता मिले, ऐसा अध्ययन करने से क्या लाभ, जिसका प्रयोजन तालु सूखना ही हो। वस्तुतः सभी धर्म एक ही हैं और अनेक नामो से एक तत्त्व की ही उपासना की जाती है। "वही शिव है, वही शंकर है, वही रुद्र है, वही बुद्ध है, वही जिन है, वही ईश्वर है, वही ब्रह्म है, वही अनन्त है और वही सिद्ध है।"

सरहपा और कण्हपा के दोहा कोषो में भी इसी सामान्य धर्म भूमि का उपदेश दिया गया है। इनमें तीर्थाटन, देव पूजा, मन्त्र, मन्दिर इत्यादि के खण्डन का स्वर अधिक मुखर हो उठा है। इन सिद्धो ने भी शास्त्र ज्ञान का बहिष्कार कर स्वसम्वेद्य आत्म-ज्ञान को ही महत्त्व दिया है। समरसता और सहज भाव से चित्त की स्थिरता को इन्होने भी निर्वाण के लिए अनिवार्य कहा है। जैनमुनियों ने सर्वथा सन्यास का प्रतिपादन किया था और गृहस्थ से विरत होने का उपदेश दिया था। इन महात्माओ ने घर और वन के बीच का मार्ग अपनाना अधिक श्रेयस्कर समझा।"

"घरहिय थक्कुम जाहि वणेजहि तहिमण परिआण।"

इतना ही नही, ये राग को वैराग्य का एक आवश्यक उपकरण मानते हैं और इनका दृष्टिकोण जीवन के प्रति स्वीकारात्मक ही है नकारात्मक नहीं। इनकी भाषा

स्पष्ट है और रहस्यवाद की उसमें छाया नहीं है। केवल एक-आध स्थानों पर ऐसे वाक्य पाए जाते हैं—"जहा मन और पवन भी संचार नहीं करते, रवि और शशी का भी प्रवेश नहीं है। हे मूढ चित्त वही विश्राम करा यही सरह का उपदेश है।" "आगम, वेद और पुराण को ही सर्वस्व मान कर पण्डित जन उन्हे वहन करते हैं, जिस प्रकार पके श्रीफल के बाहर ही भौरे घूमते हुए रह जाते है।"

धार्मिक सूक्ति-मुक्तको के समकक्ष ही नीति-सूक्ति भी प्राप्त होती हैं। ये नीति-सूक्तिया हेमचन्द्र के द्वारा सकलित उदाहरणों में तथा सेन (११वी शताब्दी) के सावय धम्म दोहा और सोमप्रभ (१२वी शती) के कुमारपाल प्रतिबोध में विशेष रूप से पाई जाती हैं। ये नीति-सूक्तिया दोनो रूपो में मिलती है—अनुभवपूर्ण दोहो के रूप में भी और अन्योक्तियो के रूप में भी। अनुभवपूर्ण दोहो में स्वाभिमान, सत्य, त्याग, उदारता इत्यादि की प्रशसा की गई है, जीवन की सुख शान्ति के लिये आवश्यक उपदेश दिये गये हैं और व्यवहारपटुता सम्पादित करने योग्य बाते बतलाई गई है। इसके लिये सूक्ति परम्परा की सामान्य विशेषता अप्रस्तुत विधान का इस प्रकार की रचनाओं में भी प्राधान्य रहा है। प्रधानतया दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास अपनाये गए है। शास्त्रज्ञानमात्र ही मन को ठीक करने में कारण नही होता इसके लिए अनुकूल मन अपेक्षित होता है, इस आशय की सूक्ति देखिये—"सैकडो शास्त्रों के जान लेने पर भी विपरीत ज्ञान वाले के मन पर धर्म नही चढता। यदि सौ दिनकर भी उग आये तो भी उलूक को अन्धेरा ही रहे।" स्वाभिमान के विषय में कुमारपाल प्रतिबोध में लिखा है—"मान नष्ट होने पर यदि शरीर नही, तो देश तो अवश्य छोड दीजिये। दुर्जन के कर-पल्लवो से दिखलाये जाते हुए मत घूमिए।" जीवन में सम्पत्ति ही सम्मान का कारण है इस विषय में लिखा है—"ऋद्धि-विहीन मनुष्यों का कोई सम्मान नही करता, पक्षियो द्वारा छोडा हुआ तरुवर इसका प्रमाण है।" इसी प्रकार वीरो के लिए उपदेश, गुणों से सम्मान प्राप्ति इत्यादि अनेक विषयो पर अनुभवो का उल्लेख पाया जाता है। इसके अतिरिक्त वृक्षो और पशु-पक्षियो पर अन्योक्तियो के द्वारा भी अनेक अच्छे उपदेश दिए गए हैं। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में इस प्रकार की अनेक अन्योक्तिया पाई जाती है। स्वार्थी व्यक्ति स्वार्थ को ही प्रधान मानकर ग्रहण या परित्याग करते है, किन्तु महान् लोग सभी को आश्रय देते है—यह बात निम्नलिखित वृक्ष की अन्योक्ति में कितने सुन्दर ढग से कही गई है:—

वच्छहे गृण्हइ फलइं जणु कडु पल्लव वज्जेइ।
तो वि महद्दुम सुअणु जिवं ते उच्छ गि धरेइ॥

"लोग वृक्ष से फलो को ग्रहण करते हैं और कटु पल्लवो को छोड़ देते हैं तो भी महान् द्रुम सज्जन की भांति उन्हे हृदय में धारण किये रहता है।" इसी प्रकार "तृणों की तीसरी दशा नहीं है वे तट में बसते है। या तो लोग उनसे लगकर पार

उतरते है या वे उनके साथ स्वयं डब जाते हैं।" इसका आशय यही है कि सज्जन सर्वदा परोपकार में निरत रहते है। या तो वे परोपकार करने में दूसरों का कार्य बना ही देते है या उनके साथ स्वय नष्ट हो जाते है। इसी प्रकार कुछ शृंगारी अन्योक्तिया भी पाई जाती है। उदाहरण के लिए भ्रमर की अन्योक्ति करते हुए कोई कवि कहता है—"हे भ्रमर ! अरण्य में रुनझुन मत कर और उस ओर देखकर मत रो। वह मालती देशान्तरित हो गई, जिसके वियोग में तू मर रहा है।" यह ऐसे स्थान पर कहा जा सकता है, जहा पर कोई व्यक्ति किसी नायिका पर अनुरक्त हो और वह नायिका देशान्तरित हो जावे और उसके मिलने की कोई सम्भावना न रहे। तब दूसरा व्यक्ति किसी प्रेमी को उसके प्रति उदासीन हो जाने का उपदेश देवे। इसी प्रकार:—"तिलो का तिलत्व तभी तक है जब तक स्नेह नही निकल जाता। स्नेह के नष्ट हो जाने पर वे ही तिल-तिल से फटकर खल हो जाते है।" इसका आशय यही है कि मनुष्य को स्नेह का परित्याग नही करना चाहिए। इस प्रकार ये अन्योक्तिया बहुमुखी है, इसमें सन्देह नही।

हिन्दी-सूक्ति काव्य

सूक्ति-काव्य की यह परम्परा निरन्तर चलती रही। गुरु गोरखनाथ ने अपनी जनवाणी में जहा कुण्डलिनी जागरण, षट् चक्रभेद, अजपा जाप, अनाहत नाद, शून्य, शिव शक्ति इत्यादि अपने सम्प्रदाय के विभिन्न तत्त्वो का परिचय दिया है वहा गुरु-महिमा, वैराग्य, इन्द्रिय-निग्रह इत्यादि पर सूक्तियां लिखी गई है। "गम्भीर गुरु करना चाहिये, बिना गुरु के नही रहना चाहिये। हे भाई बिना गुरु के ज्ञान प्राप्त नही होता। दूध के धोने से कोयला उजला नही होता और कौये के कण्ठ में पुष्प-माला डाल देने से वह हस नही हो जाता।" इनके सम्प्रदाय में ६ आचार्य हुए हैं। इनमें से अधिकतर आचार्यो ने सूक्तियां लिखी है। सभी में गुरु-माहात्म्य, बाह्याडम्बर का परित्याग, ससार से विरक्ति इत्यादि विषय ही हुआ करते थे निर्गुण धारा के कवियो ने भी पर्याप्त मात्रा में सूक्तिया लिखी है। कबीर की साखिया इस विषय में प्रसिद्ध ही है। इन साखियों में गुरु का महत्त्व, स्मरण का महत्त्व, मन की शक्ति, प्रेम, चेतावनी इत्यादि विषयो पर सूक्तिया कही गई है। बाह्याडम्बर का परित्याग कर परमात्मा से प्रेम करने का उपदेश दिया गया है। हिन्दू-मुसलमान दोनो के बाह्याडम्बरो का निर्भयतापूर्वक खडन कर दोनों के लिए एक मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। सूक्तियो में वैचित्र्य तथा चमत्कार का सर्वत्र प्राधान्य है। अलकारो का सर्वत्र प्रयोग किया गया है। बहुत से पद्य तथा साखी नीति-सूक्ति से सबन्ध रखती है और कही-कही पर स्त्री-निन्दा भी की गई है। इस प्रकार सूक्ति काव्य की दृष्टि से कवि की रचना सर्वांग पूर्ण है। निर्गुण पन्थ के दूसरे आचार्य है नानक। इन्होने नाम, जप और गुरु-महिमा इत्यादि धार्मिक साधना के बीच में कुछ सूक्तियां भी लिखी है जिनमें तन-मन-धन से दूसरों की सेवा करने का उपदेश दिया गया है और सज्जनों

एवं असज्जनों के लक्षण भी लिखे हैं। धर्माधर्म का विचार रखना और चित्तवृत्ति को बुरी वासनाओं से बचाना ही इनके उपदेश का सार है। मलूकदास की सूक्तियां सर्वसाधारण में बहुत अधिक प्रचलित हो गई हैं। भगवद्-विश्वास के विषय में निम्नलिखित सूक्ति प्रायः लोगो की जिह्वा पर रहती है :—

अजगर करै न चाकरी पछी करे न काम।
दास मलूका कहि गये सबके दाता राम॥

दादू ने लगभग ५००० पद्य लिखे है। इन्होंने धर्म के प्रायः सभी अगों पर प्रकाश डाला है तथा आचार सम्बन्धी सूक्तियां भी लिखी हैं। इन्होंने गुरु-माहात्म्य तथा अन्तः साधना पर विशेष बल दिया है। इसी प्रकार दूसरे भी निर्गुण धारा के कवियो ने उन्ही सामान्य विषयो पर सूक्तियां लिखी है।

अन्य क्षेत्रो की भाति सूक्ति के क्षेत्र में भी तुलसी का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दिशा में उनका प्रमुख ग्रथ है दोहावली। इसमें नीति, भक्ति, नाम-माहात्म्य, तत्काल की परिस्थितिया इत्यादि के विषय में सूक्तियो का सकलन है। चातक के आदर्श प्रेम पर इसमें कई एक महत्त्वपूर्ण दोहे हैं। यह संग्रह-ग्रथ है। इसमें तुलसी के कई ग्रंथो से दोहे उद्धृत किये गये हैं। दोहावली के अतिरिक्त राम सतसई और वैराग्य सन्दीपिनी भी सूक्तियों का सग्रह ही है। तुलसी ने अन्योक्ति और प्रत्यक्षोक्ति दोनों प्रकार की सूक्तिया लिखी हैं।

रहीम सूक्तियों के सम्राट् है। इन्होंने जीवन के उत्थान-पतन देखे थे। इन्हें जीवन की सच्ची परिस्थितियो का मार्मिक अनुभव था और उसी को इन्होंने सीधी-सादी भाषा में व्यक्त किया है। इन सूक्तियो के पीछे इनका हृदयभाक रहा है। यही कारण है कि इनकी सूक्तियां सर्वजन-सम्बद्ध हैं और सर्वसाधारण में इनका अत्य-धिक प्रचार है। भाषा पर इनका तुलसी जैसा अधिकार है। इनकी सूक्तियां इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि परवर्ती बड़े-बडे कवियों ने भी भावों के लिये इनकी ओर हाथ पसारा है। इनकी दोहावली या सतसई सूक्ति-साहित्य का सिरमौर है।

अकबर के दूसरे दरबारी कवियों ने भी सूक्ति काव्य के क्षेत्र में अपना योग दान दिया है। [राजा टोडरमल ने अपने अनुभव के कुछ छन्द लिखे थे]। दो-एक उदाहरण :—

जार को विचार कहा गणिका को लाज कहा,
गवहा को पान कहा अंधरे को आरसी।
निर्गुणी को गुण कहा दान कहा दरिद्र को,
सेवा कहा सूम को अरंड की सी डार सी॥
मद्यपी को सुचि कहा सांचु कहा लंपटी को,
नीच को बचन कहा स्यार की पुकार सी।
टोडर] सुकवि ऐसे हठीले न टार्‌यो टरै,
भावै कहो सूधी बात भावै कहो फारसी॥१॥

राजा वही जाको राज सराहिये काज उही जो उछाह सों कीजै।
धारा वही जो सदा रहे चंचल जोरा उही जो सुगन्धि सो भीजै॥
बात वही जो सदा निबहै कवि टोडर मानि यही सिख लीजै।
फौज उही जो रहे तैयार औ मौज उही सो मंगाय के दीजै॥२॥

नरहरि ब्रह्म भट्ट ने भी बहुत से नीति के पद्य लिखे हैं, जिनमें अकबर बादशाह को सम्बोधित किया गया है। इनके दो मुक्तक संग्रह कहे जाते हैं—छप्पय नीति और कवित्तसंग्रह। इनके नीति के पद्य अनुभवजन्य है और उनसे अच्छे समाज के निर्माण की इनकी कामना अभिव्यक्त होती है। इनके कई पद्यो में ज्ञानी, धनी, पण्डित, वृद्ध इत्यादि को ठीक मार्ग पर लाने की चेष्टा की गई है।

ब्रह्म कवि या राजा वीरबल की भी नीति सूक्तिया बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने अनुभवो को सरल और सुबोध भाषा में व्यक्त किया है। कर्म की रेखा, संसार की गति, वैराग्य इत्यादि विषयो में इनकी सूक्तिया बहुत प्रसिद्ध हैं। वैराग्य भाव के दो एक पद्य देखिये :—

पेट में पौढ़ि के पौढ़ि मही पर पालन पौढ़ि के बाल कहाये।
आई जबै तरुनाई तिया संग सेज पै पौढ़ि के रग मचाये॥
क्षीर समुद्र के पौढ़नहार को ब्रह्म कबौं मन में नहीं ध्याये।
पौढ़त पौढ़त पौढ़त ही सु चिता पर पौढ़त के दिन आये॥

चढने का भी महत्त्व देखिये :—

गर्भ चढ़े पुनि सूप चढ़े पलना पै चढ़े चढ़े गोवधना के।
हाथी चढ़े पुनि अश्व चढे चढ़े जोग धना के॥
वैरी औ मित्त के चित्त चढ़े कवि ब्रह्म भने दिन बीते पना के।
ईस कृपालु को जान्यो नहीं अब कांधे चले चढ़ि चारि जना के॥

शृगार रस के प्रसिद्ध कवि गंग की नीति-सूक्तिया भी महत्त्वपूर्ण है। इन्होने अपनी सूक्तियो में सज्जन प्रशसा, दुर्जन निन्दा, स्त्री प्रेम इत्यादि विषय रखे है। सारा काम स्वार्थवश ही किया जाता है इस बात को कवि ने कितने सुन्दर ढंग से कहा है :—

गर्जहिं अर्जुन हीज भये अरु गर्जहिं गोविन्द धेनु चरावैं।
गर्जहि द्रोपदी दासि भई अरु गर्जहिं भीम रसोई पकावैं॥
गर्ज बड़ी सब लोगनु में अरु गर्ज बिना कोई आवै न जावैं।
गग कहे सुनु साह अकब्बर गर्ज से बीबी गुलाम रिझावैं॥

इसी प्रकार "गग कहै सुनु साह अकब्बर नारी की प्रीति अगार ते भारी" तथा "चंचल नारि के नैन छिपे नहिं प्रीति छिपे नहिं पीठि दिखाये।" इत्यादि पद्य भी बहुत अधिक प्रचलित है।

अकबरी दरबार के कवियों में मनोहर कवि का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। इनके नीति के दोहे प्रसिद्ध हैं। इनका कविता काल १७वी शती का मध्य भाग है और जहांगीर ने इनकी प्रशसा की है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) सुभाषित मुक्तक लिखने की परम्परा वैदिककाल से ही प्रारम्भ हो गई थी और साहित्य जगत् में निरन्तर प्रतिष्ठित रही।

(२) इस क्षेत्र में कविता स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलती रही। प्रारम्भ में कविता के द्वारा स्थूल रूप में इतिवृत्तात्मक उपदेश दिये जाते थे। बाद में इस क्षेत्र में आलकारिकता और कलात्मकता बढ़ती गई। इस क्षेत्र में लाक्षणिकता और व्यञ्जनात्मकता का महत्त्व कम रहा है। अधिकतर अभिधावृत्ति ही अपनाई गई है।

(३) सामान्यतः सादृश्यमूलक अलंकारों में दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास अपनाये गये। वर्णन शैली को अधिक कलात्मकता प्रदान करने के उद्देश्य से कहीं-कहीं उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक का भी समावेश दृष्टिगत होता है। दूसरे प्रकार के अलकारो में दीपक, उल्लेख इत्यादि का भी समावेश पाया जाता है।

(४) लोकवृत्त का उपदेश देने के लिए एक नवीन शैली अपनाई गई थी। यह अन्योक्ति की शैली कहलाती है, जिस में वृक्ष, पशु-पक्षी इत्यादि प्राकृतिक तत्त्वो को लेकर उन्हीं के विषय में कुछ ऐसी सूक्तियां कही जाती थी कि उनसे किसी लौकिक वृत्त का स्वतः बोध हो जाता है और उनसे एक उपदेश भी प्राप्त हो जाता है।

(५) सूक्ति-काव्य के समस्त विषय को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) धार्मिक सूक्ति, (२) आर्थिक सूक्ति और (३) कामसम्बन्धी सूक्ति।

(६) धार्मिक सूक्तियों में दो प्रकार की सूक्तियां सम्मिलित की जा सकती हैं एक तो वे सूक्तिया हैं, जो साम्प्रदायिक विचार-धारा के प्रचार के लिए लिखी गई थी और दूसरी वे सूक्तिया हैं जो सामान्य सदाचार का उपदेश देती हैं।

(७) धार्मिक सूक्तियो में वैराग्य भावना सर्वत्र प्रधान रही है और इनमें अधिकतर लोक के परित्याग का ही उपदेश दिया गया है। सामान्य रूप से हम इन सूक्तियो को वैराग्यपरक सूक्तिया भी कह सकते हैं। इसीलिए कई एक सूक्तिकारों ने अपनी सूक्तियो को वैराग्य की सूक्ति कहा है। सामान्यतः उपनिषत्काल से ही हिन्दू समाज में वैराग्य की भावना घर कर गई थी। यह भावना प्रायः समस्त धार्मिक सूक्ति-काव्यों में पाई जाती है चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय में क्यों न हो।

(८) वैराग्य भावना के अतिरिक्त दूसरी प्रकार की विचार धाराओ में सत्य, त्याग, अहिंसा, उदारता, इत्यादि धर्म के विभिन्न अंगों का वर्णन पाया जाता है। किन्तु इनका महत्त्व लौकिक सफलता के प्रलोभन के द्वारा स्थापित किया गया है।

(६) इस युग के अन्तिम चरण में विशेष कर अपभ्रंश मुक्तकों में तीर्थाटन, तीर्थव्रत इत्यादि बाह्याचारो का खण्डन प्रारम्भ हो गया था और एक ऐसी भूमिका प्रस्तुत की जाने की चेष्टा प्रारम्भ हो गई थी जो अबाध रूप में सभी धर्म वालों को स्वीकार्य हो। सामान्य भूमिका के साथ-साथ यौगिकता तथा तान्त्रिकता का समावेश भी हो चला था और धर्म में रहस्य भावना घर करती जा रही थी। अक्षर-ज्ञान तथा शास्त्र-ज्ञान का खण्डन किया जा रहा था और समरसता तथा आत्मभाव-चिन्तन पर ज़ोर दिया जाने लगा था।

(१०) आर्थिक सूक्तियो में लोक-वृत्त को अधिक महत्त्व दिया जाता था और ऐसे गुणो का विवेचन किया जाता था, जिससे लौकिक सफलता प्राप्त हो सके।

(११) कवियो ने आर्थिक सूक्तियो के लिखने में यथासम्भव धार्मिकता की उपेक्षा नही की है और सदाचार के द्वारा ही लौकिक सुख-शान्ति प्राप्त करने का उपदेश दिया है। किन्तु जहा पर धार्मिकता से निस्तार होता हुआ नही देखा गया वहा पर धर्म की उपेक्षा का भी उपदेश दिया गया है। आर्थिक क्षेत्र में व्यवहार की दशा में स्वार्थ साधन को ही महत्त्व दिया गया और "जैसे को तैसा" का सिद्धान्त अपनाया गया।

(१२) अनुभव का अभिधान और अन्योक्ति पद्धति ये दोनों ही पद्धतियां इस दिशा में समान रूप से अपनाई जाती रही है। किन्तु कलात्मक सौन्दर्य अन्योक्ति-पद्धति में विशेष रूप से लक्षित होता है।

(१३) काम-शास्त्रीय सूक्तियो में स्त्री-पुरुष के स्वभाव और प्रभाव का निरूपण किया गया है। इस विषय मे स्त्रियों की प्रशसा और निन्दा दोनों बातें पाई जाती है। वैराग्यपरक सूक्तियो मे ससार की नश्वरता इत्यादि को लेकर विरक्ति उत्पन्न करने की चेष्टा की गई और कामसम्बन्धी सूक्तियों में स्त्रियों के स्वभाव और उनके प्रेम की अस्थिरता इत्यादि को लेकर एक ओर उनके परित्याग का उपदेश दिया गया और दूसरी ओर उनकी प्रशसा तथा सौन्दर्य वर्णन के द्वारा उनके उपभोग की ओर प्रवृत्त करने की चेष्टा की गई।

सामान्यतया सूक्ति-मुक्तको में यही विशेषताये पाई जाती है।

प्रशस्ति-मक्तक

भारतीय काव्य-कला और विशेष रूप से मुक्तक काव्य-कला का विकास राजाश्रय में हुआ है। कवि राजघरानो में रहते थे और अपनी रचनाओ द्वारा राजाओं तथा राजसभासदो का मनोरजन किया करते थे। ये राजा लोग अधिकतर कला-प्रेमी होते थे और कवियो और कलाकारो को मुक्तहस्त से दान करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। कभी-कभी बड़े-बड़े आयोजन किये जाते थे, जिनमें दूर-दूर से कविगण उपस्थित होकर अपनी-अपनी रचनायें प्रस्तुत किया करते थे और उनके लिये पुष्कल पुरस्कार प्राप्त करते थे। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में राजा लोगो को कर्त्तव्य

का उपदेश देते हुए लिखा कि "राजा लोगो को कवि-सभाओं का आयोजन करना चाहिये क्योंकि यदि राजा कवि या कवित्व प्रेमी होता है तो सारा लोक कवि हो जाता है राजा को चाहिये कि दान और मान में वासुदेव, शातवाहन, शूद्रक, साहसाक इत्यादि नृपतियो का अनुकरण करे।.....क्योकि पुरुष-रत्नो का राजा एक मात्र महासागर के समान भाजन होता है।" सम्भवतः राजा लोगो के आश्रय में रहने वाले और राजा लोगो से वृत्ति पाने वाले राजाओं की अत्युक्तिपूर्ण प्रशसा को ही अपनी रचना का विषय बनाया करते थे। इन रचनाओ के द्वारा उच्चकोटि की कल्पना-शक्ति और आलकारिकता का प्रस्फुटन होता है। सर्वत्र अत्युक्ति का साम्राज्य और चमत्कार ही इनमें प्रधान रूप से उपास्य है। कुछ रचनाये भाव-ध्वनि का अनूठा उदाहरण है किन्तु अधिकतर कविताए कौशल-प्रदर्शन के लोभ से ही लिखी गई हैं। इन कविताओ में न तो हृदय तत्व सन्निहित है और न कवि की अन्तरात्मा के ही इनमें दर्शन होते है। झूठी खुशामद से भरी हुई होने के कारण इन रचनाओ मे न तो स्थायित्व है और न लोकोपकार की क्षमता है। यही कारण है कि पूर्ण परम्परा के प्रतिष्ठित होते हुए भी ये रचनाये अधिकतर काल-कवलित हो गई और प्राय. नाम-शेष भी नही रही। यदि कुछ रचनाये शेष रह सकी है तो या तो अपनी कल्पना-सम्पत्ति के बल पर या चामत्कारिकता के कारण। इस प्रकार का साहित्य हमें स्वल्पतम मात्रा में अधिगत होता है किन्तु फिर भी कही-कही उच्चकोटि के पद्य प्राप्त हो जाते है और जन-समाज में उनकी पर्याप्त प्रतिठा है।

इस प्रकार की रचनाओ को वर्णनीय विषय की दृष्टि से सुविधापूर्वक तीन भागो में विभक्त किया जा सकता है, (१) दानशीलता का वर्णन, (२) सौन्दर्य-वर्णन और (३) युद्धवीरता का वर्णन। दानशीलता के वर्णन में कवियो की तथा दूसरे पात्रो की दरिद्रता का वर्णन भी सन्निविष्ट है। इसी प्रकार सौन्दर्य-वर्णन के प्रसग में अगनाओ के आकर्षण का भी वर्णन किया गया है। युद्धवीरता के वर्णन में क्षिप्रकारिता, शत्रुओ मे वैषम्य, शत्रुओ की शरणागति, शत्रुओ का भय, शत्रुओ की स्त्रियो की दुर्दशा इत्यादि का वर्णन भी सम्मिलित है। कही-कही दयावीरता और धर्मवीरता के वर्णन की छाप भी पाई जाती है। किन्तु इन विषयो का वर्णन अधिक महत्त्वपूर्ण नही है और उन वर्णनो में भी या तो दानवीरता की प्रधानता हो गई है या युद्धवीरता की, अत इन दोनो को पृथक् स्थान प्रदान नही किया जा सकता। प्रशस्ति काव्य की सत्ता हमें प्राचीनतम भारतीय साहित्य में अधिगत होती है। स्वयं ऋग्वेद में अनेक दानशील राजाओ का वर्णन है।

इस प्रकार के अनेक सूक्त ऋग्वेद में पाये जाते है। इन सूक्तो में परवर्ती राजघराने के कवियों के समान ही यजमानो का अतिरजित वर्णन किया गया है। कक्षीवान् ऋषि का सिन्धु प्रदेश के शासक भाव्य के दान की प्रशसा का सूक्त इसी बात को प्रकट करता है। राजा के सहस्र सोम यागों में पुरोहित बनाने की सौ मुद्रा,

सौ अश्व, सौ गायें इत्यादि देने की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गई है। इसी प्रकार इसी सूक्त में स्वनय के द्वारा श्याम अश्व और वधुओं (सम्भवतः दासियों) सहित १० रथ और ६० हजार गायो के देने की बात कही गई है। अष्टम मंडल में कुरगक राजा की दानशीलता की प्रशसा की गई है। इसी प्रकार के और भी अनेक दानो का वर्णन किया गया है। ये मन्त्र साहित्य की दृष्टि से उच्चकोटि के नही कहे जा सकते। किन्तु दान स्तुतियो में भिक्षु नामक अगिरस ऋषि का बनाया हुआ सामान्य दान की प्रशसा परक सूक्त निस्सन्देह उच्चकोटि का है। देवताओ ने भूख को मनुष्य के मारने के लिये नही बनाया क्योकि परिपूर्ण भोजन किये हुए व्यक्ति को प्रायः मृत्यु प्राप्त हो जाती है। दाता का धन सर्वदा समाप्त ही नही हो जाता किन्तु कृपण को कभी कोई सुखदायक नही मिलता। सूक्त के अग्रिम भाग में भी इसी बात पर बल दिया गया है कि सच्चा मित्र प्राप्त करने के लिये मनुष्य को उदार बनना चाहिये। इसी प्रसग में धन की अस्थिरता भी बतलाई गई है और जो एकाकी भोग करता है उसको पापी तथा मूर्ख कहा गया है। इस प्रकार दान सूक्तो में एक ओर दानियों की प्रशसा और दूसरी ओर दान की महिमा इन दोनो बातो का समावेश प्राप्त होता है।

ऋग्वेद के इस प्रशस्ति-काव्य में हमें राजा लोगों की दानशीलता के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के वर्णन प्राप्त नही होते। न तो इनमें राजा लोगों की युद्ध-वीरता का ही वर्णन किया गया है और व सौन्दर्य का ही। यद्यपि ऋग्वेद में युद्धवीर की प्रधानता है तथापि शौर्य और वीरता का अतिरञ्जित वर्णन देवताओं के सम्बन्ध में किया गया है मानव के सम्बन्ध में नही। जहा कही मानव विजय का वर्णन भी है वहां भी उसका श्रेय मानव को नही अपितु देवता को ही प्रदान किया गया है। उदाहरण के लिये सप्तम मडल में सुदास की १० सगठित राजाओं पर विजय का श्रेय वरुण को प्रदान किया गया है। इसका एक बहुत बड़ा परिणाम यह होता है कि राजा लोग अवलेप में पड़ने से बच जाते हैं और वे अपनी विजय को देवता का प्रसादमात्र मानकर उसका उपभोग करते हैं तथा पशुबल और भौतिक साधन-सम्पत्ति पर ज्ञान और पाडित्य को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है, क्षत्रिय जाति का आधान्य न होकर याजक ब्राह्मणों को ही महत्ता प्राप्त होती है।

इसी प्रकार ऋषियो ने सौन्दर्य का आश्रय प्रकृति को चुना है और प्रकृति के प्रसग में ही सौन्दर्य का उच्चकोटि का वर्णन किया गया है। इससे भी अवलेप तथा सौन्दर्याभिमान से उत्पन्न होने वाले दूसरे दोषों का निराकरण हो जाता है।

राजा लोगो की दानशीलता का वर्णन प्राय. ब्राह्मण, उपनिषद्, बौद्ध और जैन साहित्य में सर्वत्र प्राप्त होता है। किन्तु यह सब वर्णन कल्पना और अलंकार से रहित इतिवृत्तात्मक ही है जो कि काव्य पदवी पर आरूढ नही हो सकता। कालिदास इत्यादि महाकवियो के काव्य में राजा लोगों की दानशीलता, वीरता और सौंदर्य

का वर्णन मिलता है और सुकोमल तथा सुमधुर काव्य तत्व से परिपूर्ण भी है रघुवंश में स्वयंबर के प्रसंग में तत्कालीन अनेक राजाओं का वर्णन किया गया है । तथापि प्रबन्धान्तःपाती होने के कारण हम उसे मुक्तक काव्य की सीमा में सन्निविष्ट नहीं कर सकते । इसी प्रकार कहीं-कहीं किसी पुस्तक के उपक्रम या उपसंहार में किसी राजा के वर्णन में एकाध पद्य व्यय कर दिया गया है वह भी प्रशस्ति-मुक्तक की सीमा में नही आता।

प्रशस्ति-मुक्तक का अत्यन्त उच्चकोटि का संग्रह हमें भोज प्रबन्ध में अधिगत होता है । इसमें भोज की दानशीलता का वर्णन है ही, प्रताप-शौर्य इत्यादि दूसरे गुणों का भी वर्णन किया गया है । प्रत्येक पद्य के साथ एक कथा जोड़ दी गई है जिसमें भोज का काव्यानुराग व्यक्त किया गया है । सर्वत्र अत्युक्ति का ही साम्राज्य है । यदि कही उत्प्रेक्षा इत्यादि दूसरे अलकारों का उपादान भी किया गया है तो वह भी अत्युक्तिमूलक ही है । "अपने हाथियों को भी दान करते हुए राजा-भोज को देखकर श्री पार्वती जी हाथी के समान मुख वाले अपने पुत्र की बार-बार रक्षा करती हैं कि कहीं हाथी समझ कर मेरा पुत्र भी दान न कर दिया जावे।" इसी प्रकार— "भोज के प्रताप का निर्माण कर ब्रह्मा के द्वारा फेके हुए शेष परमाणुओं से इन्द्र के हाथ में वज्र, आकाश में सूर्य और महा सागर के मध्य में वडवाग्नि बन गई ।" इसी प्रकार की दूसरी कल्पनाओं की इन पद्यों में भरमार है । ये पद्य अपने काव्य-सौंदर्य के कारण विद्वन्मंडली का कण्ठहार हो गये हैं ।

प्रशस्ति-मुक्तक की दूसरी पुस्तक "राजेन्द्र कर्णपूर" है । इस पुस्तक के १२वें श्लोक में हर्षदेव का और २२वें में काश्मीर का नाम आता है । इससे ज्ञात होता है कि यह पुस्तक काश्मीर के कवि श्री शम्भु के द्वारा काश्मीराधिपति महाराज हर्षदेव के समय में लिखी गई है । श्री हर्षदेव का समय १०८२ से ११०० ई० तक का है । श्री-कठ चरित में शम्भु महाकवि का नाम आया है और सुभाषितावली में राजेन्द्र कर्ण-पूर के अनेक पद्य पाये जाते हैं । इस पुस्तक में काश्मीराधिपति हर्षदेव के यश का अत्युक्तिमय कलापूर्ण वर्णन किया गया है । 'जिस के श्वेत प्रकाश से समस्त पर्वत कैलाश हो जाते हैं, सभी सर्प शेष नाग हो जाते हैं, सभी समुद्र क्षीर सागर हो जाते हैं, सभी हाथी ऐरावत बन जाते हैं और सभी कोकिलाये हस बन जाती हैं । कान्ति में, काव्य रति में, मति में, शत्रुनाश में, कीर्ति में न कोई इन महाराज के समान हुआ है और न होगा ।' ब्रह्मा जी ने इन महाराज का निर्माण ही कुछ विशेषरूप में किया है—"अभिमानियो के अभिमान को शान्त करने के लिये, संसार को जीतने के लिये, याचकों को सम्पत्ति प्रदान करने के लिये, सज्जनो के समान के लिये, महान् लोगों के उपकार के लिये और राजाओं को संताप देने के लिये उल्लास के साथ, कौतू-हल के साथ, ध्यान को शान्त करके, स्वाध्याय को दूर कर और सब तपस्याओं को समाप्त कर ब्रह्मा जी ने तुम्हारी रचना की ।"

राजा के सौन्दर्य का वर्णन भी बडे विस्तार के साथ किया गया है, जिसके स्फुरण मात्र से ही ललनाओ की मति, स्मृति, धृति, शान्ति सभी कुछ जाता रहता है। केवल सौदर्य ही नही पराक्रम के सामने भी सभी शत्रु भागने लगते है। जिस प्रकार स्त्रियो का मानभग और आकर्षण दिखलाया गया है उसी प्रकार प्रतिपक्षियो का पलायन भी दिखलाया गया है। श्लोको में चमत्कार और कल्पना की प्रधानता है, कोई पद्य चमत्कारशून्य नही है। इस विषय की दूसरी पुस्तक न्याय वाचस्पति श्री रुद्र कवि-कृत भाव विलास है। इसमें १३६ पद्य है। ग्रथ से स्पष्ट है कि यह जयपुर के महाराज भावसिह के दरबारी कवि थे। भावसिह का समय ईसा की १७वी शती का प्रारम्भ है क्योकि भावसिह के पिता महाराज मानसिह जलालुद्दीन अकबर बादशाह के समय में हुए थे। ग्रथ के प्रारम्भ में मानसिह के पिता भगवानदास का एक श्लोक में वर्णन है। इसके बाद दो पद्यो में मानसिह के प्रताप का वर्णन आता है। फिर पद्य ४ से १७ तक भावसिह की वीरता, उदारता, सुन्दरता, दानशीलता इत्यादि गुणो का वर्णन किया गया है। फिर कुछ नीति-सूक्तिया और अन्योक्तिया आती है। ग्रथकार ने लिखा है कि यह ग्रथ भावसिह की आज्ञा से बनाया गया था। महाराज भावसिह के यश के विषय में कवि कहता है—

"महाराज भावसिह के गन्ध-गजों की मद-धारा से सग्राम-भूमि पकपूर्ण होकर उर्वरा हो गई। उसमें शत्रुओं के हाथियो के मस्तको से गजमुक्ता निकाल कर महाराज भावसिह ने बो दिये। उसा से जो यश रूपी वृक्ष उत्पन्न हुआ उसी की नक्षत्रो के रूप में ये कलिया दृष्टिगत होती है। वे कलिया पूर्ण चन्द्र के रूप में एक-एक कर खिला करती है।"

इसी प्रकार दान की प्रशसा देखिए—

"बहुत बडे दानी महाराजा भावसिह के दान करने की इच्छा करने पर दान कर दिए जाने के भय से रत्न तो समुद्र मे जा छुपे, सुमेरु पर्वत देवताओ की शरण में चला गया, भगवती कमला देवी को अपनी गोद मे लेकर भगवान् विष्णु समुद्र में जाकर सो गए और ब्रह्मा जी ने भी अपने हाथ से लिखा हुई मनुष्यो के भाग्य की दुर्लिपि का परिमार्जन करने के लिए लज्जित होकर अपने हाथ में कमण्डलु धारण कर लिया।"

पडितराज जगन्नाथ के भी प्रशस्ति-मुक्तकपरक कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध होते है जिनमें प्राणाभरण और आसफ-विलास ये दो ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त दारा शिकोह के विषय में भी कतिपय पद्य पाए जाते हैं। प्राणाभरण में कामरूपेश्वर प्राण नारायण का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ पडितराज की प्रतिभा के अनुकूल ही है। इन ग्रन्थो में प्रशस्ति काव्य की सभी विशेषतायें पाई जाती हैं। यही सस्कृत के प्रशस्ति-मुक्तको का सक्षिप्त परिचय है।

हिन्दी – प्रशस्ति मुक्तक

संस्कृत के समान हिन्दी में भी प्रशस्तियों के लिखने की परम्परा विद्यमान रही। किन्तु हिन्दी काव्य का विकास महात्माओ और धर्म-साधको के द्वारा हुआ। ये महात्मा आत्माराम, स्वच्छन्दचारी व्यक्ति थे। भगवद्भक्ति ही इनकी प्रधान साधना थी। न ये राजाओ को जानते थे और न बादशाहो को। अतएव इन महात्माओ के काव्यो में प्रशस्ति की आशा करना दुराशामात्र है। दूसरी बात यह है कि प्रशस्तियो में हृदयतत्त्व विद्यमान नही रहता। केवल उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार का महत्त्व होता है। हिन्दी-साहित्य का इतिहास पतन-युग का इतिहास है। जो राजा लोग परमुखापेक्षी थे, जिनके देखते-देखते हिन्दू जाति का गौरव और मान-मर्यादा धूलिसात् हो गई थी उनकी अतिरञ्जित प्रशसा केवल निन्दा की ही अभिव्यञ्जक होती। अतएव इस प्रकार का काव्य या तो लिखा ही बहुत कम गया या असत्यता का प्रतिभास होने के कारण काल-कवलित हो गया। इस प्रकार का जो साहित्य हमें समुपलब्ध हुआ, वह परिमाण मे बहुत कम है।

सस्कृत के समान अपभ्रश भाषा मे भी कुछ प्रशस्तिया लिखी जाती रही और उनकी परम्परा डिगल साहित्य में भी बनी रही। किन्तु ये प्रशस्तिया प्रबन्धात्मक है, इन्हे हम मुक्तक की कोटि में सन्निविष्ट नही कर सकते। जैनाचार्य मेरुतुग की लिखी हुई प्रबन्ध चिन्तामणि भोज प्रबन्ध के ढग का ग्रथ है। इसमे कई पुराने राजाओं का वर्णन किया गया है। आख्यानों के बीच में अपभ्रश या पुरानी हिन्दी के पद्य भी रखे गये है। इसमे वीर रस के साथ शृंगार रस के भी सुन्दर चित्र विद्यमान हैं। विद्याधर नाम के किसी कवि की कविता के कुछ नमूने प्राकृत पिगल-सूत्र में मिलते है। इनमें कन्नौज के किसी राठौर सामन्त की वीरता का वर्णन किया गया है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य शार्ङ्गधर लिखित शार्ङ्गधर-पद्धति मे सुभाषित संग्रहों के साथ कुछ प्रशसात्मक मुक्तक भी दिये हुए हैं। इनका लिखा हुआ हम्मीर रासो भी प्रसिद्ध है। उसके कुछ पद्य प्राकृत पिगल-सूत्र में मिलते है।

वीर गाथा काल में अधिकतर प्रशस्तिया ही लिखी गई। किन्तु ये प्रशस्तिया प्रबन्धात्मक है। बीसलदेव रासो यद्यपि गीति-काव्य है तथापि इसमे प्रबन्धात्मकता आ गई है। अतएव ये ग्रथ प्रस्तुत निबन्ध के विषय से बाह्य है।

करणेश बन्दीजन के तीन ग्रथ प्रसिद्ध है—करणाभरण, श्रुतिभूषण और भूप-भूषण। ये ग्रथ मिलते नही है। नाम से प्रतीत होता है कि इन ग्रथो में अलकार का विवेचन किया गया होगा और उदाहरण के लिये किसी राजा की प्रशसा में पद्य लिखे गये होगे। दुरसाजी ने एक बार गुदौच तक की यात्रा में अकबर का मार्ग प्रबन्ध किया था जिससे ये अकबर के सम्पर्क में आ गये। इन्होने विरुद-छहत्तरी में अकबर के लिये मीठी चुटकिया ली है कि :—

अकबर समद अथाह तिहं डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ो तिहं मांह पोयण फूल प्रताप सी।।

(अकबर अथाह समुद्र है जिसमें हिन्दू तुर्क सब डूब गये। मेवाड़ उसमें कमल समान और प्रतापसिंह कमल के फूल के समान हैं जो कि अकबर-रूपी समुद्र के ऊपर ही बने रहे)

होलराय ब्रह्मभट्ट हरिवंश राय के आश्रय में थे। किन्तु अकबर के यहां आते-जाते थे। इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता केवल कुछ फुटकर पद्य ही इतिहास ग्रंथ में उद्धृत किये गये है। निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य इन्ही का कहा जाता है :—

दिल्ली ते न तख्त ह्वैहै बख्त न मुगल कंसो ह्वैहै न नगर बढ़ि आगरा नगर तें।
गंग ते न गुनी तानसेन ते न तानबाज मान ते राजा औ न दाता वीरबर तें॥
खानखाना ते न नर नरहरि ते न ह्वैहै न दीवान कोऊ नेडर दुडर तें।
नवौ खंड सात द्वीप सात हू समुद्र पार ह्वैहै न जलालुद्दीन साह अकब्बर तें॥

कहा जाता है कि व्यास कवि नित्य अकबर को आशीर्वाद देते थे और प्रशस्ति के पद्य सुनाया करते थे। पर इनका कोई पद्य प्रसिद्ध नही है। राजा पृथ्वीराज अकबर के दरबारी थे। इनमें स्वदेशाभिमान अत्यधिक मात्रा में था। इन्होने कई पुस्तके लिखी हैं। इनके कई पद्य महाराणा प्रताप की प्रशस्ति के विषय में प्रसिद्ध हैं। गग कवि अकबरी दरबार के प्रसिद्ध कवियों में है। अनेक विषयो के साथ इनकी प्रशस्तिया भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होने खानखाना की वीरता का वर्णन किया है जिसकी शब्दावली और भाव दोनों से वीर रस टपकता सा है। एक-दो उदाहरण लीजिए :—

प्रबल प्रताप बली बरम के खानखाना तेरी धाक दीपति दिसान दहदहकी।
कहै कवि गंग तहां भारी सुरवीरन के उमड़ी अखण्ड दल प्रलयपौन लहकी॥
मच्यो घमासान तहां तोप तीर बान चले मडि बलवान किरवान कोपि गहकी।
मुण्ड काटि मुण्ड काटि जोसन जिरह काटि नीमा जामा जीन काटि जर्मा आनि ठहकी॥

इसी प्रकार:—

धमक निसान सुनि धमक तुरान चित्त चमक तुरान मुलतान थहराना जू।
मारू मरदान कामरूप के करवान आदि मेवार के दान हिन्दवान आन माना जू॥
पूरव भगान पछमाद परलान उतराध गुजरात अरु बच्छिन दबाना जू।
औरवान हवसान हेदलान सम साम खंल भंल खुरासान चढ़े खानखाना जू॥

खानखाना की सुन्दरता का वर्णन:—

ग गार्गोछ मोछे जमुन अधरन सरसुति रागु।
प्रगट खानखानान के कामद बदन प्रयागु॥

प्रसिद्ध आचार्य केशव ने भी जहागीर के विषय मे कुछ प्रशसात्मक पद्य लिखे हैं। उपर्युक्त सक्षिप्त परिचय के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं:—

१—राज दरबारो में कविता को आश्रय मिलने के कारण प्रशस्ति-काव्य की परम्परा निरन्तर बनी रही।

२—प्रशस्तियों में हृदयतत्त्व का अभाव होता है। इसमें झूठी खुशामद की ही प्रधानता होती है। अतएव परिमाण में अधिक होते हुए भी ये सुरक्षित न रह सकी।

३—प्रशस्तियों मे तीन तत्त्व प्रधान होते है—वीरता का वर्णन, दान-शीलता का वर्णन और सुन्दरता का वर्णन।

४—प्रशस्तियो मे अत्युक्ति की ही प्रधानता होती है।

५—प्रशस्ति काव्य का महत्त्व उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार मे है। इसमे अलकारो का प्रयोग-सौन्दर्य ही काव्य का प्रवृत्ति-निमित्त होता है।

६—प्रशस्ति काव्य मध्यम काव्य की ही कोटि मे आते है। इनमे वर्णित भाव सर्वदा कविगत राजविषयक रति का अग होकर गौण रूप धारण कर लेते है।

मुक्तक काव्य परम्परा का यही सक्षिप्त परिचय है।

सक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक में काव्याभिनिवेश विशेष मात्रा में होता है और महान् कवि भी सर्वप्रथम रचना का प्रारम्भ मुक्तक से ही करते है। अतः मक्तक काव्य-जगत् का अपरिसीमित विस्तार है और कविगण निरन्तर ही मुक्तक की अनेक दिशाओ मे योगदान देते रहे हैं। इन मुक्तको मे सकलन की ओर भी विद्वानो की अभिरुचि रही है और समय-समय पर इस प्रकार के सकलन प्रकाशित होते रहे है। अनेक कवि इन सकलनो मे ही जीवित रह सके हैं और अनेक कवियो को ये सकलन भी जीवित न रख सके, केवल उनकी कविताये ही काव्य परिशीलको को अधिगत हो सकती है।

सर्वप्राचीन मुक्तक सकलन ऋग्वेद है इसमे अनेक कवियो (ऋषियो) की रचनाये सुरक्षित है। ऋग्वेद के काव्यात्मक अशो के समस्त विषय को सुविधापूर्वक ५ भागों मे विभाजित किया जा सकता है—रसात्मक-मुक्तक, धार्मिक-मुक्तक, सूक्ति-मुक्तक, प्रशस्ति-मुक्तक और चित्र-मुक्तक चित्र-मुक्तक परवर्ती आचार्यो द्वारा कला के क्षेत्र से बाह्य कर दिये गये। शेष चार प्रकार के मुक्तक काव्य-जगत् मे सर्वदा अपना अक्षुण्ण अधिकार बनाये रहे। रसात्मक-मुक्तक-परम्परा को सामान्य प्रवृत्तियो के आधार पर तीन कालो मेविभाजित किया गया है—प्रकृति-काल, प्राकृत-काल और भक्ति-काल। यदि समस्त रसात्मक मुक्तक-काव्य-राशि पर विचार किया जाय तो हमे ज्ञात होगा कि बिहारी को रसात्मक मुक्तक की दिशा में चार प्रकार की रचनाये अधिगत हुई थी—(१) जयदेव इत्यादि कवियो द्वारा प्रचालित कृष्ण का सामान्य-नायक-परक चित्रण। (२) सूर इत्यादि कवियो की जयदेव इत्यादि का अनुसरण करते हुए भी कृष्ण की विशिष्ट लीला-गान की पद्धति। (३) हाल इत्यादि कवियो की सामान्य नायक-नायिका चित्रणपरक कविताये, जिनमें काल्पनिक नायक-नायिकाओं के किसी खण्ड-चित्र का उपादान होता था और जिनकी योजना हम कही भी लोक-वृत्त में कर सकते है। (४) वैदिक-काल की प्रकृति-चित्रण-पद्धति, जिसके

बिहारी के समय तक आते-आते अनेक रूप हो गये थे। इसी प्रकार धार्मिक काव्य की यास्क-प्रतिपादित त्रिरूपता निरन्तर अपना अधिकार स्थापित किये रही। इसके अनुसार धार्मिक काव्यों में आराध्यो की महत्ता, उनसे कुछ अभीष्ट लिप्सा और सिद्धान्त-ख्यापन ये तीन तत्त्व धार्मिक कविता में प्रतिष्ठित रहे और समस्त धार्मिक-मुक्तक-काव्य को इन्ही तीन उपभेदो में विभाजित किया जा सकता है। तीसरे प्रकार की मुक्तक प्रवृत्ति सूक्ति काव्यात्मक कही जा सकती है। इसमें तीन प्रकार की प्रवृत्तिया पाई जाती है, जिनके आधार पर इन सूक्तियो को तीन प्रकारो में विभाजित किया गया है—धार्मिक-सूक्ति, आर्थिक-सूक्ति और काम-सबन्धी सूक्ति। चौथे प्रकार की मुक्तक-प्रवृत्ति प्रशस्ति-संबन्धिनी होती है। इसमें हृदय-तत्त्व सन्निहित न होने के कारण भावना की प्रगाढता नही होती केवल कलात्मक सौन्दर्य ही यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। इस प्रकार की रचनाये परिमाण में अत्यल्प मात्रा में सुरक्षित रह सकी है। इनको भी हम तीन विधाओ में विभाजित कर सकते हैं—शौर्य-वर्णन, सौन्दर्य-वर्णन और दानशीलता का प्रख्यापन। वस्तु की दृष्टि से मुक्तक-काव्य परम्परा को हम इन्ही विधाओ में विभक्त कर सकते है। आगे चलकर (द्वितीय-भाग के ५वे अध्याय में) हम बिहारी में इसी वर्गीकरण के आधार पर मुक्तक-प्रवृत्ति का प्रतिफलन देखने की चेष्टा करेगे।

———

द्वितीय खंड

बिहारी का विशेष अध्ययन

पश्येयमेकस्य कवेः कृतिं चेत्,
सारस्वत कोषमवैमि रिक्तम् ।
अन्त.प्रविश्यायमवेक्षितश्चेत्,
कोणे प्रविष्टा कविकोटिरेषा ॥

\+ \+ \+ \+

ना कोऊ रस-रीति को, जान्यौ चाहै सार ।
पढ़ै बिहारी सतसई, कविता को शृंगार ॥

प्रथम अध्याय

बिहारी का समय

कवि का मानस एक ओर सामयिक परिस्थितियो का प्रसाद होता है और दूसरी ओर जातीय परम्पराये उसके विकास में योगदान देती हैं। सामयिक परिस्थितियां व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि अनेक रूपों में विभक्त की जा सकती है। इन सब प्रकार की परिस्थितियो का कवि की अन्तरात्मा पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार साहित्यिक परम्परायें भी कवि की अन्तरात्मा के निर्माण में कारण होती हैं। प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतन्त्र विकास-क्रम होता है। उसका अपना स्वतन्त्र इतिहास होता है। नवीन परम्पराओं का विकास प्राचीन परिस्थितियो और परम्पराओ के उपादान सूत्रो के समवाय से हुआ करता है। साहित्य, समाज या धर्म की नवीन आधार-शिला में अनिवार्य रूप से पुरानी परम्पराओं का सम्मिश्रण रहता है। कभी-कभी ये परम्परायें ज्ञात रहती हैं और कभी-कभी इनका रूप इतना व्यवहित हो जाता है कि सूक्ष्म-विवेचन से ही इनका पता चलाया जा सकता है। कुछ समय बाद प्रकट रहने वाली परम्परायें भी सामान्य दृष्टि से तिरोहित हो जाती हैं। आशय यह है कि किसी भी समय की सामयिक परिस्थितियों का ठीक स्वरूप उपस्थित करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन परम्पराओं पर भी ध्यान दिया जावे जो उस समय की विशेषताओं के उद्भव में कारण बनी हैं। कवि-मानस की अभिव्यक्ति ही काव्य है। जिन तत्त्वों के समवाय से कवि-मानस का निर्माण हुआ करता है यह आवश्यक नही है कि कवि उन उपादानों के प्रति पूर्णतया जागरूक हो। जाने या अनजाने उसके मानस के निर्माण में सामयिक परिस्थितिया और उन परिस्थितियों को उत्पन्न करने वाली पुरानी परम्परायें स्वतः कारण हो जाती हैं। इस अध्याय में यह देखने की चेष्टा की जावेगी कि किन सामयिक परिस्थितियों के उपादानों से बिहारी के मानस का निर्माण हुआ था और उन उपादानों ने बिहारी की कविता को कहाँ तक प्रभावित किया था।

क—राजनीतिक परिस्थिति

'बिहारी का समय सामान्यतया स० १६६० से १७२० तक माना जाता है इस प्रकार बिहारी का जन्म अकबर के राज्य काल के अंतिम वर्षों में हुआ था और मृत्यु औरगजेब के राज्यारोहण के कुछ वर्षो बाद। बिहारी का बाल्य तथा यौवन काल जहागीर का शासन काल था और बिहारी की तारुण्यावस्था तथा वृद्धावस्था शाहजहा के राज्यकाल में व्यतीत हुई थी। एक हस्तलिखित दोहा-बद्ध जीवन-चरित्र के अनुसार बिहारी शाहजहा बादशाह के दरबार में भी रहे थे।[२] उक्त जीवन चरित्र में लिखा है कि एकबार बादशाह शाहजहा मथुरा में बिहारी के गुरु नागरीदास के यहा गए थे, बिहारी ने गुरु के आदेश से बादशाह को अपनी कविता सुनाई। कविता पर मुग्ध होकर बादशाह शाहजहा बिहारी को अपने साथ ले गये। वहा बिहारी बहुत समय तक दरबारी कवि के रूप में रहते रहे। पुत्र-जन्मोत्सव में आयोजित एक सभा में कविता सुनाने पर राजस्थान के अनेक राजा लोगो ने बिहारी को प्रमाण पत्र दिए जिससे बिहारी का प्रवेश राजस्थान में राजघरानों में हो गया। यद्यपि इस दोहा-बद्ध जीवन चरित्र की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है तथापि इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि बिहारी के जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग बादशाह शाहजहा के राज्य-काल में और सम्भवत शाहजहा के निकट सम्पर्क में व्यतीत हुआ था

जहागीर और शाहजहा का राज्य-काल भारतीय इतिहास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शान्ति और सुव्यवस्था का काल था। अकबर महान् ने अपने दृढ अध्यवसाय, अदम्य उत्साह और सूक्ष्म दृष्टि से भारत के विस्तृत भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। मेवाड को छोड कर प्राय. सारा राजपूताना मुगल शासको के सामने नतमस्तक हो चुका था।[3] मेवाड में महाराणा प्रताप की मृत्यु के बाद उनके जेठे पुत्र अमरसिह सिहासनासीन हुए। अकबर ने अमरसिह के प्रतिकूल भी सलीम और मानसिह के नेतृत्व में सेनाये भेजी किन्तु उन्हे अधिक सफलता प्राप्त नही हुई। अकबर की मृत्यु के बाद जहागीर ने भी मेवाड के प्रतिकूल अपने अभियानो को जारी रखा और मुगलो की अनेक पराजयो के बाद स० १६१४ में त्रस्त होकर अमरसिह ने आत्म-समर्पण कर दिया। जहागीर ने अपने पिता की नीति का अनुसरण करते हुए अमरसिह से सम्मानपूर्ण सन्धि कर ली। इस प्रकार अंतिम राजपूत-शासक भी मुगलो के सामने नत हो गया। राजस्थान पर उस प्रकार आधिपत्य स्थापित कर लेना मुगलो की सबसे बडी सफलता थी। इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् डा० वेणीप्रसाद जी ने लिखा है कि कोई भी ऐसी जाति सत्ता में नही आई जो मध्यकालीन राजपूतों की अपेक्षा अधिक आश्चर्यजनक इतिहास

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य शुक्ल।

२. कविवर बिहारी—रत्नाकर लिखित।

3. History of Jahangir by Dr. Veni Prasad.

अधिक वीरता-पूर्ण कार्य, स्वाभिमान और स्वसम्मान की अधिक दर्प-पूर्ण भावना का दावा कर सके।[1] कर्नल टाड ने भी अपने प्रसिद्ध 'एनल्स एण्ड ऐंटीक्वेरीज़ आफ राजस्थान' में राजपूत राजाओं का बड़े गौरव के साथ चित्रण किया है। यदि कोई व्यक्ति राजपूतो के साहसिक कार्यों का अध्ययन करता है, तो उसका मानस वीरता तथा साहस की उस उच्च भूमिका में पहुंच जाता है, जहां तक मनुष्यता उठने का दावा कर सकती है। निःसन्देह अकबर की वीरता और अध्यवसाय महाराणा प्रताप के अदम्य उत्साह और साहस का दमन करने में सर्वथा अक्षम रहे थे। यदि राजपूत जाति सगठित होकर अकबर अथवा किसी दूसरे मुगल बादशाह का सामना करती तो राजस्थान पर प्रभुत्व स्थापित कर सकना एक असम्भव बात हो जाती। किन्तु अकबर का साथ वीरता की अपेक्षा विवेक ने अधिक दिया था। अकबर ने राजपूत राजाओं से वैवाहिक सबन्ध स्थापित कर लिया था। धीरे-धीरे राजपूत मुगलों से आत्मीयता का अनुभव करने लगे थे। जहागीर में आधा राजपूत रक्त था और शाहजहा में मुगलों का रक्त केवल चतुर्थांश शेष रह गया था। इस प्रकार समस्त राजस्थान मुगलो के आधिपत्य में आ गया था।

मुगल बादशाहों का राज्य अत्यन्त विस्तृत था। अकबर ने जो साम्राज्य अपने पुत्र को प्रदान किया था वह विस्तार, जन-संख्या और प्रशासनीय मंडलो की दृष्टि से विश्व के प्रमुख राज्यों में था। स० १५५६ में अकबर ने राज्यारोहण के अवसर पर उत्तरी भारत को सामन्तीय तथा प्रशासकीय क्षेत्रों की बहुत बडी संख्या में विभक्त पाया था। उसके शासन की समाप्ति के कुछ पहले प्राय: वे समस्त क्षेत्र उसके साम्राज्य में विलीन हो गये थे। पश्चिम में फारस की पूर्वी सीमाओं से लेकर वर्तमान आसाम तथा ब्रह्मदेश की पश्चिमी सीमाओं तक तथा उत्तर में हिमालय से लेकर महानन्दा और गोदावरी से मध्य की एक कल्पित रेखा पर्यन्त प्राय: समस्त प्रदेश बादशाह के शासन में आ गया था।[2] इन सीमाओ को और अधिक विस्तृत करने के शाही-उद्योग चलते ही रहे। जहागीर का राज्यकाल कुछ स्थिरता का काल रहा और दक्षिण में अनेक प्रदेश उसके हाथ से निकल गये। किन्तु शाहजहां की दक्षिण में नियुक्ति के कारण मुगल बादशाहत की सीमा की सुरक्षा बनी रही। शाहजहां ने राज्य प्राप्ति के अनन्तर तत्काल ही दक्षिण में अपनी दृढनीति आरम्भ कर दी। लगभग ४० वर्ष के सतत संघर्ष के परिणामस्वरूप दक्षिणी भारत में मुगलों की स्थिति अत्यन्त दृढ हो गई। इस समय समस्त उत्तरी भारत के अतिरिक्त दक्षिण में मुगलों के चार प्रदेश स्थापित हो चुके थे। इस प्रकार दक्षिण के एक छोटे से भूभाग को छोडकर समस्त भारत पर शाहजहा का एकमात्र राज्य स्थापित हो गया था।

1. History of Jahangir.
2. History of Jahangir by Dr. Veni Prasad.

[1]इतने बड़े भूभाग का एक केन्द्र से शासन एक टेढ़ी खीर थी। आज वैज्ञानिक युग में संचार साधनों की सुविधाओं के होते हुए भी एक केन्द्र से इतने विशाल भूभाग का प्रबन्ध असम्भव प्रतीत होता है। इसलिए शासन की सुविधा के निमित्त सुदूर प्रदेशों में सत्रप स्थापित कर दिये गये थे। इन प्रान्तपालो या राज्यपालों को सिपहसालार कहा जाता था और इन्हे नागरिक शासन तथा सामरिक प्रभुत्व दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। ये राज्यपाल केन्द्र की दूरवर्त्तिता के कारण सर्वथा स्वतन्त्र हो जाते थे और केन्द्र के आदेशों से निरपेक्ष होकर राज्य-कार्य सचालित करते थे। मुगल बादशाह इन तथ्यों से सर्वथा परिचित थे। अतएव वे एक स्थान पर बहुत समय तक किसी एक सिपहसालार का रखना उचित नही समझते थे। समय-समय पर थोड़े ही अन्तर से इनका स्थानान्तरण होता रहता था। यह अधिकार अधिकतर शाहजादों को ही प्राप्त होता था। यदि बादशाह को किसी शाहजादे से विद्रोह की आशंका होती थी तो उस शाहजादे की नियुक्ति किसी सुदूर प्रदेश में कर दी जाती थी। हिन्दू नरेशों को यह सौभाग्य बहुत कम प्राप्त होता था।

प्रान्तपतियो (राज्यपालो) के नीचे के अधिकारी दीवान कहलाते थे, इनकी नियुक्ति, वियुक्ति, पदोन्नति इत्यादि केन्द्र से ही होती थी। यह भी केन्द्र की ओर से सिपहसालारो के अधिक व्यापक प्रभुत्व स्थापित करने में एक प्रतिबन्ध था। प्रान्तो में सूचनाधिकारी (वाकियानवीस) भी केन्द्र द्वारा ही नियुक्त किए जाते थे। इन लोगो का कार्य प्रान्तीय विषयो से केन्द्र को परिचित रखना होता था। समस्त प्रान्त बहुत सी सरकारो में विभक्त कर दिया जाता था। इन सरकारों पर सैनिक तथा नागरिक आधिपत्य रखने वाले अधिकारी फौजदार कहलाते थे। इनका स्थान आजकल के कलेक्टरों जैसा होता था। सरकारो को महालो और परगनो में विभाजित किया गया था। इन महालो और परगनो पर दूसरे अधिकारी शासन करते थे। नगर-शासक को कोतवाल कहते थे। कोतवाल का अधिकार-क्षेत्र वर्तमान नगरपालिकाओ और कोतवालियो का सम्मिलित अधिकार था। शासन की सुव्यवस्था और शान्ति के लिए यही व्यक्ति उत्तरदायी माने जाते थे। ये लोग अपने शासन-क्षेत्र को अनेक भागो में विभाजित कर शासन किया करते थे।[2]

मुगल बादशाहो का यह दुर्भाग्य था कि उनके शासनासीन होते ही उत्तराधिकार-विषयक संघर्ष प्रारम्भ हो जाता था। बादशाहो को सबसे बड़ी चिन्ता अपने पुत्रों से ही रहती थी। अतएव जहाँ शासन-सूत्र को ठीक रूप में संचालित करने के

१. राजनीतिक स्थिति के चित्रण के लिए देखिये—History of Jahangir. यहां पर उन अंशों के सम्मिलित करने की चेष्टा की गई है जिनका सम्बन्ध बिहारी से है।

२. राज्य में अधिकारियों के चढ़ाव-उतार का वर्णन बिहारी के कई दोहों में पाया जाता है जिनका उल्लेख आगे चलकर किया जावेगा।

लिए योग्यतम व्यक्तियों का निर्वाचन किया जाता था वहां इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाता था कि ऐसे ही व्यक्तियो को अधिकार सौपा जावे जो सुदूर प्रान्तों में बादशाहो के हित की रक्षा कर सके। उचित सेवा तथा स्वामिभक्ति के लिए वक्शीश के रूप में भी नियुक्ति तथा पदोन्नति की जाती थी। राजस्थान के जिन राजा लोगो पर आधिपत्य स्थापित कर लिया जाता था, उनकी राजा के रूप में नियुक्ति, विमुक्ति और उन्नति का एकाधिकार बादशाह को ही प्राप्त होता था। अधिकतर राजा लोग बादशाहो से मसब पाते थे और उनकी सेना की सख्या भी बादशाहो से ही नियुक्त की जाती थी। उत्तराधिकार विषयक सघर्ष में यह निर्णय असम्भव हो जाता था कि किस राजकुमार को बादशाहत प्राप्त होगी। ऐसी दशा में एक को साथ देना, दूसरे का प्रत्याख्यान या तटस्थता कभी-कभी घातक हो जाती थी। पहले तो ऐसे लोगो को बादशाह का ही कोप-भाजन होना पडता था, यदि ऐसा न भी हुआ तो भी उत्तराधिकार के सघर्ष में एक के विजयी हो जाने के बाद विरुद्ध पक्ष को अपने विरोध का दण्ड भोगना पडता था। विजित राजा लोगो में बादशाह की आज्ञा अधिकाशत शिरोधार्य ही होती थी और सर्व साधारण में यह धारणा बद्धमूल हो चली थी कि राजा लोगो की अपेक्षा बादशाहो का स्थान सर्वथा ऊचा है। भूषण ने 'साहिन में इती छवि छाजै' लिखकर इसी तथ्य की ओर सकेत किया है। किसी अधिकारी की स्थिति अपने स्थान पर तभी तक दृढ रहती थी, जब तक शासक सतुष्ट रहते थे। असतोष का सबसे बडा कारण विद्रोह में भाग लेना और षड्यत्र मे सम्मिलित होना भी हो जाता था। कभी-कभी अकारण ही बादशाह को किसी के षड्यत्र का सदेह हो जाता था और तब अधिकारी के सामने अपदस्थ होने के अतिरिक्त और कोई चारा नही रहता था। इन्ही सदेहो के अथवा एक पक्ष के समर्थन के कारण हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवि रहीम को अनेक बार अपदस्थ होना पडा और उन्हे अनेक बार क्षमा प्रदान की गई। किसी भी स्थान का स्थायित्व निश्चित नही था। जब ऊपर का एक अधिकारी परिवर्तित हो जाता था तब वह अपनी इच्छा से ही नीचे के अधिकारियो में हेर-फेर करता रहता था। किसी असम्बद्ध व्यक्ति को अपदस्थ कर देता था और उसका स्थान अपने सबन्धियों को दे देता था। कभी-कभी कोई विशेष कारण न रहते हुए भी केवल अपने प्रभुत्व को दर्शाने के लिए ही अधिकारियो में तथा व्यवस्था में हेर-फेर कर दिया जाया करता था। फिर वह अधिकारी अपने से नीचे अधिकारियो में अपनी इच्छा का प्रयोग किया करता था। अधिकतर इस बात का ध्यान रक्खा जाता था कि ऊचे घराने के व्यक्तियो को ही कोई विशेष अधिकार दिया जावे। किन्तु कभी-कभी कोई निम्नकोटि का व्यक्ति भी इस प्रकार का अधिकार प्राप्त कर लेता था और तब वह रहन-सहन से अपने को बहुत बडा सिद्ध करने की चेष्टा करता था। जनता त्रस्त थी, ऊंच-नीच का भेद भाव बहुत अधिक था। अधिकारी अत्याचार करते थे और

उनके मार्ग में उनके अधिकार-काल में रुकावट बहुत कम रहती थी। यद्यपि मुगल बादशाहों की न्यायप्रियता प्रसिद्ध है तथापि बादशाहो तक पहुंचना ही कठिन हो जाता था। शासको में अपने-पराये का भेद-भाव बहुत अधिक था। बादशाह लोग विलासिता में फसे रहते थे। उनकी निद्रा तभा टूटती थी जब उन्हे कही से विद्रोह का समाचार मिलता था। उनके दरबार का अनुकरण उनके अधीनस्थ राजा लोग भी किया करते थे। कर प्राय: जनता के पास रुक जाते थे और कभी-कभी अधीनस्थ प्रतिनिधि भी हिसाब ठीक नही देते थे। जनता में त्रास और उत्पीडन था किन्तु धनिक-वर्ग आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत कर रहा था।

बिहारी को आमेर के ऐसे राजघराने में आश्रय प्राप्त हुआ था जो मुगल प्रभुत्व के सामने नत-मस्तक होने वाला प्रथम राजपूत वश था। आमेर का भारामल हा एक ऐसा राजा था, जिसने सर्वप्रथम मुगल बादशाह बाबर के दरबार मे उपस्थिति देना प्रारम्भ किया था और पठानो के अनधिकृत अधिकार के पहले हुमायूं से आमेर के राजा के रूप में ५००० की मनसब लेता था। जिम समय अकबर ने राजपूतो से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर आत्मीयता स्थापित करने की चेष्टा की उस समय भी आमेर का राजघराना ही सर्वप्रथम क्षेत्र में आया। डा० वेणीप्रसाद ने लिखा है कि भारत के मध्यकालीन इतिहास में कोई भी विवाह राजनीतिक दृष्टि से इतना आनन्ददायक और इतना लाभप्रद नही हुआ था, जैसा कि १५६२ में आमेर के राजा भारामल की पुत्री के साथ अकबर ने निश्चय किया था। भारतीय राजनीति में इससे नवयुग के अरुणोदय के लक्षण दृष्टिगत होने लगे थे। इसने भारत को महत्त्वपूर्ण शासको की परम्परा प्रदान की। इससे चार पीढियो तक मुगल बादशाहो को कतिपय ऐसे सेनानायको की सेवा अधिगत हो सकी थी जो कि मध्ययुग में उत्पन्न होने वाले सबसे महान् व्यक्तियो में गिने जा सकते थे।

भारामल का पुत्र भगवानदास मुगल बादशाहो का और भी अधिक निकटवर्ती हो गया। भगवानदास अकबर का मित्र था। अकबर ऐसे व्यक्तियो के उपयोग करने की कला में पर्याप्त निपुण था। भगवानदास ने भी अपनी पुत्री का विवाह शाहजादा सलीम के साथ कर दिया था। मानसिह भगवानदास का भतीजा था। यह अकबर के दरबार का सबसे बडा प्रतिभाशाली और शक्तिमान् व्यक्ति था। मानसिंह के साहचर्य का ही यह फल था कि अकबर ने धीरे-धीरे समस्त राजपूत राजाओ को अपने अधिकार मे ले लिया था, यही नही अपितु मानसिह अकबर का सेनाध्यक्ष था और उसे सबसे अधिक आपत्तिपूर्ण तथा भीषण कार्य सौपे जाते थे। मानसिह ने खोटान से लेकर महासागर पर्यन्त विजय करके मुगल-साम्राज्य को बढाया, उडीसा पर आधिपत्य स्थापित किया, आमाम को करद बनाया और काबुल को आज्ञा-पालन करने पर विवश किया। क्रमश: इन्होने बगाल, बिहार, दक्षिण और काबुल में राज्यपाल के रूप में कार्य किया और वहा पर इन्होने मुगल आतंक को

पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित कर दिया। बिहारी का निम्नलिखित पद्य राजा मानसिंह के विषय में उपलब्ध हुआ है, जिसमें मानसिंह की प्रशंसा की गई है :—

महाराजा मानसिंह पूरब पठान मारे, सोनित की सरिता अजौं न सिमिटति है।
सुकवि 'बिहारी' अजौं उठत कबन्ध कूदि अजौं लौं त्यौं रन में रनो ही न मिटति है॥
अजौं लौं पिशाचन की चहलते चौंकि चौंकि सची मघवा की छतियान लिपटति है।
अजौं ओढ़े हैं कपाली आली आली खाले अजौं लगि काली मुख लाली ना मिटति है॥[1]

किन्तु अकबर ने शीघ्र ही अनुभव कर लिया था कि राजपूत मैत्री सर्वथा निरापद नहीं है। अकबर ने बड़ी कठिनाई से और बड़ी साधना के बाद शाहजादा सलीम को प्राप्त किया था और स्वभावत उसकी कामना सलीम को ही उत्तराधिकार प्रदान करने की थी। परन्तु मानसिंह अपने भाजे खुसरो को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। मानसिंह के सकोच के कारण अकबर को भी विवश होकर खुसरो का समर्थन करना पड़ता था, जिससे सलीम को निरन्तर सघर्ष और विद्रोह के लिए बाध्य होना पड़ता था।[2]

मानसिंह की मृत्यु के बाद नेतृत्व जोधपुर के हाथों मे चला गया। इसके दो कारण थे। एक तो मानसिंह ने भाजे खुसरो के समर्थनमें जहाँगीर से विरोध मोल ले लिया था। दूसरे मानसिंह के उत्तराधिकारी भावसिंह इत्यादि दो-एक राजा अयोग्य सिद्ध हुए थे। कुछ समय बाद जगतसिंह के पौत्र जयसिंह को बीकानेर की राजकुमारी जोधाबाई के उद्योग से वही महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हो गया, जिसका उपभोग राजा मानसिंह ने किया था। जयसिंह भी महान् शक्तिशाली और प्रतिभा-सम्पन्न शासक था। इसने मुगलो की मान-मर्यादा बढ़ाने मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। जयसिंह का समस्त जीवन मुगल सेना-नायक के रूप में सैकड़ों सफल अभियानों से भरा हुआ था। इसके नाम से मुगलो के विरोधी थर्राते थे। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में जयसिंह ने औरगजेब का साथ दिया था और दाराशिकोह तथा दूसरे विरोधियो के दमन में प्रमुख भाग लिया था। जयसिंह की तत्परता और वीरता का इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि औरगजेब के आतक से जब दारा विभिन्न देशी नरेशों की शरण में जाता था तब जयसिंह का पत्र उसके पहुचने के पहले ही वहा पहुंच जाता था और उसके आतक से दारा को कही शरण नही मिलती थी, यहां तक की दारा के समधी ने भी उसे अपने यहा आश्रय नही दिया था। हिन्दू-नरेशों में औरंगजेब के दो प्रबलतम विरोधी थे—छत्रसाल बुंदेला और वीर शिवाजी। जयसिंह ने छत्रसाल से औरंगजेब की सधि कराई थी और शिवाजी को दरबार में उपस्थित होने पर बाध्य किया था। जयसिंह के जीवन काल में

१—देखो—श्री विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र लिखित 'बिहारी' का परिशिष्ट।

१—कर्नल टाड ने बूंदी के लेखों के आधार पर लिखा है कि इसीलिये अकबरने माजूर में विष मिलाकर मानसिंह को मार डालने की चेष्टा की थी जिसको धोखे में खाकर स्वयं मर गया।

दक्षिण भारत औरगजेब के सरदर्द का कारण नही बन सका। कर्नल टाड ने लिखा है कि जयसिह सदा कहा करते थे कि—मेरी एक मुट्ठी मे देहली रहती है और दूसरी में सूरत। सूरत को मैने यह पटक दिया और देहली को जब चाहू पटक सकता हू। साराश यह है कि आमेर के राजघराने का मुगलवश से अटूट सम्बन्ध था और मुगलो की प्रभुत्व-रक्षा मे आमेर का राजघराना विशेष रूप से कारण बना था। वैवाहिक संबन्ध भी अधिकतर आमेर घराने से ही हुआ था। मानसिह की बुआ (भारामल की पुत्री), उसकी बहन (भगवानदास की पुत्री) और मानसिह को पौत्री (जगत सिह की पुत्री), मुगलो को व्याही थी। आमेर घराने के ही हाथो मे बहुत समय तक मुगल सेना का नेतृत्व रहा और इसी वश वालो ने मुगलो का प्रभुत्व स्थापित रखा।

बिहारी का स्वय अपना राजनीतिक दृष्टिकोण था। बिहारी सतसई का अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बिहारी मे भी राष्ट्रीय भावना (अथवा इसे जातीय-भावना कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योकि उस समस तक राष्ट्रीय भावना का विकास नही हुआ था) पर्याप्त मात्रा मे थी। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति हमें उस मात्रा मे अधिगत नही होती जैसी भूषण में प्राप्त होती है। इसके दो कारण थे। एक तो बिहारी के आश्रयदाता मुगलो के प्रतिद्वन्द्वी नही थे और दूसरे बिहारी ने औरगजेब के भयानक अत्याचारो को देखा नही था। बिहारी का अधिक समय जहागीर और शाहजहाँ के शासन-काल में व्यतीत हुआ था, जिनकी न्यायप्रियता और उदारता प्रतिष्ठित थी और जिनमे मुसलमानो की अपेक्षा हिन्दू रक्त अधिक था। औरगजेब के अत्याचार जयसिह की मृत्यु के बाद प्रारम्भ हुए थे। किन्तु फिर भी बिहारी को जयसिह का मुगलो के प्रति अनुचित पक्षपात अच्छा नही लगता था। उनकी आत्मा विद्रोह करती थी और वे अपनी भावना अन्योक्ति-पद्धति पर व्यजना वृत्ति के द्वारा प्रगट किया करते थे। साथ ही वे यह भी देखते थे कि शासको मे स्वार्थपरता इतनी अधिक बढ गई है कि शासन सूत्र सचालन की अपेक्षा स्वार्थ वृत्ति को विशेष प्रश्रय दिया जाता है और योग्य व्यक्तियो की अवहेलना कर अयोग्यो को स्थान दिया जाता है। जनता मे त्रास और उत्पीडन बढता जाता है। अधिकारीगण मन-मानी करने पर तुले हुए है। अधिकारियो का बार-बार परिवर्तन होता है और नये अधिकारी अपने अधीनस्थो मे मन माना परिवर्तन किया करते है। बिहारी के लिए यह सब असह्य था। अतएव व्यथित होकर वे अपनी अन्योक्तियो द्वारा या तो अपनी वेदना अभिव्यक्त किया करते थे या किसी ऐसे अधिकारी को जली-कटी सुनाते थे और उसे पद की अस्थिरता और स्वल्पकालिकता के लिए सचेत करने की चेष्टा किया करते थे। यदि बिहारी की अन्योक्तियो, नीति-सूक्तियो और कतिपय अप्रस्तुत विधानो पर गवेषणात्मक विचार किया जावे तो उस समय की राजनीतिक स्थिति का सुसम्बद्ध और स्पष्ट चित्र प्राप्त हो जावेगा।

निस्सन्देह व्यजना वृत्ति अधिक प्रभावशालिनी है और काव्य के अधिक अनुकूल भी पडती है। बिहारी की अन्योक्ति ने ही जयसिह की विलासमयी निद्रा भ ग की थी। कहना न होगा कि यद्यपि जयसिह की परपरागत बद्धमूल मुगलो के प्रति पक्ष-पात की भावना को दूर करने मे बिहारी की वाणी समर्थ नही हो सकी थी, तथापि भूषण की अभिधावृत्ति में प्रकट की हुई जातीय-भावना की अपेक्षा बिहारी की व्यजना वृत्ति के माध्यम से प्रकट की हुई यह भावना कम महत्त्वपूर्ण नही है।

बिहारी की प्रकृति अत्युक्ति-प्रिय थी और अत्युक्ति का सबसे बडा अवसर प्रशस्ति-साहित्य मे ही रहता है। किन्तु बिहारी ने जयसिह के विषय में लिखी हुई प्रशस्तियो मे कही अत्युक्ति का सहारा नही लिया है। इससे सिद्ध होता है कि जयसिह का मुगलो के प्रति अनुचित पक्षपात बिहारी को पसन्द नही था। जयसिह के विषय में इन्होने बिल्कुल सच्ची बाते कही है। निम्नलिखित दोहे में मुगलो की विजय का एक मात्र श्रेय जयसिह के नेतृत्व को ही प्रदान किया गया है :—

सामाँ सेन, सयान की, सबै साहि कै साथ।
बाहु बली जयसाहि जू फते तिहारै हाथ॥

जब हम औरगजेब के इतिहास की अनेक घटनाओ का अध्ययन करते हैं और यह देखते है कि किस प्रकार उत्तराधिकार के युद्ध से लेकर बाद के युद्धो तक जयसिह ही औरगजेब की विजय मे निमित्त हुए थे, तब हमे इस दोहे की यथा-र्थता का पता चल जाता है। बिहारी ने इस दोहे के द्वारा जयसिह को यह भी सकेत देने की चेष्टा की है कि यदि जयसिह मुगलो का साथ छोड दे तो उन्हे न तो इतना विजय लाभ हो और न हिन्दुओ का उत्पीडन भी बढे। फारसी तथा मराठी के इतिहासकारो का कहना है कि दक्षिण में दौलताबाद सरकार के मन्दखेर का देश-मुख और निजाम शाही राज्य का मनसबदार लक्खी जादो था। यही लक्खीजादो छत्रपति शिवाजी का नाना था। सभवत इससे और महाराज जयसिह से युद्ध हुआ था। जब इसे जीत कर महाराजा जयसिह आमेर आये तब उन्होने इस विजय के उपलक्ष्य मे बहुत अधिक दान दिया। इसी का वर्णन बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में किया है —

रहति न रन, जयसाहि-मुख लखि, लाखनु की फौज।
जाँचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज॥

एक दोहे मे उन्होने स्पष्ट रूप मे जयसिह को मुगलो का साथ छोड देने का परामर्श दिया है :—

स्वारथु सुकृतु न श्रमु वृथा देखि विहग, विचारि।
बाज पराए पानि परि तू पच्छीनु न मारि॥

बाज़ का पक्षियो को मारना तभी उचित कहा जा सकता है जबकि शिकार का मास उसे खाने को मिल जावे। यदि इसके प्रतिकूल वह मास बाज के स्वामी के

हाथ में चला जावे तो बाज का स्वार्थ तो सिद्ध होता नही प्रत्युत उसे व्यर्थ का श्रम करना पडता है और वह पाप से अलग लिप्त हो जाता है। यहा पर बाज को विहंग सबोधन का प्रयोग किया गया है जिससे स्व-वर्ग नाश की व्यजना होती है। जिस प्रकार बाज का शिकारी के हाथ मे पड कर दूसरे पक्षियो का वध उचित नही कहा जा सकता है उसी प्रकार जयसिह का मुगलो के हाथो मे पडकर हिन्दुओ को मारना भी उचित नही कहा जा सकता। शिवाजी से सधि हो जाने पर बिहारी को प्रसन्नता हुई थी और उन्होने इस कार्य में सफलता प्राप्त कर लेने के लिए जयसिह का अभिनन्दन किया था।

घर-घर तुरकिनि, हिंदुनी देंति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर-चुरी, तैं राखी जयसाहि॥

इसी प्रकार बलख पर विजय प्राप्त करने के लिये मुराद के नेतृत्व में बादशाह शाहजहा ने मुगल सेना भेजी थी। जब मुराद को वहा सफलता नही मिली तब औरगजेब भेजा गया। औरगजेब की सेना वहा जाकर ऐसी फस गई कि सकुशल लौटने का कोई चारा ही नही रहा। उसकी सहायता के लिये जयसिह और जसवत-सिह दोनो सेनानायक भेजे गये। जसवतसिह ने सेना के राशन का भार अपने ऊपर लिया और जयसिह ने सेना का भार लिया। इस प्रकार दोनो नरेशो की सहायता से बलख में बुरी तरह फसी हुई सेना किसी न किसी प्रकार सकुशल निकल सकी।[1] बिहारी ने निम्नलिखित शब्दो मे इस घटना पर प्रसन्नता प्रगट की है :—

यौ दल काढ़े बलख तें तैं जयसिंह भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाई गुवाल॥

बिहारी के अप्रस्तुत विधानो मे यत्र-तत्र सामयिक राजनैतिक स्थिति का प्रतिफलन प्राप्त होता है। यौवन को अत्याचारी अधिकारी की उपमा कितनी सुन्दर है:—

नव नागरितन-मुलुकु लहि जोवन-आमिर जोर।
घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम करीं और की और॥

इस दोहे से अभिव्यक्त होता है कि उस समय राजनैतिक अधिकारियो में सामयिक परिवर्तन होता रहता था और वे अधिकारी अपने अधीनस्थो पर मनमानी करने के लिए स्वतन्त्र थे। बिहारी ने दूसरे दोहे में ऐसे व्यक्तियो के मर्यादातीत हो जाने की ओर सकेत किया है:—

अरे, परेखौ को करै, तू ही बिलोकि बिचारि।
किहिं नर किहिं सर राखियै खरे बढ़े परि पारि॥

इस प्रकार के अधिकारी कभी-कभी अयोग्य तथा निम्नकोटि के व्यक्ति भी हो जाते थे और वे अपनी वास्तविकता को छिपाने के लिए बाह्याडम्बरो का सहारा

१. देखो History of Aurangzev, vol. I by Yadu Nath Sarkar.

लेते थे। बिहारी ने इस वास्तविकता का संकेत निम्नलिखित दोहे में किया है :—

पाइ तरुनि-कुच उच्च पदु चिरमु ठग्यौ सबु गाँउ।
छुटं ठौरु रहिहै वहै, जु हो मोलु, छवि, नाउं॥

इसी प्रकार के अयोग्य तथा मिथ्याभिमानी व्यक्तियो के अधिकार प्राप्त कर लेने और योग्य व्यक्तियो के वचित रहने पर बिहारी ने कई अन्योक्तिया लिख कर अपनी वेदना व्यक्त की है .—

मरतु प्यास पिंजार--पर्‌यौ सुआ समै कै फेर॥
आदरु दै दै बोलियतु बाइसु बलि की बेर॥

इसी प्रकार :—

अरे हस, या नगर में जैयौ आपु बिचारि।
कागनि सौं जिन प्रीति करि कोयल दई विडारि॥

योग्य व्यक्तियो के निरादर पर भी बिहारा ने पर्याप्त क्षोभ प्रकट किया है:—

वे न इहाँ नागर बढ़ी जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अन फूल्यौ भयौ गंवई--गाँव गुलाब॥

इसी प्रकार:—

चल्यौ जाइ, ह्याँ को करै हाथिनु को व्यापार।
नहिं जानतु, इहिं पुर बसै धोबी, ओड़ कुंभार॥
करि फुलेल को आचमन, मीठौ कहत सराहि।
रे गंधी, मति अन्ध तू, अतर दिखावत काहि॥

ज्ञात होता है बिहारी अपने आश्रयदाता के विद्वानो के प्रति व्यवहार से सन्तुष्ट नही थे। उन्हे यह बात अच्छी नही लगती थी कि राज्य के कार्यो में योग्यता की परवाह नहीं की जाती। साथ ही वे धीरे-धीरे इस निष्कर्ष पर पहुच गये थे कि राजा लोगो से सम्मान प्राप्त करने के किए गुणो की नही, निकटवर्तिता की आवश्यकता है। उन्हे ज्ञात हो गया था कि .—

राज-प्रसाद-वित्तानि चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च, कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

में शूर और कृतविद्य की अपेक्षा सेवा की योग्यता ही प्रधान हो गई है। इसीलिए उन्होने विद्वानो को सेवा-भाव तथा निकटवर्तिता सीखने का परामर्श देना प्रारम्भ कर दिया था—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-विस्तारन-काल।
प्रगटत निरगुन निकट रहि चगरग भूपाल॥

यही नहीं, वे राजानुकम्पा प्राप्त करने के लिये अपत हो जाना भी आवश्यक तथा अनिवार्य मानते थे—

नहिं पावसु ऋतुराज यह, तजि तरवर चितभूल।
अपतु भएँ बिनु पाइहै क्यों नवदल फल फूल॥

किन्तु विद्वत्ता अपना स्वय पुरस्कार है। स्वाभिमान सम्पत्ति की अपेक्षा भी बडी चीज़ है। यदि राजनैतिक परिस्थिति के कारण योग्य व्यक्तियो को अधिकार नही प्राप्त होता है तो क्या हुआ, उन्हे स्वाभिमान को हाथ से नही जाने देना चाहिए·—

चितु दै देखि चकोर त्यौं तीजै भजै न भूख।
चिनगी चुगै अगार की चुगै कि चद-मयूख॥

योग्य व्यक्ति योग्य ही है चाहे उसे अच्छा स्थान प्राप्त हो या न हो। उसकी अयोग्यो से क्या तुलना ·—

पाइल पाइ लगी रहै, लगी अमोलिक लाल।
भोंडर हूँ की भासिहै बेंदी भामिनि-भाल॥
सोतलता रु सुबास को घटै न महिमा मरु।
पीनस वारे जो तज्यो सोरा जानि कपूर॥

किन्तु इसमे भी बडी बात थी अयोग्यो का ऊचे पदो पर पहुचना। इसमें बिहारी को क्षोभ के साथ रोष भी होता था और वे अप्रस्तुत कथनो द्वारा अपना रोष अभिव्यक्त किया करते थे —

काल्हि दसहरा बीतिहै धरि मूरखि जिय, लाज।
दुर्‌यौ फिरत कत द्रुमनि मे नीलकण्ठ बिनु काज॥
दिन दस आदरु पाइकै करि लै आपु बखानु।
जौं लगि काग सराध पखु तौ लगि तौ सनमानु॥

निम्नलिखित दोहे में बिहारी का रोष और अधिक तीव्र हो उठा है —

गोधन, तूं हरष्यौ हिये घरियक लेहि पुजाइ।
समुझि परैगी सीस पर परत पसुनु के पाइ॥

सम्भव है कि ये उक्तिया औरगजेब के विषय में की गई हो। यह तो निश्चित ही है कि हिन्दू-धर्मानुयायी होने तथा शाहजहा के यहा रहने के कारण बिहारी का पक्षपात दारा के प्रति होगा और बिहारी उस समय भी शिवाजी इत्यादि की सफलता की आशसा करते होगे। इसलिये उन्होने औरगजेब के प्रति अपना रोष अन्योक्तियो द्वारा प्रगट किया होगा। बिहारी सतसई की पूर्ति सम्वत् १७१९ में हुई थी और सम्भवत इसी वर्ष वे जयपुर छोड कर मथुरा चले गये थे। औरगजेब ने जयसिह के पुत्र के द्वारा उन्हे विष दिलवाकर सम्वत् १७२४ में मरवाया था। बिहारी के पाच वर्ष पहिले ही चले जाने का अर्थ यही होता है कि बिहारी शिवाजी के विषय में जयसिह की नीति से सतुष्ट नही थे और जब उनकी कविता जयसिह

की मनोवृत्ति बदलने में कुण्ठित हो गई तब उन्होने वहा से चले जाना ही श्रेयस्कर समझा। निम्नलिखित दोहे में दुराज की कठिनाइयो का उल्लेख किया गया है :—

बिसम दुराज प्रजान में क्यों न बढ़े दुखदन्द।
अधिक अन्धेरो जग करै मिलि मावस रवि चन्द॥

इससे कुछ लोगो ने जयसिह की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारविषयक सघर्ष में जयपुर में दुराज सत्ता स्थापित हो जाने पर इस दोहे को घटित किया है। मुगलों के उत्तराधिकार विषयक सघर्ष के विषय में भी इस दोहे को घटित कर सकते हैं। मुगलो के उत्तराधिकारविषयक सघर्ष में प्राय· द्विराज सत्ता स्थापित हो जाती थी जबकि एक का समर्थन और दूसरे का प्रत्याख्यान निरापद नही कहा जा सकता था। बिहारी ने गोवर्धन के सर पर पशुओ के पैर पडने की जो भविष्यवाणी की थी वस्तुत. वह सही निकली। औरगजेब की दुर्नीति से मुगल-साम्राज्य अचिरात् क्षत-विक्षत हो गया। चारों ओर के आक्रमणो और घात-प्रतिघातो ने मुगल साम्राज्य को समूल नष्ट कर दिया। यद्यपि अपनी भविष्य-वाणी की सत्यता देखने के लिए बिहारी की आखे विद्यमान नही थी तथापि उन्हे स्वर्ग में सतोष अवश्य हुआ होगा, इसमें सदेह नही।

बिहारी सतसई को देखने मे ज्ञात होता है कि इस समय शासन-व्यवस्था अत्यन्त शिथिल थी। चारो ओर चोर-डाकुओ का बोलबाला था। स्थान-स्थान पर लुटेरे अपना अड्डा जमाये हुए थे, जिसमे सामान्य यात्री को यात्रा करने में शकाकुल रहना पडता था। पर्वतीय-मार्ग तथा वन्य-प्रदेश विशेष रूप से आपद्-ग्रस्त थे। जो यात्री प्रात काल से पहले अपनी यात्रा प्रारभ कर देते थे उनकी ठगो से प्राय: मुठभेड हो जाती थी। ये ठग ऐसे यात्रियो की घात में बैठे रहते थे और अवसर पाकर किसी एकाकी यात्री पर आक्रमण कर देते थे। उसे मार कर कही किसी गड्ढे में डाल देते थे और उसका सामान लूट ले जाते थे। बिहारी ने ऐसे भी लुटेरो और ठगो का उल्लेख किया है जो किसी तान्त्रिक क्रिया अथवा किसी जादू-टोना के प्रयोग से यात्रियो को अपने वश मे कर लेते थे। ये लोग या तो कोई चूर्ण छिडक देते थे या अभिमन्त्रित गुड की डली का स्पर्श करा देते थे, जिससे प्रयोज्य व्यक्ति वशवर्ती होकर पीछे-पीछे चल देता था। इस प्रकार सामान्य वस्तुओ के साथ पुरुषो तथा स्त्रियो का अपहरण भी प्राय: हुआ करता था। केवल इतना ही नही, अपितु इन ठगों तथा लुटेरों के सगठन भी बने हुए थे। यदि कोई ठग किसी यात्री से कुछ लूटना चाहता था, किन्तु सफल नहीं हो पाता था तो वह अपने उस शिकार को कुछ कम दाम लेकर दूसरे अपने साथी लुटेरे के हाथ बेच देता था।

ख—सामाजिक स्थिति

बिहारी के समय की सामाजिक स्थिति के विषय में सबसे पहले जो बात ध्यान में आती है वह है समाज का वर्गों में विभाजित होना। एक ओर राजा-महा-

राजा, नवाब, रईस, सेठ इत्यादि आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत करते थे, दूसरी ओर किसानों और मजदूरो का वर्ग श्रम से जीविकोपार्जन करता था और अपनी गाढ़ी कमाई के द्वारा धनिक वर्ग के उपभोग का साधन बना हुआ था। धनिक लोग अपने सुख-साधन के लिए जिस दलित-जाति पर आश्रित रहते थे, उसे उठाने और सुधारने की ओर उनका ध्यान नही था। अपितु इस धनिक वर्ग में गिरी हुई जाति के प्रति एक घृणा सी उत्पन्न हो गई थी। ऊच-नीच का भेद-भाव इतना अधिक था कि छोटे आदमी इस योग्य ही नही माने जाते थे कि उनसे बड़े आदमियो का कुछ भी काम चल सके .—

कैसे छोटे नरनु तें सरत बड़नु के काम।
मढ्यौ दमामौ जातु क्यौं कहि चूहे कैं चाम॥

दूसरी ओर बडे आदमियों के दोषो की भी प्रशंसा होती थी :—

बुरौ न कोऊ कहि सकै बड़े वंश की कानि।
भलौ भलौ सब कहि उठे धुवाँ अगर कौ जानि॥

गावो की दशा अच्छी नही थी। ग्राम जीवन घृणास्पद तथा हेय माना जाता था। दलित-वर्ग अधिकतर गावो में ही रहता था और ग्रामीणो में हीनता की भावना तथा नागरिको में उच्चता की भावना बड़े ही भयानक रूप में अपना घर कर गई थी। बिहारी के निम्नलिखित दोहे से ग्रामीणो के प्रति घृणा की भावना अभिव्यक्त होती है :—

चल्यौ जाइ, ह्याँ को करै हाथिनु को व्यापार।
नहिं जानतु इहिं पुर बसै धोबी, ओड़, कुभार॥
करि फुलेल कौ आचमन, मीठौ कहत सराहि।
रे धी मति अंध तूं अतर दिखावत काहि॥

देहात की स्त्रिया भोली-भाली होती थी, वे नागरिक जीवन से सर्वथा अपरिचित रहती थी, विलास चेष्टाओ से सर्वथा अनभिज्ञ होती थी। उनकी विलास चेष्टाओ की पराकाष्ठा केवल हाथ की मुट्ठी बाधकर कमर पर रख लेना ही था। इसको बिहारी ने हूठा देना कहा है। देहाती स्त्रियो की विलास-चेष्टाओं का वर्णन निम्नलिखित दोहे में किया गया है —

गदराने तन गोरटी ऐपन-आड़ लिलार।
हूठ्यौ द इठलाइ दृग करै गंवारि सुवार॥

दलित जाति के आभूषणों का भी एक नमूना देखिये :—

पहुला हारु हियें लसै, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरे-खरे, खरे उरोजनु बाल॥

ग्रामीण लोग अपनी स्थिति से सन्तुष्ट थे। आजकल की जैसी साम्यवाद की भावना ने ग्रामीण जनता में घर नही कर पाया था और न उनमें प्रतिक्रिया की

भावना उत्पन्न हुई थी। इतना अवश्य था कि जिस प्रकार नागरिक उच्च घरानों के व्यक्तियों के हृदयों में ग्रामीणों के प्रति घृणा की भावना घर कर गई थी उसी प्रकार ग्रामीण लोग भी आपस में नागरिकों की हसी उडाया करते थे। यदि कभी कोई नागरिक दैव योग से देहात में फस जाता था तो ये लोग जी भर कर उसकी खबर लेते थे। बिहारी ने एक ऐसे नागरिक का निम्नलिखित दोहे में निर्देशन कराया है —

सब हसत करतार दै नागरता के नाँव।
गयो गरबु गुन कौ सबु गए गँवारे गाँव॥

इसी प्रकार यदि कोई नगर की लडकी किसी गाव में विवाहित होकर जाती थी तो उसे देहाती जीवन अपनाने में बडी कठिनाई का सामना करना पडता था। उसके नागरिक वृत्त की जी भर कर हसी उडाई जाती थी। एक ऐसी लडकी का बिहारी ने निम्नलिखित रूप में वर्णन किया है —

नागरि, विविध विलास तजि बसी गवे लिनु मांहि।
मूढनि मैं गनिबो कि तू, हूठयौ दै इठलाँहि॥

किन्तु नागरिक जीवन अत्यन्त समृद्ध और सुसम्पन्न था। इस जीवन में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। बादशाह, राजा, महाराजा, सामन्त, सेठ-साहूकारों के घराने कामिनियो से परिपूर्ण थे। बहु-विवाह पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही था। प्राय थोडी आयु में लडकी का विवाह हो जाया करता था। अविवाहित तथा विवाहित दोनो प्रकार की स्त्रिया श्रीमानो की विलास-वासना पूर्ण किया करती थी। प्रकट और प्रच्छन्न दोनो प्रकार का सुरत श्रीमानो के लिए सामान्य बात थी। परकीया को स्वायत्त करने के लिये दूतियो का अत्यधिक प्रयोग किया जाता था। समाज में ऐसी भी स्त्रिया विद्यमान थी जिनका व्यवसाय ही स्त्रियो को फसाकर विलासियो की विलास-वासना पूर्ण करना था। ऐसी स्त्रिया अधिकतर निम्नजाति की होती थी। बिहारी ने तथा दूसरे रीति-काल के कवियो ने दूतियो का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया है। सम्पन्न परिवार में आभूषणो का बहुत अधिक महत्त्व था और आभूषण अधिकतर सोने के पहने जाते थे। बिहारी ने सोने के आभूषणो का कई दोहो में वर्णन किया है। ये आभूषण जडाऊ भी होते थे और उनमें नगों का उपयोग भी बहुलता से किया जाता था। अधिक सम्पन्न घरानो में स्वर्ण के स्थान पर माणिक्य और कर्पूर मणि इत्यादि रत्नो का भी प्रयोग किया जाता था। बिहारी ने अग-प्रत्यग के आभूषणो का भी वर्णन किया है, जिससे हमें प्राय प्रत्येक अग में पहने जाने वाले आभूषणों का पता चल जाता है। बिहारी ने निम्नलिखित आभूषणों का वर्णन किया है .—

क्र० सं०	अग	आभूषण	विशेष
१.	ललाट	टीका	यह कई एक रगो के नगों से जड़ा जाता था।

२.	कान	खुभी	यह भाले के आकार की होती थी।
		तर्योना या तरिवन	यह लाल रग की चुन्नियो से जड़ा जाता था और कपोलो पर शोभित होता था।
		मुरासा	इसमें मोती जड़े जाते थे।
३.	नाक	वेसरि	इसमें मोती जडे जाते थे और इसकी छाया ओठो पर पडती हुई बड़ी सुन्दर प्रतीत होती थी।
		सीक	यह सोने की बनी होती थी तथा मणि से जडी जाती थी।
४.	कंठ	गुलीबद	यह कठ में पहिना जाता था और कठ तक ही सीमित रहता था।
		उरवसी	यह कठ मे पहनी जाती थी और छाती पर रहती थी। यह सोने की भी बनती थी और माणिक्य आदि रत्नो की भी।
५.	कमर	किंकिणी	इसमें बजने वाली घटिया लगी रहती थी।
६.	हाथ	छला	यह छिगुनी तथा दूसरी उगलियो में पहना जाता था।
७.	पैर	मजीर	इसमें बजने वाले घुंघरू डाले जाते थे।
८.	पैर का अंगूठा	अनवट	यह भी जडाऊ होता था।

उक्त स्वर्णाभरणों के अतिरिक्त आभूषणो में पुष्पो का भी अधिक महत्त्व था। बिहारी ने मालती की माला का उल्लेख किया है। इसी प्रकार घुंघची, मौलश्री, कुमुदिनी, पोथ इत्यादि के माला धारण करने की भी बहुत अधिक प्रथा थी। मोती, सीप इत्यादि की भी माला धारण की जाती थी। इनमें से अनेक माला पुरुषों द्वारा भी धारण की जाती थी।

बिहारी ने आभूषणो में सबसे अधिक बेंदी का वर्णन किया है। बेदी कई प्रकार की धारण की जाती थी। एक ओर पाच रग के रत्नों की बेदी धारण की जाती थी और दूसरी ओर साधारण स्त्रिया सनके फूलो को ही बेदी के स्थान पर प्रयुक्त कर संतोष लाभ करती थी। भोडर की बेंदी भी बहुत अधिक पहिरी जाती थी।

दाम्पत्य जीवन के आमोद-प्रमोदों में मदिरा का भी बहुत बड़ा स्थान था। रीमानों के घरोंमें मदिरा-पान बहुलता से किया जाता था। बिहारी ने अपनी सूक्तियों

में भी कही भी मदिरा के दुर्गुणो का उल्लेख नही किया है। सर्वत्र मदिरा के आनन्द का ही बर्णन पाया जाता है।

उस समय पर्दा प्रथा प्रचलित थी। वधुये घूंघट काढती थी। बिहारी ने एक दोहे में बुरके का भी उल्लेख किया है। बिहारी ने कई दोहो में घूघट का वर्णन किया है :—

छिप्यौ छबीलौ मुंहु लसै नीलै अंचर चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर॥

इसी प्रकार —

डारी सारी नील की ओट अचूक चुकैं न।
मो मन-मृग करबर गहै अहे! अहेरी नैन॥

बिहारी सतसई से उस समय के कतिपय रीति-रिवाजो पर भी प्रकाश पडता है। निम्नलिखित दोहे में पाणिग्रहण सस्कार का वर्णन किया गया है :—

स्वेद-सलिलु रोमांच कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ सँग हाथ कै हथलेयें हीं हाथ॥

नवागत बधू की विदा के समय पर तथा दूसरे त्योहारों में नाइने पैर धोने के लिए आया करती थी। जब वधू पहली बार घर आती थी तब उसको घर भर की बडी-बूढी स्त्रिया मुह देखने के उपलक्ष में कुछ-न-कुछ भेट दिया करती थी नवागत वधू प्रथम वार शुभ मुहूर्त में भोजन बनाती थी और घर के बडे-बूढे प्रथम बार भोजन करने के उपलक्ष्य में उसे कुछ-न-कुछ भेट देते थे। इस प्रथा को आज कल बर्तन छूना कहते हैं। सौभाग्य-चिह्न के रूप में हिन्दू-स्त्रिया चूडी और मुसलमान स्त्रिया चादर धारण करती थी।

समाज में अन्ध-विश्वास का पर्याप्त प्रसार था। भूत, प्रेत, चुडैल इत्यादि पर विश्वास किया जाता था। जादू टोना का प्रयोग स्त्रिया किया करती थी। बिहारी ने मोहन और वशीकरण का उल्लेख किया है। एक दोहे में 'टोने लोने नैन' शब्द का प्रयोग किया गया है, इससे ज्ञात होता है कि मोहन में नमक का प्रयोग किया जाता था और यह प्रयोग जब विपरीत हो जाता था तब प्रयोक्ता पर ही प्रभाव जमाता था। एक दोहे मे मूठ मारने का भी उल्लेख है। तन्त्र शास्त्र के अनुसार आवश्यकतानुरूप किसी पदार्थ को हाथ में लेकर तथा अभिमन्त्रित कर प्रयोज्य पर छोड दिया जाता है, जिससे मारण, मोहन, उच्चाटन इत्यादि कार्य सम्पन हो जाते है। बिहारी ने दृष्टि लगने की ओर भी सकेत किया है और उसका निराकरण डिठौने के द्वारा होना बतलाया है। किसी की सुन्दरता इत्यादि को जब कोई व्यक्ति ईर्ष्या तथा आश्चर्य की मिश्रित भावना से देख लेता है तब वह व्यक्ति रुग्ण हो जाता है। यदि मस्तक में काला टीका लगा दिया जावे तो दृष्टि नही लगती। आजकल यह टीका बच्चो को लगाया जाता है। किन्तु बिहारी ने युवतियों के

डिठौना लगाने का वर्णन किया है। इसी प्रकार अंग स्फुरण तथा दूसरे शकुनों पर भी विश्वास किया जाता था। आजकल जब किसी की कोई वस्तु चोरी जाती है तब वह उसको ज्ञात करने के लिये लोगों के अन्धविश्वास का सहारा लेता है और चावल खिलाकर चोरी ज्ञात करता है। बिहारी ने मन्त्र की कटोरी का वर्णन किया है। इस कटोरी मे अभिमन्त्रित जल रहता था और मण्डलाकार बैठे हुए सन्दिग्ध व्यक्तियों की ओर यह कटोरी मत्र द्वारा सञ्चालित की जाती थी तथा चोर के सामने यह कटोरी स्वत: रुक जाती थी। इस प्रकार समाज में अन्धविश्वास पूर्ण अधिकार किये था।

इस समय समाज मे आमोद-प्रमोद के भी अनेक साधन विद्यमान थे। पतग उड़ाने की प्रथा सर्वसाधारण में प्रचलित थी। बिहारी सतसई मे कई एक खेलो का उल्लेख पाया जाता है। छोटे बच्चे चोरमिहिचनी खेल खेलते थे। इसी प्रकार फिरकी, चकई तथा लट्टू नचाने का भी वर्णन मिलता है। शिकार खेलना श्रीमानो तथा बडे लोगो का एक आमोद-प्रमोद था। बिहारी ने चौगान नाम के एक खेल का भी वर्णन किया है, जो आजकल के पोलो खेल के समान घोडे पर चढ कर खेला जाता था और इस कार्य के लिये घोडे को विशेष प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता था। घोडो का नचाना और उनको विशेष प्रकार से लेकर चलना भी बडे लोगो के आमोद-प्रमोद का साधन था। सामूहिक आयोजन भी होते थे और मेले भी लगते थे। इन अवसरो पर नृत्य-गान का प्रबन्ध किया जाता था। नर्त्तकियो का नृत्य आमोद-प्रमोद का एक सामान्य साधन था। शिकार खेलना, नाचना इत्यादि की व्यवस्थित शिक्षा दी जाती थी। अनेक प्रकार के गीतो का प्रभाव भी माना जाता था। हिंडोला झूलना, पट्टेबाजी के खेल देखना और मदारियो की कलाबाजी का आनन्द लेना भी सामान्य आमोद-प्रमोद के साधन थे। बिहारी ने निम्नलिखित त्यौहारो की ओर निर्देश किया है——

१ **होली**——इस प्रसग में पिचकारी से रग खेलना, एक दूसरे पर गुलाल डालना इत्यादि रीतियो का वर्णन है। होली के दिनो में चाचर खेलने की भी प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। हर्ष की रत्नावली में भी कामदेवार्चन के प्रसग में इसका उल्लेख पाया जाता है। बिहारी के एक दोहे में भी इसकी ओर संकेत किया गया है। आजकल होली के दिनो मे एक प्रथा और है। प्राय वेश्यायें तथा दूरवर्ती गावो की निम्न जाति की स्त्रिया किसी नागरिक या अच्छे घराने के व्यक्ति को पकड लेती हैं और जब तक होली की कुछ भेट ले नही लेती तब तक छोडती नही। इसको फगुआ की प्रथा कहा जाता है। बिहारी ने एक दोहे में इस विधि का वर्णन किया है।

२. **तीज पर्व**——श्रावण मास का यह एक प्रसिद्ध पर्व है। इस दिन स्त्रिया शृंगार कर एक दूसरे से मिलती हैं, आमोद-प्रमोद मनाती हैं और झूला झूलती है। बिहारी ने इस पर्व का भी उल्लेख किया है।

३. **श्राद्ध पक्ष**—आश्विन कृष्ण-पक्ष श्राद्ध-पक्ष होता है। इसमें मृत पितरों का श्राद्ध-तर्पण किया जाता है। बिहारी ने श्राद्ध में कौओं को बलि खिलाने का वर्णन किया है।

४. **दशहरा**—आश्विन शुक्ल दशमी का प्रसिद्ध पर्व है। इस दिन नीलकण्ठ का देखना शुभ माना जाता है कहा जाता है कि इस दिन नीलकण्ठ कहीं छिपा रहता है और उसके दर्शन सरलता से नहीं होते। बिहारी ने इसी भाव को लेकर एक अन्योक्ति लिखी है।

५. **गणेश पूजन**—कार्तिक कृष्ण चतुर्थी को स्त्रियां गणेश पूजन किया करती हैं। दिन भर निर्जल व्रत किया जाता है और शाम को चन्द्र पूजन कर भोजन किया जाता है। विवाहित स्त्रियो के लिये यह व्रत अनिवार्य होता है। प्राचीन समय में विवाह प्रायः थोड़ी आयु में हुआ करते थे। अतएव नवोढाओं को यह व्रत करना कुछ कठिन हो जाता था। घर के लोग उन्हें प्रेम वश चन्द्र दर्शन के आग्रह से रोकते थे। बिहारी ने दो दोहो में इस भाव का वर्णन किया है।

६. **सक्रान्ति**—वैसे तो वर्ष में १२ संक्रान्तिया होती हैं किन्तु सूर्य का मकर में संक्रमण अत्यन्त पुनीत माना जाता है और इसमें दान-दक्षिणा का बहुत बडा महत्त्व है। बिहारी ने एक दोहे में संक्रान्ति-काल के दान का महत्त्व बतलाया है।

इन त्यौहारों के अतिरिक्त बिहारी ने रतजगे का भी उल्लेख किया है। जब कभी किसी घर में विवाह इत्यादि होता है तो घर की स्त्रियां पास-पडोस की स्त्रियो के साथ मिलकर रात्रि-जागरण किया करती है और आमोद-प्रमोद में लगी रहती हैं। यह प्रथा उस समय भी थी। उस समय धार्मिक क्षेत्र में कुछ लोग योग-साधन भी किया करते थे। सकाम यज्ञ और होम भी होते थे और कुछ लोग माला के द्वारा मन्त्रों का जप भी करते थे। इस प्रकार बिहारी सतसई से हम उस समय का ठीक रूप में सामाजिक चित्र प्राप्त कर सकते हैं।

व्यक्तिगत परिस्थितयां :—

मध्ययुगीन अन्य कवियो की भाति बिहारी का जीवन-वृत्त भी अनिश्चित है। इसको ज्ञात करने के लिये कल्पनाओं और अनुमानो का आश्रय लेना पडता है। निश्चायक उपकरणों को हम ६ भागों में विभाजित कर सकते हैं। १. सतसई में प्रत्यक्ष उल्लेख। २. टीकाकारों द्वारा सतसई के विभिन्न दोहों का जीवन-वृत परक नियोजन। ३. कतिपय प्रसिद्ध दोहे। ४. नवीन अनुसधान में उपलब्ध दोहा बद्ध जीवन-वृत्त। ५. विभिन्न साहित्यज्ञों द्वारा जीवन-वृत्त विषयक निर्देश और ६. अर्वाचीन आलोचकों द्वारा निर्धारित जीवन चरित्र। निम्न पक्तियों में इन्ही आधारों पर बिहारी के जीवन-वृत्त पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।।

बिहारी सतसई में केवल एक तत्त्व का प्रत्यक्ष उल्लेख है कि बिहारी के आश्रयदाता महाराजा जयसिंह थे और बिहारी ने इन्ही की आज्ञा से सतसई की

रचना की थी। राजस्थान के इतिहास में आमेर की गद्दी पर दो जयसिंह आसीन हुए थे। एक थे मिर्जा राजा जयसिंह, और दूसरे थे, सवाई जयसिंह। मिर्जा राजा जयसिंह जगतसिंह के पौत्र तथा मानसिंह के भाई थे तथा बीकानेर की राजकुमारी और जहांगीर की पत्नी जोधाबाई के निर्देश पर मुगल-शासन के कृपापात्र बनकर आमेर की गद्दी पर बैठे थे। सवाई जयसिंह औरंगजेब के शासन के ४४वें वर्ष (स० १७५५ वि०, सन् १६९९ ई०) में आमेर की गद्दी पर बैठे थे। इसने ही जयपुर को बसाया था, बिहारी ने जयसिंह द्वारा बलख से सेनाओं के सकुशल निकाले जाने का भी उल्लेख किया है। यह घटना प्रथम जयसिंह मिर्जा राजा के समय की ही है जबकि मुरादबख्श और औरंगजेब ये दोनो शाहजादे बलख मे फस गए थे, और शाहजहा बादशाह के निर्देश पर जयसिंह तथा जसवन्तसिंह ने फसी हुई मुगलो की सेना को सकुशल बाहर निकालने में कुशलता का परिचय दिया था। इससे ज्ञात होता है कि बिहारी मिर्जा राजा जयसिंह (प्रथम जयसिंह) के ही दरबारी कवि थे, द्वितीय जयसिंह (सवाई जयसिंह) के नही।

बिहारी को आरम्भ से ही टीकाकारों के प्राप्त करने का सौभाग्य मिला था। कतिपय टीकाकार तो बिहारी के समय से कुछ ही बाद में हुए थे। इन टीकाकारो ने बिहारी के कई दोहो का जीवन-वृत्तपरक अर्थ किया है। निस्सन्देह ये टीकाकार जनश्रुति तथा परपरागत जीवन-वृत्त से अधिक परिचित थे। अतएव उनकी योजनाये बहुत कुछ विश्वसनीय कही जा सकती है। निम्नलिखित दोहा बिहारी के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने में अत्यत महत्त्पूर्ण माना जाता है —

प्रगट भए द्विजराज-कुल सुबसु बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेश सब, केसव केसवराइ॥

बिहारी के सर्वप्रथम टीकाकार कृष्णलाल कवि ने इस दोहे की व्याख्या में लिखा है कि केशवराय बिहारी के पिता का नाम है। इसी प्रकार अनवर चन्दिका, रस-चन्दिका, लाल-चन्दिका, हरिप्रकाश की टीका इत्यादि में भी केसवराइ यह बिहारी के पिता का निर्देश माना गया है। इस निर्देश से साहित्य-जगत् में एक बहुत बडा विवाद उठ खडा हुआ कि, क्या प्रसिद्ध आचार्य केशव ही बिहारी के पिता थे। एक तो बिहारी के दोहो में बुन्देलखडी भाषा के लखिबी, प्योसार इत्यादि कुछ शब्द पाये जाते है, दूसरे इनकी सतसई देखने से प्रकट होता है, कि बिहारी ने आचार्य केशव के काव्यशास्त्रीय ग्रथो को भली-भाति पढा था, और उनसे प्रभावित भी हुए थे। इसके अतिरिक्त बिहारी ने उक्त दोहे में बडे गौरव और पूज्य-बुद्धि से अपने पिता का स्मरण किया है, इससे भी यही सिद्ध होता है, कि इनके पिता प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। कुनपति मिश्र बिहारी के भानजे कहे जाते है। इन्होने केशवराय का इन शब्दो मे स्मरण किया है :—

कविवर मातामह सुमिरि केसव केसवराइ।
करौं कथा भारत्थ की भाषा छद बनाइ॥

इससे भी यही सिद्ध होता है कि, बिहारी के पिता केशवराय एक प्रतिष्ठित कवि थे। कहा जाता है कि, केशवदास के आश्रयदाता इन्दजीतसिंह का दरबार कवियों, गवैयो और नर्तकियो से भरा हुआ था। राय प्रवीण वेश्या का उल्लेख इनके दरबार में पाया ही जाता है। सम्भवतः बिहारी का निम्नलिखित दोहा इसी तथ्य से प्रभावित है :—

सब अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
छवि जुत लेति अनन्त गति पुतिरी पातुर-राइ॥

यहा पर 'राइ' शब्द सम्भवत. राय प्रवीण की ओर सकेत करता है।

बिहारी के एक दोहे मे इन्दजीतसिह के पूर्वज मधुकर शाह की ओर सकेत भी किया गया बतलाया जाता है। असनी के ठाकुर की सतसैया वर्णार्थ टीका में दिये हुए बिहारी के जीवन-वृत्त से प्रकट है कि बिहारी की पत्नी कवयित्री थी। प्राचीन सग्रहो में केशव की पुत्र-वधू नाम की किसी कवयित्री का उल्लेख है। कहा जाता है कि केशव की रसिक-प्रिया से इनके पुत्र पूर्ण रूप से विषय-वासना मे फस गये। तब उससे उन्हे छुडाने के लिए केशव ने विज्ञान-गीता लिखी। इस पुस्तक का प्रभाव केशव के पुत्र पर इतना अधिक पडा कि वे निरन्तर पुस्तक को बगल में दवाये घूमने लगे और एकमेवाद्वितीयम् का पाठ पढने लगे। इस पर केशव की पुत्र-वधू ने बकरे पर ढालकर एक कवित्त बनाया तब केशव ने अपनी पुत्र-बधू का मन्तव्य समझकर अपने पुत्र को फिर राग प्रवृत्त किया। इन सब घटनाओ के आधार पर बिहारी को प्रसिद्ध आचार्य केशव का पुत्र सिद्ध किया जाता है। किन्तु बिहारी को प्रसिद्ध आचार्य केशव का पुत्र मानने में दो आपत्तिया है। एक तो आचार्य केशव का जन्म स० १६१२ माना जाता है, और बिहारी का १६६० इसका अर्थ यह है कि केशव की ४८ साल की आयु मे बिहारी का जन्म हुआ होगा। यद्यपि ४८ वर्ष की आयु मे केशव के पुत्र जन्म होना असम्भव तो नही है पर कठिन अवश्य है। क्योकि यह तो सिद्ध ही है कि केशव अपनी वृद्धावस्था में विरक्त हो गये थे। दूसरी बात यह है, कि केशव और बिहारी दोनो ही हिन्दी-साहित्य के महान कवियो मे है। इनका पिता-पुत्र सम्बन्ध हो और आज तक यह तथ्य सर्वथा अज्ञात रहा हो, यह बात कुछ जचती नही। फिर भी इस विषय में विशेष अनुसंधान की आवश्यकता है और जब तक इस विषय में पुष्ट-प्रमाण प्राप्त न हो जावे बिहारी को प्रसिद्ध केशव का पुत्र नही माना जा सकता। हा, इतना तो सिद्ध ही है कि यदि बिहारी के पिता कोई अन्य केशवराय रहे होगे तो भी के ओडछा जाकर कुछ समय रहे अवश्य होगे और वहा प्रसिद्ध आचार्य केशव से इनका साक्षात्कार अवश्य हुआ होगा। केशव की रचना का बिहारी पर जो प्रभाव पड़ा है उसको देखने से भी यही प्रतीत होता है कि बिहारी का केशव से किसी-न-किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अवश्य रहा होगा, फिर वह चाहे ग्रन्थो के माध्यम से ही क्यों न रहा हो।

बिहारी का दूसरा दोहा, जिसका नियोजन जीवन-वृत्त परक किया जाता है यह है :—

जम-करि-मुँह-तरहरि पर्‌यौ इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥

इस दोहे में स्वामी नरहरिदास का उल्लेख बतलाया जाता है, और कहा जाता है, कि स्वामी नरहरिदास बिहारी के गुरु थे। यह स्वामी नरहरिदास हरिदास जी के सम्प्रदाय के महात्मा थे और महन्त हो गये थे। हरिदास जी के सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है निजमत सिद्धान्त। इस पुस्तक से नरहरिदास जी के विषय में बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। उक्त पुस्तक के अनुसार नरहरिदास जी का जन्म १६४० में हुआ था। ये बुन्देलखड मे दास नदी के किनारे गुढौ गाव में रहते थे। ये बचपन से ही साधु-सन्तो की सेवा-शुश्रूषा करते थे, और बहुत थोड़ी आयु में महात्मा के रूप मे प्रसिद्ध हो गये थे। सवत् १६६५-६६ में वृन्दावन के निधुवन के महन्त स्वामी सरसदेव जी देशाटन करते हुए बुन्देलखड आये, और नरहरिदास को अपना शिष्य बना लिया। सवत १६७५ मे स्वामी नरहरिदास जी अपने गुरु के पास वृन्दावन चले गये और सम्वत् १६८३ में अपने गुरु की गद्दी पर बैठे तथा स० १७४१ तक विद्यमान रहे।

निजमत सिद्धान्त पुस्तक में स्वामी नरहरिदास के शिष्यो में एक केशवराय का भी उल्लेख है। ज्ञात होता है कि बिहारी के पिता स्वामी नरहरिदास के शिष्य हो गये थे और उन्होने उन्ही महात्मा से बिहारी को मत्रोपदेश कराया था। उक्त पुस्तक से ही स्वामी नरहरिदास के यहा ओरछा के राजा का भी आना-जाना सिद्ध होता है। यदि महाराज इन्दजीतसिंह उक्त स्वामी जी के यहा आते-जाते रहे होगे तो उनके साथ आचार्य केशव का सपर्क अवश्य हुआ होगा। ऐसी दशा मे आचार्य केशव का बिहारी के पिता होने में एक और प्रमाण प्राप्त हो जाता है। केशव लिखित वीरसिंह देव चरित्र से ज्ञात होता है कि सवत् १६६३ के आस-पास मुगल शासक की सहायता से वीरसिंह देव ने ओरछा के तत्कालीन राजा रामसिंह को पराजित कर दिया था। इसके बाद केशव की प्रतिष्ठा यदि समाप्त नही हो गई हो तो न्यूनातिन्यून अवश्य हो गई। उधर प्रसिद्ध प्रेतयज्ञ में केशव के निकतवर्ती सभी इष्टमित्र समाप्त हो चुके थे। अतएव सम्भव है कि आचार्य केशव अपने जीवन के अतिम भाग में विरक्त होकर ओरछा छोडकर वृन्दावन चले गये हो और पूर्व परिचय के कारण स्वामी नरहरिदास के आश्रय में रहने लगे हो। यह भी सभव है कि इन्ही दिनो बिहारी के पिता भी वृन्दावन चले गये हो और वही बिहारी की शिक्षा-दीक्षा संपन्न हुई हो। सम्भवतः 'स्ववश बसे ब्रज आइ' का बिहारी का सकेत भी इसी दिशा में हो।

बिहारी का निम्नलिखित दोहा भी उनके जीवन की एक विशेष घटना की ओर संकेत करने वाला बतलाया जाता है :—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली, कली ही सौं बँध्यो आगें कौन हवाल॥

कहा जाता है कि बिहारी ने यह दोहा चौहानी रानी तथा सभासदो के आग्रह पर महाराजा जयसिंह के प्रतिबोध के लिए बनाया था। महाराजा जयसिंह अपनी छोटी रानी के प्रेम में ऐसे लिप्त हो गये थे कि सारा राज्य-कार्य छोड बैठे थे। इस दोहे का उन पर अभीष्ट प्रभाव पडा, और वे पुन राज्य-कार्य करने लगे। इसके बाद बिहारी उन्ही क दरबार में रहने लगे और उन्ही के निर्देश पर सतसई की रचना की। कहा जाता है कि निम्नलिखित दोहा चौहानी रानी के गर्भ मे कुँवर रामसिंह के जन्म पर बनाया गया था —

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय माल।
भेंट होत जय साहि सौं भागु चाहियतु भाल॥

कहा जाता है कि इस अवसर पर महाराजा जयसिंह ने बहुत अधिक दान दिया था और उनकी प्रशसा में अन्य कवियो ने भी कविताये बनाई थी। निम्नलिखित दोहा जयसिंह के शीशमहल बनवाने के अवसर का है —

प्रतिबिंबित जयसाहि-दुति दीपति दरपन-धाम।
सबु जगु जीतन कौं कर्‌यौ काय-व्यूह मनु काम॥

कहा जाता है कि बिहारी ने निम्नलिखित दोहा एक चित्र को देखकर बनाया था :—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोवन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ॥

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मारवाड में लिखे हुए ही बतलाये जाते हैं —

विषम वृषावित को तृषा जिये मतीरनु सोधि।
अमित, अपार, अगाध जलु मारौ मूड पयोधि॥
प्यासे दुपहर जेठ के फिरे सबै जलु सोधि।
मरुधर पाइ मतीर हीं मारू कहत पयोधि॥

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहा उनके ससुराल मे रहने के समय का बताया जाता है :—

आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहँ जँवाई लौं घट्यो खरौ, पूस-दिन-मानु॥

बिहारी ने राजनीतिक घटना-चक्र के प्रभाव से जो दोहे लिखे है, उनका वर्णन राजनीतिक परिस्थिति में किया जा चुका है। इसी प्रकार नागरिक जीवन की जटिलता तथा स्वार्थपरायणता से ऊबकर बिहारी ने अनेक नीति-सूक्तिया लिखी थीं, जिससे ज्ञात होता है कि इन्हे अपनी परिस्थिति से सन्तोष नही था।

कतिपय दोहे ऐसे भी हैं जो बिहारी कृत तो कहे जाते हैं पर बिहारी सतसई में सन्निविष्ट नही हो सके है। न दोहो से भी बिहारी के जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है।[1] निम्नलिखित दोहा बिहारी के जन्म, बचपन तथा तारुण्य के स्थानो पर प्रकाश डालता है :—

जन्म ग्वालियर जानिये खंड बुदेले बाल।
तरुणाई आई सुखद मथुरा बसि ससुराल॥

कहा जाता है कि एक बार आगरा मे बिहारी प्रसिद्ध दानी तथा कवि अब्दुल रहीम खानखाना से मिले थे और अपना परिचय देते हुए उक्त दोहा पढा था। इसी के साथ दो दोहे और थे .—

श्री नरहरि नरनाह कौं दीहीं बाहँ गहाइ।
सगुन आगरे आगरे रहत आइ सुख पाइ॥

इससे ज्ञात होता है कि इनके गुरु नरहरिदास ने मुगल बादशाह सम्भवत शाहजहा को इनकी बाह पकडा दी थी और उनके बाद यह शाही दरबार आगरा मे रहने लगे। निम्नलिखित दोहा खानखाना की प्रशसा मे बनाया गया था :—

गंग गोंछ मोंछें जमुन अधरन सरसुतिरागु।
प्रकट खानखानान के कामद वदन प्रयागु॥

कहते है कि उक्त दोहे पर प्रसन्न होकर रहीम ने कई हजार स्वर्ण मुद्राये दी थी। नि सदेह इन दोहो का बन्धन तथा रचना शैली बिहारी की जैसी ही ज्ञात होती है। निम्नलिखित दोहे भी बिहारी कृत ही कहे जाते है जो कि उन्होने कुवर रामसिह के जन्म के अवसर पर बनाये थे और जिनमें चौहानी रानी की प्रशसा है तथा कुंवर रामसिह को आशीर्वाद दिया गया है —

श्री रानी चौहानि कौ करतब देखि रसाल।
फूलति है मन मे सिया पहिरि फूल की माल॥
दान ज्ञान हरिध्यान सौं सावधान सब ठौर।
श्री रानी चौहानि है रानिनु कौ सिरमौर॥
नित असीस हौं देत हौं उर मनाइ जगदीश।
राम कुँवर जयसिह को जीयौ कोटि बरीस॥

सतसई समाप्ति की तिथि के विषय मे निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है :—

संवत ग्रह ससि जलधि छिति छठि तिथि वासर चद।
चैत मास पख कृष्ण मे पूरन आनन्द कन्द॥

इस दोहे से ज्ञात होता है कि बिहारी ने सतसई सवत् १७१९ चैत्र कृष्ण षष्ठी चन्द्रवार को सताप्त की। किन्तु प्राचीन टीकाओ के क्रमो में इसका परिगणन

१—इन दोहों का उल्लेख, रत्नाकर ने 'कविवर बिहारी' में किया है तथा कही-कहीं परिचयात्मक भूमिकाओं में भी इनका उल्लेख मिलता है।

नही किया गया है और न आजमशाही क्रम में ही इसका उल्लेख है। यह दोहा केवल दो-एक टीकाओ में पाया जाता है। कृष्णलाल की टीका तथा एक अर्वाचीन गद्य टीका में इसका समावेश है। अतएव रत्नाकर ने इसे कृष्णलाल की टीका की समाप्ति का माना है। शेष टीकाकारो ने भ्रमवश इसे बिहारी कृत दोहो में सन्निविष्ट कर दिया।

श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'कविवर बिहारी' मे बिहारी के दो दोहे-बद्ध जीवन-चरित्रो का उल्लेख किया है। एक बिहारी बिहार के प्रारम्भ मे जुडा हुआ था और दूसरा श्री देवकीनन्दन की वर्णार्थ प्रकाशिका टीका में प्रारम्भ मे। प्रथम जीवन चरित्र स्वय बिहारी कृत के रूप मे ही लिखा है। उससे निम्नलिखित तथ्यो का पता चलता है —

' बिहारी के पितामह का नाम वासुदेव और पिता का नाम केशव देव था। ये मथुरा निवासी छ. घरा माथुर चौबे थे। इनकी ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा थी और तीन प्रवर थे, इनका जन्म स० १६५२ कार्तिक शु० अष्टमी बुधवार श्रवण नक्षत्र में हुआ था। ११ वर्ष की आयु मे ये वृदावन गये और वहा टट्टी आश्रम में हरिदास महंत नरहरिदास से मिले तथा उनकी प्रेरणा पर वही रह कर विद्याध्ययन करने लगे। वहा इन्होने अपनी भाषा तथा सस्कृत का अध्ययन किया। वहा पर एक बार शाहजहा बादशाह आये। इनको इन्होने अपनी कविता सुनाई जिस पर प्रसन्न होकर बादशाह इन्हे आगरा ले गया। वहा इन्होने फारसी गज़ल, गीत, शेर इत्यादि का अध्ययन किया। वहा यह बहुत समय तक रहे। एक बार शाहजहा के पुत्र-जन्मोत्सव पर वहा भारत के ५२ राजा एकत्र हुए। शाहजहा की प्रेरणा पर बिहारी ने उन राजाओ को कविता सुनाई। इस सभा मे बिहारी का बहुत अधिक सम्मान हुआ और ५२ राजा लोगो ने बिहारी को प्रमाण पत्र दिये और वर्षाशन बाध दिये। एक बार वर्षाशन लेने बिहारी आमेर के राजा जयसिह के यहाँ गये। उस समय राजा नवोढा रानी के चक्कर मे थे। बिहारी के दोहे के प्रभाव से पुन. राजा राज्य करने में लग गये और बिहारी को और दोहे बनाने का आदेश दिया। बिहारी ने वहा पर रहते हुए सतसई की रचना की। बिहारी को प्रत्येक दोहे पर एक मोहर मिलती थी। यद्यपि सतसई मे अनेक रस रखे गये तथापि राजा जयसिह की भावना के अनुसार उसमें शृगार का ही प्राधान्य रहा। सतसई की रचना केवल दो महीने में हुई। इसके बाद बिहारी जयसिह की आज्ञा पाकर मथुरा चले गये। यद्यपि बिहारी ने अनेक राजाओ के यहा कविता बनाई, पर जैसा सम्मान इन्हे जयसिह के यहा प्राप्त हुआ वैसा अन्यत्र नही। इसके बाद बिहारी वृन्दावन में रहकर कृष्णोपासना में लग गये और कविता करना छोड दिया। सवत् १६२१ चैत्र मास शुक्ल-पक्ष सप्तमी सोमवार को बिहारी का देहान्त हो गया।

इस दोहावद्ध जीवन-चरित्र की सभी घटनाए सभव तथा प्रसिद्ध हैं। किन्तु इन दोहों में बिहारी की प्रतिभा के दर्शन नही होते। साथ ही इसमें बिहारी की

मत्यु का भी वर्णन है। ज्ञात होता है कि किसी जानकार व्यक्ति ने दोहाबद्ध जीवन चरित्र बिहारी के नाम पर लिख दिया होगा। श्री देवकीनन्दन जी के वर्णार्थी प्रकाशिका टीका मे दिये हुए बिहारी के दोहावद्ध जीवन चरित्र का साराश यह है :—

बिहारी नाम का एक कुलीन ब्राह्मण व्रज मे रहता था। उसकी पत्नी कविता करने मे निपुण थी। बिहारी नित्य राजा जयसिह से दक्षिणा लाकर गृहस्थी का काम चलाते थे। राजा जयसिह ने नई रानी से विवाह किया था। जिसके वश में पडकर वह और सब कुछ भूल गये। इसलिये एक दिन बिहारी को विमुख लौटना पडा तब बिहारी की स्त्री ने दोहा लिखकर दिया और बिहारी ने दासी के द्वारा राजा के पास पहु चा दिया। इससे राजा को प्रबोध हो गया और पुन राज्य का कार्य देखने लगे। उक्त दोहे पर राजा ने बिहारी को अजलि भर मोहरे दी और उसी प्रकार के दूसरे दोहे बनाने पर प्रति दोहा एक मोहर का वचन दिया। बिहारी की पत्नी ने १४०० दोहे बनाये जिस पर १४०० मोहरे पुरस्कार रूप में प्राप्त हुई। उनमें से ७०० दोहे छाट कर सतसई की रचना की गई। महाराजा जयसिह ने सतसई की कई प्रतिया करवाईं जिन मे एक बिहारी को भी दी तथा एक गाव भी पुरस्कार में दिया। बिहारी अपनी पत्नी के परामर्श से सतसई लेकर छत्रसाल के यहा गये। छत्रसाल ने परीक्षा के लिए प्राणनाथ को सतसई दे दी। प्राणनाथ निर्गुणोपासक थे। अत उन्होने सतसई को अश्लील बतलाया। इस पर बिहारी की पत्नी ने छत्रसाल से कहला कर भेजा कि प्राणनाथ की पुस्तक के साथ सतसई पन्ना के युगल किशोर के मन्दिर में रख दी जावे और रात मे मन्दिर मे कोई न रहे जिस पुस्तक में रात मे श्री युगल किशोर के हस्ताक्षर हो जावे, वही पुस्तक शुद्ध तथा दूसरी अशुद्ध मानी जावे। हस्ताक्षर बिहारी की सतसई पर हुए। बिहारी इस पर अत्यन्त सन्तुष्ट होकर राजा से बिना विदा लिये घर चले आये और अपनी पत्नी से सारा समाचार कह सुनाया। जब छत्रसाल ने यह सुना कि बिहारी बिना पुरस्कार लिये घर चले गये है तो अत्यन्त सन्तोषी समझकर बडे प्रसन्न हुए और बहुत बडी सम्पत्ति, ५ गाव हाथी, घोडे, पालकी, भूषण और वस्त्रो को दान पत्र पर लिखकर बिहारी के पास भेज दिया तथा उन्हे अपने यहा बुलाया। बिहारी की स्त्री ने सभी दान लौटते हुए यह दोहा लिख भेजा

तौ अनेक औगुन भरिहि चाहै याहि बलाइ।
जौ पति सम्पतिहू बिना जदुपति राखे जाइ॥

प्राणनाथ ने भी बिहारी को बुलवाया था। उसके उत्तर में बिहारी की पत्नी ने यह दोहा लिख भेजा —

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-विस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चग रंग भूपाल॥

बदलते हुए भाग्य को इन्होने देखा था। अयोग्य व्यक्तियों के उत्थान और योग्य व्यक्तियों के पतन का भी इन्होने सखेद अवलोकन किया था। धार्मिक सघर्ष भी अपने विकराल रूप में इनके सामने आया था और धार्मिक एकता की दिशा में चलने वाले आन्दोलन का भी इन्होने गम्भीरतापूर्वक मनन किया था। इन सब बातो का इनकी कविता पर स्थायी प्रभाव पडा और अनेक दोहो में ये भावनायें अन्तर्निहित पाई जाती है।

द्वितीय अध्याय

काव्य शास्त्रीय परम्परा और बिहारी

प्रस्तुत रचना के प्रथम खण्ड में मुक्तक काव्य का विश्लेषण तथा विभाजन किया जा चुका है। इस विभाजन में वस्तुतत्त्व को ही आधार माना गया है और उसी दृष्टि से मुक्तक काव्य-परम्परा का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। अतएव इस परम्परा को हम वस्तुमूलक परम्परा कह सकते है।

उक्त परम्परा के अतिरिक्त एक दूसरी परम्परा और है। भारतीय अलकार-शास्त्र में जहा एक ओर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्य की पृष्ठ-भूमि का विवेचन और विश्लेषण किया गया वहा उसके सीमा विस्तार पर भी विशेष ध्यान रखा गया। उस समय के मुक्तको का मूल प्रवृत्ति-निमित्त क्या था? काव्य में वर्ण्य विषय की सीमाये क्या थी ? काव्य में भावाभिव्यक्ति का माध्यम क्या था ? काव्य का आदर्श क्या था ? काव्य के प्रमुख तत्त्व कौन-कौन थे ? उनके महत्त्व का तारतम्य क्या था ? इत्यादि प्रश्नो का उत्तर प्राप्त करने के लिये भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन अपरिहार्य है। हमारे आचार्यो ने काव्य की अनेक मौलिक रचनाओ का अनुसन्धान कर जिस रूप में काव्य-शास्त्र का प्रवर्तन किया था उससे एक ओर काव्य शास्त्र की पृष्ठ-भूमि का ठीक परिचय प्राप्त होता है और दूसरी ओर परवर्ती कवियो के लिये मार्ग-दर्शन का कार्य भी सम्पन्न हो जाता है। परवर्ती कवि अधिकतर काव्य-शास्त्र के नियन्त्रण में रह कर कविता किया करते थे। इस प्रकार जहा एक ओर काव्य-शास्त्र का प्रवर्तन लक्ष्य परीक्षा के आधार पर हुआ है वहा दूसरी ओर परवर्ती रचनाओ पर इस शास्त्र का पर्याप्त नियन्त्रण भी रहा है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि काव्य-शास्त्र और कुछ नही भारतीय काव्य-परम्परा का विश्लेषण मात्र है। आनन्दवर्धन ने लक्ष्य परीक्षा के आधार पर ही काव्य-शास्त्रीय अनेक सिद्धान्तो के प्रवर्तन की बात कही है। काव्य-शास्त्र में दो प्रकार के आचार्य हुए हैं :—एक तो वे हैं जो अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में उदाहरण के रूप में दूसरों के पद्यो को उद्धृत किया करते हैं और दूसरे वे आचार्य हैं जो उदाहरणानुरूप काव्य की स्वयं रचना कर लिया करते हैं। दोनों प्रकार के आचार्यों ने अधिकतर मुक्तक-काव्य को ही

अपनाया है। अतएव काव्य-शास्त्र को हम सामान्यतया काव्य-परम्परा और विशेष रूप में मुक्तक काव्य-परम्परा कह सकते हैं। यह परम्परा शास्त्रीय परम्परा के नाम से अभिहित की जा सकती है। परम्परा का यह प्रकार प्राचीन तथा प्रतिष्ठित प्रकार है। अतएव सर्वप्रथम इस परम्परा के आधार पर बिहारी का विवेचन किया जायेगा और यह देखने की चेष्टा की जायेगी कि बिहारी में इस परम्परा का प्रतिफलन कहा तक हुआ है।

प्रस्तुत निबन्ध के छोटे से कलेवर में न तो साहित्यशास्त्र का पूर्ण परिचय दे सकना सभव ही है और न इसका यहा विशेष उपयोग ही है। इस विषय में साहित्य-जगत् में अनेक महत्त्वपूर्ण कृतिया प्रकाशित हो चुकी है। अतएव काव्य-शास्त्र का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये उन्हीं कृतियों का अध्ययन करना चाहिये। निम्नलिखित पक्तियो में बिहारी के काव्य की महत्ता को समझने के लिये काव्य-शास्त्र की सक्षिप्त रूपरेखामात्र दी जावेगी।

भारतीय साहित्यशास्त्र के प्राय. समस्त आचार्य इस विषय में एकमत है कि काव्य का प्रधान उद्देश्य आनन्द-साधना ही है। काव्यप्रकाशकार आदि जिन आचार्यों ने काव्य के आनन्देतर उद्देश्यो का उल्लेख किया है उनके भी मत में प्रधानता आनन्द-साधना को ही प्राप्त होती है। इस विषय में मत-भेद नही है। काव्यप्रकाश-कार ने जहा यश इत्यादि को काव्य के प्रयोजनो में परिगणित किया है वहा आनन्द को सर्व-प्रयोजन-मौलिभूत बतलाया है। भरत मुनि ने नाट्य को विनोद-जनन और दु:खित व्यक्तियो को आनन्द देने वाला कहा है तथा इसका प्रवृति-निमित्त क्रीडनीयक की इच्छा को ही बतलाया है। वामन और हेमचन्द्र ने भी आनन्द को ही प्रधानता दी है। धनजय तो उन लोगों को दूर से नमस्कार करने को तैयार है, जो आनन्द साधना के अतिरिक्त दूसरे भी प्रयोजन माना करते है। इस प्रकार काव्य-साधना का प्रमुख प्रयोजन अथवा उद्देश्य आनन्द-साधना ही ठहरता है।

जिस प्रकार काव्य के प्रधान उद्देश्य को मानने में मतभेद नही है उसी प्रकार आनन्द-साधना के मूल-भूत तत्त्वो में भी मत-भेद नही है। (सक्षेप में कहा जा सकता है कि रीति, वृत्ति, गुण, अलकार और रस ये ही आनन्द-साधना के प्रधान उपकरण है। किन्तु मत-भेद इन की प्रधानता के विषय में है। जो आचार्य किसी एक तत्त्व की प्रधानता स्वीकृत करते है वे दूसरे तत्त्वो को गौण स्थान अवश्य देते है। जो आचार्य इन तत्त्वो से भिन्न किसी अन्य तत्त्व को काव्य का जीवन मानते हैं वे भी इन तत्त्वो को उचित स्थान देने की चेष्टा अवश्य करते है। उदाहरण के लिये अलकार-सप्रदायवादी रस को अलकार के अन्दर ले आते है और रस सप्रदाय वाले अलकार को रस का पोषक तत्त्व मात्र मानते है। काव्य-जीवन के विषय में मत-भेद ही विभिन्न सप्रदायो के प्रवर्तन में कारण हुआ है, जिनका सुव्यवस्थित इतिहास है। विद्वानो ने इस विषय में पर्याप्त गवेषणात्मक पुस्तके लिखी हैं प्रस्तुत

निबन्ध में अनावश्यक विस्तारमय से तथा अनपेक्षित होने के कारण अलकार-शास्त्र की विस्तृत परपरा नही दी जावेगी केवल प्रमुख सप्रदायो का ही यहा सक्षिप्त परिचय कराया जावेगा .

विद्वानो ने काव्य-शास्त्र के इतिहास को चार भागो में विभाजित किया है[1]—

(अ) प्रारम्भिक काल—भामह तक ।

(आ) रचनात्मक काल—भामह से आनन्दवर्धन तक ।

(इ) निर्णयात्मक काल—आनन्दवर्धन से मम्मट तक ।

(ई) व्याख्या काल—मम्मट से जगन्नाथ तक ।

आरम्भिक काल की कोई विशिष्ट रचना अभी तक उपलब्ध नही हो सकी है किन्तु अनेक स्थानो पर काव्य-शास्त्र और साहित्य-विद्या का उल्लेख पाया जाता है । पाणिनि ने उपमा के सभी अवयवो का उल्लेख किया है । यास्क ने ५ प्रकार की उपमा बतलाई है । राजशेखर ने काव्य-शास्त्र के जिन आचार्यो का उल्लेख किया है, उनमे कतिपय आचार्यो का उल्लेख काम-सूत्रो में भी पाया जाता है । यत्र-तत्र कतिपय प्राचीन आचार्यों का उल्लेख भी मिलता है । इससे ज्ञात होता है कि अति प्राचीन-काल में अलकार शास्त्र किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान था । यह समस्त साहित्य अकाल में ही काल-कवलित हो गया और आज हमे उस विशाल साहित्य-सागर का एक बिन्दु भी अधिगत नही होता ।

काव्यशास्त्र का व्यवस्थित इतिहास भामह और दण्डी से प्रारम्भ होता है । सर्वप्रथम हमें तीन महान् आचार्यो के दर्शन होते है —भरत मुनि, भामह और दण्डी । तीनो ही आचार्य पृथक्-पृथक् तीन सप्रदायो में रखे जाते है । भरत मुनि रस शास्त्र के आचार्य है, भामह अलकार सम्प्रदाय के, और दण्डी रीति-सम्प्रदाय के । प्रारम्भ में रस की प्रधानता नाट्य के प्रसग में मानी जाती थी और अलकार की प्रधानता काव्य के सम्बन्ध में । नाट्य और काव्य दो पृथक्-पृथक् तत्त्व माने जाते थे, और इनके मूल-भत तत्त्व रस और अलकार का उपकार्योपकारक भाव भले ही माना जाता रहा हो, इनको एक-कोटि मे सन्निविष्ट नही किया जाता था । इन रचनाओं में प्राय: नाट्य-रस शब्द का ही प्रयोग मिलता है और रस-निष्पत्ति का वर्णन भी अधिकतर अभिनय के प्रसग में किया गया है । यद्यपि भरत मुनि ने अलकारो का भी विवेचन किया है किन्तु वह केवल इसी सिद्धात को मानकर किया गया है कि कोई भी तत्त्व ऐसा नही जो नाट्य में उपकारक न हो । इसी प्रकार भामह और दण्डी ने भी काव्य में रस की सत्ता स्वीकार की है, किन्तु उसको काव्य का पृथक् प्रधान तत्त्व न मानकर अलकारो में सन्निविष्ट कर दिया है । कविता में रस का क्या सम्बन्ध है, इसका ठीक विवेचन ध्वन्यालोक की रचना से पहले नही हुआ था ।

१, देखो बलदेवप्रसाद उपाध्याय लिखित—काव्य-शास्त्र का इतिहास ।

साराश यह है कि काव्यशास्त्र के अरुणोदय-काल में तीन सम्प्रदायों की पृथक्-पृथक् सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती है—(१) अलकार सम्प्रदाय, (२) रीति-सम्प्रदाय और (३) रस सम्प्रदाय।

(क) अलंकार सम्प्रदाय

काव्य के प्रसग में अलकारो का महत्त्व सबसे पहले स्वीकार किया गया था। अतएव काव्य के क्षेत्र में यह सप्रदाय सबसे पुराना है। यास्क और पाणिनि जैसे आचार्यो ने उपमा के अंगो का उल्लेख किया है। किन्तु इस सप्रदाय का सबसे प्राचीन व्यवस्थित ग्रथ भामह का काव्यालकार उपलब्ध होता है। यद्यपि उन्होने वाच्य-वृत्ति में अलकारो को काव्य का प्राण नही माना है, तथापि इनकी रचना को देखने से ज्ञात होता है, कि अलकारो को ही ये काव्य की आत्मा मानते थे। दण्डी ने अलकारो का विस्तृत विवेचन किया है। किन्तु इन्होने काव्य के दूसरे अगों पर भी प्रकाश डाला है, और रीति को प्रमुखता प्रदान की है।

काव्यशास्त्र के द्वितीय उत्थान में, जिसे श्री बलदेवप्रसाद जी उपाध्याय रचना-काल कहते है, हमें भामह के अतिरिक्त दो और आचार्यो के दर्शन होते है-उद्भट और रुद्रट। उद्भट ने भामह का ही अनुसरण किया है। कहा जाता है, कि इन्होने एक ग्रंथ भामह-विवरण भी लिखा था। किन्तु यह अभी तक उपलब्ध नही हो सका है। इनका इस समय अलकार सार-सग्रह नामक केवक एक ही ग्रथ उपलब्ध होता है, जो कुछ मौलिकताओ को छोडकर भामह का ही अनुसरण करता है। इस सम्प्रदाय का दूसरा आचार्य है रुद्रट। रुद्रट की दृष्टि व्यापक थी। इन्होंने काव्य के प्राय सभी अगो का विवेचन किया किन्तु प्रधानता अलकार को ही दी। अलकारो का वर्गीकरण, रस और भाव का अलकारो से पृथक्करण इत्यादि कुछ ऐसी मौलिकताये हैं, जिनके लिये साहित्य-जगत् इनका सदा आभारी रहेगा।

रुद्रट के बाद ध्वनि-सप्रदाय सामने आया। काव्यशास्त्र के विभिन्न सप्रदायों के एकीकरण और विभिन्न तत्त्वो के उचित स्थान-विन्यास की सफल चेष्टा इसी सप्रदाय में की गई। हम ध्वनि-सप्रदाय को काव्यशास्त्र का सीमा-स्तम्भ कह सकते है। ध्वन्यालोक की रचना के बाद ध्वनि-सिद्धान्त को लेकर ही वाद-विवाद चल पडा, जो कि श्री मम्मटाचार्य पर जाकर समाप्त हुआ। फिर भी अलकार सप्रदाय के कतिपय आचार्य सामने आते रहे और काव्य में अलकार का महत्त्व तो प्रायः सभी ने स्वीकार किया। परवर्ती आचार्यो में अलकार को एकान्त महत्त्व प्रदान करने वालो में जयदेव और अप्पयदीक्षित का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जयदेव ने अग्नि में उष्णता के समान, काव्य में अलकारो को अनिवार्य तथा प्रधान साध्य माना। इनका चन्द्रालोक अलकार का प्रसिद्ध ग्रथ है। इसी प्रकार अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द और चित्र-मीमासा भी अलकार संप्रदाय के प्रसिद्ध ग्रंथ है। जिन आचार्यों ने अलकार को काव्य का प्राण नही माना है अथवा काव्य में अलकारों

की अपरिहार्यता अगीकृत नही की है उन्होने भी अपनी रचनाओ में अलकार को पर्याप्त महत्त्व दिया है, और बडे विस्तार के साथ अलकार के भेदोपभेदो का निरूपण किया है। इस प्रकार कुछ आचार्यो के मत मे अलकार काव्य का प्राण भले ही न हो और न उनकी अपरिहार्यता ही स्वीकृत की जा सकती हो, तथापि इसमे किसी को वैमत्य नही हो सकता कि अलकार काव्य के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उनका सर्वथा परित्याग असभव है।

(ख) रीति-संप्रदाय

रीति गुणो पर आधारित है। अत दूसरे शब्दो में हम रीति-सप्रदाय को गुण-सप्रदाय के नाम से अभिहित कर सकते है। हमें वामन से पहले रीति-शब्द का उल्लेख प्राप्त नही होता, किन्तु गुणो का विस्तृत विवेचन हमें काव्य-शास्त्र की प्रारभिक रचनाओ मे ही प्राप्त होता है। प्राचीनतम आचार्य भरत-मुनि और भामह दोनो ने काव्य-गुणो का वर्णन किया है। भामह ने काव्य के तीन गुण माने और भरत-मुनि ने १० गुणो का वर्णन किया। भरत-मुनि ने रीतियो का कोई भी उल्लेख नही किया है। भामह ने देश-भेद पर आधारित (विदर्भ और गौड, इन देश भेदो पर आधारित) काव्य-भेदो का खडन किया। इससे ज्ञात होता है कि उनके समय में किसी-न-किसी रूप में रीतियो की सत्ता विद्यमान अवश्य थी और उन पर विचार भी किया जाता था।

रीतियो का सर्वप्रथम विस्तृत विवेचन आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श मे किया। दण्डी ने भरत के अनुसार १० काव्य-गुणो का वर्णन किया है और काव्य के दो मार्ग बतलाये है—वैदर्भ मार्ग और गौड मार्ग। वैदर्भ मार्ग पूर्ण गुणो से युक्त बतलाया गया है, और गौड मार्ग में गुणो के व्यतिक्रम की बात कही गई है।

रीति-सप्रदाय के सबसे बडे आचार्य तथा समर्थक वामन है। इन्होने रीति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया और रीति को काव्य की आत्मा बतलाया। इनकी एक बहुत बडी मौलिकता इस बात मे है कि इन्होने १० गुणो के स्थान पर १० शब्द-गुण और १० अर्थ-गुण माने है और गौड तथा वैदर्भ मार्गो के स्थान पर तीन प्रकार की रीतियो का प्रतिपादन किया है। गौडी और वैदर्भी रीति के साथ पाचाली रीति का और समावेश कर दिया। यद्यपि वामन सस्कृत-काव्यशास्त्र के बहुत बडे आचार्यो में एक माने जाते है, तथापि रीति के विषय मे इनका सिद्धात परवर्ती आचार्यो ने बिल्कुल नही अपनाया और रीति को काव्य-जीवन मानने वाला कोई भी दूसरा आचार्य नही हुआ। यद्यपि परवर्ती अनेक आचार्यों ने रीतियो का वर्णन अपने ग्रन्थो में किया है तथापि उनमें मौलिकता बहुत कम है। केवल रुद्रट ने लाटी रीति और भोजराज ने मागधी और अवतिका इन दो रीतियो की उद्भावना की। रुद्रट की लाटी रीति किसी सीमा तक परवर्ती आचार्यो को मान्य भी हुई, किन्तु भोजराज की मागधी और अवंतिका को किसी प्रकार की भी मान्यता प्राप्त नही हो सकी।

वामन के बाद ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ, जिसमें काव्य के आन्तरिक और बाह्य तत्त्वों का स्पष्ट विवेचन किया गया। ऐसी दशा में हम इन आचार्यों से रीतिवाद को प्रमुख स्थान देने की आशा ही नही कर सकते। आनन्दवर्धन ने इसे बाह्य-शोभासम्पादक धर्म मात्र माना है। इन्होंने वामन की रीतियो और उद्भट की वृत्तियों में स्पष्ट अन्तर माना था। इनके अनुसार वृत्तिया वर्णाश्रित होती हैं और रीतिया सघटनाश्रित। किन्तु आचार्य मम्मट ने दोनो को एक कर दिया। इन्होने उपनागरिका, परुषा और कोमला को क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाचाली रीति माना। विश्वनाथ ने रीति-विवेचन के निमित्त एक पृथक् परिच्छेद दिया है। इन्होने साहित्य-दर्पण के नवम परिच्छेद में चार रीतियों का वर्णन किया है और उनका रसों से सम्बन्ध दिखलाया है। ध्वनि-सम्प्रदाय के इन समस्त आचार्यों ने भामह के बतलाये हुए तीन काव्य-गुणो का ही वर्णन किया है और १० गुणो का या तो इन्ही में अन्तर्भाव कर दिया या दोषाभाव के रूप में उन्हे स्वीकृत किया अथवा उन को गुण न मान कर दोष ही मान लिया। यह रीति-सम्प्रदाय सस्कृत में अधिक प्रतिष्ठित नही हो सका था बाद में तो इसका सर्वथा अन्तर्धान ही हो गया।

रस-सम्प्रदाय

रस-सम्प्रदाय का सबसे पुराना ग्रन्थ भरत मुनि का नाट्य शास्त्र है। इसमें नाट्याग के रूप में रस की विवेचना की गई है। भामह, दण्डी, वामन और उद्भट ने भी रस को काव्य के तत्त्व के रूप में स्वीकृत किया, किन्तु इन आचार्यों ने रस को स्वतन्त्र तत्त्व न मान कर इसका अन्तर्भाव अलंकारो में कर दिया। रुद्रट ने सर्वप्रथम रस की स्वतन्त्र सत्ता और काव्य में रस की अनिवार्यता अगीकृत की। किन्तु भरत के अतिरिक्त ये समस्त आचार्य अलंकार-सम्प्रदायवादी ही थे। ये लोग उन सब स्थानो पर रसवत् अलकार मानते थे जहा कही भी रस विद्यमान हो।

भरत मुनि का रस सिद्धान्त ही परवर्ती रस-सम्प्रदायवादियो का उपजीवक हुआ। ज्ञात होता है भरत मुनि की रस की "विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रस-निष्पत्तिः" इस परिभाषा की व्याख्या अनेक प्रकार से गई। आचार्य मम्मट ने भट्टलोल्लट, श्री शकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मतों का विस्तार के साथ परिचय दिया है। इस के अतिरिक्त अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक लोचन में बहुत से मतों का बिना नाम-निर्देश के उल्लेख किया है। अभिनव गुप्त ने लिखा है– "कुछ लोग विभाव और अनुभाव के समर्पण को रस मानते हैं, दूसरे लोग केवल विभाव को रस मानते हैं, कुछ और लोग केवल अनुभाव को रस मानते हैं, कुछ लोग कहते हैं कि केवल व्यभिचारी भाव ही रस होते है, कुछ लोग सब के संयोग को रस मानते हैं, कुछ लोग रस को अनुकार्य-गत मानते हैं, कुछ लोग अनुकर्तृगत, कुछ लोग समस्त समुदाय को रस मानते है। अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता ? सारांश

यह है कि विचारकों में रस के विषय में ऐकमत्य है ही नही।" इसी प्रकार रसगंगाधरकार ने ११ मतो का परिचय दिया है। इससे ज्ञात होता है कि भरत मुनि के रस-सिद्धान्त की व्याख्या करने वाले निरन्तर बने रहे और समय-समय पर रस के विषय में अनेक पुस्तके प्रकाशित होती रही। किन्तु इनका परिचय हमें केवल उद्धरणो में ही प्राप्त होता है। अन्यथा आज के युग में इस समस्त सामग्री को प्रस्तुत कर सकना असम्भव है। अभिनव भारती में भरत के कई एक टीकाकारों का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। सम्भव है इन आचार्यों ने किसी-न-किसी रूप में भरत मुनि के रस-सिद्धान्त का विवेचन किया हो।

विक्रम की नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में ध्वनि-सिद्धान्त के रूप में काव्य के विभिन्न तत्वो की जब आन्तरिक और बाह्य परीक्षा प्रारम्भ हुई तब रस-सिद्धान्त को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ के तीन भेद किये—रस, वस्तु और अलंकार। इनका कहना था कि रस कभी शब्दवाच्य नही हो सकते। शब्दोपादान में परिशीलको को रसानुभूति नही होती। इसके प्रतिकूल विभावादि के उपादान के द्वारा जब रसाभिव्यक्ति की जाती है तब रसानुभूति हुआ करती है। इसी प्रधान धर्म को लेकर आनन्दवर्धन ने ध्वनि के तीन भेदो की कल्पना करके काव्य-लक्षण के अतिव्याप्ति, अव्याप्ति इत्यादि दोषो का निराकरण कर दिया। ध्वन्यालोक के सब से बडे व्याख्याता श्री अभिनव गुप्त ने रस-ध्वनि को ही काव्य का जीवन माना और वस्तु तथा अलकार ध्वनियो को रस-पर्यवसायी होने पर ही काव्यत्व का सम्पादन करने वाला बतलाया। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय में भी रस-सिद्धान्त को महत्व प्राप्त हो गया। विश्वनाथ महापात्र एक कदम और आगे बढ़ गये और उन्होने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया। श्री विश्वनाथ ने रस के अन्तर्गत ही ध्वनि को माना और रस को ही काव्य की आत्मा कहा है। इस पर रसगंगाधरकार ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य की आत्मा बतला कर रस, वस्तु और अलकार तीनो प्रकार की ध्वनियो को महत्ता प्रदान की।

ध्वनि-सम्प्रदायवादियो के द्वारा ही रस-सिद्धान्त का अधिक विवेचन किया गया, किन्तु रस-परिचय पर अनेक पुस्तकें समय-समय पर लिखी जाती रही। कतिपय पुस्तकें केवल शृंगार रस विवेचन पर भी लिखी गयी। धनञ्जय के दशरूपक में भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के अनुकरण पर रस-विवेचन के लिये ही एक पृथक् प्रकरण रखा गया। ईसा की ११वी शताब्दी में भोजराज ने दो अलकार ग्रन्थ लिखे—सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगारप्रकाश। भोजराज रस-शास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य हैं और इन्होने शृगार-रस का रसराजत्व सबल रूप में प्रतिष्ठित किया है। इन्होने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में दोष, गुण, अलकार, रस, भाव इत्यादि को मिलाने की पर्याप्त चेष्टा की है। भावमिश्र के अलकार शेखर में भी रस, भाव

तथा रस के अंग, नायिका-भेद इत्यादि का वर्णन किया गया है। शारदातनय के भाव प्रकाशन में भाव, रस, नायिका-भेद इत्यादि का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ रस का अध्ययन करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। भानुदत्त की रसमजरी इस दिशा में अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। ग्रन्थ के दो-तिहाई भाग में नायिका-भेद लिखा गया है और शेष भागो में रस के इतर अगों का वर्णन है। चैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णव महात्मा रूप गोस्वामी के उज्ज्वल नील मणि में भी शृंगार-रस का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस प्रकार रस-सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थ समय-समय पर लिखे जाते रहे। रस-सम्प्रदाय ने भी अलकार-सम्प्रदाय के समान विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की और ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना के साथ दूसरे सम्प्रदायों को पछाड़ कर किसी-न-किसी रूप में यह काव्यात्मा के रूप में स्थिर हो गया।

ध्वनि-सम्प्रदाय

विक्रम की नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे बडा सिद्धान्त "ध्वनिवाद" सामने आया। इस सिद्धान्त का प्रथम ग्रन्थ ध्वन्यालोक इसी समय लिखा गया। ध्वन्यालोक के दो भाग है—कारिका और वृत्ति। लोचन-कार ने ध्वनि-प्रवर्तक कवि-सहृदय का उल्लेख किया है और वृत्तिकार आनन्दवधन को माना। इससे ज्ञात होता है कि ध्वनिकार कोई दूसरे है और आनन्दवर्धन ने वृत्ति मात्र लिखी है। बाद के आचार्य राजशेखर इत्यादि आनन्दवर्धन को ही ध्वनि-प्रवर्तक मानते है। सम्भवत: कवि-सहृदय उपाधि हो। आनन्दवर्धन ने लिखा है कि 'विद्वान् लोग निरन्तर ही ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते रहे हैं।' इसके अतिरिक्त उन्होने अपने समय के ध्वनि-विरोध का भी उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन के समय में ध्वनि-सिद्धान्त को लेकर पर्याप्त खीच-तान चल रही होगी और पक्ष-विपक्ष में अनेक युक्ति-प्रतियुक्तियो का आदान-प्रदान किया जाता रहा होगा। इस ध्वनि-सिद्धान्त में दो विशेषताये थी—एक तो सभी प्रकार का काव्य इसके अन्तर्गत आ जाता था। दूसरे सभी प्रकार के सिद्धान्तो का काव्य से उचित सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया था। अतएव यह सम्प्रदाय अतिशीघ्र प्रसार प्राप्त कर गया।

साहित्याचार्यों ने इस ध्वनि-सिद्धान्त को सहसा निर्विरोध रूप में नही स्वीकृत कर लिया। जैसा कि बतलाया जा चुका है आनन्दवर्धन के समय मे ही ध्वनि-विरोधी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। आनन्दवर्धन ने अपने समय के ध्वनि-विरोधियो को पांच भागो में विभाजित किया है :—(१) शब्द-गुण, अर्थ-गुण, शब्दालकार, अर्थालकार को छोड़कर अन्य कोई धर्म काव्य-शोभायक हो ही नही सकता, जिसको ध्वनि कहा जाय। (२) काव्य के ध्वनि नामक जिस तत्त्व का अभी तक विचार ही नहीं किया गया वह धर्म सम्भव भी हो तो भी शोभायक नही माना जा सकता। (३) यदि ध्वनि नाम का कोई पदार्थ सम्भव भी हो और उसे

काव्य से सम्बन्धित मान लिया जाये तो भी उसका अन्तर्भाव प्रसिद्ध प्रस्थान अलकारादिको में ही कर देना चाहिये। (४) चौथे वे लोग है जो ध्वनि की सत्ता तो मानते है, किन्तु अभिधा से भिन्न सभी प्रकार के अर्थो को लक्षणा के अन्दर अन्तर्भूत कर देते है। (५) पाचवे वे लोग है जो ध्वनि को लक्षणा से भिन्न मानते है, किन्तु उनका मत है कि ध्वनि का तत्त्व वाणी की शक्ति से सर्वथा परे है, उसका वर्णन नही हो सकता। वह केवल सहृदय-हृदय-सवेद्य होता है। आनन्द-वर्धन ने इन सभी पक्षो की पूर्ण मीमासा कर ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना कर दी। किन्तु आनन्दवर्धन की स्थापना के बाद भी यह सिद्धान्त सर्वथा निर्विरोध नही रह सका। नैय्यायिक महिम भट्ट ने अपने व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ में ध्वनि-सिद्धान्त का सबल प्रतिवाद किया। भट्ट नायक की हृदय-दर्पण पुस्तक मे भी इसका खण्डन किया गया है। यद्यपि यह पुस्तक समुपलब्ध नही होती तथापि इसका उल्लेख प्रायः आचार्य लोग करते रहे है। इससे ज्ञात होता है कि ध्वनि-विरोध में किसी समय इस पुस्तक का बहुत अधिक सम्मान रहा था। प्रतिहारेन्दुराज तथा उनके गुरु मुकुल भट्ट ने ध्वनि का लक्षणा के अन्दर घसीटने की चेष्टा की —

लक्षणामार्गविगाहित्व तु ध्वने सहृदयैनूर्तनतयोपवर्णितस्य विद्यते इति विशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्। —अभिधावृत्ति मात्रिका पृ० २१।

मुकुल भट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने अलकार सार-सग्रह में ध्वनि-भेदो का अलकारो में अन्तर्भाव किया है, जैसे–"रामोऽस्मि सर्व सहे" इस अविवक्षित वाच्य के उदाहरण को अप्रस्तुत प्रशसा के अन्तर्गत माना है। कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्दर ध्वनि का अन्तर्भाव किया। जयदेव ने कुन्तक का निष्कर्ष निम्नलिखित शब्दो मे निकाला है :—

उपचारवक्रतादीनामेव मध्ये ध्वनिरन्तर्भूत इति।
सर्वोऽपि ध्वनिप्रपञ्चो वक्रोक्तिभिरेव स्वीकृत इति॥

—अलकार सर्वस्व विमर्शिनी पृ० २।

किन्तु ध्वनि-समर्थको के सबल प्रतिरोध के सामने ध्वनि-विरोध प्रसार नही पा सका। सबसे बडी बात यह हुई कि ध्वनि सिद्धान्त को अभिनव गुप्त जैसा प्रबल समर्थक मिल गया। अभिनवगुप्त के लोचन से ध्वनि-सिद्धान्त का बहुत बड़ा प्रचार हुआ। अभिनव गुप्त ने अपने समय तक के सभी ध्वनि-विरोधियों का पूर्ण प्रतिवाद कर दिया। आचार्य श्री मम्मट ने काव्य-प्रकाश में ध्वनि-सिद्धान्त को व्यवस्थित किया और ध्वनि-सिद्धान्त पर आने वाले समस्त आरोपो का खण्डन किया। अन्त में पंडितराज जगन्नाथ ने अपने रसगगाधर में सबल युक्तियो के द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन कर दिया। इस प्रकार आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्ताचार्य, मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ जैसे प्रबल समर्थको के कारण ध्वनि-सिद्धान्त भारतीय आलोचनाशास्त्र का सर्वोत्तम सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया गया।

दो अन्य सम्प्रदाय—वक्रोक्ति और औचित्य

उपर्युक्त अलकार, रस, रीति और ध्वनि सम्प्रदायो के अतिरिक्त काव्य-शास्त्र में दो सम्प्रदाय और प्रसिद्ध है—वक्रोक्ति और औचित्य। ये दोनो सम्प्रदाय अपने जन्मकाल में ही उपहत हो गये। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे आचार्य कुन्तक और औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे आचार्य क्षेमेन्द्र। यदि ध्यान से देखा जावे तो कुन्तक ने किसी नये सिद्धान्त का प्रवर्तन नही किया। वे प्रच्छन्न रूप में ध्वनिवादी ही है। उन्हे आपत्ति केवल इसी बात मे है कि ध्वनि इस नये नाम की कल्पना की गई है। सिद्धान्त वही है। किन्तु उसके लिये ध्वनि शब्द का प्रयोग न कर उन्होने उसे गतार्थ करने के लिये पुराने साहित्य से वक्रोक्ति शब्द ढूढ निकाला। भामह ने वक्रोक्ति को सभी अलकारो का मूल माना था और वक्रोक्ति की परिभाषा की थी "वाणी का वैदग्ध्य ही वक्रोक्ति कहलाता है।" इसी आधार पर कुन्तक ने वाणी के समस्त वैदग्ध्यो को वक्रोक्ति मे गतार्थ कर दिया और वक्रोक्ति ने समस्त ध्वनि विस्तार को आत्मसात् कर लिया। अभिनव भारती मे वक्रोक्ति का अर्थ किया गया है—शब्द और अर्थ का लोकोत्तर रूप मे अवस्थित होना। कुन्तक ने इसी वक्रोक्ति को लेकर और वैदग्ध्य-भङ्गी-भणिति को वक्रोक्ति कह कर उसे काव्य की आत्मा मान लिया किन्तु वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने मे सबसे बडी आपत्ति यह है कि वक्रोक्ति शब्द एक विशेष अलकार के अर्थ मे प्रयुक्त हो चुका था। प्रसिद्ध अर्थ का अतिक्रमण असम्भव था। अतएव यह सम्प्रदाय अधिक प्रसार न पा सका। बाद के आचार्यो ने वक्रोक्ति की कुन्तक द्वारा प्रतिपादित परिभाषा न मानकर उसे एक विशेष अलकार के अर्थ में ही प्रयुक्त किया।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य-सम्प्रदाय चलाया था। उन्होने शब्द का औचित्य, अर्थ का औचित्य इत्यादि अनेक प्रकार का औचित्य मानकर काव्यशास्त्र से सम्बन्धित सभी प्रकार के तत्त्वो को उसके अन्दर सन्निविष्ट कर दिया। किन्तु यह सिद्धान्त भी अधिक प्रसार न पा सका और यह भी वक्रोक्ति के समान ही अपने जन्मकाल में ही उपहत हो गया। सम्भवत इसका कारण यह था कि औचित्य इतना व्यापक शब्द है कि उसे हम किसी सिद्धान्त का प्रतिपादक नही कह सकते और न काव्य के किसी तत्त्व पर ही उससे प्रकाश पडता है। अत यह सिद्धान्त भी मान्यता को प्राप्त न कर सका।

समुद्रबन्ध में काव्य-शास्त्र के सम्प्रदायो का इस प्रकार सक्षिप्तीकरण किया गया है—"विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। उनका वैशिष्ट्य तीन प्रकार से हो सकता है—धर्म के द्वारा, व्यापार के द्वारा, व्यग्य के द्वारा। वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—अलकार से और गुण से। व्यापार मुख से भी वैशिष्ट्य दो प्रकार का हो सकता है—भणिति-वैचित्र्य से और भोग वृत्ति से। इस प्रकार ये पाच पक्ष हो गये। इन पाचों पक्षो में उद्भट इत्यादि ने अलकार से वैशिष्ट्य माना, वामन ने

गुण से वैशिष्ट्य माना, भणिति-वैचित्र्य से वैशिष्ट्य वक्रोक्ति-जीवितकार कुन्तक ने माना। भोग वृत्ति से वैशिष्ट्य भट्ट नायक के द्वारा माना गया और व्यंग्य मुख से वैशिष्ट्य आनन्दवर्धन ने माना।" भोग-वृत्ति से वैशिष्ट्य रस सप्रदाय का परिचायक है। इस मे औचित्य-सम्प्रदाय को और जोड देने से ६ सम्प्रदाय हो जाते है। यही सस्कृत काव्य-शास्त्र का सक्षिप्त परिचय है।

हिंदी काव्य-शास्त्र

अन्य शास्त्रो की भाति हिन्दी काव्य-शास्त्र भी सस्कृत काव्य-शास्त्र का उत्तराधिकारी है। किन्तु अपने विकास क्रम से सस्कृत काव्य-शास्त्र जिस सीमा तक पहुच चुका था उस का पथानुसरण हिन्दी काव्य-शास्त्र नही कर पाया। रीति, वक्रोक्ति और औचित्य सप्रदायो का तो प्रत्याख्यान सस्कृत-काव्यशास्त्र में ही हो गया था। तीन सम्प्रदाय शेष रह गये थे—अलकार-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय। ध्वनि-सम्प्रदाय प्रधान था और इस ने एक ओर काव्य के समस्त तत्त्वो को आत्मसात् कर लिया था दूसरी ओर नाट्य, प्रबन्ध, मुक्तक इत्यादि सभी प्रकार की रचनाओ की आलोचना इस सिद्धात के द्वारा की जा सकती है। रस और अलकार सप्रदाय इस दिशा मे अपूर्ण थे। रस सिद्धान्त में नाट्य और प्रबन्ध की आलोचना सगत थी, सरस मुक्तको की आलोचना भी की जा सकती थी। किन्तु मुक्तक-काव्य निधानभूत सूक्ति-काव्य का समावेश इसमे बिल्कुल नही हो सकता था। इसी प्रकार निरलकार पद्य अलकार सम्प्रदाय मे गतार्थ नही हो सकते थे ध्वनि-सम्प्रदाय ने काव्य के इन सभी अगो को समेट लिया था। दूसरी बात यह भी थी कि ध्वनि-सम्प्रदाय मे सस्कृत के बडे-बडे आचार्य हो चुके थे। आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त,मम्मट पडितराज ये इतने महान् आचार्य थे कि इनका अतिक्रमण सामान्य प्रतिभा के द्वारा सम्भव नही था। इसलिये भी ध्वनि-सम्प्रदाय विद्वानों के हृदय मे घर कर गया। किन्तु हिन्दी भाषा उस समय तक न तो इतनी समृद्ध ही थी और न उस समय इतने महान् आचार्य ही उत्पन्न हुए थे कि वे ध्वनि-सप्रदाय का ठीक रूप मे प्रतिपादन कर सकते। हिन्दी मे गद्य लिखा ही नही जाता था और पद्य ध्वनि जैसे महान् सिद्धान्त के विवेचन के लिये उपयुक्त माध्यम नही कहा जा सकता। अतएव हिन्दी में केवल दो ही सम्प्रदायो की अवतारणा हुई—अलकार-सम्प्रदाय और रस-संप्रदाय।

हिन्दी का रीति-काल बहुत बडा है और इसके अन्दर काव्य-शास्त्र पर ग्रथ लिखने वालो की बहुत बडी सख्या है किन्तु बिहारी के समय में रीति काल का केवल जन्म ही हुआ था। जो विचार-धारा साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण होती है उसकी कुछ-न-कुछ पृष्ठभूमि पहले से तैयार ही रहती है। इसी नियम के अनुसार काव्य-शास्त्र संबन्धी दो चार पुस्तकें बिहारी से पहले लिखी जा चुकी थी। रस-सम्प्रदाय की जिस प्राचीनतम पुस्तक का अब तक पता चलाया जा सका है वह है कृपाराम की

हिततरंगिणी। कृपाराम ने इसे नाट्य शास्त्र के आधार पर लिखा है। इस में नायिका-भेद का पूर्ण विवरण दिया गया है। नायिका-भेद में यह ग्रथ भानुदत्त पर विशेष आधारित है, नाट्य शास्त्र पर उतना नही। रस के विषय मे मोहनलाल मिश्र का लिखा हुआ शृगार सागर भी कहा जाता है। यह रस और नायिका-भेद का ग्रथ है। अष्ट-छाप के भक्त कवि नन्ददास ने रसमजरी नामक ग्रथ लिखा, जो कि भानुदत्त की रसमजरी पर आधारित है। इस में नायिका-भेद, हाव-भाव इत्यादि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

हिन्दी साहित्य मे केशव प्रथम आचार्य माने जाते है। इन्होने रस-सिद्धान्त पर रसिकप्रिया की रचना की थी। इस पुस्तक मे शृगार रस का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है और शृगार को रसराज सिद्ध किया गया है। शृगार रस के नायक-नायिकाभेद, दर्शन, चेष्टा, मान इत्यादि, विभाव, अनुभाव, सचारीभाव, सात्विक-भाव, शृगार के प्रकार, काम की दशाये, सखी और उसके कार्यो का वर्णन इत्यादि सभी अगो का परिचय दिया गया है, किन्तु विस्तृत वर्णन नही दिया गया। सुन्दर का 'सुन्दर शृगार' रस-शास्त्र पर दूसरी रचना है। इसमे केवल शृगार रस तथा उसके अगो का वर्णन किया गया है।

आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि त्रिपाठी को रीति-काल का प्रवर्तक माना है। यद्यपि आचार्य केशव प्रथम आचार्य है तथापि एक तो उसके बाद बहुत समय तक रीति साहित्य का प्रचलन नही हुआ और रीति-काल के नियमित प्रचलन में एक लम्बा व्यवधान पड गया। दूसरी बात यह है कि परवर्ती आचार्यों ने केशव का नेतृत्व भी अगीकार नही किया। अतएव चिन्तामणि त्रिपाठी ही रीति-काल के प्रथम आचार्य माने गये है। ये बिहारी के समसामयिक है। इनके कविकुल-कल्पतरु में विभिन्न काव्यागो पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही रस, नायिका भेद, भाव इत्यादि का भी वर्णन है। साथ ही विभावादि अगो और दूसरे ८ रसो का भी सक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसमे काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण और दशरूपकम् का सहारा लिया गया। इन रस ग्रथो की एक सामान्य प्रवृत्ति यह रही है कि इनमें रसराज शृंगार का सागोपाग वर्णन रहता है किन्तु अन्य रसो का चलता हुआ परिचय दे दिया जाता है।

रस-शास्त्र की भाति इस काल में भी अलकार पर भी कई पुस्तके लिखी गईं। मिश्रबन्धु विनोद में गोपा के राम-भूषण का उल्लेख है। इसमें राम की यशोगाथा के साथ अलंकारो का भी वर्णन किया गया है। अलकार पर अलकार-चन्द्रिका नाम की इनकी एक स्वतत्रपुस्तक भी है। करणेश कवि के करणाभरण, श्रुति-भूषणऔर भूप-भूषण भी अलंकार के ग्रथ हैं। केशव की कविप्रिया अलकार-शास्त्र की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है, इसमें कविता के विभिन्न तत्वो के साथ अलकार का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। चिन्तामणि के कविकुल-कल्पतरु में काव्य

सम्बन्धी दूसरी सामग्री के साथ शब्दालकारो और अर्थालकारो का भी वर्णन किया गया है। अलकारो के विषय मे लिखी हुई इस काल तक की समस्त पुस्तको में जसवन्त सिह का लिखा हुआ भाषा-भूषण सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह ग्रथ चन्द्रालोक पर आधारित है और इसमे चन्द्रालोक की ही शैली पर १०८ अलकारो का वर्णन छात्रो की दृष्टि से दिया गया है। यही बिहारी के समय की काव्य-त्रास्त्र की परिस्थिति का सक्षिप्त परिचय है।

बिहारी का साहित्य-शास्त्रविषयक दृष्टिकोण

बिहारी ने कोई रीति ग्रन्थ नही लिखा जिसके आधार पर उनके साहित्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण का पता चलाया जा सके। उन्होने केवल लक्ष्य ग्रन्थ ही लिखा है। किन्तु यह लक्ष्य ग्रन्थ ऐसा है जिसको देखने से पता चलता है कि ग्रन्थ रचना बहुत कुछ लक्षणो को दृष्टिगत रखकर की गई है। सम्भवत बिहारी का मन्तव्य लक्षणो के लक्ष्य जुटाने की ओर था। यह वही समय था जब पडितराज जगन्नाथ अपने रस-गगाधर की रचना कर रहे थे। बिहारी का पडितराज से व्यक्तिगत परिचय भी था और वे पडितराज से प्रभावित भी बहुत हुए थे। अतएव रीति बद्ध कविता की दिशा मे इन्हे पडितराज से प्रेरणा अवश्य मिली थी। यही कारण है कि हमे बिहारी के प्रत्येक दोहे मे किसी न किसी लक्षण की छाप अवश्य दिखलाई देती है। इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने बिहारी को रीति काल के फुटकर कवियो मे न रखकर रीति-ग्रन्थकार कवियो मे स्थान दिया है।

किसी लक्षण ग्रन्थ के अभाव में हमे बिहारी का काव्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण जानने के लिये दो बातो पर निर्भर रहना पडता है—(१) दोहो में काव्य-शास्त्रीय कतिपय सकेत और (२) लक्ष्य-परीक्षा।

उपर्युक्त दोनो दृष्टिकोणो से विचार करने पर हम बिहारी को अलकार सम्प्रदायवादी नही कह सकते। काव्य में अलकारो का वही स्थान है जो शरीर को आभूषित करने के लिये कटक-कुण्डल इत्यादि का हुआ करता है। हम हार, कटक, कुण्डल इत्यादि को आत्मा नही कह सकते, इसी प्रकार हम अलकारो को भी काव्य की आत्मा नही मान सकते। केवल इतना ही नही, किन्तु अलकारो के प्रयोग में कवि को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। ध्वनिकार ने अलकारो के प्रयोग में कौन-कौन सी सावधानी बरतनी चाहिये इसका विस्तार से उल्लेख किया है। काव्य-प्रकाशकार अलकारो को काव्य का अनिवार्य तत्त्व नही मानते। यद्यपि बिहारी का प्रत्येक दोहा अलकृत है तथापि बिहारी-सतसई से हम काव्यशास्त्र में आने वाले सभी प्रमुख अलकारो का अध्ययन नही कर सकते। यदि बिहारी ने अपनी सतसई काव्यशास्त्रीय लक्षणो के लक्ष्यो का सकलन करने के लिये ही बनाई होगी तो भी उनका मन्तव्य अलकारो के उदाहरणो का सचित करना नही रहा होगा। अन्यथा हमें इस सतसई से सभी प्रमुख अल कारों का अध्ययन करने का

सौभाग्य प्राप्त हो जाता। बिहारी ने प्रायः प्रत्येक अग-प्रत्यग के प्रसग में आभूषणो की सुन्दरता का वर्णन किया है तथापि वे आभूषणो को सुन्दरता के लिये अनिवार्य नही मानते। कभी-कभी तो अलकारो का प्रयोग वास्तविक सुन्दरता को नष्ट करने में कारण हो जाता है .—

करतु मलिन आछी छबिहिं हरतु जु सहजु विकासु।
अंगराग अगनु लगै ज्यों आरसी उसासु॥

इतना ही क्यो कभी-कभी तो अलकार बडे ही भद्दे मालूम पडते है —

पहिरि न भूसन कनक के, कहि आवत इहिं हेत।
दरपन के से मोरचे देह दिखाई देत॥

ध्वनिकार प्रयत्नपूर्वक लाये हुए अलकारो के विरोधी है और अल कारो का अपृथग्यत्न-निर्वर्त्यत्व स्वीकार करते है। उनका आशय यह है कि कवि अभिव्यक्ति के लिये प्रयत्नशील होता है, वह अलकार के लिये पृथक् प्रयत्न नही करता। किन्तु उसी प्रयत्न के द्वारा अलकार भी स्वभावत आ ही जाते है। जिन अलकारो को लाने के लिये पृथक् प्रयत्न करना पडता है, वे अलकार काव्य के तत्त्व के व्याघातक बन जाते है और विशेष रूप से यह बात शृगार ध्वनि मे होती है। विप्रलम्भ शृंगार ध्वनि मे तो इस बात मे और भी सावधान रहने की आवश्यकता है। यदि सामान्य आभूषणो का काव्यालकारो मे उपमानोपमेय भाव मान लिया जावे तो बिहारी भी ध्वनिवादियो के इस सिद्धान्त से सहमत प्रतीत होते है कि अलकार अपृथग्यत्न-निर्वर्त्य होने चाहियें अन्यथा वे काव्य की आत्मा मे विघात का कारण बन जाते है। ध्वनि-सस्थापक आचार्यो ने प्रतीयमान को अगना के लावण्य की उपमा दी है। अलकार-विन्यास सर्वथा लावण्यस्थानीय प्रतीयमान अर्थ में विशेषता का आधान करने वाला होना चाहिये। अन्यथा अलकार अपना वास्तविक सौन्दर्य प्रकट नही कर सकते .—

मानहु बिधि तन अच्छ छवि स्वच्छ राखिबै काज।
दृग-पग-पोंछन कौं करे भूषन पायन्दाज॥

कभी-कभी अलकार अपनी कठोरता के कारण प्रत्यभिज्ञेय होते है —

डीठि न परतु समान-दुति कनकु कनक सें गात।
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात॥३३३॥

किन्तु फिर भी काव्य में अलकारो का अपना महत्त्व है। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि अलकारो में सन्निवेश-चारुता विद्यमान हो और उनका उपादान कुशलतापूर्वक किया गया हो तो उनसे काव्य-सौन्दर्य बहुत अधिक बढ जाता है। बिहारी के कई दोहे इस तथ्य के परिचायक हैं, जब शरीर-सौन्दर्य के साथ अलकार-विन्यास सुघटित हो जाता है तब शोभा बहुत अधिक बढ़ जाती है : —

झीने पट में झुलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु में लसति सपल्लव डार ॥१६॥
कहत सबै बेंदी दियें आंकु दस गुनौ होतु।
तिय लिलार बेंदी दिये अगनितु बढ़तु उदोतु ॥३२७॥
सहज सेत पंचतोरिया पहिरत अति छवि होति।
जल चादर के दीप लौं जगमगाति तन जोति ॥३४०॥
भई जु छबि तन बसन मिलि बरनि सकैं सु न बैन।
आंग-ओप आंगी दुरी आंगी आंग दुरै न ॥१८६॥
अग अंग प्रतिबिंब परि दरपन से सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात ॥६८०॥

यदि इन दोहों में छवि को प्रतीयमान-अर्थपरक माना जावे और आभूषणों को अलकारस्थानीय तो इससे यही ध्वनित होता है कि बिहारी काव्य में अलकारों को उसी सीमा तक सह्य मानते है, जहा तक वे प्रतीयमान अर्थ (रसादि ध्वनियों) में विशेषता सम्पादन करते हैं। अन्यथा अलकारो से काव्य बिगड जाता है। इस प्रकार बिहारी अलकार सम्प्रदाय से बाह्य हो जाते है।

बिहारी का झुकाव कुछ रस की ओर विशेष ज्ञात होता है। ध्वनि काव्य के उपभेदों मे रस-ध्वनि ही मुख्य है। ध्वनि-सम्प्रदाय स्वय ही बहुत कुछ रस-सम्प्रदाय की ओर झुका हुआ है। बिहारी ने सतसई के उपसहार में लिखा है –

हुकुमु पाइ जयसाहि को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद ॥७१३॥

यहा पर "सवाद" शब्द रसास्वादन परक ही है। इस प्रकार बिहारी का मन्तव्य पाठको को रसास्वादन कराना ही था। वे रसास्वादन मे परिपूर्ण रूप से निमज्जित हो जाने को जीवन की सफलता मानते थे। जो व्यक्ति रसास्वादन में आनन्द नही लेता उसका जीवन व्यर्थ ही है :—

तन्त्रीनाद, कवित्तरस, सरस राग, रति रग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अग ॥६४॥

इस दोहे से यही ध्वनित होता है कि बिहारी के मत में रसास्वादन करना ही काव्य का उद्देश्य है। यह रसास्वादन भी रसिकों को ही मिलता है, हृदयहीन व्यक्ति के लिए रस एक तुच्छ वस्तु है :—

गिरि तें ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहां हजारु।
वहै सदा पसु नरनु कौं प्रेम पयोधि पगारु ॥२५१॥

किन्तु लक्ष्य परीक्षा से प्रतीत होता है कि बिहारी शुद्ध रसवादी नही थे। यदि इन्हे रसवादी कहे तो अभिनव गुप्त के इसी सिद्धान्त के आधार पर कह सकते हैं कि रस-ध्वनि ही काव्य की आत्मा है और वस्तु तथा अलकार

ध्वनियां कुछ-न-कुछ रसप्रवण होती ही है। बिहारी ने जहां एक ओर शृंगार रस के सांगोपाग उदाहरण सकलित करने की चेष्टा की है तथा दूसरे रसो के चलते हुए उदाहरण दिये है, वहां कुछ ऐसे दोहे भी लिखे हैं, जिनको हम रस-ध्वनि के अन्तर्गत नही ले सकते। समस्त सूक्ति-काव्य, अन्योक्ति-काव्य इत्यादि रस-ध्वनि में सन्निविष्ट नही किये जा सकते। अतएव यह मानना ही पडेगा कि बिहारी का दृष्टिकोण न तो रस-ध्वनि तक सीमित था] और न अलंकार ही उनके निरूप्य विषय थे। ये संस्कृत साहित्य के उस काव्यशास्त्र का अनुकरण करना चाहते थे, जो विकास-क्रम से ध्वनि-सम्प्रदाय में पर्यवसित हुआ था। हमें बिहारी मे जहा वस्तु, अलकार और रस तीनो प्रकार की ध्वनियो के दर्शन होते है, वहा असल्लक्ष्य-क्रम-व्यग्य, सल्लक्ष्य-क्रम-व्यंग्य, विवक्षित-वाच्य, अविवक्षित-वाच्य इत्यादि सभी प्रकार के ध्वनि-भेदों के उदाहरण उपलब्ध हो जाते है। केवल इतना ही नही, व्यजको की दृष्टि से ही बिहारी सतसई एक सम्पन्न रचना है। बिहारी के समस्त काव्य का उपादान ध्वनि-सिद्धान्त के द्वारा ही सम्भव है। अतएव बिहारी ध्वनि-सम्प्रदायवादी सिद्ध होते है।

बिहारी की ध्वनि-सम्प्रदायवादिता के कुछ सकेत भी हमें यत्र-तत्र उपलब्ध होते है। ध्वनि-सम्प्रदायवादी ध्वनि-काव्य को कुछ खुले और कुछ ढके स्तनो की प्राय: उपमा दिया करते है। ध्वन्यालोक में कहा गया है कि ध्वनि-काव्य उस प्रतीयमान अर्थ को कहते है जो कामिनी-कुच-कलश के समान निपुणतापूर्वक प्रत्यभिज्ञेय हो। किसी कवि का यह पद्य अत्यन्त प्रसिद्ध है :—

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाश,
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहित. पिहितश्च वाग्भिः,
प्राकाश्यमेति महरट्टवधूकुचाभः॥

(अर्थात् आन्ध्र देश की स्त्रियो के स्तनो के समान जो अर्थ अत्यन्त खुला हुआ होता है वह अच्छा नही होता और न वह अर्थ अच्छा होता है जो गुजरात की स्त्रियो के स्तनो के समान बिलकुल छिपा हुआ हो। महरट्ट देश की स्त्रियो के स्तनो के समान वाणी का जो अर्थ कुछ खुला और कुछ छिपा हुआ होता है वही शोभादायक हुआ करता है।) इसी बात को एक दूसरे कवि ने इस प्रकार कहा है :—

अनुद्घृष्ट. शब्दैरथ च रचनातः स्फुटरस,
पदानामर्थात्मा जनयति कवीनां बहुमुदम्।
यथा किंचित्किंचित्पवनचलचेलांचलतया,
कुचद्वन्द्व कान्ति किरति न तथोद्घाटितमुरः॥

(अर्थात् जो अर्थ शब्दो के द्वारा प्रकट न किया गया हा, किन्तु रचना से जिसका रस स्फुट हो रहा हा, इस प्रकार का शब्दो का अर्थ कवियो को बहुत आनन्द

देने वाला होता है। जैसे वायु से अचल के कुछ-कुछ चचल होने पर दोनो स्तन जितना आनन्द देते है उतना खुली छाती आनन्द नही देती।) आशय यह है कि सहृदय-सवेद्य प्रतीयमान अर्थ ही प्रधानीभूत होकर काव्य की आत्मा बन जाता है। कुछ ऐसी ही बात बिहारी ने भी कही है :—

दुरत न कुच बिच कचुकी चुपरी, सारी सेत।
कवि आंकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत॥

बिहारी मुह मे कहे वचनो की अपेक्षा सकेतो से प्रतीयमान अर्थ को विशेष महत्व देते है —

झूठे जानि न सग्रहे मन मुंहु निकसे बैन।
याही ते मानहु किये बातनु को विधि नैन॥

इस प्रकार लक्ष्य-परीक्षा और लक्षण-सकेत दोनो दृष्टियो से बिहारी ध्वनिवादी ही ठहरते है।

बिहारी के सिद्धान्तो का सार यह है—बिहारी ध्वनिवादी कवि हैं। अभिनव गुप्त के अनुसार ये काव्य में रस-ध्वनि को प्रधान मानते है। अलकार का प्रयोग तभी समीचीन कहा जा सकता है जब उसके द्वारा रसानुभूति में तीव्रता उत्पन्न हो अथवा अलकार वाच्य और व्यग्य वस्तु तथा अलकार के उपस्कारक हो। प्रयत्नपूर्वक लाये हुए अलकार काव्य को बिगाड देते है क्योकि ऐसे अलकारो से काव्य का स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अतएव अलकारों का स्वाभाविक प्रयोग ही समीचीन होता है। अगले पृष्ठो में ध्वनि सम्प्रदाय की दृष्टि से बिहारी की विस्तृत आलोचनात्मक व्याख्या की जावेगी।

ध्वनि-सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादन मे एक ओर काव्य के मूलभूत तत्वो को एक करने की सफल चेष्टा की गई और समस्त काव्य-जगत् को एक सिद्धान्त में आत्मसात् कर लिया गया; दूसरी ओर वैदिक काल से चली आती हुई दार्शनिक विचारधारा से भी सामजस्य स्थापित किया गया। परवर्ती वैदिक काल (उपनिषत्काल) मे सर्व-ब्रह्मवाद की स्थापना की जा चुकी थी और उसी के आधार पर वैय्याकरणों ने अपने स्फोट वाद की स्थापना की थी। वैय्याकरण ही सर्वोत्तम विद्वान् माने जाते थे। वैय्याकरणो के स्फोट वाद का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:— "वाणी चार प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी। प्रथम तीन अग तो प्रत्यक्ष का विषय हो ही नही सकते, चतुर्थ अग श्रवणगोचर हुआ करते है। जो शब्द हमें सुनाई पडता है उस के दो अग होते है—एक तो ध्वनि और दूसरा स्फोट। वर्णोच्चारण काल में स्थान, प्रयत्न इत्यादि के रूप में वायु-सयोग की जो क्रिया होती है जिससे घण्टा नाद के समान एक प्रकार का नाद हुआ करता है उसे वैय्याकरण लोग ध्वनि कहा करते है। उन ध्वनियों के द्वारा स्फुटित होने वाला अर्थ भाग

स्फोट कहलाता है। "क" "ख" "ग" इत्यादि सब वर्णों के उच्चारण में नाभि से वायु का उठना इत्यादि क्रियाये एक सी होती है। मुख की स्थान, प्रयत्न इत्यादि क्रियाओ के द्वारा उन वर्णों में परस्पर भेद हो जाता है। यह इस प्रकार समझना चाहिये कि जिस प्रकार ब्रह्म के रूप मे ससार के सभी पदार्थ एक है। किन्तु कार्य जगत् मे आ कर वे ही पदार्थ घट, पट इत्यादि के रूप में प्रकट अथवा ज्ञात हुआ करते है। इसी प्रकार स्फोट के रूप मे सभी वर्ण एक है किन्तु वायु-सयोग (ध्वनि) से "क" "ख" "ग" इत्यादि रूप में विभक्त होकर व्यवहृत हुआ करते है। वैय्याकरणो के मत मे शब्द ही ब्रह्म है। शब्द का अधिष्ठान अन्त करण है। जब हम किसी पदार्थ को देखते है तो उस की एक आकृति हमारे अन्त करण मे खिच जाती है। इसी आकृति को जाति कहते है। यही जाति वाच्य होती है। इस प्रकार अन्तः करण में वाच्य और वाचक दोनो ही तादात्म्य रूप में स्थित रहते है और दोनो को स्फोट शब्द से अभिहित किया जाता ह। वही स्फोट या शब्द ब्रह्म जब ध्वनि से सयुक्त हो कर कार्य-जगत् मे व्यवहृत होता है तब घट, पट इत्यादि विभिन्न रूपो में व्यक्त हो कर हमारे सामने उन सब वस्तुओ की सृष्टि किया करता है, जिस प्रकार अनिर्वचनीय ख्याति से ब्रह्म का विवर्त जगत् है उसी प्रकार शब्द-ब्रह्म से विवर्तित होने वाला और उसी में पर्यवसित होने वाला समस्त वाङ्मय और उसका वाच्य अर्थ सभी कुछ उसी स्फोट रूप शब्द-ब्रह्म का ही विपरिणाम है, उस को प्रकट करने वाले वायु-सयोग को ध्वनि कहते हैं। जिस प्रकार स्थूलता, कृशता इत्यादि शरीर के ही धर्म है, उन से आत्मा मे परिवर्तन नही होता। उसी प्रकार विभिन्न रूप में उच्चारित ध्वनिया ही भेदक होती है उन से स्फोट रूप आत्मा में अन्तर नही पडता।

शब्दोच्चारण परम्परा में जब पूर्व-पूर्व सस्कारो मे वासित होकर अतिम अक्षर की ध्वनि सुनाई पडती है तब वह ध्वनि पूर्व-पूर्व वर्णों के सस्कार से वासित होने के कारण एक सघातात्मक बुद्धि उत्पन्न कर दिया करती है। जिस प्रकार घण्टा की ध्वनि मे अनुकरणरूपता होती है अर्थात् बाद होने के बाद एक प्रकार की झकार सुनाई पडती रहती है उसी प्रकार इन ध्वनियो के उच्चारण के बाद भी एक प्रकार का बुद्धि उत्पादन रूप अनुरणन होता रहता है।

वैय्याकरणो के इस स्फोटवाद को लेकर ही ध्वनि-सिद्धान्त की आधार-शिला तैयार की गई है। वैय्याकरणो के सिद्धान्त का सार यही है कि जो कुछ हमें सुनाई पडता है उस से भिन्न ही एक पृथक् प्रकार की बुद्धि बन जाती है। घट और पट इन शब्दो के उच्चारण से जो ध्वनि (नाद) हमे सुनाई पडती है उससे पृथक् ही नये पदार्थो का बोध हमें हो जाता है। जिस प्रकार घट-पट इत्यादि रूपो में विश्व के समस्त कार के पदार्थ पृथक् है किन्तु ब्रह्म के रूप में सब एक हो जाते हैं उसी प्रकार ध्वनि से सयुक्त होकर सभी शब्द पृथक प्रतीत होते है किन्तु परा वाणी

(स्फोट) के रूप में सब एक है। वैय्याकरणो ने बौद्ध अर्थ का निरूपण कर यद्यपि शब्द और अर्थ का तादात्म्य भी स्थापित करने की चेष्टा की किन्तु शब्द के दो तत्त्वो ध्वनि और स्फोट की पृथक्-पृथक् सत्ता ही मानी जाती रही।

साहित्यशास्त्रियो के ध्वनि सम्प्रदाय में वैय्याकरणो के सिद्धान्त से दो बातों में मौलिक भेद है। यद्यपि श्रवणगोचर होने वाले शब्द की अपेक्षा प्रतीति-गोचर होने वाला अर्थ सर्वथा पृथक् ही होता है, वैय्याकरणो के इस सिद्धान्त को साहित्यशास्त्रियो ने भी अगीकृत किया, किन्तु इस की सीमा कुछ और बढा दी। इन लोगो के मत में केवल शब्द ही अर्थ की प्रतीति नही कराता किन्तु अर्थ भी दूसरे अर्थ की प्रतीति कराता है। इस प्रकार वैय्याकरणो ने केवल ध्वनि या वायु-सयोग को ही व्यजक माना था। साहित्य शास्त्र मे अर्थ को भी व्यजक कोटि में सन्निविष्ट कर दिया। जिस प्रकार अगनाओ में लावण्य कोई विशेष अग न होते हुए भी समस्त अगो से अभिव्यक्त होने वाला एक पृथक् तत्व होता है इसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ किसी विशेष शब्द का अर्थ न होते हुए भी समस्त शब्दो की शक्ति से अभिव्यक्त होने वाला एक पृथक् ही अर्थ होता है। दूसरा भेद यह है कि वैय्याकरण केवल व्यंजक को ही ध्वनि मानते थे और अभिव्यक्त होने वाले अर्थ को वे स्फोट नाम से पुकारते थे। इसके प्रतिकूल साहित्यशास्त्रियो ने ध्वनि शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों का सहारा लेकर ध्वनि शब्द से ध्वनि सम्बन्धित समस्त उपकरणो को आत्मसात् कर लिया। पहले बतलाया जा चुका है कि ध्वनि शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त किया गया—(१) व्यजना व्यापार, (२) व्यग्य (प्रतीयमान) अर्थ और (३) व्यजक समुदाय। इस प्रकार साहित्यशास्त्रियो को पृथक अर्थो के लिये पृथक् शब्दो की कल्पना नही करनी पडी और सभी तत्व केवल एक शब्द (ध्वनि) में ही सन्निविष्ट हो गये।

ध्वनि शब्द की जब भाव-साधन व्युत्पत्ति होती है तब उसका अर्थ होता है "ध्वननं ध्वनि" अर्थात् व्यजना व्यापार। व्यजना व्यापार से भिन्न दो व्यापार और होते है—(अ) अभिधा और (ब) लक्षणा। इन्ही दो व्यापारो के आधार पर अभिधा-मूल और लक्षणा मूल ये दो ध्वनिया होती है। अभिधा में वाच्यार्थ विवक्षित रहता है, इसलिये इसे विवक्षित वाच्य कहते है और लक्षणा में वाच्यार्थ की विवक्षा दूसरी कोटि में ही समाप्त हो जाती है, अतएव इसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते है। इस विषय में आचार्य लोग व्यापार की चार कोटि मानते है। पहली कोटि में श्रवण-गोचर होने के बाद शब्द के अभिधेय अर्थ की प्रतीति होती है। दूसरी कोटि में तात्पर्यानुपपत्ति के कारण बाध-प्रतिसधान से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, तीसरी कोटि में तात्पर्य ग्रहण होता है और चौथी कोटि में व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है। अभिधामूल ध्वनि में दूसरी कोटि नही होती। ध्वनि शब्द के कर्म साधन (ध्वन्यते इति ध्वनिः) मानने पर व्यग्यार्थो का उपादान हो जाता है। व्यग्यार्थ की दृष्टि से

ध्वनि ३ प्रकार की होती हैं रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि। इनमें रस-ध्वनि प्रधान होती है। ध्वनि शब्द को करण साधन (ध्वन्यते अनेनेति ध्वनिः) मानने पर समस्त व्यजक वर्ग आत्मसात् कर लिया जाता है। व्यजक वर्ग में पद, पदाश, वाक्य, वर्ण-सघटना इत्यादि सभी कुछ सन्निविष्ट हो जाता है। इस प्रकार समस्त आवश्यक उपकरण इस ध्वनि-शब्द से संगृहीत हो जाते हैं।

ध्वनि सम्प्रदाय वालो की सफलता जहा एक ओर काव्य का निर्दुष्ट लक्षण करने में और काव्य सम्बन्धी समस्त उपकरणों को एक में सन्निविष्ट करने में थी वहां दूसरी ओर उनका महत्त्व इस बात में भी था कि उन्होने पूर्ण सफलता के साथ काव्य के समस्त उपकरणो को यथास्थान विन्यस्त कर दिया। काव्य के क्षेत्र में सबसे प्रमुख सम्प्रदाय था—अलंकार सम्प्रदाय। इस सम्प्रदाय के आचार्य रस को भी अलंकार मानते थे। इन लोगो का मत था कि शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य ही काव्य की आत्मा है। काव्य की आत्मा के रूप में जिन धर्मों का परिज्ञान हो चुका है, उनको भी अलकार कहा जाना चाहिये और जिन धर्मों का परिज्ञान आगे चलकर होगा उनका भी समावेश अलकारो में ही होना चाहिये। किन्तु लोक में अलंकार कभी अगी नही हो सकता, वह केवल अगी की शोभा बढ़ाने वाला बाह्य उपकरण मात्र होता है। इसी प्रकार काव्य में भी अलंकार कभी अंगी नही हो सकता वह केवल ध्वनि रूप काव्य-आत्मा का शोभाधायक धर्म ही होता है। जहां अलंकारो को काव्य का लक्ष्य मान कर उनके लाने का पृथक् प्रयत्न किया जाता है वहा काव्य बिगड़ जाता है। जब कोई प्रतिभाशाली कवि रसमय रचना करने में अपना मन लगा देता है उस समय ऐसे-ऐसे अलकार, जिनकी सघटना प्रयत्न करने पर भी कठिन है, स्वय आने लगते हैं, जिनको देखकर स्वय कवि को आश्चर्य होने लगता है कि ये अलकार किस प्रकार आ गये। उस समय वह अलकार इस रूप में आते है मानो पहले आने के लिये होड सी लगा रहे हो। "कतिपय रसमय वस्तुयें ऐसी होती हैं, जिनमें अलंकारों का भी समावेश हो जाता है। वहा पर महाकवि के एक ही प्रयत्न के द्वारा रस और अलंकार दोनों की निष्पत्ति हो जाती है।" अलकार के निबन्धन में विशेष रूप से सावधान रहना आवश्यक है। यदि अलकार ही प्रधान उपास्य हो जाते है तब वे काव्य को आवृत कर लेते है और काव्य की आत्मा तिरोहित हो जाती है। ध्वन्यालोककार ने अलकार निबन्धन में निम्नलिखित बातो पर ध्यान रखने की आवश्यकता पर बल दिया है—अलकार सर्वदा रस के अग के रूप में आना चाहिये। उसको कभी रस की अपेक्षा प्रधानता प्राप्त नही होनी चाहिये। इस बात का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है कि अवसर के अनुसार रस का ग्रहण और परित्याग ठीक रूप में हो। अलंकार में निर्वहण का प्रयत्न लक्षित नही होना चाहिये और यदि निर्वहण कर ही दिया गया हो तो उसको ठीक रूप में रसका अंग बना दिया जाना चाहिये। इस प्रकार अलंकार काव्य की आत्मा नही हो

सकते। किन्तु जिस प्रकार अलकार शरीर की शोभा को बढाते हुए आत्मा के उत्कर्ष के साधन होते है उसी प्रकार काव्य के अलकार भी शब्दार्थ रूप शरीर की शोभा का आधान करते हुए रसोत्कर्ष में कारण हो जाते हैं।

जो बात अलकार के विषय में कही जाती है वही गुण, रीति और वृत्ति के विषय में भी लागू होती है। वस्तुत काव्य के इन तत्त्वो मे अल कार से अधिक भेद नही है। रमणीयता काव्य का मुख्य प्रवृत्ति-निमित्त है। यह रमणीयता दो प्रकार की होती है —स्वरूपगत रमणीयता और सघटनागत रमणीयता। शब्द और अर्थ की स्वरूपगत रमणीयता शब्दालकार और अर्थालंकार के नाम से अभिहित की जाती है। तथा सघटनागत रमणीयता शब्द-गुण और अर्थ-गुण के नाम मे पुकारी जाती है। वृत्तिया तीन प्रकार की होती है —परुषा अथवा नागरिका, कोमला अथवा उपनागरिका और ग्राम्या। इन तीनो वृत्तियो का समावेश अनुप्रास मे हो जाता है। परुष वर्णो के अनुप्रास को नागरिका वृत्ति कहते है, कोमल वर्णो के अनुप्रास को उपनागरिका वृत्ति कहते है और सामान्य कोटि के न अधिक परुष और न अधिक कठोर वर्णो के अनुप्रास को ग्राम्या वृत्ति कहते है। यही दशा वैदर्भी इत्यादि रीतियो की है। जिस प्रकार वृत्तियो का समावेश अनुप्रास में हो जाता है उसी प्रकार रीतियो का समावेश गुणों में हो जाता है। जिस प्रकार गुड, मिर्च इत्यादि मिलाकर पानक रस तैयार किया जाता है और मिलने की योग्यता होने के कारण सभी वस्तुओं का रस सघात रूप में एक हो जाता है उसी प्रकार जब माधुर्यादि गुणो का समुचित वृत्ति में सम्मिलन होता है और उनका एक सघात रूप बन जाता है तब उन्हे रीति कहने लगते हैं। इस प्रकार गौड, विदर्भ, पाचाल और लाट देश के कवियो को अधिक रुचिकर होने के कारण ये रीतिया गौडी, वैदर्भी, पाचाली और लाटी इत्यादि कही जाती है। ये सभी तत्त्व काव्य के बाह्य अग ही हैं, आभ्यन्तर नही। अतएव हम उन्हे काव्य की आत्मा नहीं कह सकते।

ध्वनि-काव्य की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन

१ अविवक्षित वाच्य :—

प्रसिद्ध पद-मैत्री जब कवि के विवक्षित भाव अथवा अर्थ के प्रत्यायन में कुण्ठित हो जाती है तब कवि ऐसे शब्दो का प्रयोग करता है जो अपने प्रतिष्ठित अर्थ में बाधित होकर अपने सामर्थ्य से ही उस विवक्षित अर्थ को अभिव्यक्त कर देते है। इस प्रक्रिया से जो अर्थ अभिव्यक्त किया जाता है वह अविवक्षित वाच्य अथवा लक्षणामूलक ध्वनि के नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रक्रिया के लिए आचार्यो ने एक और नाम दिया है "भक्ति" और इस प्रकार के अभिव्यजक शब्द को भाक्त कहा जाता है। भक्ति अथवा भाक्त ये दोनो शब्द ऐसे है जो लक्षणा की समस्त प्रक्रिया को आत्मसात् कर लेते है। श्री अभिनव गुप्त पादाचार्य ने लिखा है कि भक्ति शब्द के तीन अर्थ हैं–(१) भग(भज धातु से),(२) भजन या सेवन और

(३) श्रद्धातिशय। यही लक्षणा के तीन नियम हैं—(१) जहा पर मुख्य अर्थ का भंग हो, (२) जहा पर मुख्यार्थ व्यतिरिक्त किसी अन्य संगत अर्थ का भजन या सेवन किया जावे और जहा पर (३) मुख्य वृत्ति का परित्याग कर अमुख्य वृत्ति के सेवन करने में कोई विशेष कारण हो। लक्षणा में अर्थ बोध का यही क्रम है—पहले तो वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, तदनन्तर तात्पर्यानुपपत्ति के कारण वाच्यार्थ का बोध हो जाता है और उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होने लगती है। साथ ही उस अन्य अर्थ की भी प्रतीति होती है, जिसके कारण वक्ता मुख्यार्थवाचक व्यतिरिक्त अन्य शब्द का प्रयोग करता है। इसे ही लक्षणा का प्रयोजन कहते है।

शब्द का वाच्यार्थ अभिधेयार्थ कहलाता है, तात्पर्यानुपपत्ति होने पर शब्द से सम्बद्ध जिस दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है वह लक्ष्यार्थ कहलाता है। इन दोनों से भिन्न प्रयोजन की प्रतीति व्यजना वृत्ति के आधार पर होती है। यदि इस व्यंजना वृत्ति से प्रतीत होने वाले अर्थ में सौन्दर्य का पर्यवसान हो तो उसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि के नाम से अभिहित किया जाता है। यद्यपि गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना लक्षणाएं सादृश्यमूलक (रूपक और रूपकातिशयोक्ति इत्यादि) अलकारो में निमित्त होती है तथापि हम उन्हे अविवक्षित वाच्य में सन्निविष्ट नही कर सकते, क्योकि वहा सौन्दर्य का पर्यवसान द्वितीय कोटि (लक्ष्यार्थ) में ही हो जाता है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि में लक्षणा का भी अन्वय व्यतिरेक होता है। अर्थात् जहां पर ध्वनि होती है वहा लक्षणा अवश्य होती है और जहां लक्षणा नही होती वहां यह ध्वनि हो ही नही सकती यही कारण है कि इसमें निरूढा लक्षणा पद-घटित ध्वनि तथा अस्फुट गुणीभूतव्यंग्यों का समावेश नहीं होता, क्योकि उनमें लक्षणा को मानकर ही ध्वनि नहीं होती। काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य में बाध इत्यादि हेतुओ का प्रतिसन्धान न होने के कारण लक्षणा ही नही अतः इस ध्वनि का वहां पर प्रश्न ही नही उठता। अगूढ-गुणीभूतव्यग्य में भी अविवक्षित वाच्य ध्वनि नही होती, क्योकि आचार्यो ने गूढ व्यग्या लक्षणा को ही इस ध्वनि का मूल माना है। अपरांग और वाच्य सिद्ध्यंग गुणीभूतव्यंग्य इस ध्वनि की सीमा में नही आते, क्योकि उनमें व्यंग्यार्थ प्रधान नही होता।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के भेदोपभेदो का प्राचीन तथा मध्यकालीन काव्य में बहुत कम विकास हुआ था। "पृथ्वी गतयौवना", "निरहंकार मृगांक", "छलकता यौवन" इत्यादि दो-चार उदाहरण ही हमें इस सम्पूर्ण काव्यजगत् में दृष्टिगत होते हैं। मध्यकाल तक इस ध्वनि के केवल दो ही भेद किये जा सके थे—(१) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और (२) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य। अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य उसे कहते हैं, जहां लक्ष्यार्थ तथा प्रयोजन के प्रत्यायन में वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है और अर्थान्तर संक्रमित वाच्य वहां पर होता है, जहा प्रयोग सामर्थ्य से

वाच्यार्थ दूसरे अर्थ से सम्बलित होकर अपना अर्थ देता है। अर्थात् अर्थान्तर संक्रमित वाच्य में वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग नही होता। ये दोनों प्रकार की ध्वनिया कही-कही सम्पूर्ण वाक्य में व्याप्त होती हैं और कही-कही केवल शब्द में ही सीमित होती है। अतएव प्रत्येक के दो-दो भेद होकर यह अविवक्षित वाच्य ध्वनि चार प्रकार की मानी जाती है—(१) शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य, (२) वाक्य-गत अत्यन्त विरस्कृत वाच्य, (३) शब्द गत अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और (४) वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य।

बिहारी के समय तक यद्यपि अविवक्षित वाच्य ध्वनि का पूर्ण विकास नहीं हो सका था और न इस प्रकार की ध्वनि काव्य-जगत् में प्रमुखता ही प्राप्त कर सकी थी तथाति उपर्युक्त चारो भेदो में बिहारी की वाणी प्रवृत्त हुई थी। हमें बिहारी सतसई में न्यूनाधिक रूप में उपर्युक्त चारो भेदो का समावेश समुपलब्ध होता है। सर्वप्रथम शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य को लीजिए :—

कौहंरु सी एड़ीनु की लाली देखि सुभाइ।
पाइ महावरू देइ को आपु भई बेपाइ ॥४४॥

यहा पर "बेपाइ" का शाब्दिक अर्थ है "पैर रहित" नाइन का पैर रहित हो जाना प्रत्यक्षतः बाधित है। अत. तात्पर्यानुपपत्ति के द्वारा "बेपाइ" का अर्थ हो जाता है "गति हीन" अथवा सुधबुध रहित। इसका व्यग्यार्थ होगा कि "नाइन ने जब अत्यन्त बढी हुई पैरो की लाली देखी तब ऐसी किकर्तव्यविमूढ हो गई कि उसे यह ज्ञान ही नही रहा कि वह कहा है ? क्या है ? और उसे क्या करना चाहिये ? उसे आश्चर्य हुआ कि बिना ही महावर के उस के पैर इतने अधिक लाल थे मानो उनमें बहुत ही गाढा महावर पहले से ही लगा दिया गया हो। उसकी बुद्धि इस प्रकार प्रतिहत हो गई जैसे पैरो से रहित किसी व्यक्ति का चलना-फिरना रुक जाता है। इस प्रकार पैरो की लाली की उत्कटता और नाइन के आश्चर्य की अधिकता को व्यक्त करने के लिये "बेपाइ" इस बाधित शब्द का प्रयोग किया गया है जो अपने प्रयोग-सामर्थ्य से दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त कर स्वयं अपने अर्थ का सर्वथा परित्याग कर देता है। अतएव यहां पर शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। इसी प्रकार —

हाहा बदनु उघारि दृग सफल करै सबु कोइ।
रोज सरोजनु कैं परै हंसी ससी की होइ ॥५३॥

यहा पर "रोज पडना" शब्द के विद्वानो ने दो अर्थ किये है—"रोजा पडना" और "दिन पटना"। यह शब्द यहा पर दोनो अर्थो में बाधित है। कमलो को रोजा रखने की आवश्यकता होती ही नही और दिन पडने का कोई अर्थ ही नही। कोष के अनुसार दिन पडने का अर्थ होगा दिन का आना यद्यपि हिन्दी मे दिन पडना एक मुहावरा हो गया है किन्तु भारतीय शास्त्रीय पद्धति पर इसे लाक्षणिक

प्रयोग ही कहा जावेगा। यदि मुहावरा मान कर इसको आपत्ति के अर्थ में अभिधेय भी मान लें तो भी मुहावरे के अनुसार किसी मनुष्य पर ही दिन पडता है। कमलो पर दिन पडना सर्वथा बाधित है। क्योकि दिन का आना कमलो के लिये अच्छी बात है; विकास का द्योतक है जो कि प्रस्तुत प्रकरण में संगत नही होता। अतः यह शब्द बाधित होकर कमलो के सकोच को लक्ष्य कर कमलो की अपेक्षा भा नायिका के नेत्रों के सौंदर्याधिक्य को व्यक्त करता है। यद्यपि कुछ विद्वानो ने "सरोज" और "ससी" में गौणी—साध्यवसाना लक्षणा मान कर "सरोज" का अर्थ "सरोज के समान नेत्र" और ससि का अर्थ "ससी के समान मुख" किया है। किन्तु सौन्दर्य का पर्यवसान उन अर्थों में नही होता। सौन्दर्य का पर्यवसान तो "रोज पडने" में ही है। दूसरी बात यह है कि नायक के नेत्र कमलों पर दिन पडना किसी नायिका या उसकी सखी को अभिप्रेत नही हो सकता। अतः सरोज और ससी का स्वाभाविक सामान्य अर्थ ही करना चाहिये। इस प्रकार यहा पर शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ही है। इसी प्रकार:—

होमति सुखु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालमुखी सी जरति लखि लगनि-अगनि की ज्वाल ॥५४॥

"सुख का होमना" अपने अभिधेयार्थ मे बाधित है। क्योकि आज्य पदार्थ घी इत्यादि ही हो सकता है सुख नही। इसका लक्ष्यार्थ है कि "वह नायिका तुम्हारे वियोग में दुखी रहती है"। व्यग्यार्थ है कि—"नायिका के सारे सुख उसी प्रकार समाप्त हो गये है जिस प्रकार अग्नि मे आहुति डालने पर वह एकदम भस्म हो जाती है। यह नायिका की साधना वैदिक विधि के समान ही व्यर्थ नही होनी चाहिये। अत. तुम चल कर शीघ्र ही उसे कृतार्थ करो और उस की साधना पूरी करने की चेष्टा करो"। यहा पर "सुख" शब्द का "होमति" के साथ प्रयोग एक विशेष चमत्कार उत्पन्न करने के लिये किया गया है। यद्यपि "सुख रूपी आज्य" यह अर्थ वाच्य सिद्धि में सहायक होता है और इस प्रकार इसके वाच्यसिद्ध्यगगुणी भूत व्य ग्य की शंका हो सकती है तथापि साधना-सिद्धि की अनिवार्यता, नायक को नायिका से तत्काल मिलने की प्रेरणा तथा नायिका का प्रेमाधिक्य वाच्य सिद्धि का अग नही कहे जा सकते। अतः यहा पर शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का मानना ही ठीक होगा। शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के कतिपय अन्य उदाहरण ये हैं—

(१) छुटी न सिसु की झलक, झलक्यो जोबनु अग ॥७०॥

झलक किसी मूर्त पदार्थ की ही हो सकती है शिशुता या यौवन की नही इस से यहा पर सौन्दर्याधिक्य व्यक्त होता है।

(२) गदराने तन गोरटी, ऐपन-आड़ लिलार ॥६३॥

कोई फल ही गदर हो सकता है शरीर नहीं इससे आयु की कोमलता और आकर्षकता व्यक्त होती है।

(३) सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिनु मनु नीठि।

(४) याहि लखे लोइनु लगै कौन जुवति की जोति।

(५) यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।

(६) करति कोलाहल किंकिनी।

कोलाहल करना (कर्तृ सम्बन्ध) चेतन धर्म है।

(६–अ) खरी पातरी कान की।

(७) सकत न तुव ताते वचन मो रस कौ रसु खोइ।

(८) मन काचे नाचे वृथा साचे राचे राम।

(९) आई जावन लेन कौं नेहै चली जवाइ।

(१०) कहा लड़ैते दृग करे।

(११) रगराती राते हियै प्रियतम लिखी बनाय।

"रगराती" यह पत्र का विशेषण बाधित है।

(१२) पट की ढिग कत ढांपियति, सोभित सुभग सुबेष।

"सुबेष" विशेषण "रद-छद" के लिये सगत नही है। वेष बनाना मनुष्य का काम है रद-छद का नही।

(१३) अनत बसे निसि की रिसनु उर बरि रही विसेषि।

(१४) भृकुटी-मटकनि पीत-पट चटक लटकती चाल।

(१५) लगति लटकि आली गरे चित खटकति नित आनि॥

(१६) ईहि द्वै ही मोती सुगथ तूं, नथ, गरबि निसाक।

(१७) सीधै पाव न धरि परै सोभा ही कै भार।

(१८) ज्यौं-ज्यौं रूखी रूख करत त्यौं त्यौं चितु चिकनाइ।

(१९) त्यौं-त्यौं अति मीठी लगै ज्यौं-ज्यौं दीठ्यौ देइ॥

(२०) जिन हीं उरझ्यो मो हियो तिन ही सुरझे बारै॥

(२१) छतौ नेहु कागर हियै, भई लखाइ न टाकु।

टक किसी वस्तु का परिमाण हो सकता है, नेह का नही।

(२२) मो दृग लागे रूप दृगनु लगै अति चटपटी।

चटपटापन मुह में लगता है नेत्रो में नही।

(२३) पूछै क्यों रूखी परति।

(२४) बहके, सब जिय की कहत, ठौरु कुठौरु लखै न।

बहकना चेतन का धर्म है, मनुष्य बहक सकता है नेत्र नही।

(२५) चुपके करि चारी करत सारी परी सलौट।

उपर्युक्त उद्धरणों में रेखांकित शब्द अपने अभिधेयार्थ में बाधित हैं और किसी विशेष चमत्कार को उत्पन्न करने के लिये ही प्रयुक्त हुए हैं अतएव ये शब्द-गत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के उदाहरण है।

जब समस्त वाक्य के अभिधेयार्थ का बाध हो जाता है और उस के स्थान पर कोई अन्य चमत्कारकारक अर्थ अभिव्यक्त होने लगता है तब वहा पर वाक्य-गत अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य अविवक्षित वाच्य-ध्वनि कही जाती है। बिहारी सतसई में ऐसे उदाहरण अधिकतर नेत्रो के वर्णन में मिलते है।

नेहु न, नैननु कौं कछू उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नितप्रति रहे, तऊ न प्यास बुझाइ॥

स्नेहन कर्म किसी मनुष्य का ही होता है और उसके बिगड जाने पर उसी को बाधा उत्पन्न होती है। नेत्र का स्नेहन कर्म बाधित है। उसमे प्रेम की अधिकता, विरह-वेदना की तीव्रता और उपचार की अनिवार्यता व्यक्त होती है। इसी प्रकार —

(१) लाज-गरब-आलस-उमग भरे नैन मुसकात।
(२) बेधक अनियारे नयन, बेधत करि न निषेधु।
बरबट बेधतु मो हियौ तो नासा कौ बेधु॥
(३) मैं तोसौं कंवा कह्यो, तू जिन इन्हे पत्याइ।
लगालगी करि लोइननु उर मैं लाई लाइ॥
(४) मोहूं सौं तजि मोहु, दृग चले लागि उहिं गैल।
छिनकु छ्वाइ छवि गुर-डरी छले छबीले छैल॥
(५) जसु अपनसु देखत नहीं देखत सांवल गात।
कहा करौ, लालच-भरे चपल नैन चलि जात॥
(६) नख-सिख-रूप-भरे खरे, तौं मांगत मुसकानि।
तजत न लोचन लालची ये ललचौंहीं बानि॥
(७) नैना नेकु न मानहीं, कितौ कह्यो समुझाइ।
तनु मनु हारैं हू हंसैं, तिन सौं कहा बसाइ॥
(८) डौंडी दै गुन रावरे कहत कनौडी दीठि।
(९) ढरे ढार, तेहीं ढरत; दूजै ढार ढरै न।
क्यों हू आनन आन सौं नैना लागत नैन॥
(१०) जदपि चबाइनु चीकनी चहति चहुं दिसि सैन।
तऊ न छाड़त दुहुन के हंसी रसीले नैन॥
(११) चित के हित के चुगल ये नित के होहिं नैन।
(१२) रहे निगोड़े नैन डिगि गहे न चेत अचेत।
हौं कुल कौ रिस को करौं ये मिसके हंसि देत॥

ऊपर जो दोहे उद्धृत किये गये है उनमें जिन गुणो, धर्मो , क्रियाओ का वर्णन किया गया है वे किसी मानव में ही सम्भव हो सकती है । उनका नेत्रो से सम्बन्ध बाधित है और इस प्रकार एक नवीन चमत्कार को उत्पन्न करने में कारण हो गया है । नेत्रो के अतिरिक्त अन्य प्रसगो में भी कवि ने अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-परक वाक्य लिखे है । नीचे कतिपय उदाहरण दिये जाते है :—

तो हीं, निरमोही, लग्यौ मो ही इहै सुभाउ ।
अनआए आवै नही, आए आवतु आउ ।।

किसी से प्रगाढ प्रेम के कारण सदा उस के साथ ही रहना और उस के बिना कही न आना-जाना किसी मनुष्य मे ही सगत हो सकता है । हृदय में यह बात ठीक नही हो सकती । अत वाच्यार्थ का बाध हो जाता है और उससे चमत्कार-पूर्ण इस सुन्दर अर्थ की अभिव्यक्ति होने लगती है "हे प्रियतम, मेरा मन सर्वदा तुम्हारा ही चिन्तन करता रहता है । जब तक तुम मेरे निकट नही आते तब तक मेरा मन कही नही लगता । एक व्याकुलता सी बनी रहती है । मेरी दशा पर तरस खाकर तुम्हे शीघ्र ही मेरे पास आना चाहिये ।" हृदय के लगने और प्रियतम के साथ ही आने-जाने से भावना की तीव्रता अभिव्यक्त होती है । चमत्कार का भावाभिव्यक्ति मे पर्यवसान होने के कारण सौन्दर्य व्यग्यार्थ में ही है । अत यहा पर वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है । दूसरा उदाहरण —

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन मांह ।
देखि दुपहरी जेठ की छांहौं चाहति छाँह ।।

इच्छा करना चेतन धर्म है, वह छाया मे सम्भव नही । अत बाधित होकर आतप की भीषणता को अभिव्यक्त करता है । इसी प्रकार —

तत्री-नाद, कवित्त रस, सरस राग, रति-रग ।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूडे सब अग ।।

डूबना और तरना सरोवर इत्यादि के जल में ही सम्भव है । तन्त्रीनाद इत्यादि मे नही । अत डूबने और तरने का अर्थ बाधित होकर पूर्ण रसास्वादन का परिचायक हो जाता है । एक और उदाहरण :—

करी विरह ऐसी, तऊ गैल न छाड़तु नीचु ।
दीनें हू चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु ।।

गली न छोडना और निरन्तर आना किसी चेतन में ही सम्भव है विरह में नही । इसी प्रकार चश्मा लगाकर ढूंढना भी चेतन धर्म ही है । मृत्यु का धर्म नही इस प्रकार इन शब्दो के अभिधेयार्थों का बाध होकर कृशता की अधिकता के लक्ष्यार्थ से विरह-वेदना की निरन्तरता, भीषणता और नायक के सम्मिलन की अनिवार्यता अभिव्यक्त होती है । निम्नलिखित वाक्यों में भी इसी प्रकार वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है :—

(१) आई जावन लेन जिय नेहै चली जवाइ।
(२) को जाने ह्वैहै कहा; ब्रज उपजी अति आगि।
(३) तजतु अठान न, हठ पर्‌यो सठमति, आठौ जाम।
भयौ वामु वा वाम कौं रहै कामु बेकाम॥
(४) चलत-चलत लौं लै चले सब सुख संग लगाइ।
ग्रीषम-बासर सिसिर-निसि प्यौ मो पास बसाइ॥
(५) सकुचि सुरत-आरंभ हीं बिछुरी लाज लजाइ।
ढरकि ढार ढुरि ढिग भई ढीठि ढिठाई आइ॥
(६) खुलति न मोमन बंधि रही वहै अधखुली दीठि।
(७) मनु ह्वै जात अजौं वहै उहि जमुना के तीर।

मन तो सर्वदा वही रहता ही है। अतएव "मन वही हो जाता है" कहना किसी प्रकार भी सगत नही हो सकता। अत इस अर्थ का बाध हो जाता है और इस का लक्ष्यार्थ निकलता है "मन की भावना या विचार" इस से व्यजना होती है प्रेम की उत्कटता और वियोगजन्य दु ख की अधिकता।[1]

(८) बढ़त निकसि कुच कोर-रुचि, कढत गौर भुजमूल।
मनु लुटि गौ लोटनु चढ़त चोटत ऊचे फूल॥
(९) प्रानपिया हिम मे बसो नख रेखा ससि भाल।
भजौ दिखायौ आइ यह हरि-हर-रूपु रसाल॥

यह कथन खण्डिता नायिका का नायक से है। कोई भी स्त्री अपने प्रियतम के परस्त्री सभोग चिन्हो से युक्त होने पर उसकी प्रशसा नही कर सकती और न इस बात पर हर्ष ही प्रगट कर सकती है। अत नायिका के द्वारा नायक की यह प्रशसा बाधित हो जाती है और विपरीत लक्षणा मे उसका लक्ष्यार्थ निकलता है—"तुम मुझ से सच्चा प्रेम नही करते। तुम्हारे मस्तक मे पर स्त्री सभोग-सूचक नखक्षत बना ही हुआ है। तुम्हारा इस प्रकार आना मुझे अच्छा नही लगता।" इसका व्यग्यार्थ होगा—"तुम बडे धूर्त और छली हो, सर्वदा मुझ से झूठे प्रेम का बहाना किया करते हो और मुझ से छिपाकर दूसरी स्त्री से प्रेम करते हो। आज तुम्हारी चोरी खुल गई है। अब मै तुम्हारे धोखे में कभी नही आ सकती।"[2]

(१०) अर तें टरत न वर-परै, दई मरक मनु मैन।
होड़ाहोड़ी बढ़ि चले चितु, चतुराई, नैन॥

१—मिलाइये—"आत्मीयाम् मतिमारथाय" काव्यप्रकाश।

२—मिलाइये—"उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥ काव्यप्रकाश
इसी प्रकार:—पावन पीक अंजन अधर.....।
कत अटकत निधरक फिरो.....।
उर मानिक की उर बसी.....।

(११) रहि न सक्यौ, कसु करि रह्यौ, बसकरि लीनौ मार।
भेदि दुसार कियौ हियौ तन-दुति भेदै सार॥
(१२) बेसरि-मोती, धनि तुही को बूझै कुल, जाति।
पीबौ करि तिय-ओठ को रसु निधरक दिन राति॥
(१३) दीठि परस उठि पीठि के पुलके कहे पुकारि।
(१४) चुप करि ये चारी करत सारी परी सलोट।
(१५) कहे देत यह प्रगट ही प्रगट्यो पूस पसेउ।

यदि उपर्युक्त उदाहरणो का विश्लेषण किया जावे तो ज्ञात होगा कि ५ प्रकार से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य हुआ है—(१) मानवगत गुण, कर्म, स्वभाव का अचेतन वस्तु के सम्बन्ध मे वर्णन। (२) मूर्तगत गुण-कर्म स्वभाव का अमूर्त वस्तु के प्रसग मे वर्णन। (३) मूर्त-धर्म का अमूर्त के विषय में वर्णन। (४) प्रत्यक्ष सिद्ध अतएव कथन के लिये अनुपादेय वस्तु का सौन्दर्याभिव्यजन के लिये उपादान और (५) वक्ता की भावना के प्रतिकूल कथन। प्राचीन कविगण इन्ही ५ प्रकारो से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि का उपादान करते थे। और लक्षण ग्रथो के उदाहरणो का विश्लेषण करने से इन्ही ५ प्रकारो का पता चलता है। बिहारी ने इन सभी प्रकारो का स्वच्छन्दतापूर्वक प्रयोग किया है और सभी के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में अधिगत हो जाते है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि का दूसरा भेद है अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि। इसमें अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के समान वाच्यार्थ का सर्वदा परित्याग नही होता। वाच्यार्थ अपने प्रयोग-सामर्थ्य से वाच्येतर अर्थ को अभिव्यक्त करता है। साथ ही अपने अर्थ का भी सर्वथा परित्याग नही करता। दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि अर्थान्तरसक्रमितवाच्य उपादान लक्षणा मे होता है और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य लक्षणलक्षणा मे। अर्थान्तरसक्रमित वाच्य का कही तो इस रूप मे प्रयोजन होता है कि किसी एक समूह से प्रकरणानुकूल दो-एक का उपादान कर दिया जाता है और उससे सम्पूर्ण समूह का अवगम हो जाता है और कही-कही सामान्य प्रत्यक्ष बात का इस रूप में उपादान किया जाता है कि उससे अर्थान्तर की अभिव्यक्ति चमत्कारकारक रूप में हो जाती है। उदाहरण के लिये —

कौन भांति रहिहै विरद अब देखिबो, मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥

भगवान् ने केवल गीध को ही नही तारा किन्तु अनेक पापियों की कथाये पुराणो में पाई जाती है जिनका उद्धार भगवान् ने किया है। फिर केवल "गीध को तारकर भगवान् गिध गये है" यह कथन सगत नही हो सकता। अतः बाधित होकर इसका लक्ष्यार्थ हो जाता है "निम्नकोटि के पापी।" इसका व्यंग्यार्थ होता है—"हे भगवान् आपने जिन पापियो का उद्धार किया था वे वास्तविक पापी नही थे, उनका

तारना सरल था। वास्तविक पापी तो मै हू। जब आप मुझे तार देगे तभी आप वास्तविक रूप में पतितोद्धारक कहे जावेगे।" इस प्रकार बिहारी की दीनता और विनय गीध शब्द से ध्वनित होते है, साथ ही "गीध" शब्द के अर्थ का सर्वथा परित्याग भी नही होता। क्योकि भगवान् ने गीध को भी तारा ही था। अतएव यहा पर पदगत-अर्थान्तरसक्रमितवाच्य ध्वनि है। इसी प्रकार :—

रही पकरि पाटी सु रिस भरे भौंह चितु नैन।

यहा पर "भरे भौह चितु नैन" का प्रयोग क्रोध की चेष्टाओ को अभिव्यक्त करने के लिये किया गया है। इस प्रकार यहा पर अर्थान्तर सक्रमित वाच्य-ध्वनि है। दूसरा उदाहरण :—

बड़ बोली बलि होत कत बड़े दृगन के जोर।

यहा पर "बडे दृगनु के जोर' शब्द का प्रयोग सौन्दर्याभिमान के अर्थ में किया गया है। इसी प्रकार :—

अब तजि नांउ उपाव कौ, आए पावस-मास।
खेलु न रहिबो खेम सौं केम-कुसुम की बास॥

यहा पर "केम" (कदम्ब) के पुष्पो का उपादान वर्षाकाल के समस्त उद्दीपक पुष्पो के उपलक्षण के रूप में हुआ है।

जहा पर इस प्रकार का उपादान शब्द तक सीमित न हो अपितु वाक्य में व्यापक हो वहा पर वाक्य गत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य होता है। जैसे :—

घर-घर तुरकिनि, हिंदुनी देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर, चुरी तै राखो, जयसाहि॥

यहा पर "चादर और चूडी की रक्षा की" यह वाक्य सोहाग की सभी वस्तुओ की रक्षा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार :—

जपमाला, छापैं, तिलक सरै न एकौ काम।
मन-काचैं नाचैं वृथा, साचैं राचैं रामु॥

यहा पर "जप माला, छापा, तिलक से एक भी काम नही चलता" यह कथन समस्त बाह्याडम्बरो के प्रतिषेध में प्रयुक्त हुआ है।

कही-कही सामान्य प्रत्यक्षोक्ति कथन की शक्ति को बढाने के लिये प्रयुक्त की जाती है। जैसे :—

तुहू कहति, हौं आपु हूं समुझति सबै सयानु।
लखि मोहनु जौ मनु रहै, तौ मन राखौं मानु॥

यहा पर "तू कहती है" इस कथन की कोई आवश्यकता ही नही। वह तो सामने कह रही है। इसी प्रकार :—"मै जानती हू" इस कथन की आवश्यकता नही। क्योकि व्यवहार से यह व्यक्त हो सकता है कि वह जानती है। अतएव दोनो उक्तियों का बाध हो जाता है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है—"तुम बार-बार हठ

'पूर्वक समझाती हो और मैं तुम्हारी बात समझती भी भली-भाँति हूं।" इससे प्रेम की उत्कटता और कृष्ण की आकर्षकता की अधिकता अभिव्यक्त होती है। इस उदाहरण तथा "मनु ह्वै जात अजौ वहै" इस उदाहरण में अन्तर यह है कि सखी के कहने का सर्वथा परित्याग नही होता जबकि मन के वही हो जाने का सर्वथा परित्याग हो जाता है। यदि मन वैसा हो गया तो इसका आशय यही है कि इसके पहले मन वही नही रह गया था जो कि प्रत्यक्षतः बाधित है।

इस प्रकार यहा पर प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण दिये गये है। लक्षणा का प्रयोग तथा अभिधावृत्ति का परित्याग जिस प्रयोजन से होता है उसकी प्रतीति व्यजनावृत्ति के आधार पर होती है। यदि काव्य-सौन्दर्य का पर्यवसान व्यग्य प्रयोजन मे ही हो तो उसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते है, जिसके दोनो भेदो (अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और अर्थान्तर सक्रमित वाच्य) के उदाहरण दिये जा चुके है। प्रयोजनवती लक्षणा से भिन्न एक और लक्षणा होती है, जिसको निरूढा लक्षणा कहते है। कभी-कभी किसी शब्द का अपने लाक्षणिक अर्थ में इतना अधिक प्रयोग हो चुका होता है कि लोग उसकी लाक्षणिकता को ही भूल जाते है। प्रयोग-बाहुल्य के कारण लाक्षणिक अर्थ शब्द से सम्बद्ध होकर वाच्यार्थ के समान प्रयुक्त होने लगता है और शक्ति भ्रम से ही उसका प्रयोग-प्राचुर्य भी हो जाता है। इस प्रकार की लक्षणा को निरूढा लक्षणा कहते है। इसका प्रयोग कभी किसी प्रयोजन से नही होता। अतएव इसमे व्यजनीयता भी नही होती, किन्तु अभिनव के मत के अनुसार कही-कही कवि निरूढा लक्षणा का प्रयोग करते हुए भी उसके मूल-अर्थ की ओर ध्यान आकर्षित करता है और इस प्रकार शब्द की लाक्षणिकता की ओर सकेत किया करता है। ऐसी दशा मे निरूढा लक्षणा भी व्यजक हो जाती है। उदाहरण के लिये सलोने शब्द को लीजिए। इस शब्द का अर्थ है "नमकीन", नमकीन भोजन खाने मे अच्छा लगता है और आनन्ददायक भी होता है। इन्ही धर्मो को लेकर सलोने शब्द का प्रयोग रूप के लिये प्रचुरता के साथ होने लगा। बिहारी ने इस शब्द का प्रयोग सामान्य निरूढा लक्षणा के रूप मे भी किया है और इसकी लाक्षणिकता की ओर ध्यान आकृष्ट कर व्यजक रूप मे भी किया है। साधारण निरूढा लक्षणा के रूप मे —

लखि, लोने लोइननु कै कोइनु, होइ न आजु।
कौन गरीब निवाजिबौ कित तूठ्यो रतिराजु॥

इसके प्रतिकूल निम्नलिखित पद्य में लोने शब्द का लाक्षणिकता तथा व्यजकता के रूप मे प्रयोग हुआ है :—

कितौ मिठास दयौ दई इतैं सलोने रूप।

इसी प्रकार :—

(१) त्यौं-त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं-ज्यौं पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की जु न चख तृषा बुझाइ॥

(२) साजे मोहन-मोह कौं, मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं, उलटे परे टोने लोने नैन॥

वशीकरण के लिए जिस टोने का प्रयोग किया जावे यदि वह उल्टा पड़ जाता है तो प्रयोक्ता पर ही उसका प्रभाव पडता है, प्रयोज्य पर नही। नेत्र "नमकीन" हैं, मानो कृष्ण को बस में करने के लिए नमक से युक्त टोने सजाये गये है। किन्तु, उनका प्रभाव उल्टा हो जाने से नायिका स्वय ही, व्याकुल होने लगी है। लक्षणामूलक होने के कारण इसे भी अविवक्षित वाच्य ध्वनि ही कहेगे। यही बिहारी की लक्षणामूलक ध्वनि का सक्षिप्त परिचय है।

२. विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि :—

उपर्युक्त अविवक्षित वाच्य अथवा लक्षणा मूलक ध्वनि से भिन्न एक दूसरे प्रकार की ध्वनि और होती है, जिसे विवक्षितान्यपरवाच्य अथवा अभिधामूलक ध्वनि कहते है। सामान्यतया लक्षणा और अभिधामूलक ध्वनियो मे बाध का प्रतिसधान अवश्य होता है और तात्पर्यानुपपत्ति के कारण वाच्य-अर्थ के असगत हो जाने पर उस असगति को मिटाने के लिए उसी वाच्यार्थ से सम्बद्ध एक दूसरा अर्थ ले लिया जाता है। साथ ही इस प्रकार की अर्थाभिव्यक्ति में कुछ सौन्दर्य अवश्य होता है। यदि सामान्य रूप में वाच्यार्थ के द्वारा उसी बात का कथन किया जाता, तो उस सौन्दर्य का प्रतिभास नही हो सकता था। इसे ही लक्षणा का प्रयोजन कहते हैं। प्रयोजन की प्रतिपत्ति व्यजना-वृत्ति के द्वारा ही होती है, और उसी में रमणीयता का पर्यवसान होने पर लक्षणामूलक अथवा अविवक्षित वाच्य ध्वनि कही जाती है। इसके प्रतिकूल विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि में न तो तात्पर्यानुपपत्ति होती है, न बाध का प्रतिसंधान, और न मध्यवर्ती वाच्यार्थ सम्बद्ध लक्ष्यार्थ की प्रतीति। इसमें वाच्यार्थ स्वत पूर्ण तथा सगत होता है, किन्तु सहृदयता के कारण परिस्थिति के प्रकाश में एक अन्य अर्थ की प्रतीति होने लगती है जिसके लिए आवश्यक नही है कि वह दूसरा अर्थ-वाच्यार्थ से सर्वथा सम्बद्ध ही हो। इसी को अभिधामूलक ध्वनि कहते है। इसमें वाचाथ विवक्षित होता है, इसीलिए ध्वनिकार ने इसे विवक्षित वाच्य ध्वनि के नाम से अभिहित किया है। किन्तु विवक्षित-वाच्य शब्द कुछ भ्रामक है। इस शब्द की अतिव्याप्ति ऐसे स्थान पर भी पहुच जाती है, जहा वाच्य तो विवक्षित हो, किन्तु व्यग्यार्थ बिल्कुल न हो। इसी भ्रामकता का परिहार करने के लिये आनन्दवर्धन ने इस शब्द में 'अन्यपर' और जोड दिया, और इसका नाम विवक्षितान्यपरवाच्य कर दिया।

विवक्षितान्यापर वाच्य के स्थूल रूप मे तीन भेद हो सकते है—(१) रस ध्वनि, (२) वस्तु-ध्वनि और (३) अलकार-ध्वनि। किन्तु रस-ध्वनि के प्रतिभास में शेष दो ध्वनियो के प्रतिभास की अपेक्षा कुछ मौलिक अतर है। रस-ध्वनि की प्रतीति में वाच्यार्थ के व्यवधान का अनुभव नही होता, किन्तु शेष दो ध्वनियो की प्रतीति में

वाच्यार्थ के व्यवधान का अनुभव हो जाता है। उदाहरण के लिए तुलसी के रामचरित-मानस में जब हम पुष्पवाटिका के अदर राम और सीता की प्रणय-गर्भित चेष्टाओ का परिशीलन करते है उस समय प्रणय का प्रतिभास हमें शब्द-श्रवण समकाल में ही होता चलता है। यद्यपि वहा पर एक सूक्ष्म व्यवधान होता अवश्य है। पहले हमें शब्दार्थ की अवगति होती है, और बाद मे प्रेम, क्रोध, दया, भय इत्यादि भावो का परिज्ञान होता है। किन्तु यह व्यवधान इतना सूक्ष्म होता है कि इसका लक्षित कर सकना साधारण अवस्था में सर्वथा असभव होता है। केवल विचार दशा में ही उस क्रम का अनुसधान किया जा सकता है। इसके प्रतिकूल वस्तु और अलकार ध्वनियो में क्रम की स्पष्ट प्रतीति होती है। सामान्य रूप में ही हमें पहले वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और फिर प्रकरणादि के सहकार से द्वितीय अर्थ (व्यग्यार्थ) का प्रतिसधान होता है। अतएव आचार्यो ने विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक) ध्वनि के दो भेद किये है—(१) असल्लक्ष्य क्रम-व्यग्य अथवा रस-ध्वनि और (२) सल्लक्ष्य-क्रम-व्यग्य अथवा वस्तु और अलकार ध्वनि।

असल्लक्ष्य क्रम-व्यग्य या रस-ध्वनि अनेक प्रकार की होती है। इसमें रस-ध्वनि, भाव-ध्वनि, रसाभास-ध्वनि, भावाभास-ध्वनि, भावोदय, भावशान्ति, भाव-शवलता इत्यादि अनेक प्रकार सन्निविष्ट हो जाते है। इन भेदो के उपभेदो और अग-प्रत्यगो को मिला कर पूरा रस-शास्त्र एक अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ है और किसी एक उपभेद अथवा अग का पूर्ण प्रतिसधान कर सकना तथा एक ही अग के समस्त भेदो का सकलन कर सकना सर्वथा असभव है। अतएव सुविधा के लिये इस समस्त रस-परम्परा को असल्लक्षयक्रमव्यंग्य के नाम से अभिहित कर दिया गया है। अनेक आचार्यो ने जिनमें अभिनव गुप्त पादाचार्य तथा विश्वनाथ महापात्र जैसे आप्त व्यक्ति भी सम्मिलित है। इस असल्लक्ष्य क्रम-व्यग्य अथवा रस-ध्वनि को ही काव्य-आत्मा माना है। शेष दो वस्तु तथा अलकार ध्वनियो को रस-ध्वनि का पर्यवसायी होने पर काव्य की सीमा में सन्निविष्ट किया गया है। अतएव रस-ध्वनि का विवेचन अलग से ही एक-दूसरे अध्याय में किया जावेगा। प्रस्तुत अध्याय में हम सल्लक्ष्य-क्रम व्यग्य का स्वरूप और बिहारी में उसके प्रतिफलन पर विचार करेगे।

कभी-कभी कवि जान-बूझकर द्वि-अर्थक शब्दो का प्रयोग किया करता है। उनमें से एक ही अर्थ प्रकरणानुकूल होता है और सर्वसाधारण का ध्यान भी उसी अर्थ की ओर जाया करता है। द्वि-अर्थक शब्दों के आधार पर पूरे वाक्य से एक दूसरा और अर्थ प्रतिभासित हो जाता है, जो न तो प्राकरणिक ही होता है और न प्राकरणिक अर्थ से अनिवार्य रूप से अभिसम्बद्ध ही होता है। किन्तु इस अर्थ का प्राकरणिक अर्थ में सहकार अवश्य होता है और यह अर्थ प्रथम अर्थ में कुछ विशेषता का आधान कर दिया करता है। यह एक ऐसी विशेषता होती है, जिसको

सहृदय रहस्यवेत्ता ही समझ सकते है। सर्वसाधारण के लिये उसका ज्ञान सर्वथा अशक्य होता है। ऐसे स्थान पर द्वितीय अर्थ की अभिव्यक्ति में द्वि-अर्थक शब्दो का प्रयोग ही कारण होता है। यदि उन शब्दो के स्थान पर उनके पर्यायवाचक शब्दो का प्रयोग कर दिया जावे तो दूसरे अर्थ की प्रतीति हो ही न सकेगी। अत. इस प्रकार के सल्लक्ष्य-क्रम-व्यग्य को शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहते है।

शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि से भिन्न एक और ध्वनि होती है जिसे अर्थ-शक्ति-मूलक-ध्वनि कहते है। अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि मे द्वि-अर्थक शब्दो का प्रयोग नही किया जाता और न ऐसे ही शब्द रखे जाते है, जिनको पर्यायो के द्वारा न बदला जा सके। यह ध्वनि ऐसे स्थान पर भी होती है जहा वक्ता जो कुछ कहता है, उसमे भिन्न एक अन्य अर्थ उसी उक्ति के आधार पर भी अभिव्यक्त हो जाता है। वैसे तो शब्द और अर्थ दोनो का समवाय सम्बन्ध है। अत. जहा शब्द अभिव्यजक होता है, वहा अर्थ का सहकार भी अनिवार्य होता है और जहा पर अर्थ अभिव्यजक होता है, वहा शब्द का सहकार भी अवश्य ही हुआ करता है। ऐसी दशा में व्यपदेश में कारण प्रधानता होती है। जहा अभिव्यजक क्रिया में शब्द की प्रधानता होती है, वहा शब्द शक्तिमूलक ध्वनि कही जाती है और जहा अर्थ की प्रधानता होती है वहा अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि मानी जाती है। शब्द और अर्थमूलक ध्वनियो का सबसे बडा परिचायक अन्तर यह है कि शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि मे अभिव्यजक शब्दो के पर्याय रख देने से ध्वनि समाप्त हो जाती है किन्तु अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि में पर्याय रख देने से भी ध्वनि के प्रतिभास में किसी प्रकार का अन्तर नही आता।

पहले कहा जा चुका है कि अभिधामूलक ध्वनि में लक्षणामूलक ध्वनि की भाति बाध प्रतिसधान इत्यादि की आवश्यकता नही रहती। इसका अर्थ यह नहीं है कि अभिधामूलक ध्वनि मे किसी प्रकार का आधार अपेक्षित ही नही होता। जिस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि में बाध-प्रतिसधान इत्यादि की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार अभिधामूलक ध्वनि में प्रकरण इत्यादि का सहकार अपेक्षित होता है। काव्यप्रकाशकार ने कतिपय आधारो का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधे ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥

जब प्रतिभाशाली व्यक्तियो को एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है तब उस अर्थ की प्रतीति में जो प्रक्रिया कारण होती है उसी प्रक्रिया को व्यजना कहते है। जिन विशेषताओ के द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति होती है वे ये हैं—(१) वक्ता की विशेषता, (२) बोद्धव्य (सबोध्य) व्यक्ति की विशेषता, (३) काकु या ध्वनि विकार, (४) वाक्य की विशेषता, (५) वाच्यार्थ की विशेषता, (६) वक्ता और बोद्धव्य से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति की निकटता, (७) प्रस्ताव या प्रकरण

की विशेषता, (८) देश की विशेषता, (९) काल की विशेषता, (१०) उसी प्रकार किसी अन्य तत्त्व की विशेषता।

जिस अर्थ से दूसरे अर्थ की अवगति होती है वह वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य इन तीनो अर्थों में कोई भी हो सकता है। उपर्युक्त आधार सभी ध्वनियों में हो सकते हैं, किन्तु इनसे विशेष रूप से अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनियो की व्यजना होती है। बिहारी ने उक्त सभी आधारो का प्रयोग किया है। विवक्षितान्यपरवाच्य संल्लक्ष्य-क्रम व्यग्य ध्वनि के भेदोपभेदो की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व बिहारी में उक्त आधारो का अनुसन्धान कर लेना अप्रासगिक न होगा।

(१) वक्ता की विशेषता से ध्वनि का उदाहरण जैसे :—

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन मांह।
देखि दुपहरी जेठ की छांहौं चाहति छांह॥

यहा पर व्यजना यह निकली है कि "इस समय दोपहरी का आतप अत्यन्त असह्य है, कोई भी व्यक्ति इस समय बाहर नही निकलना चाहता।" इस व्यंग्यार्थ से एक दूसरी व्यजना यह निकलती है कि "हे प्रियतम, यह समय बाहर जाने का नही है, आओ हम लोग घर के अन्दर ही बैठ कर सुरत-क्रीडा का आनन्द ले"। यह व्यंजना तभी निकल सकती है, जबकि हमें यह ज्ञात हो जावे कि कहने वाली कोई कामिनी है यदि कहने वाला कोई अन्य व्यक्ति होता तो केवल पहली ही व्यजना निकलती और सामान्य रूप में ग्रीष्म का ही वर्णन रह जाता। इस प्रकार यहां पर भी वक्ता की विशेषता से व्यजना होती है। यद्यपि यहा पर बोद्धव्य की भी विशेषता हो सकती है, क्योकि यदि नायिका नायक से न कह कर ये शब्द किसी अन्य से कहती तो ऐसी व्यजना नही हो सकती थी। तथापि यहां पर चमत्कार वक्ता की विशेषता में ही है क्योकि इससे नायिका का औत्सुक्य अभिव्यक्त होता है। इसी का दूसरा उदाहरण :—

कारे-बरन डरावने कत आवत इहिं गेह।
कै वा लखौं, सखी, लखे लगै थरथरी देह॥

इससे यह व्यंजना निकलती है कि नायिका भगवान् कृष्ण के प्रेम से प्रभावित है और कृष्ण को देखकर नायिका के अन्दर कम्प सात्विक का आविर्भाव हो जाता है। नायिका उसे भय के कारण उद्भूत हुआ बतला कर अपने प्रेम को सखी से छिपाना चाहती है। यह भी वक्ता की विशेषता से ही ध्वनि निकलती है। इसी विषय का तीसरा उदाहरण है :—

जदपि लौंग ललितौ, तऊ तूं न पहिरि इक आंक।
सदा सांक बढ़ियै रहै, रहै चढ़ी सी नाक॥

इससे यह व्यजना निकलती है कि नायक अपराधी है। उसके अपराध के प्रकट हो जाने के कारण नायिका ने क्रोध किया है और उसकी नाक चढ़ गई है।

नायक भी उसके क्रोध को समझता है, किन्तु यदि वह यह कह दे कि उसे नायिका के क्रोध का पता है तो उसकी चोरी खुल जावे। अतः वह नाक चढ़ी होने का कारण लोग को बतलाकर अपना अपराध छिपाना चाहता है। यह ध्वनि भी वक्ता की विशेषता से ही निकलती है। यद्यपि बोद्धव्य की विशेषता भी कही ही जा सकती है तथापि नायिका के क्रोध की अपेक्षा नायक के बहाना बनाने में अधिक चमत्कार है, अतः वक्ता की ही विशेषता माननी चाहिये।

(२) बोद्धव्य (सम्बोध्य) की विशेषता, जैसे :—

द्वैज-सुधादीधिति-कला यह लखि, दीठि लगाइ।
मनौ अकास-अगस्तिया एकै कली लखाइ॥

नायिका ने नायक से आश्विन शुक्लपक्ष की द्वितीया के दिन अगस्त के पेड के नीचे सन्ध्याकाल में मिलने का वादा किया था। वही समय आ गया है, पर नायिका सखियो के बीच में बैठी है। मध्यस्थ सखी उसे अपने सकेत का स्मरण कराना चाहती है। अतएव वह इन शब्दो का प्रयोग करती है इसका व्यग्यार्थ यह है—"तुमने इसी समय अगस्त के पेड के नीचे नायक से मिलने का वादा किया था। द्वितीया का चन्द्रमा निकल आया है। नायक तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा होगा। तुम इन सखियो को किसी-न-किसी बहाने से यहा से हटा दो और चलने की शीघ्रता करो। अन्यथा नायक निराश होकर वहा से चला जावेगा और तब तुम्हे पश्चात्ताप करना पडेगा।" यहा पर यह व्यजना इसीलिये निकलती है कि जिससे कहा जा रहा है वह अपने प्रियतम को गुप्त रूप से अगस्त के पेड़ के नीचे मिलने का संकेत दे चुकी है। अतएव यह व्यजना बोद्धव्य की विशेषता के कारण हुई है। दूसरा उदाहरण :—

मैं बरजी कै बार तूं, इत कित लेति करौट।
पखुरी लगै गुलाब की परि है गात खरौट॥

नायिका मुग्धा है। वह प्रियतम की ओर मुंह घुमा कर नही लेटती, किन्तु उसकी ओर पीठ कर लेती है। चारपाई पर ऊपर की ओर तकिये के पास गुलाब के फूल रखे हुए है। सखी नायिका को नायक की ओर मुंह करके लेटने की प्रेरणा देना चाहती है। किन्तु नायिका यो ही मान नही सकती। अतएव वह गुलाब के फूलो की पखडियों से कपोलों पर खरोच आने का भय दिखला कर उसको नायक की ओर से प्रतिकूल दिशा में मुह फेरने से रोकती है। यहा पर वाच्यार्थ है गुलाब की पंखुडी से कपोल पर खरोंच लग जाने का भय दिखलाना तथा व्यंग्यार्थ है नायिका का मुख नायक की ओर फेरने की चेष्टा करना। यह व्यंग्यार्थ इसीलिये निकलता है कि नायिका मुग्धा है और वह नायक की ओर करवट लेकर लेटना नही चाहती। इस प्रकार यहा पर बोद्धव्य की विशेषता से व्यजना निकलती है।

(३) काकु अथवा ध्वनि के विकार से व्यजना का उदाहरण, जैसे :—

याकें उर औरें कछू लगी विरह की लाइ।
पजरें नीर गुलाब कें, पिय की बात बुझाइ ॥

यहा पर "औरें कछू" शब्द का उच्चारण विशेष प्रकार की भगिमा से किया गया है। इसमे यह व्यग्यार्थ निकलता है—"सखियो ! तुम जो इसकी ज्वरादि की चिकित्सा करती हो वह व्यर्थ है। यदि तुम इसका सन्ताप शान्त करना चाहती हो तो इसे इसके प्रियतम से मिलाओ। यही इसका उपचार है अन्यथा यह ठीक नही हो सकती।" यह व्यजना 'औरें कछु' शब्द की कण्ठ ध्वनि से ही निकलती है। यहा पर इस काकु के गुणीभूत व्यग्य होने की शका उठाई जा सकती है। किन्तु गुणीभूतव्यग्यपरक व्यजना तो केवल यह होगी कि नायिका रोग मे नही किन्तु वियोग मे पीडित है। यह पीडा अन्य पीडाओ से विलक्षण है। किन्तु यहा पर नायक-प्रतिसन्धान के निर्देश की व्यजना उससे अतिरिक्त है। अतएव यहा पर ध्वनि-काव्य ही है, गुणीभूत व्यग्य नही।

(४) वाच्य से व्यजना का उदाहरण जैसे .—

तीज-परव सौतिनु सजे भूषण वसन सरीर।
सबै मरगजे-मुह करीं इही मरगजे चीर ॥

यहा पर 'इही' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यहा पर व्यग्यार्थ यह है कि नायक ने नायिक के साथ रात में सुरत-क्रीडा की है। जिससे उस का चीर अत्यन्त दलमल और मसल गया है। नायिका सौभाग्य के गर्व से उसे ही पहिरे घूम रही है। वह उस चीर को अलग नही करना चाहती, जिससे भूषण-वस्त्र धारण करके भी सपत्नियो के मुख ईर्ष्या के कारण मलिन पड गये है। यहा पर वाच्य सिद्ध्यग गुणी-भूत व्यग्य की शका हो सकती है। किन्तु वाच्य की सिद्धि तो नायिका के सौन्दर्यातिशय-ख्यापन से भी हो सकती है—"नायिका इतनी रूपवती है कि चाहे जैसा मलिन वस्त्र धारण कर ले किन्तु उसके सामने अच्छे-अच्छे वस्त्रा-भूषण धारण करने वाली सुन्दरियो की मुख-कान्ति मलिन पड जाती है। इस प्रकार नायक से रात्रि में सम्भोग और उस से उत्पन्न सौभाग्य-गर्व ये दोनो अतिरिक्त ही रह जाते है। अतएव यहा पर वाच्यसिद्ध्यग गुणीभूत व्यग्य न होकर ध्वनि-काव्य ही कहा जावेगा। यद्यपि वाक्य में ही ध्वनि प्राय: सर्वत्र होती है तथापि यहा 'पर इही' शब्द कुछ ऐसे ढग से प्रयुक्त हुआ है कि उस के आधार पर उक्त व्यजना निकल आती है इस प्रकार यहा पर व्यजना वाक्य की शक्ति से ही निकलती है।

(५) वाच्यार्थ की शक्ति से व्यजना का उदाहरण —

घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल-तरु-मिलित मालती-कुंज ॥

ये शब्द नायिका ने नायक से सुरत की प्रेरणा देने के लिये कहे हैं कि इस कुंज मे हम लोगों की सुरत-क्रीडा बडी स्वच्छन्दता और आनन्द के साथ सम्पन्न हो सकती है। इसके विभिन्न वाच्यार्थों से ध्वनि इस प्रकार निकलती है—(१) "मालती कुंज भौंरो के समूह से भरा हुआ है" कहने का आशय यह है कि इस समय मालती पूर्ण रूप से फूली हुई है, उसकी सुगन्ध चारो ओर उड रही है जिससे दूर-दूर से भौरे उस पर आकर्षित होकर आते है। ऐसे सुन्दर सुखदायक समय में रति का परित्याग करना ठीक नही। दूसरी बात यह है कि कुंज के चारों ओर भौरे लपटे हुए हैं, इससे ज्ञात होता है कि अभी तक वहा कोई गया नही है। यदि वहा कोई गया होता तो भौरो का लपटे रहना सभव नही था, ये भौरे अवश्य उड गये होते। तीसरी बात यह है कि कुंज में भौरे लपटे हुए है। इन भौरो के भय से किसी का शीघ्र ही यहा आ सकना सम्भव नही है। यह स्थान सर्वथा एकान्त है, अतएव यहा पर स्वच्छन्द आनद-केलि हो सकती है। (२) अलि पुंजो के लिये ललित विशेषण से यह ध्वनित होता है कि वहा पर भौरे उद्वेगकारक नही हैं। वे किसी को बाधा नही पहुचावेगे, प्रत्युत उनका वहां पर होना उद्दीपक ही है। (३) "यमुना तीर" कहने का आशय यह है कि यह कुंज ऊचे स्थान पर स्थित है, मार्ग नीचे से होकर जाता है। अतएव न तो यही आशंका की जा सकती है कि निकलते व्यक्तियों में कोई हम लोगो की सुरत-क्रीडा को सर उठा कर देख लेगा और न यही भय है कि कोई व्यक्ति हम लोगों की बातचीत सुन लेगा। दूसरी बात यह कि पानी लेने का बहाना करके मैं वहा आ भी सकती हू। (४) "तमाल तरु मिलत मालती कुंज" का व्यग्यार्थ यह है कि यह स्थान उपभोग के लिये उपयुक्त है। यहा तक कि जड़-जगत् में भी प्रेमलीला के दर्शन होते हैं। मालती भी आनन्द-विभोर होकर तमाल से चिपट रही है। इस से हमें भी ऐसा करने की प्रेरणा प्राप्त हो रही है। "मालती चिपट रही है" (से ध्वनि होती है) मैं तुम्हारे रमणीय मुख कमल को देख कर कामोन्मत्त हो गई हूँ। अतएव अब मैं तुम्हारे वियोग को सहन नही कर सकती हूँ। आज मै तुम्हारे साथ स्वच्छन्दतापूर्वक मन भर कर आनन्द-केलि करना चाहती हूँ। (५) घाम का व्यग्यार्थ है कि यह समय न तो ऐसा ही है कि कही जाया जावे और न ऐसा ही कि इस दोपहरी में लोग अधिकतर कही जावे-आवें, ऐसी दशा में तुम्हे भी यहां से जाना नही चाहिये। दूसरी बात यह है कि यह समय सुरत-क्रीडा के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। (आयुर्वेद के ग्रथो में सुरत-क्रीडा के लिये सब से अधिक उपयुक्त समय दो माने गये है—माघकी रात और जेठ की दोपहरी।) (६) घरीक का व्यंग्यार्थ यह है कि तुम्हें मेरी अधिक प्रतीक्षा नही करनी पडेगी। तुम चलो, मैं अभी आ रही हूँ। इस प्रकार यहां पर वाच्य-सामर्थ्य से सम्भोग की प्रेरणा की ध्वनि निकलती है। इसी प्रकार :—

सरस कुसुम मंडरातु अलि, न झुकि झपटि लपटातु ।
दरसत अति सुकुमारु तनु, परसत मनु न पत्यातु ॥

इससे यही ध्वनि निकलती है कि "नायिका अत्यन्त कोमल है। तुम्हें उसके साथ सम्भोग करने में उतावलापन नही दिखलाना चाहिये। अन्यथा नायिका उद्वेग को प्राप्त हो सकती है अथवा कोई अनर्थ हो सकता है।" यह व्यंजना भी वाच्यार्थ के बल पर ही निकलती है। एक और उदाहरण :—

लखि-लखि अंखियनु अधखुलिनु, आंग मोरि, अगिराइ ।
आधिक उठि, लेटति लटकि, आलस-भरी जम्हाइ ॥

यहा वाच्यार्थ के बल पर यह व्यंजना निकलती है कि—"नायिका ने नायक के साथ रात भर स्वच्छन्द विहार किया है।"

(६) अन्य संनिधि से व्यजना का उदाहरण :—

ऊंचे चितै सराहियतु गिरह कबूतर लेतु ।
झलकित दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहि हेतु ॥

यहा पर व्यंजना यही निकलती है कि "तुम मुझ से अपना प्रेम छुपाने की व्यर्थ चेष्टा मत करो मैं तुम्हारे प्रेम को समझ गयी हूं कि तुम इस कबूतर उडाने वाले नायक से प्रेम करती हो उसी को देख कर तुम्हारे अन्दर ये सात्विक भाव जागृत हुए है।" इस व्यजना में कारण नायक का निकटवर्ती होना है। यहा पर भी वाच्य-सिद्ध्यंग की शंका नही की जा सकती क्योंकि वाच्य तो प्रश्न में ही विश्रान्त हो जाता है। हर समय प्रफुल्लित रहना स्वभावगत भी हो सकता है या कबूतरो के उडने इत्यादि का नायिका को शौक भी हो सकता है,जिसके हर्ष के कारण उसमें ये चेष्टाये उत्पन्न हो गई हो। अतएव यहां पर नायक की सन्निधि के कारण ही उक्त व्यंजना मानी जावेगी। दूसरा उदाहरण :—

नहिं अह्नाइ नहिं जाय घर चितु चिहुट्यो तकि तीर ।
परसि फुरहरी लै फिरति बिहसति घसति न नीर ॥

यहा पर निकटवर्ती नायक के प्रति नायिका के अनुराग की व्यंजना होती है। यहाँ वाच्यार्थ का विश्राम तो इसी से हो जाता है कि नायिका शीत के भय से स्नान नही करती है और तट की सुन्दरता में मन लग जाने के कारण घर नही जाती है। बिहसना स्त्रियो का स्वभाव ही होता है। किन्तु नायक के निकटवर्ती होने से बिहंसना, फुरहरी से कर लौटना, जल में न घुसना इत्यादि अनुराग-चेष्टाओं के व्यंजक हो जाते है। यह अपनी चेष्टाओ से नायक को अपनी ओर आकर्षित करना चाहती है और स्वय भी उसके सान्निध्य का आनन्द लेना चाहती है।

(७) प्रस्ताव या प्रकरण से व्यंजना का उदाहरण :—

लाज गहौ, बेकाज कत घेरि रहे, घर जांहि ।
गो-रसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नांहि ॥

यहां पर व्यंग्यार्थ यही है कि—"यहां मार्ग में यह तुम्हारी छेड़-छाड व्यर्थ है। यदि तुम इन्द्रियों का आनन्द लेना चाहते हो तो मेरे घर पर अभी थोडी देर में आ जाना, मैं यहां से अब दूध-दही बेचने नही जाऊगी, सीधी घर ही जा रही हूँ। वहां एकान्त स्थान प्राप्त हो जावेगा। अतः हम लोगों का स्वच्छन्द विहार हो सकेगा।" इस प्रकार प्रकट रूप में तो केवल यही कहती है कि "तुम्हे दूध-दही खरीदना कुछ नही है तुम केवल (गोरस) वाणी का आनन्द लेना चाहते हो। खरीदना हो तो खरीद लो व्यर्थ में मेरा समय बरबाद क्यो कर रहे हो, मुझे शीघ्र ही घर जाना है।" किन्तु यहा पर घर जाने के प्रस्ताव से व्यजना निकलती है कि "यदि तुम (गोरस) इन्द्रियों का आनन्द लेना चाहते हो तो यहा छेड-छाड से क्या लाभ ? घर पर आना।"

(८) देश की विशेषता से व्यजना का उदाहरण :—

लटकि-लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट की छांह।
चटक-भर्‌यो नटु मिल गयो अटकभटक-बट मांह॥

यहां पर अटक-भटक वट के प्रदेश की विशेषता से नायिका का कृष्ण के साथ विहार करना अभिव्यक्त होता है। क्योंकि अटक-भटक वट एक ऐसा प्रदेश है जहा जाकर भूलना भटकना पडता है अतः वहा कोई जाता नही। अतएव वह स्थान क्रीडा के लिये उपयुक्त है। नायिका को कृष्ण के साथ सुरत-क्रीडा करने में विलम्ब लग गया है। अत. सखियों से इस रहस्य को छुपाने के लिये अटक-भटक वट में भटक जाने का बहाना करती है। देश की विशेषता से उसकी सुरत-प्रवृत्ति ध्वनित होती है।

मोर चन्द्रिका श्याम सिर चढि कत करत गुमान।
लखिबो पायन पर लुटति सुनियत राधा मान॥

यहा पर यह व्यजना निकलती है कि "राधा का मान सुना गया है। यदि वस्तुतः सत्य है तो विलम्ब करने से उसका मान और अधिक बढ सकता है। अतएव शीघ्र ही राधा के पास चलने का प्रयत्न करो।" यह व्यजना इसी लिये निकलती है कि कृष्ण राधा से व्यवहित देश में स्थित हैं। अतएव देश की विशेषता से यहां पर व्यजना निकलती है।

(९) काल की विशेषता से व्यंजना का उदाहरण :—

भाल लाल बेंदी, ललन, आखत रहे विराजि।
इंदुकला कुज में बसी मनों राहु-भय भाजि॥

यहां पर यह व्यंजना निकलती है कि "नायिका से सुरत करने का सबसे उत्तम अवसर यही है और इसी समय सहवास से दार-पुत्रादि अनेक सुखों की प्राप्ति हो सकती है।" यह व्यंजना इसीलिये निकलती है कि नायिका ऋतुस्नान करके

बैठी है। उसने गणेश, गौरी इत्यादि का पूजन कर मस्तक में सिन्दूर और अक्षत लगा लिये है। इसी अवसर की सूचना सखी नायक को देती है। इस प्रकार यहां पर ऋतुकाल की विशेषता से यह व्यजना निकलती है। दूसरा उदाहरण:—

कुंज-भवनु तजि भवन कौं चलियै नंदकिसोर।
फूलति कली गुलाब की, चटकाहट चहुं ओर॥

यहा पर यह व्यजना निकलती है कि नायिका भगवान् कृष्ण के साथ रात भर कुंज भवन में रही है। प्रात.काल हो गया है किन्तु भगवान् कृष्ण का सम्भोग का उत्साह समाप्त नही हुआ है। नायिका लोकापवाद से बचने के लिये शीघ्र ही घर जाना चाहती है। इसी निमित वह नायक को प्रेरित कर रही है। यह व्यजना इसीलिये निकलती है कि यह बात प्रात.काल कही गई है।

(१०) किसी अन्य तत्त्व की प्रधानता में चेष्टा इत्यादि का समावेश हो जाता है। जैसे .—

लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम॥

यहा पर भगवान् कृष्ण द्वारा कमल को सिर में छुआये जाने से व्यक्त होता है कि भगवान् ने चरण-कमलो पर सर रख कर सुरत के लिये प्रार्थना की तथा नायिका द्वारा सूर्य के सम्मुख कर आरसी को छाती में लगाने से यह व्यजना निकलती है कि "मै अभी नही, सूर्य के अस्ताचल पर चले जाने पर तुम्हे मिल सकूगी।" यह व्यजना चेष्टाओ से ही निकलती है। दूसरा उदाहरण :—

हरषि न बोली, लखि ललनु, निरखि अमिलु सगु साथु।
आंखिनु ही मे हसि, धर्‌यौ सीस हियैं धरि हाथु॥

यहा पर नायिका ने आखो में हस कर व्यक्त किया कि "मै तुम्हारे दर्शन से प्रसन्न हुई"। हृदय पर हाथ रख कर यह व्यक्त किया कि मै "तुम्हे अपने हृदय में बिठाती हूं।" सर पर हाथ रख कर यह व्यक्त किया "मुझे तुम्हारी कामना शिरोधार्य है किन्तु उसकी पूर्ति भाग्याधीन है।" यहा पर नायिका की चेष्टाओ से यह व्यजना निकलती है।

इस प्रकार यहा पर काव्यप्रकाश के अनुसार ध्वनि के १० आधारों का निरूपण किया गया। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कही-कही एक से अधिक भी आधारो का एक साथ आश्रय लिया जा सकता है किन्तु ऐसे स्थानो पर प्रधान रूप से चमत्कार का पर्यवसान जिसमें होता है वही आधार व्यजक माना

३—विवक्षितान्यपर वाच्य के भेद

विवक्षितान्य पर वाच्य के तीन भेद होते है—(१) शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि—जहा पर शब्द-शक्ति ही व्यजक हो और व्यजना पर्याय-परिवृत्ति को न सहन कर सके। (२) अर्थशक्तिमूलक ध्वनि—जहा पर अर्थ-शक्ति व्यजक हो और व्यजना शब्द-परिवृत्ति को सहन कर सके तथा शब्द-परिवृत्ति से व्यग्यार्था-वगति में व्याघात उपस्थित न हो। (३) उभयशक्ति-मूलक ध्वनि—जहा पर कुछ व्यजक शब्द परिवृत्ति-सह हो और कुछ शब्द परिवृत्ति-सह न हो।

(क) शब्द-शक्ति मूलक ध्वनि —

शब्द-शक्तिमूलक-ध्वनि दो प्रकार की होती है—(१) शब्द शक्ति से वस्तु ध्वनि और (२) शब्द-शक्ति मे अलकार ध्वनि।

(१) शब्द-शक्ति से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण —

लग्यो सुमनु ह्वै है सफलु, आतप-रोषु निवारि।
बारी-बारी आपनी सींचि सुहृदता वारि॥

नायिका सखियो के साथ बाग में टहल रही है। माली भी वहा उपस्थित है। एक अन्तरगिणी सखी जो नायक के हृदयगत भाव का परिज्ञान करने गई थी, लौट कर उसी बाग मे आई है। वह माली को भली-भाति वाटिका सीचने का उपदेश देती हुई कहती है कि "हे माली ! तुम अपनी वाटिका को भली-भाति अनुकूल जल से सीचो। तुम ने जो फूल लगाया है वह ग्रीष्म की भीषणता को दूर कर अवश्य फलवान् होगा।"

उक्त बात कहने में नायिका की सखी ने कतिपय ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है जिन के दो अर्थ हो सकते है.—(क) सुमन (१) फूल, (२) अच्छा मन। (ख) आतप रोषु— (१) गरमी की भीषणता, (२) क्रोध की भीषणता। (ग) वारी (१) माली, (२) बालिका। (घ) वारी (१) वाटिका, (२) पारी। (च) सुहृदता वारि, (१) सात्म्य जल, (२) मित्रता की बातचीत। प्रथम अर्थ प्रासगिक है क्योकि माली से कहा जा रहा है। अत प्रथम अर्थ में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने के बाद एक दूसरा अर्थ व्यजना-वृत्ति से निकलता है—"हे बाले ! (मै नायक के हृदय की परीक्षा कर आई हू। इसीलिये तुम्हे सुख-सवाद सुनाती हू कि) तुम्हारा लगा हुआ मन सफल होगा (अर्थात् उसमें सुरत का फल अवश्य प्राप्त होगा) और तुम्हारे क्रोध की सारी तीक्ष्णता समाप्त हो जावेगी। (पारी पर नायक तुम्हारे पास अवश्य आवेगा) तुम अपनी पारी पर प्रेम को सहृदयतापूर्ण बातचीत के द्वारा सरस बनाना।" इस प्रकार यहा पर सखी ने दूसरो पर तो अपना आशय व्यक्त नही होने दिया किन्तु नायिका को सदेश दे दिया। यहा पर द्विअर्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है और उन शब्दों का पर्याय-परिवर्तन सम्भव

नही है इसीलिये यहा पर शब्द-शक्ति-मूलक सल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है। दूसरा उदाहरण—

बाल-बेलि सूखी सुखद इहिं रूखी रूख-घाम।
फेरि डहडही कीजियै सुरस सींचि, घनस्याम॥

यहा पर सुरस और घनश्याम शब्दो के आधार पर शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि निकलती है। तीसरा उदाहरण:—

यह विनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइयै आइ सुदरसनु देहु॥

नायिका का अनुराग एक वैद्य से है। वह वैद्य के वियोग में रुग्ण हो गई है। अन्तरगिणी सखी वैद्य को बुलाने के लिये यह सदेश भेजती है। इसका सर्वजन-सम्वेद्य आशय यही है कि "नायिका विषम ज्वर से अत्यन्त जल रही है। तुम आ कर इसको सुदर्शन चूर्ण दो"। किन्तु सुदर्शन शब्द के दो अर्थ है (१) सुदर्शन चूर्ण और (२) सुन्दर दर्शन। प्राकरणिक अर्थ में अभिधेय अर्थ के नियन्त्रित हो जाने पर दूसरे अर्थ की ओर सकेत होता है—"नायिका तुम्हारे प्रेम में इतनी अनुरक्त है कि यदि तुम शीघ्र आ कर उसे नही मिलोगे तो वह अवश्य मर जावेगी। वह इस समय कामाग्नि से सतप्त है। उसकी उग्र कामाग्नि की शान्ति तुम्हारे दर्शनो से ही हो सकती है। अत. तुम्हे शीघ्र आना चाहिये।" इस प्रकार विषम जुर के भी दो अर्थ हैं—(१) विषम ज्वर रोग और (२) ऐसा ज्वर जो साधारण नही है तथा जो काम-पीडा से ही उद्भूत होता है। इसी प्रकार 'नग' शब्द भी व्यंजक है। सामान्य रूप से नग शब्द का अर्थ होता है रत्न किन्तु वैद्य से सुदर्शन चूर्ण के द्वारा रत्न की रक्षा करने की प्रार्थना बाधित है। अतएव गौणी साध्यवसाना लक्षणा से इस का अर्थ होता है "भुवन-सुन्दरी"। सर्वसाधारण की दृष्टि में इसका व्यग्यार्थ होगा 'यह नायिका भुवन सुन्दरी है। इसके स्वास्थ्य की सभी को चिन्ता है और सभी का ध्यान उसी की ओर लगा है। अतएव यदि तुम इसको अच्छा कर दोगे तो तुम्हारी प्रतिष्ठा सर्वसाधारण में बहुत अधिक बढ जावेगी।' वैद्य के लिये इसका व्यंग्यार्थ होगा—"तुम वास्तव में बडे भाग्यशाली हो जो इतनी अधिक भुवन-सुन्दरी तुम में अनुरक्त है। उसकी तृप्ति तुम्हारे दर्शन से हो सकती है किन्तु आश्चर्य है कि फिर भी तुम्हारे वियोग में उसे इतने कष्ट का अनुभव करना पड रहा है कि जीवित रहने का भी कोई निश्चय नही है। तुमको शीघ्र आना चाहिये और अपने शोभनीय दर्शनो के द्वारा उसका समस्त सताप दूर कर देना चाहिए।" इस प्रकार यहा पर नग शब्द अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य है और "जरी विषम जुर जाइ है" और "सुदर्शन देहु" की शब्द शक्ति-मूलक ध्वनि का अंगागिभाव संकर है। चौथा उदाहरण:—

चिरजीवो जोरी, जुरै क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

यह शब्द राधा और कृष्ण के मान के अवसर पर सखी द्वारा कहे गये हैं। जब राधा और कृष्ण एक-दूसरे से रूठे हुए बैठे है, तब उनसे यह कहना कि "तुम्हारा परस्पर गम्भीर प्रेम क्यो न हो तुम दोनो बडे आदमी हो, बडे आदमियों का आपस में प्रेम होता ही है" किसी प्रकार भी सगत नही हो सकता। अतएव विपरीत लक्षणा से इसका लक्ष्यार्थ निकलता है कि तुम दोनो का इस प्रकार कलह होना स्वाभाविक ही है, क्योकि दोनो में कोई दबना नही चाहता। राधा को अपने पिता वृषभानु के बडप्पन का अभिमान है और कृष्ण के बडे भाई बलराम भी किसी से कम नही है। इससे व्यग्यार्थ निकलता है—"एक दूसरे से इतना अधिक खिचे रहना अच्छा नही है। इसका दुष्परिणाम यह हो सकता है कि तुम्हारा आपस में सर्वदा के लिये विरोध हो जाये। यदि तुम दोनो एक दूसरे से यह आशा करो कि दूसरा ही अपने स्वाभिमान का परित्याग कर मिलने की चेष्टा करेगा तो यह तुम्हारी भूल है। कोई किसी से कम नही है। अतएव मान छोडकर तुम्हे एक-दूसरे से बोलना चाहिये।" इस प्रकार यहा पर अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। परन्तु यहा पर 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर' ये शब्द कई एक अर्थो के वाचक है। 'वृषभानुजा' के तीन अर्थ है—(१) वृषभान की पुत्री, (२) वृषभ+अनुजा=बैल की छोटी बहन गाय और (३) वृष के सूर्य की पुत्री। इसी प्रकार हलधर के भी तीन अर्थ है—(१) बलराम, (२) हल को धारण करने वाला बैल और (३) शेषनाग। दूसरे तथा तीसरे अर्थो के प्रभाव से दूसरे अर्थों की ओर भी सकेत होता है—(१) "इस प्रकार कलह करना और समझाने पर न मानना पशुओ की प्रवृत्ति है। तुम्हारे लिये यही अच्छा है कि तुम पशु-प्रवृत्ति को छोड दो"। इसी प्रकार (२) "राधा में वृषादित्य की भाति पराकाष्ठा पर पहुची हुई असहिष्णुता, प्रचण्डता और उग्रता है और कृष्ण में भी सर्पो जैसी ही तीव्रता है। यह प्रवृति हम सबको दु.ख देने वाली है। अत इसका परित्याग कर दिया जाना चाहिये।" इस प्रकार यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनियो का सकर है।

(२) शब्द-शक्ति से दूसरे प्रकार की ध्वनि अलकार-ध्वनि होती है। यहां पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि ध्वनि अलकार किस प्रकार हो सकती है? यदि ध्वनि को भी अलकार माना जावेगा तो अलकार्य ही क्या होगा? जिस व्यंग्यार्थ में चमत्कार का पर्यवसान होता है उसे ध्वनि कहते हैं और अलंकार उसका शोभावर्धक धर्ममात्र ही है। ऐसी दशा में अलकार को ध्वनि कहना किस प्रकार समीचीन कहा जा सकता है? इसका उत्तर यही है कि यहां पर अलंकार को

ध्वनि ब्राह्मण-श्रमण न्याय से कहा जाता है। जिस प्रकार संन्यास ले लेने के बाद ब्राह्मणत्व चला जाता है, किन्तु भूतपूर्व गति से वह उस समय भी ब्राह्मण कहलाता रहता है। उसी प्रकार अलकार के ध्वनि रूप धारण कर लेने पर उसका अलकारत्व धर्म यद्यपि तिरोहित हो जाता है तथापि भूतपूर्व गति से उसे अलकार कहा जाता है। अथवा जिस अर्थ में अलकार कहला सकने की क्षमता हो और वह अपने सौन्दर्य के कारण ध्वनिरूपता को धारण कर ले तो उसे अलकार ध्वनि कहा जाता है।

आचार्य मम्मट ने लिखा है कि विरोधाभास अलकार में जहा पर 'अपि" शब्द (अथवा इसी प्रकार के किसी दूसरे विरोध प्रदर्शक शब्द) का प्रयोग किया जावे वहा पर विरोधाभास वाच्य होता है। इसके प्रतिकूल जहा विरुद्ध शब्दो का प्रयोग तो हो, किन्तु उनके बीच मे किसी वाचक शब्द का प्रयोग न हो वहा पर विरोधाभास व्यग्य होता है। काव्यप्रकाशकार ने शब्द-शक्तिमूलक अलकार-ध्वनि के उदाहरणो में अधिकतर विरोधाभास-ध्वनि के ही उदाहरण दिये है। बिहारी में भी विरोधाभास ध्वनि के कई उदाहरण पाये जाते है—

नीर-भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ।

में 'तऊ' शब्द विरोधाभास का वाचक है। अत यहा पर विरोधाभास अलकार वाच्य है। इसके प्रतिकूल निम्नलिखित पद्यो में विरोधाभास अलकार व्यग्य है —

(१) **पजरैं नीर गुलाब कैं, पिय की बात बुझाइ।**

यद्यपि यहा पर पूर्वार्ध में "औरे कछू" शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसके अर्थ की पूर्ति विरोधाभास के द्वारा ही होती है। तथापि यहा पर विरोधाभास वाच्य सिद्धयग नही कहा जा सकता, क्योकि "औरे कछू" का अर्थ होता है— "हे सखियो ! जो उपचार तुम कर रही हो उससे इसका ज्वर ठीक नही हो सकता। इसके सताप का कारण ज्वर नही किन्तु कुछ और है।" जहा पर व्यग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ की किसी प्रकार भी पूर्ति हो सकती है, वहा पर वाच्य सिद्धयग नही माना जाता।

(२) **अनबूडे बूड़े तरे, जे बूड़े सब अग।**

(३) **गो रस चाहत फिरत हौ गोरस चाहत नाहिं।**

(४) **केलि तरुन दुख दैन ये केलि तरुन सुख दैन।**

(५) **कहै देत यह रावरे सब गुन निरगुन माल।**

(६) **तब भागनु पूरब उयौ अहो अपूरब चन्द।**

उपर्युक्त उदाहरणो में सर्वत्र विरोधाभास ध्वनि है। विरोधाभास के अतिरिक्त अन्य अलकारो की भी ध्वनि हो सकती है। दो एक उदाहरण लीजिये :—

लोभ लगे हरि रूप के, करी सांटि जुरि, जाइ।
हौं इन बेची बीच हीं, लोइन बड़ी बलाइ॥

यहां पर प्राकरणिक अर्थ यही है कि मेरे ये नेत्र भगवान् कृष्ण के रूप के लोभ में जाकर उनसे मिल गये और मुझे भगवान् के वश मे कर दिया। किन्तु यहां पर रूप, साटि, बेची, इन शब्दो के दो-दो अर्थ है, (क) रूप के दो अर्थ है—(१) सौन्दर्य और (२) रुपा या रुपया। (ख) साटि का अर्थ है—(१) हेल-मेल और (२) क्रय-विक्रय। (ग) बेची का अर्थ है—(१) वश मे कर दिया और (२) बेच दिया। इन शब्दो की द्वियर्थकता के आधार पर एक दूसरे अर्थ की ओर संकेत होता है—"जिस प्रकार कोई दलाल रुपये के लोभ मे किसी सौदागर से मिल कर सौदा तै कर लेता है और स्वामी के बिना पूछे ही किसी वस्तु को बेच देता है उसी प्रकार नेत्र रूपी दलाल ने भगवान् के रूप रूपी रुपये के लोभ में लग कर भगवान् से मिलकर मेल-जोल रूपी सट्टा कर लिया और नायिका रूपी वस्तु को बेच दिया। इस प्रकार यहा पर शब्द-शक्तिमूलक रूपकालकार-ध्वनि है। दूसरा उदाहरण :—

अजौं तर्‌यौना ही रह्यो श्रुति सेवत इक-रंग।
नाक बास बेसरि लह्यो बसि मुकुतन कै सग॥

इसमें सत्सग की महिमा बतलाई गई है। इसका सामान्य अर्थ यह है कि—"वेद का सेवन करने वाला व्यक्ति अब तक निम्नकोटि का वैसा ही बना रहा, किन्तु मुक्त व्यक्तियो के साथ रहते हुए निम्नकोटि के प्राणी ने स्वर्ग प्राप्त कर लिया।" यहा पर कतिपय शब्दो का दो-दो अर्थो मे प्रयोग किया गया है। (क) तर्‌योना—(१) नीचा, निम्नकोटि का, (२) ताटक। (ख) श्रुति—(१) वेद, (२) कान। (ग) नाक—(१) स्वर्ग, (२) नासिका (अथवा उच्च स्थान जैसे अमुक व्यक्ति अपने वश की नाक है।) (घ) बेसरि—(१) निम्नकोटि का प्राणी, (२) नाक का एक आभूषण, (च) मुकुतनु—(१) मुक्त लोग, (२) मुक्ता या मोती। दूसरे वाच्यो के प्रभाव से यहा पर एक और अर्थ निकलता है—कान में निरन्तर पहरे जाने पर भी ताटक अभी तक वैसा ही बना रहा (उसे किसी श्रेष्ठ स्थान का निवास नही प्राप्त हुआ, जहा रहते हुए उसे अधर-पान इत्यादि का सुखद सौभाग्य प्राप्त हो सकता)। इसके प्रतिकूल बेसर नाम के आभूषण में मुक्ता पिरोये गये थे, इसलिये मोतियो के साथ के कारण उसे नाक (श्रेष्ठ स्थान) पर निवास करने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। इस प्रकार यहा पर शब्द-शक्ति से दो वाच्यार्थ निकलते है जो सर्वथा एक-दूसरे से असम्बद्ध है। इसी असम्बद्धार्थकता को दूर करने के लिये यहा पर उपमालंकार व्यग्य हो जाता है। अतएव इसका पूरा वाक्यार्थ इस प्रकार बन जावेगा—"जिस प्रकार ताटक श्रुति (कान) का सेवन

करते हुए वैसा ही बना रहता है, उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। किन्तु बेसर मोतियों का साथ पाकर नाक (नासिका जैसे श्रेष्ठ स्थान) का निवास प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार श्रुति (वेद) का सेवन करते हुए कोई भी व्यक्ति आज भी नीचा ही बना रहा। किन्तु निम्नकोटि के प्राणी ने मुक्त (जीवन-मुक्त) व्यक्तियो का साथ करने से नाक-वास (स्वर्ग का निवास) प्राप्त कर लिया।" इस प्रकार यहा पर शब्द-शक्तिमूलक उपमालकार ध्वनि है।

(ख) अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि—

जहा पर अपरिवर्तनीय शब्दो का प्रयोग न किया गया हो और प्रकरण इत्यादि के सहकार के द्वारा अर्थ-शक्ति के बल पर प्रधानभूत अर्थान्तर की अभिव्यक्ति हो जावे उसे अर्थशक्तिमूलक ध्वनि कहते है। अर्थशक्ति के आधार पर उद्भूत होने वाली ध्वनियो के भेदोपभेदो का निरूपण दो दृष्टिकोणो से किया जाता है—व्यजक की दृष्टि से और व्यग्य की दृष्टि से। यह तो निश्चित ही है कि व्यंजक और व्यग्य दोनो ही कोई वस्तु हो सकती हैं। वस्तु दो प्रकार की होती है—(१) वस्तु मात्र और (२) सालकार वस्तु। इस प्रकार व्यजक वस्तु के दो भेद और व्यग्य वस्तु के दो भेद मिलकर अर्थशक्ति मूलक-ध्वनि चार प्रकार की हो गई- (१) वस्तु से वस्तु ध्वनि, (२) वस्तु से अलकार-ध्वनि। आचार्यों ने एक दूसरे दृष्टिकोण से वस्तु तथा अलकार के दो-दो भेद और किये है :—(१) स्वत सम्भव लोकसिद्ध वस्तु या अलकार और (२) कविकल्पित वस्तु या अलकार। इस प्रकार उक्त चारो भेद इन दो-दो भेदो मे पुन विभक्त होकर अर्थशक्तिमूलक विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि के आठ भेद हो जाते है।

काव्यप्रकाशकार ने कल्पित वस्तु के भी दो भेद कर दिये है – (१) कवि-कल्पित और (२) कवि-निबद्ध वक्तृकल्पित। किन्तु पण्डितराज को यह मत स्वीकार नही। उनका कहना है कि यदि इस प्रकार के भेद किये जाने लगेगे तो भेदो की कोई सीमा ही न रहेगी अभी हम कवि निबद्ध वक्तृ-कल्पित वस्तु माने, फिर कवि-निबद्ध वक्तृ निबद्ध-वक्तृ कल्पित वस्तु माने इस प्रकार अनवस्था दोष हो जावेगा। अतएव कल्पित वस्तु एक ही प्रकार की मानी जानी चाहिये। किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जावे तो काव्यप्रकाशकार ही का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। साहित्य शास्त्र में भेदोपभेदों के निरूपण में विच्छित्ति-विशेष का ध्यान अवश्य रखना पडता है। यदि किसी भेद को मानने से चमत्कार मे किसी प्रकार का अन्तर पडता है तो वह भेद अवश्य स्वीकार करना चाहिये। स्वाभाविक ही है कि कवि स्वय जो बात कहता है या कल्पना करता है उसकी अपेक्षा पात्र द्वारा कही या कल्पित की हुई वस्तु में विच्छित्ति की विशेषता अवश्य होगी। कवि जो कुछ कहता है, उसकी अपेक्षा स्वयं नायिका के द्वारा कही हुई बात में चमत्कार की कुछ विशेषता अवश्य होगी।

अनवस्था दोष भी प्रसक्त नहीं होता क्योंकि समस्त वक्ता लोगों का समाहार वक्ता के रूप में हो जाता है। अतएव काव्यप्रकाशकार के अनुसार कवि-निबद्ध वक्तृ-कल्पित वस्तु नामक एक अतिरिक्त भेद अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिये।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के भेदोपभेदो का परिगणन इस प्रकार किया जा सकता है—व्यंग्य के भेद से अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि दो प्रकार की होती है—वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि। वस्तु ध्वनि के ६ व्यजक होते है—(१) लोक-सम्भव वस्तु, (२) कवि-कल्पित वस्तु, (३) कवि-निबद्ध वक्तृ-कल्पित वस्तु, (४) लोक-सभव अलकार, (५) कवि-कल्पित अलकार, (६) कवि-निबद्ध वक्तृ कल्पित अलकार। ये ही ६ भेद अलंकार ध्वनि के भी होते है। इस प्रकार कुल मिलाकर अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि के १२ भेद होते है। प्रस्तुत प्रकरण में यह देखने की चेष्टा की जावेगी कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के भेदो का बिहारी में कहा तक प्रतिफलन हुआ है।

(ग) अर्थशक्ति मूलक वस्तु ध्वनि—

(क) लोक सम्भव वस्तु से वस्तु-ध्वनि के अनेक दोहे बिहारी सतसई में पाये जाते है। उदाहरण के लिये—

चितई ललचौहैं चखनु डटि घूंघट-पट मांह।
छल सौं चली छुवाइ कै छिनकु छबीली छांह॥

यहा पर यह व्यजना निकलती है कि नायिका ने नायक के प्रति अनुराग व्यक्त किया। "लालच भरी हुई दृष्टि से डटकर देखा" कहने से व्यक्त होता है कि नायिका ने मिलने की आकाक्षा व्यक्त की तथा "क्षण भर छाया छुवाई" का आशय यह है कि उसने पावो का स्पर्श करके प्रणाम किया। इससे यह अभिव्यक्त होता है कि नायिका नायक पर इतनी रीझ गई थी कि यद्यपि अवसर न होने से वह प्रत्यक्ष रूप में शरीर नही छुआ सकी तथापि उसने छाया छुआ कर ही स्पर्श सुख का अनुभव किया। इस प्रकार :—

लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम॥

यहा पर यह व्यक्त होता है कि भगवान् कृष्ण ने चरण-कमलो का स्पर्श कर सम्भोग की प्रार्थना की और नायिका ने एक ओर हरि (कृष्ण) की ओर आरसी करके अपनी छाती में लगाकर यह व्यक्त किया कि मैं तुम्हारी प्रणय-प्रार्थना को अगीकार करती हू और तुम्हे छाती ने लगाती हू। दूसरी ओर हरि (सूर्य) की ओर शीशा करके उसने छाती से लगाकर यह व्यक्त किया कि "अभी नही जब सूर्य अस्ताचल पर चले जावेगे तब मैं तुम्हे मिलूंगी।" तीसरा उदाहरण :—

कहा लेहुगे खेल पै तजौ अटपटी बात।
नेक हंसौंहीं हैं भई भौंहें सौंह खात॥

ये शब्द सखी ने उस समय कहे है जिस समय नायिका मान किये बैठी है और नायक उसे मनाने की चेष्टा कर रहा है तथा धोखे से नायक के मुख से नायिका की सौत का नाम निकल जाता है। यहा पर विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न व्यग्यार्थ होंगे। (१) नायिका के प्रति इसका व्यग्यार्थ होगा—"नायक का सपत्नी से प्रेम नही है, यह जो नायक सपत्नी का नाम ले रहा वह इसका खिलवाड मात्र है। तुम्हे चिढाने में इसे कुछ आनन्द ही आता है, तुम बुरा मत मानना।" (२) नायक के प्रति इसका व्यंग्य होगा—"देखो सम्हल कर बात करो, तुम्हारे मुख से बारबार सपत्नी का नाम निकल जाता है। इससे नायिका का क्रोध बढेगा ही।" (३) अन्य सखियो के प्रति इसका व्यग्यार्थ होगा—"देखो मैं कितनी निपुण हूं, मैने नायक के अपराध को कैसा छिपाया।" (४) सपत्नी के प्रति इसका व्यग्यार्थ होगा—"तुम यह मत समझना कि नायक तुम से प्रेम करता है। यह केवल नायिका से खिलवाड कर रहा है और इसमें इसे आनन्द आता है।" इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण :—

सकुचि न रहियै, स्याम, सुनि ए सतरौंहे बैन।
देत रचौंहौं चित कहे तेह नचौंहे नैन॥

यहा पर नायिका के प्रति व्यंग्य होगा—"देखो तुम्हारा मान अब पराकाष्ठा पर पहुंच गया है। अब यदि अधिक मान करोगी तो कृष्ण भगवान् रुष्ट होकर यहा से चले जावेगे और तब तुम्हे पश्चात्ताप ही होगा। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहो में वस्तु-ध्वनि ही है :—

(१) कुंज-भवनु तजि भवन कौं चलियै नन्दकिसोर।
फूलत कली गुलाब की, चटकाहट चहुं ओर॥

यहां पर नायिका का व्यग्यार्थ यही है कि "प्रात काल हो गया है। हम लोगों का यहां रहना ठीक नही। यदि कोई देख लेगा तो अनर्थ हो जावेगा।"

(२) हम हारी कैं-कैं हहा पाइनु पार्‌यो प्यौरु।
लेहु कहा अजहू किए तेह तरेर्‌यौ त्यौरु॥

यहा पर व्यग्य यह है कि "अब अधिक मान करना ठीक नही। नायक रुष्ट होकर जाना ही चाहता है।"

(३) जौ वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आपु।
तौ बलि, नेक बिलोकियै चलि अचकां, चुपचापु॥

यहा पर व्यग्य है कि सखी शीघ्र ही नायक को नायिका को पास लाना चाहती है।

(४) लटकि-लटकि लटकतु चलतु, डटतु मुकुट की छांह।
चटक-भर्‌यो नटु मिलि गयौ अटकभटक वट-मांह॥

यहां पर व्यग्यार्थ है कि, "नायिका अपना सुरत छिपाना चाहती है।"

(५) **मान करत वरजति न हौं, उलटि बिधावति सौंह।**
करी रिसौंहीं जाहिंगो सहज हसौंहीं भौंह॥

नायक के प्रति व्यग्यार्थ होगा "नायिका के मान को देखकर तुम्हे निराश नही होना चाहिए। इसका स्वभाव बडा ही हसमुख है। यह अभी मानी जाती है।" नायिका के प्रति इसका व्यग्यार्थ है—"मान करना दुष्टा स्त्रियो का काम होता है। अपने पति को परेशान करना तुम जैसी सुशीला ललनाओ का नही।"

(६) **सुघर-सौति-बस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।**
लखी सखी तन दीठि करि सगरब सलज, सहासु॥

यहा पर नायिका का व्यग्य यह है कि "यदि प्रियतम गुणग्राही है तो यह मेरे ही बस में रहेगा।" "सगरव" से सौन्दर्याभिमान, 'सलज' से प्रियतम के प्रति अनुराग और साहस मे सौत के गुणो का उपहास व्यजित होता है।

(७) **दुनहाई सब टोल मैं रही जु सौति कहाइ।**
सु तैं ऐंचि प्यौ आपु त्यौं करी अदोखिल आइ॥

यहा पर व्यग्यार्थ यह है कि—"तुम्हारे आने के पहले नायक तुम्हारी उस सौत पर अनुरक्त अवश्य था, किन्तु अब जब से तुम आ गई हो नायक तुम्हे छोड कर उससे प्रेम करता ही नही। अब तुम्हारा नायक पर शका करना अनुचित है।"

(८) **कारे-बरन डरावने कत आवत इहिं गेह।**
कै वा लखी, सखी, लखें लगै थरथरी देह॥

यहा पर व्यग्यार्थ यह है कि नायिका अपना अनुराग छिपाना चाहती है। वह अपने सात्विक-कम्पन को भय के कारण उत्पन्न हुआ बतलाती है।

(ख) कवि-कल्पित वस्तु से वस्तु-ध्वनि—कही-कही पर कवि ऐसी वस्तु का उपादान करता है जो लोक में न तो विद्यमान ही होती है और न उसका होना संभव ही होना है। उन्हे हम कोरी कवि की कल्पना ही कह सकते हैं। जिस समय प्रचलित अर्थ-सरणि कवि के अभिप्रेत को व्यंजित करने में अशक्त हो जाती है उस समय कवि इस प्रकार की कल्पनाओं का आश्रय लेता है। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये, कि बिहारी के टीकाकारो ने बिहारी के अधिकतर पद्यो में किसी अवतरण की योजना की है और उन पद्यो को किसी पात्र की उक्ति मानकर व्याख्या कर दी है। किसी-किसी टीकाकार ने नीति तथा भक्ति के दोहो में भी इस प्रकार के अवतरण की योजना करने की चेष्टा की है। किन्तु जहा पर किसी विशेष वक्ता की उक्ति मानने का कोई विशेष कारण उपस्थित न हो वहा पर कवि की उक्ति ही मानी जानी चाहिये। "सखी-सखी से कहती है।" "नायक स्वगत कह रहा है।" इत्यादि क्लिष्ट कल्पनाये नही की जानी चाहिये। जहा किसी वक्ता-विशेष की उक्ति होती है वहां स्वतः प्रकट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि वस्तु की व्यंजकता में यह आवश्यक नहीं है कि वस्तु में अलंकार विद्यमान न हो। देखना यह

पड़ता है कि वह अलंकार व्यजना में कारण है अथवा नहीं। यदि अलंकार व्यंजना में कारण नही होता है तो वस्तु ही व्यंजक मानी जाती है। बिहारी ने जहां कही कल्पित वस्तु को व्यजक बनाया है वहाँ अधिकतर अलकार में व्यंजकता आ गई है। अतएव कल्पित वस्तुमात्र की व्यजकता के उदाहरण बिहारी में बहुत कम हैं। दो एक उदाहरण लीजिये :—

कौन भांति रहिहै विरदु अब देखिबो, मुरारि।
बीधे मोसों आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥

यहा पर भगवान् का गृद्ध को तार कर पापियों को तारने के लिये गिध जाना और बिहारी से आकर उलझना एक कवि-कल्पित वस्तु है। इससे ध्वनि निकलती है कि "हे भगवान् मै बहुत बड़ा पापी हू, मेरे उद्धार का कोई सहारा नहीं आपने अनेक दीनों को तारा है वैसे ही आप मुझे भी तार दीजिये।" यही ध्वनि निम्नलिखित दोहे से भी निकलती है :—

बन्धु भये का दीन के. को तार्‌यो, यदुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ॥

यहा पर भगवान का तूठे-तूठे फिरना केवल कवि कल्पित-वस्तु है इसी प्रकार :—

तौ, बलियै, भलियै बनी, नागर नन्दकिसोर।
जौ तुम नीकै कै लख्यौ मो करनी की ओर॥

यहा पर भी भगवान् का "करनी" की ओर लखना कवि-कल्पित वस्तु है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि मनुष्य का उद्धार अपने कर्मो से सम्भव नही है। केवल भगवान् की कृपा ही मनुष्य का उद्धार कर सकती है।

(ग) कवि-निबद्ध वक्तृ कल्पित वस्तु से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण :—

को जानै, ह्वैहै कहा; ब्रज उपजो अति आगि।
मन लागै नैननु लगै, चलै न मग लगि लागि॥

नेत्रों के लगने से मन में आग का लग जाना लोक में संभव नही है, किसी पत्थर इत्यादि कडी वस्तु के टकराने से ही आग उत्पन्न होती है, नेत्रो के लगने से उत्पन्न नही हो सकती। आग से जलता भी कोई मूर्त्त पदार्थ ही है। मन जैसा अमूर्त पदार्थ नही जल सकता। अतएव यह नायिका की कल्पित वस्तु है। नायिका कवि-निबद्ध-वक्ता है। इससे ध्वनि निकलती है कि—"मैने जबसे भगवान् कृष्ण को देखा है, मैं वियोग-व्यथा से अत्यन्त पीडित हो रही हू। यदि भगवान् कृष्ण मुझे प्राप्त नही हो जायेंगे तो मै जीवित नही रह सकूंगी।" इसी प्रकार :—

विरह-विपति-बिनु परत हौं तजे सुखनु सब अंग।
अब लौंऽब दृखौ भये चलाचलै जिय-संग॥

"दुःख जीवन के साथ जा रहे हैं, सुख तो पहले ही साथ छोड़कर चले गये थे" यह नायिका की कल्पित वस्तु है। इससे यह ध्वनि निकलती है—"हे प्रियतम यदि आप शीघ्र ही नही आवेगे तो मैं जीवित नही रह सकू गी। मुझे इस समय तो सुख नही मिल रहा है, मै बहुत दुःखी हू। मुझे यह भी विश्वास नही कि मरने पर भी मुझे सुख मिल सकेगा। मरने के बाद परलोक में भी तुम्हारा वियोग मुझे पीडित करता रहेगा।"

(घ) स्वत.सभव अलकार से वस्तु-ध्वनि :—

(१) तेह-तरेरौ त्यौरु करि कत करियत दृग लोल।
लीक नहीं यह पीक की, श्रुति-मनि-झलक कपोल॥

यहा पर अपन्हुति अलकार है और कान की मणि की झलक का कपोलों पर पडना स्वत सभव है। इससे नायक के प्रति यह ध्वनि निकलती है कि.—"तुम्हारे कपोलों पर पान की पीक का चिन्ह बना हुआ है जिससे प्रति-नायिका का चुम्बन व्यक्त हो रहा है। इसी लिये नायिका का कोप बढ रहा है। इस समय मैंने बहाना बना दिया है। तुम इस पीक को शीघ्र ही पोंछ डालो नही तो नायिका का कोप शान्त नही होगा।"

(२) सकत न तुव ताते वचन मो रस कौ रसु खोइ।
खिन-खिन औटे खीर लौं खरौ सवादिलु होइ॥

यहा पर "औटे खीर लौं" इस उपमा से ध्वनि निकलती है कि—"तुम्हारे इन कटु वचनो से मेरे हृदय में अत्यन्त तीव्र वेदना उत्पन्न होती है। मेरा प्रेम तुमसे अविचल है। मै तुम्हारे वियोग को सहने में अशक्त हू। तुम व्यर्थ की शका छोड़कर मेरा प्रेम अगीकार करो, क्योंकि मैं बहुत अधिक व्यथित हू।"

(३) छुवै छिगुनी पहुंचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ ब्यौतु सुनि को, बलि, तुम्हे पत्याइ॥

यहा पर "बलि बावन को ब्यौतु" इस उपमा से यह ध्वनि निकलती है कि तुम्हारा प्रेम एक धोका है। अभी तुम उससे मिलने की प्रार्थना कर रहे हो। किन्तु जब मिल लोगे तो नायिका तुमसे हृदय से प्रेम करने लगेगी और तुम बात भी नहीं पूछोगे। अत तुम जब तक प्रेम के निर्वाह का वचन नही दोगे तब तक मैं तुम्हारी आकांक्षा पूरी नही करूंगी।

(४) चिलक, चिकनई, चटक सौं लफति सटक लौं आइ।
नारि सलोनी सांवरी नागिनि लौं डसि जाइ॥

यहां पर "नागिन लौं" इस उपमा से ध्वनित होता है—"इस नायिका के सुन्दर सलौने श्यामल रूप ने मेरे हृदय में मिलने की वेदनामयी उत्कण्ठा उत्पन्न

कर दी है। यदि यह मुझे न मिली तो इसमें कोई सदेह नही कि मेरी मृत्यु अवश्य हो जावेगी। अतएव तुम मुझे इससे मिलाने की शीघ्र चेष्टा करो।"

(५) तिय तिथि तरुन-किसोर-वय पुन्यकाल-सम दोनु।
काहू पुन्यनु पाइयतु वंस-संधि-सक्रोनु॥

यहा पर रूपक से ध्वनित होता है कि रति-दान का यही सर्वोत्तम अवसर है।

(६) सघन कुंज, घन घन-तिमिरु अधिक अधेरी राति।
तऊ न दुरिहै, स्याम, वह दीपसिखा सी जाति॥

यहा पर "दीप सिखा सी" इस उपमा से ध्वनित होता है कि सखी नायक के हृदय मे नायिका के रूप की प्रशसा के द्वारा अधिक उत्कण्ठा उत्पन्न करना चाहती है जिससे नायक विशेष रूप से प्रार्थना करे तब सखी अहमान जनाकर उसे ले आये।

(७) पीठि दिये हीं, नेक मुरि, कर घू घट-पटु टारि।
भरि, गुलाल की मूठि सौं, गई मूठि सी मारि॥

यहा पर उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है—"मै पूर्ण रूप से आधीन हो गया हू और उसे बिना प्राप्त किये मेरा हृदय शान्त नही हो सकता।"

(८) सटपटाति सै ससिमुखी मुख घू घट-पटु ढांकि।
पावक-झर सी झमकि कै गई झरोखा झांकि॥

यहा पर "पावक झरसी" इस उपमा से व्यक्त होता है कि—"उसे देखकर मेरे हृदय में तीव्र वेदना तथा दाह उत्पन्न हो गया है। अब मेरे प्राणो की रक्षा के लिये मेरा उसको प्राप्त करना अनिवार्य है।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे मे भी अलकारो से वस्तु-व्यजना का निरूपण किया जा सकता है :—

थोरै ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि॥
तुमहू, कान्ह, मनौ भये आजुकालि के दानि॥
मरकत-भाजन-सलिल गत इदुकला कै बेख।
झीन झंगा मैं झलमलै स्यामगात-नखरेख॥
खेलन सिखए, अलि भलै चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार॥

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें अलंकारो से ही व्यंजनायें निकलती हैं। अतएव इन उदाहरणों में अलकार ही व्यंजक माने गये हैं। यह समस्त अलंकार श्लोक में भी संभव हैं। अतएव इन उदाहरणों में स्वतःसंभव अलंकारों से वस्तु ध्वनि होती है।

(च) अब यहां पर कुछ ऐसे अलकारों से वस्तु व्यंजना के उदाहरण दिये जा रहे हैं जोकि लोक में सम्भव नही हैं केवल कवि कल्पना पर ही आधारित है :—

(१) जटित नीलमनि जगमगति सींक सुहाई नाँक।
मनौ अली चंपक-कली बसि रसु लेतु निसांक॥

यहा पर उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है कि नायिका का सौन्दर्य इतना अधिक उन्मादक है कि उसे देखते ही उपभोग की ही आकाक्षा उत्पन्न हो जाती है। उचित-अनुचित का ध्यान ही नही रहता। भौरे का चम्पे पर बैठना लोक में संभव नही है। अतएव यह कवि-कल्पित उत्प्रेक्षा है। इससे वस्तु-ध्वनि होती है।

(२) लसैं मुरासा तिय-स्रवन यौं मुकतनु दुति पाइ।
मानहु परस कपोल कै रहे स्वेद-कन छाइ॥

यहां पर कल्पित उत्प्रेक्षा है क्योकि मुरासा में स्वेद कण निकलना लोक में सम्भव नही है। इससे यह ध्वनित होता है कि नायिका का कपोल इतना सुखद तथा हर्षवर्धक है कि जड-से-जड व्यक्ति भी उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता।

(छ) कवि-निबद्ध वक्तृ-कल्पित अलंकार से वस्तु-ध्वनि के उदाहरण .—

(१) खेलन सिखए, अलि भलैं चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार॥

यहां पर श्लेषमूलक रूपक अलंकार है। नेत्रों का "कानन चारी" होना, कामदेव से शिक्षा लेना तथा शिकार खेलना लोक-सम्भव नहीं है। इसकी कल्पना कवि-निबद्ध सखी ने कर ली है। इससे यह ध्वनि निकलती है—"नायक तुम्हारे रूप पर आसक्त हो गया है, तुम्हे उसको भली-भाति अपने बस में रखना चाहिये। यह तुम्हारे सुन्दर नेत्रों की सफलता है।"

(२) साजे मोहन-मोहन कौं, मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं, उलटे परे टोने लोने नैन॥

कवि-निबद्ध वक्त्री नायिका का यह कथन है। नेत्रों का नमक डालकर जादू टोने के रूप में प्रयोग करना लोक में सम्भव नही है। नायिका ने इसकी कल्पना कर ली है। इससे यह ध्वनि निकलती है, "मैं कृष्ण के दर्शनों के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हूं। मैं अब अधिक समय तक कृष्ण का वियोग सहन नहीं कर सकती। हे सखी! तुम शीघ्र ही मुझे कृष्ण से मिलाओ। नहीं तो मैं इस पीड़ा को अधिक सहन नहीं कर सकूंगी।"

(३) होमति सुचु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालमुखी सी जरति लखि लगनि-अगनि की ज्वाल॥

यहा पर सुख का हवन और लगन की अग्नि ये रूपक कवि-निबद्ध वक्त्री (सखी) कल्पित हैं, लोक में सम्भव नही। इनसे ध्वनि निकलती है—"नायिका तुम्हारे वियोग से अत्यन्त पीडित है। तुम्हें उसकी इस प्रणय-साधना को विफल नही करना चाहिये।"

(४) बसि सकोच-दसबदन-बस, सांचु दिखावति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहिं लगनि-अगनि की ज्वाल॥

यहा पर यह ध्वनि निकलती है—"नायिका उस समय तुम्हे केवल सकोच बस नही मिल सकती थी। उसके न मिलने का यह अर्थ नही था कि वह तुमसे प्रेम नही करती थी। अब तुम्हारे चले आने पर वह तुम्हारे वियोग मे अत्यन्त पीडित है। तुम्हे शीघ्र ही चलकर उसकी प्रणय-याचना पूरी करनी चाहिए।"

(५) वेई गड़ि गाड़ें परीं उपट्यो हारु हियें न।
आन्यौ मोरि मतगु मनु मारि गुरेरनु मैंन॥

यहा पर यह ध्वनि निकलती है कि—"तुम मेरे पास केवल वासना-शान्ति के लिये आते हो, प्रेम से नही। तुम्हारी वासना जहा-कही शान्त हो जाती है, वही तुम चले जाते हो। तुम्हारा छल तुम्हारी छाती पर पडे हुए हार के निशानो से प्रकट हो रहा है। अत तुम्हारा मेरे पास आना व्यर्थ है। मै प्रेम की भूखी हूं, वासना-तृप्ति का साधन नही।"

(६) नेक हसौंहीं बानि तजि, लख्यौ परतु मुहुँ नीठि।
चौका-चमकनि-चौंध मैं, परति चौंधि सी डीठि॥

दातो की चमक में दृष्टि का चौधिया जाना केवल कल्पित उत्प्रेक्षा है। इससे नायक के प्रति यह व्यजित होता है—"तुम्हारा इस प्रकार संकुचित और लज्जित होकर सामने न देख सकना नायिका के हृदय में शका का सचार करता है। यदि तुम इसे मनाना चाहते हो तो साहस करके सामने देखो।" साथ यह भी व्यजित होता है—"नायिका तुम पर अविश्वास नही करती, न वह तुम पर रुष्ट है। स्वभाव ही हसने का है। इसीलिये वह मान का बहाना कर तुम्हे बना रही है।" नायिका के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—"नायक तुम्हारी इस हसी को सच मान रहा है, इसीलिये उसकी दृष्टि ऊपर नही उठती। वह अपराधी नही है। मैं भी समझती हू कि तुम उसे अपराधी नही समझ रही हो, केवल यह तुम्हारी हसी ही है। यदि तुम चाहती हो कि नायक निराश होकर यहा से चला न जावे तो तुम्हे यह मान छोड देना चाहिये।"

(७) मकराकृति गोपाल के साहत कुडल कान।
धर्‌यो मनो हिय-धर समरू ड्योढ़ा लसत निशान॥

यहां पर कल्पित उत्प्रेक्षा से ध्वनि निकलती है कि—"नायक तुम्हारे गुणों को सुनकर तुम पर अत्यन्त आसक्त हो गया है। तुम उसे अवश्य कृतार्थ करो।

(८) तिय तिथि तरुन-किसोर वय पुन्यकाल-सम दोनु।
काहूँ पुन्यनु पाइयतु वैस-संधि-सक्रोनु ॥

यहा यह ध्वनित होता है कि "रति-दान का सबसे अधिक उपयुक्त अवसर यही है।"

(९) सखि सोहति गोपाल कैं उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति मनौ पिए दावानल की ज्वाल ॥

यहा पर कल्पित उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है कि नायिका के सकेत स्थान पर न पहुंच सकने के कारण कृष्ण को तीव्र वियोग-वेदना का अनुभव करना पडा है।

(१०) बिरह-विपति दिनु परत हीं तजै सुखनु सब अग।
रहि अब लौं व दुखौ भये चलाचलै जिय-सग ॥

यहा पर कल्पित सहोक्ति अलकार से ध्वनित होता है—"मुझे मरने के बाद भी तुम्हारे वियोग दु.ख से छुटकारा नही मिल सकेगा।"

(११) भाल लाल बेंदी, ललन, आखत रहे विराजि।
इंदुकला कुज मैं बसी मनौ राहु-भय भाजि ॥

यहा पर कल्पित उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है—"उस नायिका का उपभोग करना सर्वथा सौभाग्य-वर्धक होगा" वाच्य का पर्यवसान तो सौन्दर्यातिशय वर्णन में ही हो जाता है। अतएव सौभाग्यातिशय की प्रतीति वाच्य सिद्ध्यग न होकर ध्वनि-काव्य की ही कही जावेगी। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में भी सौभाग्यातिशय की आशा ध्वनित होती है :—

(१२) तिय मुख लखि हीरा जरी बेंदी बढ़ै विनोद।
सुत-सनेह मानौ लियौ विधु पूरन बुधु गोद।

यहा पर भी कल्पित उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है कि "नायिका का समागम अनेकविध आनन्द, सौख्य और पुत्र-प्राप्ति का देने वाला होगा।"

ऊपर वस्तु तथा अलकार के स्वत सम्भव और कल्पित भेदो की व्यंजकता के आधार पर वस्तु ध्वनि का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। उक्त उदाहरणो के वाच्य तथा व्यग्य अर्थों के चमत्कार का तारतम्य स्वयं ही समझ लेना चाहिये। प्रत्येक उदाहरण का पृथक्-पृथक् विवेचन करने से ग्रन्थ के अनावश्यक रूप में अत्यधिक विस्तृत हो जाने की सम्भावना थी, अतः उनका विवेचन नही किया गया।

अर्थ-शक्तिमूलक अलंकार ध्वनि

ध्वनि और अलकार ये दोनों शब्द वस्तुतः विपरीत से जान पडते है। ध्वनि और अलकार का परस्पर वही सम्बन्ध है जो आभूष्य और आभूषण का होता

है। जिस प्रकार आभूषण का आभूष्य बन सकना सर्वथा असम्भव है,उसी प्रकार अलंकार भी ध्वनि नहीं हो सकता। किन्तु आचार्यों ने लिखा है कि अलंकार जब ध्वनि का रूप धारण कर लेता है, तब उसमें अलंकारिता का अपहार हो जाता है और यह अलंकार न होकर ध्वनि ही कहा जाता है। फिर भी उसे अलंकार ध्वनि उसी प्रकार कहा जाता है, जिस प्रकार कोई ब्राह्मण संन्यास ले लेने पर ब्राह्मणत्व से रहित हो जाता है, किन्तु फिर भी लोग उसे ब्राह्मण-सन्यासी ही कहा करते है। इस प्रकार यहा पर ब्राह्मण-श्रमण न्याय से भूतपूर्व गति अपना कर अलंकार-ध्वनि शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार अलकार-ध्वनि शब्द का आशय है—ऐसी ध्वनि जिसमें वाच्य होने पर अलकार भी कहला सकने की योग्यता हो अथवा ऐसी ध्वनि जो कि किसी अवस्था में अलकार रह चुकी हो।

अलकार का व्यंग्य होना प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। उद्भट इत्यादि आचार्यों ने उपमा रूपक इत्यादि को एक स्थान पर वाच्य के रूप मे उद्धृत किया है और दूसरे स्थान पर व्यग्य के रूप में। इस प्रकार अलकार की व्यंग्यता में अनुपपत्ति नही हो सकती। प्रायः देखा जाता है कि एक अलकार जहा पर वाच्य होता है वहा पर दूसरा अलकार व्यंग्य होता है। उदाहरण के लिये सन्देहालकार जहा पर वाच्य होता है, वहा पर उपमालकार व्यग्य होता है। इसी प्रकार दूसरे भी सादृश्यमूलक अलकारो में उपमा व्यग्य होती है। अतिशयोक्ति अलंकार तो प्रायः सर्वत्र ही व्यग्य होता है, क्योकि अलकार प्रयोग मे सामान्य स्थिति को बहुत बढाकर कहा ही जाता है। "मुख चन्द्रमा के समान है" इस उक्ति मे भी अतिशयोक्ति व्यग्य है। इस प्रकार अलकार-व्यग्यता का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। किन्तु सभी व्यग्य अलकारो को अलकार ध्वनि नही कह सकते। जहा पर वाच्य अलकार में चमत्कार का पर्यवसान हो वहा पर ध्वनि नही मानी जा सकती। ध्वनि वही पर मानी जा सकती है, जहा पर चमत्कार का पर्यवसान व्यग्य अलकारो में हो। अलकार ध्वनि में व्यग्य अलकार की प्रधानता होती है और वाच्य उसका उपस्कारक-मात्र (शोभाधायक-मात्र) होता है।

अलकार ध्वनि व्यग्य की दृष्टि से दो प्रकार की होती है (१) वस्तु व्यंग्यालकार ध्वनि और (२) अलकार व्यग्यालंकार-ध्वनि। व्यंजक वस्तु और अलकार के भी दो-दो भेद होते है (१) सम्भव और (२) कल्पित। इस प्रकार अलकार ध्वनि चार प्रकार की हो सकती है। (१) सम्भव वस्तु से अलकार ध्वनि, (२) कल्पित वस्तु से अलकार-ध्वनि, (३) सम्भव अलकार से अलकार-ध्वनि और (४) कल्पित अलकार से अलंकार-ध्वनि। यहा पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वस्तु से जहा कही भी अलकार की व्यजना होती है वहा अलकार अनिवार्य रूप से ध्वनि-रूपता को धारण कर लेता है। इसके प्रतिकूल जहां अलकार से अलंकार ध्वनि

होती है वहा यह विचार करना पडता है कि चमत्कार का पर्यवसान वाच्यालकार में है या व्यग्यालकार में। यदि चमत्कार का पर्यवसान व्यग्यालकार में होता है तो वहा पर ध्वनि काव्य कहा जाता है और यदि वाच्यालकार में होता है तो वहा पर ध्वनि काव्य नही कहा जाता।

बिहारी अलकार प्रयोग के लिये प्रसिद्ध है। ७०० दोहो मे सम्भवत. कोई भी दोहा ऐसा नही होगा, जिसमें किसी-न-किसी अलकार का चमत्कार दृष्टिगत न हो रहा हो। जिस प्रकार बिहारी ने वाच्यालकारो का उन्मुक्त प्रयोग किया है उसी प्रकार अनेक स्थानो पर बडी ही मार्मिक अलकार व्यजनायें भी विद्यमान है जिनका सौन्दर्य देखते ही बनता है। साथ ही चारो प्रकार की अलकार व्यजनाओ के उदाहरण भी अधिगत हो जाते है। यहा चारो प्रकार की अलकार ध्वनि का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया जा रहा है :—

(क) स्वत सम्भव वस्तु से अलकार ध्वनि—

(१) **बिय सौतिनु देखत दई अपने हिय त, लाल।**
फिरति सबनु म डहडही उहै मरगजी माल॥

माला मसली हुई तथा शोभाहीन है उसमे नायिका की चमक बढ जाती है जो कि विरोध है। इस प्रकार यहा पर विरोधाभास अलकार ध्वनि है —

(२) **घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि-पुज।**
यमुना-तीर तमाल तरु-मिलित मालती कुंज॥

यहा पर जिस प्रकार मालती लता तमाल वृक्ष से पूर्णरूप से चिपटी हुई है उसी प्रकार मै भी तुम से स्वच्छन्द और परिपूर्ण आलिगन करूंगी, यह उपमा व्यक्त होती है। इसी प्रकार मै मालती लता के समान लचकीली, कोमल और विलासमयी हू तथा तुम भी तमाल वृक्ष के समान श्याम वर्ण के तथा रूपवान् हो, यह उपमा भी ध्वनित होती है।

(३) **उन हरकी हँसि कै, इतै इन सौंपी मुसकाइ।**
नैन मिले मन मिलि गए दोऊ, मिलवत गाय॥

यहा सहोक्ति अथवा दीपक की व्यजना होती है।

(४) **रँगराती राते हिये प्रियतम लिखी बनाइ।**
पाती काती विरह की छाती रही लगाइ॥

यहा पर—"वह प्रियतम का लिखा हुआ पत्र नहीं था अपितु साक्षात् प्रियतम ही था" इस अपन्हुति की व्यजना होती है अथवा "पत्र को प्राप्त कर नायिका को इतना अधिक आनन्द आया मानो प्रियतम से ही समागम हो गया हो" इस उत्प्रेक्षा की व्यजना होती है।

उपर्युक्त पद्यो में अलकार व्यंजना ऐसी व्यक्त होती है जो लोक में भी सम्भव है। चमत्कार का पर्यवसान भी अलंकार में ही होता है अतएव स्वतःसम्भव वस्तु से अलकार-ध्वनि के ये उदाहरण है :—

(ख) कल्पित-वस्तु से अलकार-ध्वनि के उदाहरण :—

(१) जुवति जोन्ह मैं मिलि गई, नेकु न होति लखाइ।
सौंधे कैं डोरैं लगी अली चली सँग जाइ॥

चन्द्रिका में सर्वथा मिल जाना और सखियो का सुगन्ध के द्वारा साथ में चलना कवि-कल्पित वस्तु है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि—"नायिका चन्द्रिका की अपेक्षा अधिक उत्तम है। क्योकि नायिका में सौन्दर्य और सुगन्ध दोनो है जबकि चन्द्रिका में केवल सौन्दर्य ही है सुगन्ध नही।" इस प्रकार यहा पर व्यतिरेकालकार ध्वनि है। यद्यपि व्यजक वस्तु मे मीलित अलकार भी है तथापि मीलित मात्र से ही ध्वनि नही निकल सकती। इस प्रकार "सौधे के डोरे" में यद्यपि रूपक विद्यमान है किन्तु रूपक व्यजक कोटि मे नही आता क्योकि व्यतिरेक व्यजना में रूपक कारण नही होता। अतएव यहा पर कल्पित वस्तु से व्यतिरेकालकार ध्वनि मानी जानी चाहिये।

कहि, लहि कौनु सकै दुरी सौनजाइ मैं जाइ।
तन की सहज सुबास बन देती जौ न बताइ॥

यहा पर भी पहले के समान ही व्यतिरेकालकार की ध्वनि होती है।

कौन भाँति रहिहै विरदु अब देखिबो, मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥

यहा पर भगवान् का गृद्ध इत्यादि को तार-तार कर गिध जाना और बिहारी से आकर उलझना एक कवि कल्पित वस्तु है। इससे ध्वनि निकलती है—"मै वास्तविक पापी हू, गृद्ध इत्यादि वास्तविक पापी नही थे।" इस प्रकार यहाँ पर भी व्यतिरेक ध्वनि ही है।

ह्वै कपूरमनिमय रही, मिलि तन-दुति मुकतालि।
छिन-छिन खरी विचच्छिन्नौ लखति छ्वाइ तिनु आलि॥

यहाँ पर भ्रमालकार व्यग्य है।

चलत-चलत लौं लै चले सब सुख सग लगाइ।
ग्रीसम-बासर सिसिर-निसि प्यौ मो पास बसाइ॥

यहा पर सम्बन्धातिशयोक्ति व्यंग्य है।

जंघ जुगुल लोइन निरे करे मनौ विधि मैन।
केलि-तरुन दुखदैन ए, केलि तरुन-सुखदैन॥

यहां पर—"केलि तरुन दुखदैन ये, केलि तरुन-सुखदैन" में शब्दशक्ति-मूलक विरोधाभास ध्वनि है। किन्तु "केलि तरुन दुखदैन ये" केवल इतने अंश में ही कल्पित वस्तु से अर्थशक्तिमूलक व्यतिरेक ध्वनि निकलती है।

तनु भूषन, अंजन दृगनु, पगनु महावर-रंग।
नहिं सोभा को साजियत कहिं वे कोरे अंग॥

यहां पर मीलित ध्वनि है।

अलंकार ध्वनि का तीसरा प्रकार यह है कि कहीं-कहीं वाच्य अलंकार से दूसरे अलंकार की व्यंजना होती है और उस अलंकार में ही चमत्कार का पर्यवसान होता है। व्यंजक अलंकार दो प्रकार का हो सकता है—(१) या तो वह अलंकार जो लोक में स्वतः सम्भव होता है अथवा (२) केवल कल्पित ही होता है। यहां पर प्रथम प्रकार के (स्वतः सम्भव) अलंकार से अलंकार ध्वनि के कतिपय उदाहरण दिये जा रहे हैं।

औरैं-ओप कनीनिकनु गनी घनी-सिरताज।
मनीं धनी के नेह की बनीं छनीं पर लाल॥

यहां पर "नायिका की कनीनिकायें नायक के प्रेम रूपी धन की मणि बन गई हैं" यह स्वतः सम्भवी रूपक है। इससे यह ध्वनि निकलती है—"जिस प्रकार आकर्षण सम्मोहन इत्यादि अनेक कामनाओं से प्रेरित होकर लोग मणि धारण करते हैं और उस मणि को विधि के अनुसार पतले से वस्त्र में ढक कर रखते हैं तथा उस मणि के प्रभाव से अपने मन चाहे प्रियतम के आकर्षण और वशीकरण में समर्थ होते हैं उसी प्रकार नायिका ने भी झीने वस्त्र से ढकी हुई अपनी कनीनिकाओं के प्रभाव से नायक पर मानो आकर्षण और वशीकरण मन्त्र का प्रयोग कर दिया है जिससे वह सभी प्रियतमाओं को छोड़कर केवल नायिका का ही वशवर्ती होकर रह गया है।" इस प्रकार यहां पर स्वतः सम्भव रूपक में उपमा-संकीर्ण उत्प्रेक्षा ध्वनित होती है—"नायिका वशीकरण का प्रयोग करने वाले के समान है। नायिका की पुतलियां वशीकरण के निमित्त धारण की हुई वस्त्रावृत मणियों के समान हैं, उनसे नायिका ने नायक पर मानो वशीकरण का प्रयोग कर दिया है जिससे नायक उसी का वशवर्ती बन गया है।" यह अलंकार का स्वरूप होगा।

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक-कली न रली करै अली, अली जिय जानि॥

यहां पर स्वतः सम्भवी दृष्टान्त है। उससे ध्वनित होता है—तुम्हारी सौतें अकौड़े की कली के समान हैं, तुम मालती तथा गुलाब का फूल हो, नायकरूपी भौंरा तुम जैसी मालती को छोड़कर तुम्हारी सौतरूपी अकौड़े की कली के पास क्यों जाने

लगा ?" इस प्रकार यहां पर स्वत. सम्भवी दृष्टान्त से रूपक ध्वनित होता है। अथवा "सौत तुम्हारे समान नही हो सकती" यह व्यतिरेक भी यहा पर ध्वनित होता है।

सब ही त्यौं समुहाति छिनु, चलति सबनु दै पीठि।
वाहि त्यौं ठहराति यह, कविलनवी लौं, दीठि॥

यहा पर उपमा से "नायिका के मनरूपी धन का चोर वही नायक है" यह रूपक ध्वनित होता है।

कौन सुनै, कासौ कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौ लेत है ए बदरा बदराह॥

यहा पर लुप्तोत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है -"जितना अधिक वसन्तकाल उद्दीपक होता है उतनी अन्य कोई ऋतु उद्दीपक नही होती। अन्य ऋतुओ मे तो जीवित रहा जा सकता है किन्तु वसन्तकाल मे जीवित रहना असम्भव है।" इस प्रकार यहा पर व्यतिरेक ध्वनि है।

केसरि कै सरि क्यौं सकै चंपकु कितकु अनूपु।
गात-रूपु लखि जातु दुरि जातरूप कौ रूपु॥

यहा पर व्यतिरेक अलकार मे ध्वनित होता है कि नायिका, नायिका के ही समान सुन्दर है। इस प्रकार यहा व्यतिरेक मे अनन्वय ध्वनित होता है।

मलिन देह, बेई बसन, मलिन बिरह कै रूप।
पिय-आगम औरै चढी आनन आप अनूप॥

यहा पर सम्बन्धातिशयोक्ति से चमक बढने का कारण (स्नानादि) न होते हुए भी चमक बढ जाना रूप विभावना अथवा मलिनता का कारण होते हुए भी मलिनता का न होना रूप विशेषोक्ति ध्वनित होती है।

धनि यह द्वैज; जहां लख्यौ, तज्यौं दृगनु दुख-दंदु।
तुम भागनु पूरब उयौ अहो ! अपूरबु चंदु॥

यहा पर रूपकातिशयोक्ति मे व्यतिरेकालकार ध्वनित होता है। व्यतिरेक का स्वरूप यह होगा --"चन्द्र को देखकर विरहिणी पीडित होती है किन्तु नायक के मुखरूपी चन्द्र को देखकर विरह व्यथा शान्त होती है। इसी प्रकार प्राकृत चन्द्र पूर्णमासी को ही पूरा निकलता है किन्तु नायक का मुखरूपी चन्द्र सर्वथा पूर्ण रहता है। प्राकृत चन्द्र के उदय की दिशा निश्चित होती है, द्वितीया का चन्द्र केवल पश्चिम में ही उदित होता है किन्तु नायक का मुखरूपी चन्द्र इस प्रकार के किसी के बन्धन में बन्धा हुआ नही है।" यद्यपि यहा पर अपूरब शब्द का प्रयोग किया गया है तथापि उसका पर्यवसान सौन्दर्याधिक्य मे ही हो जाता है अत व्यतिरेक व्यग्य ही रह जाता है।

(घ) कुछ अलंकार ऐसे होते है, जिनकी समानता लोक में नही हो सकती, वे केवल कल्पना से ही प्रसूत होते है। इस प्रकार अलकार जब किसी अन्य अलकार के उन्नयन में कारण बनते है, तब उन्हे कवि कल्पित अलकार मे ध्वनित होने वाला अलकार कहा जाता है। बिहारी में इस प्रकार के भी कतिपय उदाहरण प्राप्त हो जाते है। कुछ उदाहरणो का साधारण परिचय यहा पर दिया जा रहा है :—

(१) जरी-कोर गोरे बदन बढ़ी खरी छवि देखु।
लसति मनौ बिजुरी किए सारद-ससि-परिबेखु॥

यहां पर उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है कि—"नायिका मे बिजली जैसी चमचमाहट और चन्द्रिका जैसा शीतल आल्हादकत्व विद्यमान है। बिजली में शीतलता नही है और चन्द्रिका में चमचमाहट नही। अतएव नायिका चादनी और बिजली दोनों की अपेक्षा अधिक आनन्ददायिनी है।" इस प्रकार यहा पर उत्प्रेक्षा से व्यतिरेक ध्वनित होता है। अथवा यदि बिजली और चादनी दोनो की शोभा एक में मिला दी जाये तो नायिका से उसकी उपमा दी जा सकती है इस सम्भावनालकार की ध्वनि होती है।

(२) भूषन-भार संभारिहै क्यौं इहि तनु सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं सोभा ही कैं भार॥

यहा पर—"शोभा के भार से सीधे पैर न पडने मे कवि-कल्पित काव्यलिंग अलंकार है" इससे सीधे पैर न पडने का कारण न होते हुए कार्य की उत्पत्ति रूप विभावना ध्वनित होती है।

(३) मानहु मुह-दिखरावनी दुलहिहि करि अनुरागु।
सासु सदनु मनु ललन हूं, सौतिनु दियौ सुहागु॥

यहा पर उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है कि "नायिका का नायक से साक्षात्कार बाद में हुआ, नायक का मन नायिका के वश मे पहले ही हो गया और नायक का मन नायिका के परवश बाद मे हुआ है सौतो मे निराशा पहले से ही उत्पन्न हो गई।" इस प्रकार यहा पर कवि कल्पित उत्प्रेक्षा से अक्रमातिशयोक्ति ध्वनित होती है।

(४) झीनैं पट मैं झलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिंधु मैं लसति सपल्लव डार॥

यहा पर कल्पित उत्प्रेक्षा से ध्वनित होता है—"नायिका की उपमा किसी लौकिक पदार्थ से नही दी जा सकती। नायिका सुरतरु की सपल्लव डाल के समान है और सुरतरु की सपल्लव डाल नायिका के समान है।" इस प्रकार यहा पर उपमेयोपमा व्यंग्य है।

उभय शक्ति-मूलक ध्वनि—

ऊपर शब्द तथा अर्थमूलक ध्वनियो का विवेचन किया गया है। वस्तुतः यदि देखा जावे तो ज्ञात हो जावेगा कि शब्द और अर्थ की व्यजकता का सर्वथा विभाजन असम्भव है। जहा शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि होती है वहा पर अर्थ का सहकार अवश्य अपेक्षित होता है। उसी प्रकार जहा अर्थशक्तिमूलक ध्वनि होती है वहा भी शब्द का सहकार अनिवार्य है। दोनो में से किसी एक के न होने पर ध्वनि सर्वथा असभव हो जाती है। तथापि इसका विभाजन इस आधार पर किया जाता है कि जहा पर शब्द अपरिवर्त्य होते है वहा शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि होती है और जहा शब्द परिवर्त्य होते है वहा अर्थ शक्ति-मूलक ध्वनि मानी जाती है। शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि के जितने भी उदाहरण दिये गये है उनके परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जावेगी कि किसी भी ध्वनि में कारणभूत सभी शब्द कभी भी अपरिवर्त्य नही हो सकते। शब्दशक्ति-मूलक ध्वनियो मे कुछ शब्दो में तो परिवर्तनीयता होती है और कुछ में नही। किन्तु विचार यह किया जाता है कि वाक्यान्तर्गत कितने शब्द व्यजक है। यदि सभी व्यजक शब्द अपरिवर्त्य होते है तो ऐसी दशा में उसे शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि कहा जाता है। इसके प्रतिकूल व्यजक शब्दो में ही यदि कुछ शब्द परिवर्तनक्षम हो और कुछ शब्द परिवर्तनक्षम न हो तो ऐसी दशा में उसे उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि की सज्ञा प्राप्त होती है। बिहारी ने एक-आध स्थानो पर उभय-शक्ति से इस प्रकार की व्यजनाये की है। दो-एक उदाहरण लीजिये :—

जदपि सुन्दर, सुघर, पुनि सगुनौ दीपक-देह।
तऊ प्रकासु करै तितौ, भरियै जितौ सनेह॥

यहा पर यह ध्वनि निकलती है कि—"तुम्हारा यह कहना असत्य है कि नायिका कुरूप है। वास्तव मे तुम्हारे प्रेम की कमी के कारण ही वह ऐसी ज्ञात होती है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश मे स्नेह की पूर्णता कारण होती है उसी प्रकार यदि तुम उससे पूरा प्रेम करो तो वह भी सुन्दर ही प्रतीत होगी।" यहा पर मुख्य रूप से व्यजक शब्द ५ है —सुन्दर, सुघर प्रकाश और स्नेह। सुन्दर, सुघर और प्रकाश शब्द परिवर्तनक्षम है। अतएव यहा पर उभयशक्ति-मूलक ध्वनि है।

ध्वनि मार्ग के उपर्युक्त विवेचन मे यह स्पष्ट हो गया होगा कि बिहारी में व्यजना व्यापार का पूर्ण तथा व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। बिहारी के पूर्व के आचार्यो ने व्यजना व्यापार का जो मार्ग निर्दिष्ट किया था और ध्वनि के क्षेत्र में आने वाले काव्य-जगत् के जो भेदोपभेद बतलाये थे, बिहारी ने उनका पूरा अनुसरण किया और सभी प्रकार के उदाहरण बिहारी में प्रचुर मात्रा में अधिगत होते हैं। यहा पर यह ध्यान रखने की आवश्यकता है, कि इस दिशा में बिहारी को प्रभावित करने वाले दो महान् आचार्य थे—काव्य-प्रकाशकार श्री मम्मटाचार्य तथा

पण्डित राज जगन्नाथ। ध्वनि मार्ग का पूर्ण विवेचन तथा विश्लेषण इन्ही दो आचार्यो ने किया था। बिहारी के उदाहरणो का विवेचन करने से ज्ञात होता है कि बिहारी मम्मट की अपेक्षा पण्डितराज से अधिक प्रभावित हुए थे। यही उचित भी था। क्योकि पण्डितराज से बिहारी का प्रत्यक्ष सबन्ध था और मम्मटाचार्य का परिचय केवल पुस्तक के द्वारा ही था। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष विचार-विनमय के द्वारा एक दूसरे के दृष्टिकोण से सहमत हो जाना स्वाभाविक ही था।

ध्वनि-काव्य के भेदोपभेदो के विश्लेषण करने में पण्डितराज तथा काव्य-प्रकाशकार में दो स्थूल भेद पाये जाते है। पण्डितराज और काव्यप्रकाशकार दोनो ने आनन्दवर्धन के अनुसार व्यग्यार्थ के चमत्कार-पर्यवसायी तथा प्रधान होने पर ध्वनि काव्य का होना माना है। काव्य-प्रकाशकार ने ऐसे काव्य को उत्तम काव्य की सज्ञा प्रदान की है। पण्डितराज ने ऐसे काव्य को उत्तमोत्तम काव्य कहा है। पण्डितराज ने काव्य का एक भेद और माना है। "जहा पर व्यग्यार्थ चमत्कार-पर्यवसायी तो हो किन्तु प्रधान न हो या तो अपराग होकर गुणीभूत हो गया हो या वाच्य-सिद्ध्यग होकर गुणी भाव को प्राप्त हो गया हो वहा पर उत्तम काव्य होता है।" काव्य प्रकाशकार की दृष्टि मे इस प्रकार के काव्य को गुणीभूत व्यग्य मानकर मध्यम काव्य की सीमा में सन्निविष्ट करना होगा। बिहारी के कुछ दोहे ऐसे हैं जिन्हे हम काव्य-प्रकाशकार के अनुसार गुणीभूत व्यग्य मे रखने के लिए बाध्य हो जाते है, जबकि अपने चमत्कार के कारण वे सुविधापूर्वक उत्तम काव्यत्व के अधिकारी है। इससे ज्ञात होता है कि बिहारी पण्डितराज के समान उत्तमोत्तम तथा उत्तम इन दो भेदो को पृथक् मानते थे। इसी लिये प्रस्तुत निबन्ध मे बिहारी के उत्तम काव्य का निरूपण ध्वनि काव्य से पृथक् किया जावेगा।

पण्डितराज और काव्यप्रकाशकार में दूसरा अन्तर यह है, कि काव्यप्रकाशकार ने अर्थ शक्ति-मूलक ध्वनि के १२ भेद किये थे। पण्डितराज ने इन भेदो को घटाकर के वलद्भेद माने। पण्डितराज कवि-कल्पना और कवि-निबद्ध-वक्तृ-कल्पना को पृथक् नही मानते, किन्तु दोनो भेदो का कल्पना के रूप में एकीकरण कर लेते है। यद्यपि पण्डितराज की अपेक्षा काव्य प्रकाशकार की मान्यता अधिक समीचीन प्रतीत होती है, क्योकि कवि स्वय जिस बात को कहता है, यदि वही बात नायक या नायिका कहे तो उसमें कुछ न कुछ विच्छित्ति-वैचित्र्य अवश्य होता है। विच्छित्ति-वैचित्र्य ही भेद का साधक माना जाता है। किन्तु बिहारी के उदाहरणो का अनुसधान करने पर ज्ञात होता है कि बिहारी ने समस्त कल्पित व्यजको को एक ही माना है। किन्तु पहली बात तो यह है कि बिहारी की सामान्य उक्तिया बहुत कम है, जो सामान्य उक्तिया है भी, वे भी सूक्तिमात्र है उत्तम काव्य की सीमा में नही आती। दूसरी बात यह है कि उत्तम काव्य की सीमा में आने वाली समस्त उक्तिया किसी न किसी पात्र के मुख से कहलाई गई है। ऐसी दशा में केवल कवि-कल्पना को अवसर ही

नही रह जाता है। कवि की भक्ति, राज-विषयक रति और प्रकृतिविषयक-रति इत्यादि की उक्तिया इतनी न्यून है कि उनके आधार पर कविकल्पित वस्तु तथा अलकार के सभी भेदो को ढूंढ निकालना सर्वथा असभव है। ऐसी दशा में यही मानना उचित जान पडता है कि कवि ने पण्डितराज की मान्यता का अनुवर्तन करते हुए अर्थशक्तिमूलक-ध्वनि के केवल ८ भेद मान कर ही काव्य-रचना की थी। यही बिहारी के ध्वनि-काव्य का सक्षिप्त परिचय है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष सरलता-पूर्वक निकाले जा सकते है —

(१) बिहारी के सामने अलकार-शास्त्र की अनेक प्रकार की प्रवृत्तिया विद्यमान थी। सभी प्रवृत्तियो और उद्देश्यो का समाहार ध्वनि-काव्य के रूप में हो चुका था। बिहारी ने ध्वनि-काव्य को ही मान्यता प्रदान की और ध्वनि सिद्धान्त के आधार पर ही काव्य-रचना प्रस्तुत की।

(२) बिहारी में ध्वनि-काव्य के सभी भेदों के उदाहरण प्राय: प्राप्त हो जाते है। अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि की तो एक सामान्य सी बात है। शब्दशक्ति-मूलक तथा अविवक्षित-वाच्य के भी भेद बिहारी में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं।

(३) बिहारी ने निरूढा लक्षणा के लक्षक शब्दों को भी व्यजना के रूप में प्रस्तुत किया है। यह एक नया मार्ग है। जिसका निरूपण हमें काव्यप्रकाशकार या पण्डितराज मे प्राप्त नही होता।

(४) बिहारी के सामने ध्वनि-काव्य के भेदोपभेदो के विषय में दो आचार्यों के सिद्धान्त विद्यमान थे—काव्यप्रकाशकार के सिद्धान्त और पण्डितराज के सिद्धान्त। अधिक निकटवर्ती होने के कारण बिहारी पर पण्डितराज का प्रभाव बहुत अधिक पडा है।

(५) बिहारी के काव्य में कुछ ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनको काव्य-सौंदर्य और चमत्कार के कारण हम मध्यम काव्य की श्रेणी में नही रख सकते। उनमें गुणीभूत व्यंजना इतनी चमत्कारपूर्ण है कि हम उन्हें उत्तम-काव्य कहने के लिये बाध्य हो जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि बिहारी ने इस दिशा में पण्डितराज का आदर्श अपनाया है।

(६) यद्यपि कुछ दोहो के विषय में हम यह कह सकते हैं कि वहां पर कवि-कल्पित वस्तु और कवि-निबद्ध वक्तृ-कल्पित वस्तु दोनों में भेद है, तथापि सभी भेद ऐसे नहीं प्राप्त होते इससे भी यही ज्ञात होता है कि बिहारी ने पण्डितराज के अनुसार कल्पना के रूप में दोनों का एकीकरण किया है और संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य अविवक्षितान्यपरवाच्य के केवल ८ भेद माने हैं।

पण्डितराज के अनुसार उत्तम काव्य

जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है कि बिहारी ने ध्वनि-काव्य के भेदोपभेदो का निर्धारण करने की दिशा मे काव्यप्रकाशकार की अपेक्षा पण्डितराज का अनुसरण विशेषरूप से किया था। पण्डितराज ने व्यग्यार्थ के पूर्ण प्राधान्य मे उत्तमोत्तम काव्य माना और जहा व्यग्यार्थ की गौणता में काव्यप्रकाशकार के अनुसार ही मध्यम काव्य का होना स्वीकार किया। किन्तु इन दोनो के बीच मे एक नई कोटि और स्वीकार की, जिसको उन्होने उत्तम काव्य की सज्ञा प्रदान की। कुछ स्थल ऐसे होते है जहा पर व्यग्यार्थ या तो दूसरे अर्थ का पूरकमात्र होने के कारण वाच्यसिद्ध्यग होकर गुणीभूत हो जाता है अथवा परमुखापेक्षी होकर गौण बन जाता है। किन्तु रमणीयता व्यग्यार्थ मे ही इतनी उत्कट कोटि की होती है कि गुणीभूत होकर भी वह अपना महत्व नही खोती। उस व्यंग्यार्थ को हम ध्वनि की सीमा मे इसलिए सन्निविष्ट नही कर सकते क्योंकि वह व्यग्यार्थ गुणीभूत होकर अपनी प्रधानता खो चुका होता है, उसे हम ध्वनि से सहसा बाह्य भी नही कर सकते क्योकि रमणीयता तो तद्गत ही होती है। अत इसके लिए एक पृथक् कोटि बनाना अनिवार्य है। इसी प्रकार के काव्य को पण्डितराज ने उत्तम काव्य की सज्ञा प्रदान की है। बिहारी के उदाहरणो का पर्यवेक्षण करने से हमें ज्ञात हो जाता है कि बिहारी भी पण्डितराज के मतानुयायी थे। निम्नलिखित दोहा लीजिये :—

बालमु बारै सौति कै सुनि पर नारि-बिहार।
भो रसु अनरसु, रिस, रली, रीझि खीझ इक बार॥

यहा नायिका के हृदय में अनेक भावनाये प्रकट हुई है। रस इसलिये हुआ कि सौत को दुःख मिला। अनरस इसलिये हुआ कि एक सौत तो थी ही दूसरी और तैयार हुई। रिस इसलिए हुई कि नायक मेरे ही यहा क्यो नही आया। रली इस बात की कि सौत इतनी गुणवती नही है कि प्रियतम को अपने वश में करके अपने पास रख सके। रीझ इस बात की कि प्रियतम मेरे ऊपर अधिक अनुरक्त है क्योकि मेरी पारी में कही नही जाता। खीझ इस बात की कि बुरी आदत पडी, सम्भव है कि कभी मेरी पारी के दिन भी नायक परस्त्री के पास जाय। यहा पर रस इत्यादि शब्दो की व्यञ्जनाए निकलती है। वे वास्तव में रस इत्यादि में हेतु हैं। अतः उन्ही के अर्थों की पूरक हैं। किन्तु सौदर्य का पर्यवसान व्यग्य-गत ही है। अतः इसे हम उत्तम काव्य की कोटि में ले सकते हैं। यद्यपि उपमद्योपमर्दक भाव को लेकर भाव-शबलता के रूप में यह ध्वनि काव्य का भी उदाहरण है तथापि पृथक्-पृथक् आस्वादनीयता के क्षेत्र में यह उत्तम काव्य ही कहा जावेगा। इस प्रकार यहां पर इन दोनों का सांकर्य है। एक दूसरा उदाहरण :—

कहत नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैननु ही सब बात॥

यहा पर उसी प्रकार व्यग्यार्थ वाच्यसिद्ध्यंग होकर गुणीभूत होते हुए भी चमत्कार-पर्यवसायी होने के कारण उत्तम काव्य की कोटि में ही आवेगे ।

भगवान् कृष्णविषयक दोहो में प्रायः कवि की भगवद्विषयक रति प्रधान हो गई है । वहा पर भगवान् के शृ गार या वीर रूप का वर्णन चमत्कारपर्यवसायी होते हुए भी भगवद्रति-प्रवण होने के कारण गुणीभूत होकर उत्तम काव्य की कोटि में आता है । एक उदाहरण :—

गोपिनु सग निसि सरद की रमत रसिकु रस रास ।
लहा छेह कति गतिनु की सबनु लखो सब–मास ।।

यहा पर भगवान् की क्षिप्रता, नृत्य कौशल और शृंगारिक, विलास, आनन्द साधना में हेतु है किन्तु वह कवि-गत भगवद्रति-प्रवण होने के कारण गुणीभूत होकर उत्तम काव्य कहलाने का अधिकारी है । इस प्रकार अन्य उदाहरणो के विषय में भी समझना चाहिये ।

तृतीय अध्याय

असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य अथवा रस-ध्वनि

श्री अभिनव गुप्तपादाचार्य ने विवक्षितान्य पर वाच्य के तीनों भेदो (वस्तु, अलंकार और रस) में रसध्वनि को ही काव्यत्व का प्रयोजक माना है। वस्तु तथा अलंकार ध्वनियाँ तभी काव्यता की प्रयोजक हो सकती हैं जब ये रस पर्यवसायी हो कर आस्वाद-रूपता को धारण कर लेती है। रसध्वनि उपलक्षण मात्र है। इस में रसध्वनि, भाव ध्वनि, रसाभास ध्वनि, भावाभास ध्वनि, भाव-संधि, भावोदय और भावशबलता इत्यादि उन समस्त तत्वों का उपादान हो जाता है जहाँ पर किसी प्रकार की चित्तवृत्ति आस्वाद रूपता को धारण करती है। जब स्थायिनी चित्तवृत्ति औचित्य प्रवृत्ति के साथ आस्वाद-रूपता को धारण करती है तब उसे रसध्वनि कहते हैं। जब व्यभिचारिणी अथवा सचारिणी चित्तवृत्ति आस्वाद-रूपता को धारण करती है तब उसे भावध्वनि कहते है। ये दोनो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ अनौचित्य प्रवृत्त हो तो क्रमश. रसाभास और भावाभास हो जाते है। इसी प्रकार किसी भी भाँति की चित्तवृत्ति का उदय, शमन या शबलता भी आस्वादानुरूप होकर भावोदय, भाव शान्ति और भाव शबलता का रूप धारण कर लेते है। यहाँ पर सक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी प्रकार की चितवृत्ति आस्वाद-रूपता को किस प्रकार धारण कर लेती है।

(१) रसास्वादन की प्रक्रिया

चित्तवृत्तियाँ या भावनाये प्रपंचात्मक विश्व का प्रतिभासमात्र होती हैं। जिस प्रकार प्रपंचात्मक विश्व अनन्त है उसी प्रकार उसकी प्रतिफलन-रूपिणी भावनाये भी अनन्त ही होती हैं। यही अनन्तता काव्य की अनेकरूपता की विधायक होती है। भावना सर्वदा व्यक्ति सापेक्षिणी होती है। अतः भाव-क्षेत्र में व्यक्ति वैचित्र्य का भी परित्याग नहीं किया जा सकता। इस प्रपंचात्मक विश्व में अनेक प्रकार के कार्यादिकों का अवलोकन करते रहने से उन कार्यादिको के प्रति हमारे अंतःकरणों में एक स्थायी आनन्द पद्धति आविर्भूत हो जाती है। हम लोक में प्रति दिन अनेक भावनाओ का अनुभव किया करते है। कभी हम नवयुवकों और नवयुवतियो के हाव-भाव चेष्टा इत्यादि का अवलोकन करते हैं। कभी हम किसी के उत्साह से प्रभावित होते हैं और कभी इसी प्रकार की दूसरी भावनायें अपना मूर्त रूप हमारे सामने प्रकट किया करती हैं। इनसे हमारे अतःकरणों में कौतूहल हर्ष विस्मय निर्वेद इत्यादि अनेक भावनाये आविर्भूत होती रहती हैं। यद्यपि ये भावनाये आश्रय तथा आलम्बन दोनों दृष्टियों से व्यक्तिगत ही होती हैं

तथापि इनमें एक साधारण धर्म अवश्य विद्यमान रहता है जो भेद में अभेद स्थापित करने में कारण होता है। अनेक व्यक्ति जिन भावनाओं का अनुभव करते हैं उनमें एकसूत्रता और एकरूपता अवश्य विद्यमान रहती है। हम जिस परिस्थिति में जिस भावना का आस्वादन करते है उसी या उससे मिलती-जुलती भावना का आस्वादन दूसरे लोग भी करते है या कर सकते है। उसे हम भावना के साधारण धर्म के नाम से अभिहित कर सकते हैं। जिस प्रकार गाय इत्यादि विभिन्न सांसारिक पदार्थों का अवलोकन करने से उनसे सम्बन्धित एक साधारण धर्म गोत्व जाति अथवा आकृति हमारे अंतःकरणो में स्थायी रूप से अपना घर कर लेती है और जब उसी से अनुस्यूत कोई दूसरा पदार्थ हमारे सामने प्रस्तुत किया जाता है तब उसके प्रत्यभिज्ञान में हमें कुछ भी विलम्ब नही लगता। इसी प्रकार भावना का जो साधारण धर्म हमारे अंतःकरणों में वासना रूप में विद्यमान होता है, जब हमारे सामने उसी से सम्बद्ध किसी परिस्थिति का उपादान किया जाता है तब हमारे अत.करणो में वही भावना आविर्भूत होकर आस्वादन का कारण बन जाती है। यह भावना किसी एक व्यक्ति से सम्बन्धित नही होती अपितु साधारण धर्म के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान रहती है और उपर्युक्त परिस्थिति को प्राप्त कर आस्वादन को प्रकट करने में निमित्त हो जाती है। लोक में हमारी भावनाये हमारे व्यक्तित्व से पृथग्भूत होकर विद्यमान नही रह सकती। उन पर व्यक्तित्व की छाप पडना अनिवार्य हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि हम अपने शत्रु के किसी भी कार्य को देखेगे तो उसके निर्णय या आस्वादन में हमारी शत्रुता मध्यवर्तिनी होकर अवश्य आयेगी और उसके विषय में हमारे विचार बिलकुल वैसे ही नही होगे जैसे एक मित्र से सम्बद्ध उसी प्रकार के विषय में हमारे विचार होगे। यदि हम अपनी प्रियतमा के प्रति किसी दूसरे व्यक्ति की बुरी चेष्टाये देखेगे तो हमारे हृदय में तटस्थ व्यक्ति के समान कौतूहलमय आनन्द के स्थान पर ईर्ष्या भाव की ही जागृति होगी। किन्तु कला के क्षेत्र में ऐसा नही होता। कवि हमारे सामने जिस परिस्थिति का चित्रण करता है वह हमारे अथवा हमारे शत्रु से किसी प्रकार भी सम्बद्ध नही होती। अतएव उसमें हमारे अंत.करणो में विद्यमान भावना के साधारण धर्म के उद्‌बोधन की क्षमता विद्यमान होती है। आचार्यो ने इस रसास्वादन के उद्‌बोधन की प्रक्रिया में सात्विकता की प्रधानता मानी है। इसका आशय यह है कि लौकिक व्यवहारों में हमारे अत.करण रजोगुण तथा तमोगुण से वासित रहते हैं और हम शुद्ध सात्विकता का अनुभव नहीं कर पाते। हम लोक में किसी भी कार्य-व्यवहार का निर्णय अपनी प्रकृति के अनुसार किया करते हैं किन्तु काव्यजगत् में हमारे अत:-करणों से रजोगुण और तमोगुण का आवरण भग हो जाता है और शुद्ध सात्विकता का आविर्भाव हो जाने से हम आप प्रितममनी परितृका परित्याग कर समस्त सत्ता-विश्व में व्याप्त विश्वात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगते है। यही कारण है कि कोई भी व्यक्ति कितना ही दुष्ट क्यो न हो कला-परिशीलन के अवसर पर

विश्व में प्रतिष्ठित सर्वजनीन सत्ता ही के साथ उसकी अन्तरात्मा का तादात्म्य स्थापित होगा और वह भी उदारचेता व्यक्तियो की भाँति उन्ही धर्मों से एकरूपता प्राप्त कर सकेगा जो कि विश्व की व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए स्पृहणीय माने जाते हैं। आशय यह है कि काव्य और कला के परिशीलन के अवसर पर यद्यपि उसके सामने व्यक्तिगत भावनाओं का ही प्रदर्शन किया जावेगा तथापि उन व्यक्तिगत भावनाओं में अनुस्यूत साधारण धर्मों के साथ उनकी अन्तरात्मा का तादात्म्य स्थापित हो जावेगा और वह विश्वात्मा से एकता का अनुभव करते हुए उस भावना के आस्वादन की योग्यता प्राप्त कर सकेगा। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी अन्तरात्मा का तादात्म्य समस्त प्रदर्शित भावो से न होकर विश्व व्यवस्था के सरक्षण में निमित्त स्पृहणीय भावों से ही होगा और उसके प्रतिकूल भाव उस भाव को पुष्ट करने वाले हो जावेगे। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह आवश्यक नही है कि जिस भावना से हमारी अन्तरात्मा तादात्म्य को प्राप्त करती है वह भाव प्रदर्शित ही किया जावे। इस प्रकार का भाव वाच्य भी हो सकता है और व्यग्य भी। व्यक्तिगत अनुभव के पीछे छिपे साधारण धर्म से तादात्म्य का अनुभव करने की इस क्रिया को आचार्यों ने साधारणीकरण की संज्ञा प्रदान की है।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि साधारणीकरण व्यक्तियों का नही अपितु भावो का होता है। जिस प्रकार वीणा के किसी एक तार के स्पर्श से सभी तार झनझना उठते हैं उसी प्रकार किसी एक व्यक्ति में किसी भावना के प्रदर्शन से समस्त व्यक्तियो के अन्तःकरणो में व्याप्त वह भावना उद्‌बोध को प्राप्त हो जाती है। व्यक्ति का उपादान उसमें निमित्तमात्र होता है। भावना का ही साधारणीकरण होता है। इस बात की पुष्टि विभाव इत्यादि सज्ञाओ से भी हो जाती है। विभाव का अर्थ है विभावन करना अर्थात् प्रतीति के योग्य बनाना। प्रतीति के योग्य भाव ही बनाया जा सकता है। इसी प्रकार अनुभावन का अर्थ है अनुभव के योग्य बनाना; अनुभव भी भाव का ही हो सकता है व्यक्ति का नहीं। इसीलिये आचार्य अभिनव गुप्त के मत का उल्लेख करते हुए मम्मटाचार्य ने लिखा है—"जब इस रस का स्वाद लिया जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो यह आँखो के सामने नाच रहा हो, मानो हृदय में प्रवेश कर रहा हो, मानो सारे शरीर का आलिगन कर रहा हो।" इसीलिये इसको ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है और इसीलिये प्रदीप के द्वारा घर के प्रकाशित होने की उपमा दी गई है।

भावना के इस साधारणीकरण को न समझ कर अनेक उलझन खड़ी की गई हैं। कुछ लोगों ने आलम्बन के साधारणीकरण की जात कही है। दूसरे लोगों ने आश्रय के हृदय से तादात्म्य स्थापित करने का निर्णय कर दिया है। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति के साधारणीकरण का सिद्धान्त भावक और भोजक इन दो अतिरिक्त वृत्तियो को मान कर भट्ट नायक के द्वारा स्थापित किया गया था

जिसका निराकरण अनेक प्रबल युक्तियों के द्वारा अभिनव गुप्त ने कर दिया था और उसके स्थान पर भावना के साधारणीकरण का सिद्धान्त स्थापित किया था। किन्तु कुछ लोगों ने भ्रमवश यह समझ लिया कि आचार्य अभिनव गुप्त ने भट्ट-नायक की भावकत्व वृत्ति का गुण तथा अलंकारो में और भोजकत्व वृत्ति का व्यजना में अन्तर्भाव मात्र कर दिया है, वैसे अभिनव गुप्त का सिद्धान्त भट्ट नायक के सिद्धान्त से अधिक भिन्न नही है। यही कारण है कि वे सब उलझने पुनः उठ खड़ी हुईं जो भट्ट नायक के सिद्धान्त मानने पर उठी थी। हम आलम्बन का साधारणी-करण नही मान सकते। आलम्बन के साधारणीकरण का यही आशय है कि काव्य और कला द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली नायिका सर्वसाधारण की प्रेयसी का रूप धारण कर लेती है। किन्तु इससे एक साधारण नायिका के प्रेम की चर्वण की व्याख्या तो हो जाती है, जगत्पूज्य सीता और पार्वती जैसी नायिकाओ के विषय में रसास्वादन की कोई भी उचित व्याख्या हो ही नही पाती। यह सर्वथा असम्भव है कि सीता जैसी जगत्पूज्य नायिका सर्वसाधारण के प्रेम का विषय बन सके। इसी प्रकार आश्रय के तादात्म्य का भी सिद्धान्त ठीक नही बैठता। अनेक कार्य ऐसे हो सकते है जो हमारी शक्ति और उत्साह का विषय बन ही नही सकते। उदाहरण के लिए हनुमान् जी का समुद्र लघन कभी भी हमारे उत्साह का विषय हो ही नही सकता। ऐसी दशा में समुद्र लघन के उत्साह के आश्रय हनुमान् जी से हमारे तादात्म्य की कल्पना भी नही की जा सकती। अतएव न तो आलम्बन का ही साधारणीकरण होता है और न आश्रय से तादात्म्य की कल्पना के द्वारा ही निर्वाह हो सकता है।

इस विषय में डा० नगेन्द्र ने कवि की अंतरात्मा से तादात्म्य स्थापित करने का सिद्धान्त निश्चित किया है। यद्यपि यह सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त नही है। स्वयं भरत मुनि ने भाव की परिभाषा में इस सिद्धान्त का सकेत दिया है :—

कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।

किन्तु इससे भी अभीष्ट—सिद्धि नही होती। एक तो मूल रूप में वह भावना कवि की नही है दूसरे यदि कवि की अन्तरात्मा से सहृदय की अन्तरात्मा का तादात्म्य अंगीकार किया जावे तो फिर कवि की अन्तरात्मा का तादात्म्य किस से होगा ? भट्ट तौत ने लिखा है कि ठीक रूप में रस निष्पत्ति तभी हो सकती है जब कि जिस प्रकार की भावना का अनुभव नायक ने किया है, उसी प्रकार की भावना का अनुभव कवि करे और उसी प्रकार की भावना का आस्वादन सहृदय को भी करा सके।

नायकस्य कवेः श्रोतुः समानानुभवस्तु यः।

इस प्रकार यह सिद्ध ही है कि कवि एक मध्यस्थ के रूप में ही अवस्थित होता है, मौलिक रूप में भावना से उसका सम्बन्ध नही होता। ऐसी दशा में कवि की अन्तरात्मा से तादात्म्य की कल्पना भी अधिक कृतकार्य नही होती। दूसरी बात यह है कि पूज्य नायिकाओं के प्रति रति-भाव का प्रश्न भी अनिर्णीत ही रह

जाता है। इस की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भगवती सीता को सामान्य प्रेयसी (अपनी प्रेयसी) के रूप मे देखा था और उसी का आस्वादन पाठकों को भी कराना उन्हें अभीष्ट था। इस प्रकार कवि की अन्तरात्मा से तादात्म्य की व्याख्या न तो अधिक समीचीन जान पड़ती है और न उससे निस्तार ही हो सकता है।

आचार्य शुक्ल ने 'चिन्तामणि' में एक नया प्रश्न उठाया है। उनका कहना है कि रसास्वादन से घट कर एक नये प्रकार का और भाव कला का विषय होता है जिसकी व्याख्या प्राचीन साहित्य शास्त्र में नहीं की गई। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम काव्यगत पात्रों से तादात्म्य का अनुभव नहीं करते अपितु वे पात्र हमारे किसी स्वतन्त्र भाव का आलम्बन बन जाते हैं। उदाहरण के लिए हूण सम्राट् मिहिर कुल पर्वत से निर्ममता पूर्वक गिराये जाने वाले किसी व्यक्ति के उत्पीडन पर अट्टहास कर रहा है। ऐसी दशा में यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि पाठक या दर्शक मिहिरकुल से तादात्म्य स्थापित कर सके। इसी प्रकार यदि रावण का सीता के प्रति प्रेम वर्णन किया जा रहा हो तो रावण से भी तादात्म्य स्थापित करना हमारे लिए असम्भव हो जावेगा। मान लीजिए कोई उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूंजीपति की कठोरता और स्वार्थपरता का चित्रण कर रहा है उससे भी हमारे हृदयों का तादात्म्य नहीं स्थापित हो सकेगा। आचार्य शुक्ल का आशय यह है कि हमारे आचार्यों ने रसास्वादन के प्रसंग में ही साधारणीकरण की प्रक्रिया पर विचार किया है। रसाभास, भावाभास इत्यादि के क्षेत्र अछूते ही छूट गये। उन पर भी विचार होना चाहिए था।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि ये अनेक उलझनें इसी कारण उत्पन्न हुई है कि अभिनव गुप्त ने जिस साधारण धर्म के साधारणीकरण की बात कही थी उस को छोड कर व्यक्तियों के साधारणीकरण की चर्चा चल पडी। वस्तुतः लोकव्यवहार में हम जिन भावनाओं का अनुभव किया करते हैं उससे हमारे हृदयो में एक ऐसा साधारण धर्म अधिष्ठित हो जाता है जो किसी एक व्यक्ति का नहीं अपितु सारे विश्व का होता है। यह भाव समस्त सहृदयों के हृदयो में अनुस्यूत होता है और जब कवि आलम्बनादि साधनों द्वारा उसका स्पर्श करता है तब समस्त सहृदयों में अनुस्यूत वही भाव वीणा के तारों की भाँति झनझना उठता है तथा सहृदय व्यक्ति उसका सरलतापूर्वक आस्वादन करने में सक्षम हो जाता है। साधारणीकरण उसी भाव का होता है जो सर्वसाधारण के लिए अभिप्रेत हो, जिस का उपादान लोक-मर्यादा के संरक्षण के लिए भी आवश्यक हो। इस व्याख्या को अंगीकार कर लेने पर उपर्युक्त समस्त आपत्तियों का निराकरण स्वभावतः हो जाता है। मान लीजिए मिहिरकुल अपनी बर्बरता की पराकाष्ठा पर पहुंच गया है और निर्ममतापूर्वक पर्वत से गिराये जाने वाले किसी व्यक्ति की दुर्दशा पर अट्टहास कर रहा है। ऐसी दशा में यहाँ पर दो भाव हमारे सामने हैं। एक तो अत्याचार परायण

मिहिरकुल का अपनी बर्बरतापूर्ण क्रिया में आनन्द लेने का भाव और दूसरी ओर उस व्यक्ति का भाव जिस पर अन्याय किया जा रहा है। स्वाभाविक बात है कि उस अन्यायग्रस्त व्यक्ति के हृदय में त्रास होगा, कारुण्य होगा और कुछ रोष भी होगा। इसके भी अतिरिक्त वहाँ पर एक तीसरा व्यक्तित्व और है जो यद्यपि हमारे सामने नही है तथापि हमारी कल्पना में इतना ही स्पष्ट है जितना उपर्युक्त दोनों व्यक्ति। वह है एक तटस्थ द्रष्टा जो कि इस समस्त लीला को देखकर क्षुब्ध हो रहा है और किसी न किसी प्रकार इसका प्रतीकार करने के लिए उत्कण्ठित है। यहाँ पर मेरा अभिप्राय रंगमच के समक्ष बैठे हुए द्रष्टा से नही है और न काव्य का अनुशीलन करने वाले पाठक से ही है। वे तो आस्वादन में विषयी हैं। यहाँ पर मेरा अभिप्राय उस तटस्थ द्रष्टा से है जो मूल रूप में ही लोक में मिहिरकुल के इस कार्य से क्षुब्ध हो रहा होगा। बुराइयों की भर्त्सना और सद्गुणो का अभिनन्दन सभी कालों में सभी व्यक्तियों का दायित्व रहा है भले ही हम बुराइयो के प्रतिरोध में एक शब्द का भी उच्चारण न कर सकें किन्तु हमारे हृदय इस प्रकार की बुराइयो को देखकर अन्दर ही अन्दर कुढते रहते हैं और हम उन बुराइयो का प्रतिरोध करने के लिए सर्वदा उत्कण्ठित बने रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे सामने तीन व्यक्तित्व विद्यमान हैं—(१) मिहिर कुल का व्यक्तित्व जो कि अत्याचार की सीमा पर पहुँच गया है, (२) उत्पीडित व्यक्ति का व्यक्तित्व जोकि दु.ख और दैन्य से पराहत होकर मरणातीत वेदना का अनुभव कर रहा है और (३) एक तटस्थ तत्कालीन सामाजिक का व्यक्तित्व जो कि इस उत्पीडन की मन ही मन भर्त्सना कर रहा है। (यह आवश्यक नही है कि ये तीनो व्यक्ति हमारे सामने निरन्तर उपस्थित ही रहें। इन में से कोई एक या दो हमारे करणगोचर हो सकते हैं, शेष हमारी कल्पना में विद्यमान रहते है।) स्पष्ट ही है कि हमारा तादात्म्य मिहिरकुल के भाव से नही हो सकता क्योकि उसका रोष सर्वजनीन स्पृहणीय भाव नही है। उत्पीड़ित व्यक्ति उस रोष का आलम्बन है और साथ ही उस तटस्थ व्यक्ति की सहानुभूति का आलम्बन है। अत. उससे तादात्म्य का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। अब रह गया तटस्थ दर्शक व्यक्ति। वस्तुतः हमारा तादात्म्य इसी व्यक्ति से होता है और इसी की भावना सर्वसाधारण के उपभोग की वस्तु बन जाती है। इसमें सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि हम जब काव्य में किसी ऐसे अत्याचार का विवरण पढ़ते हैं अथवा उसका अभिनय देखते है तो हमारे हृदयो में अत्याचारी के प्रति कुछ द्वेष और कुछ क्रोध की भावना जागृत हो जाती है। फिर जब कोई तीसरा व्यक्ति रगमंच पर आ कर कटु शब्दो में उस क्रिया की भर्त्सना करने लगता है और उससे प्रतिशोध लेने को उद्यत हो जाता है, तब हमें अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है और हमें ऐसा ज्ञात होता है मानो हमारे ही हृदय का प्रतिनिधित्व किया जा रहा हो। कभी-कभी इस कार्य का सम्पादन स्वय कवि भी करता है। किन्तु कवि की वाणी के द्वारा हमारे हृदयों का अनुरंजन इतना अधिक नहीं होता।

स्पष्ट है कि तुलसी द्वारा की हुई रावण के अत्याचार की निन्दा हमारे लिए उतनी अधिक अनुरंजनकारिणी नहीं होती जितनी अंगद के द्वारा की हुई उसकी भर्त्सना। ऐसी दशा में अत्याचारी का क्रोध हमारे साधारणीकृत भाव का उद्दीपक हो जाता है।

रस तथा रसाभास दोनों क्षेत्रों में भावक के हृदय में ऐसी भावना का साधारणीकरण होता है जो कि लोक के लिए सात्म्य हो और जिससे उसका हृदय-संवाद प्रतिष्ठित किया जा सके। रस के आस्वादन में सामाजिक की चित्तवृत्ति का तादात्म्य नायक की भावना से हो जाता है। रसाभास के आस्वादन के अवसर पर नायक की चित्तवृत्ति के अनौचित्य के कारण वह भाव सामाजिक के लिए सात्म्य नहीं होता। अतः उस भाव से सामाजिक की चित्तवृत्ति संवाद को प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव वहाँ पर नायक की चित्तवृत्ति उद्दीपन का कार्य करती है और सामाजिक की चित्तवृत्ति का तादात्म्य या तो आलम्बन की चित्तवृत्ति से हो जाता है या उस अन्याय को समझने वाले किसी तटस्थ की चित्तवृत्ति से। पूज्य नायिकाओं के प्रति रति भाव के आस्वादन के अवसर पर सामान्य रति भाव का ही आस्वादन होता है जो कि प्राणिमात्र के लिये सात्म्य है। आलम्बन और आश्रय उस रति भाव का आस्वादन कराने में निमित्त मात्र होते हैं। अतएव वहाँ पर धर्मव्याघात का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसलिए आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्तपादाचार्य ने भगवती पार्वती के विषय में वर्णन किये हुए रतिभाव का समाधान कवि-प्रौढोक्ति से आवृत कह कर किया है। उक्त आचार्यों का आशय यही है कि पूज्य नायिकाओं के प्रति रति भाव का वर्णन वहीं पर दोष होता है जहाँ पर कवि अपनी कुशलता की कमी के कारण सामान्य रति भाव का आस्वादन कराने में असमर्थ हो जाता है। इसके प्रतिकूल जहाँ पर कविप्रौढोक्ति के द्वारा इन नायिकाओं के प्रति वर्णन किये हुए रतिभाव को सामान्य रति भाव के रूप में ढालने में समर्थ हो जाता है। वहाँ पर वह दोष नहीं होता इसी प्रकार असम्भव कार्यों के प्रति उत्साह का भी आस्वादन सामान्य रूप से उत्साह के ही रूप में होता है। अशक्यता विशिष्ट में होती है जो सामाजिकों के सामान्य आस्वादन में निमित्त मात्र होता है। इस प्रकार सामान्य रूप में स्थित भाव के आस्वादन का सिद्धान्त अंगीकार कर लेने पर किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती और साधारणीकरण की प्रक्रिया का भी पूर्ण रूप में निर्वाह हो जाता है। यही आचार्य शुक्ल के भावना के रूप में परिणत हो जाने और लोक भावना में लीन हो जाने का आशय है।

उपर्युक्त विश्लेषण तथा विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भावक की चित्तवृत्ति में साधारण धर्म अर्थात् जाति के रूप में अवस्थित भाव का ही साधारणीकरण होता है इस साधारण धर्म को आस्वादन-क्षम बनाने के जो उपकरण होते हैं उन्हें आचार्यों ने विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव इन तीन भेदों में विभाजित किया है। अतएव

इन तीनो अगों की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन कर लेने के बाद में ही रस-ध्वनि इत्यादि का विवेचन उपयुक्त तथा युक्तिसंगत होगा।

विभाव रसास्वादन में कारण होते है। ये दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन तथा (२) उद्दीपन। शृंगार रस के रूप में नायक और नायिकाओं का साहित्यशास्त्र में सब से अधिक विस्तार किया गया है। नायक भेद को तो इतना अधिक विस्तार नही दिया गया और न उस में कोई विशेष जटिलता होती ही है। इस दिशा में नायिका भेद को सर्वदा प्रमुखता प्रदान की गई है। नायिका भेद पर स्वतन्त्र ग्रंथ के ग्रथ लिख डाले गये हैं। अतएव सर्वप्रथम नायिका भेद की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

(२) नायिका भेद की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन

शृंगार रस का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलम्बन स्त्रियाँ होती हैं। स्त्रियों की प्रकृति, अवस्था, स्थिति इत्यादि के अनुसार विभिन्न प्रकार की मनोदशाओं और प्रवृत्तियों का अध्ययन नायिका भेद कहलाता है। नायिका भेद के अन्तर्गत इस बात पर विचार किया जाता है कि विभिन्न आयु, विभिन्न प्रकार की परिस्थिति तथा घटना उनपर क्या प्रभाव डालती है? विरह में वे क्या सोचती हैं? मिलन उन पर किस प्रकार का प्रभाव जमाता है ? इसी प्रकार नायक की प्रतीक्षा, सम्मिलन की उत्कण्ठा, सम्मिलन के अवसर की प्रवृत्ति, प्रेम की प्रतिकूलता, नायक का अपराध इत्यादि का विभिन्न प्रकार की अवस्था पर प्रभाव ही नायिका भेद का मुख्य वर्ण्य विषय है। इन विषयों का नायिका भेद के ग्रथो में अतिसूक्ष्म वर्णन किया गया है।

बिहारी रीति काल के प्रवेश द्वार पर खडे हैं। उनके समय तक नायिका भेद का इतना अधिक विस्तार नही हुआ था। फिर भी संस्कृत के लक्षण ग्रंथों में तथा हिन्दी (ब्रज भाषा) के कतिपय स्वतन्त्र ग्रथो में इस विषय का विवेचन हो चुका था। बिहारी के पहले की नायिका-भेदविषयक सामग्री का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है :—

(१) **वात्स्यायन का कामसूत्र**—भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में शृंगार रस के भावों का प्रधान उपजीवक कामसूत्र को माना है। कामसूत्रों में अनेक दृष्टि-कोणो से स्त्रियों के भेदोपभेद किये गये हैं। प्रारम्भ में स्त्रियों के अंगप्रत्यंग की रचना इत्यादि के आधार पर पद्मिनी इत्यादि चार भेद किये गये हैं। इसके अतिरेक्त गुह्यांग रचना, कामशक्ति इत्यादि के आधार पर कुछ भेद किये गये हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वे भेद हैं जो स्त्रियो की परिस्थिति तथा प्रवृत्ति के आधार पर वेभिन्न प्रकरणो में किये गये है। यही भेदोपभेद आगे चल कर स्वकीया इत्यादि तीन भेदों में पर्यवसित हुए। कामसूत्रों में सामान्य रति-क्रीड़ा का वैज्ञानिक विश्लेषण कर बाद में स्त्रियो की परिस्थिति के अनुसार उनसे प्रेम करने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम विवाह तथा वैवाहिक जीवन और उसके अन्तर्गत ज्येष्ठा-कनिष्ठा वृत्त, बालोपक्रम, अनेक कान्तानुवृत्ति इत्यादिस्व-स्त्रीसम्बन्धी

काम-प्रवृत्ति का वर्णन है इसके बाद कन्या प्रकरण, पार-दारिक प्रकरण और वैशिक प्रकरण का वर्णन किया गया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर इस समस्त वर्णन को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) जिसमें काम प्रवृत्ति तथा उत्कण्ठा, हर्ष और विषाद उभयत्र समान होते है, दोनो ओर एक-दूसरे पर स्वामित्व की भावना होती है और सामाजिक संकोच तथा भय से रहित वातावरण में दोनो का आनन्द विहार स्वच्छन्द रूप मे होता है इसे ही स्वकीया नायिका कहा गया है। कामशास्त्र तथा शृंगारशास्त्र दोनो दृष्टियो से यह नायिका सर्वोत्तम मानी जाती है। (२) जिस में काम-प्रवृत्ति और उत्कण्ठा उभयत्र समान हो किन्तु सामाजिक सकोच तथा भय से निर्मुक्त वातावरण में जिसका उपभोग न किया जा सके, दूसरे शब्दो में जहाँ संकोच और उत्कण्ठा का द्वद्व चलता हो। इस प्रकार की नायिका को परकीया नायिका कहते है। यह भी कन्या और परोढा इन दो भेदो से दो प्रकार की हो सकती है। दोनो की भावप्रवृत्ति एक सी ही होती है, उपभोग भी एक-सा होता है। किन्तु कन्या के प्रति रति भाव में स्वकीयात्व के रूप में परिणत हो जाने की सम्भावना होती है, परोढा के प्रति रति भाव का उद्देश्य प्रच्छन्न उपभोग मात्र होता है। दूसरा अन्तर यह है कि परोढा काम-कला के ज्ञान से परिचित होती है किन्तु कन्या इस प्रकार के ज्ञान से परिचित नही होती। (३) जिसमें न तो सामाजिक संकोच हो और न सम्मिलन की उत्कण्ठा ही हो, इस प्रकार की नायिका को साधारणी नायिका या वेश्या कहते है। कामशास्त्रों में इसका भी बडे विस्तार से वर्णन किया गया है। कामशास्त्रीय नायिका भेद का यही संक्षिप्त परिचय है।

(२) **भरत मुनि का नाट्यशास्त्र**—इसमें नाट्य के लिए उपयुक्त प्राय: सभी प्रकार की स्त्रियो का वर्णन किया गया है। पशुओ के शील इत्यादि के आधार पर भी इनके शील इत्यादि का वर्णन किया गया है। शेष वर्णन कामसूत्रो के ही वर्णन पर आधारित है। (३) धनजय का दशरूपक, (४) भानुदत्त की रस मंजरी और (५) विश्वनाथ महापात्र का साहित्यदर्पण। इन ग्रंथो में रस के आलम्बन के रूप में नायिका भेद का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। ये ही ग्रथ रीतिकाल में नायिका भेद के उपजीवक हैं। इनमें भानुदत्त की रसमजरी का विशेष आश्रय लिया गया है। तीनों पुस्तको में मूल भेद तो तीन ही दिये गये हैं—स्वकीया, परकीया और साधारणी। स्वकीया के भी तीन भेद मुग्धा, मध्या, प्रौढा तीनो में समान है किन्तु इनके उपभेदों में अन्तर है। साहित्यदर्पण और दशरूपक में मुग्धा केवल एक प्रकार की मानी गई है। केवल गुणो के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये गये हैं। ये सभी गुण एकत्र भी सम्भव है, अतएव इन्हे हम मुग्धा के उपभेद नही कह सकते जैसा कि कुछ लोगो ने समझा है। इसके प्रतिकूल भानुदत्त ने मुग्धा के तीन भेद किये है—(१) अकुरित-यौवना, (२) नवोढा और (३) विश्रब्ध नवोढा। इसी प्रकार मध्या के भी भेद तीनों पुस्तकों में नही किये गये हैं। दशरूपक और साहित्य-

दर्पण में केवल मध्या के व्यवहारो तथा गुणो का उल्लेख कर उनके उदाहरण दिये गये हैं जिनसे कुछ लोगों को उनके उपभेद होने का भ्रम हो गया है। मध्या और प्रौढा के धीरा, धीराधीरा तथा अधीरा ये भेद सर्वत्र समान है और ज्येष्ठा, कनिष्ठा ये भेद भी सर्वत्र समान है। परकीया नायिका के ६ भेद रसमंजरी में किये गये हैं—गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा अनुशयाना और मुदिता। किन्तु साहित्यदर्पण और दशरूपक में परकीया के ये उपभेद नही किये गये है। दशरूपककार ने लिखा है—"परकीया नायिका दो प्रकार की होती है—कन्या तथा परोढा। परोढा कभी भी प्रधान रस की नायिका नही हो सकती। कन्या को स्वेच्छा से प्रधान तथा गौण दोनो प्रकार के रसो की नायिका का रूप दिया जा सकता है।" इस पर टिप्पणी करते हुए धनिक ने लिखा है कि "परकीया का प्रेम प्रधान नही हो सकता अतएव उसका विस्तार नही किया जावेगा। कन्या को भी परकीया इसलिए कहा जाता है कि एक तो वह पिता इत्यादि से सरलतापूर्वक प्राप्त नही की जा सकती और यदि किसी प्रकार प्राप्त हो भी जावे तो भी अपनी पत्नी का भय और दूसरों की रुकावट स्वच्छन्दता में बाधक होते हैं। अतएव इसके भी प्रेम की प्रवृत्ति परोढा के समान गुप्त रूप से ही होती है।" सामान्य नायिका दोनो में समान है और स्वाधीनपतिका इत्यादि आठ भेद तथा उत्तमा इत्यादि तीन भेद भी दोनों पुस्तकों में समान ही हैं। रसमजरी में तीन भेद और दिये गये हैं। अन्यसम्भोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता और मानवती। वक्रोक्ति-गर्विता के दो भेद किये गये हैं—रूपगर्विता तथा प्रेमगर्विता। इसी प्रकार मानवती के भी तीन भेद किये गये है—लघुमानवती, मध्यमानवती और गुरुमानवती। इनके अतिरिक्त नायिकाओ के दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य ये भेद और किये गये हैं। संस्कृत साहित्यशास्त्र में नायिकाभेद के ये ही प्रधान ग्रंथ हैं। कुछ थोडा बहुत नायिका भेद रुद्रट, भोज, रुय्यक इत्यादि आचार्यों ने भी लिखा है। संस्कृत के नायिका भेद का यही संक्षिप्त परिचय है।

संस्कृतसाहित्य शास्त्र के अनुसार हिन्दी में भी नायिका-भेदसम्बन्धी कतिपय पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं। नायिका भेद रसशास्त्र का प्रधान उपजीवक है। अतएव इसका विस्तार होना स्वाभाविक ही था।

बिन जाने यह भेद सब प्रेम न परिचय होय।
चरण हीन ऊँचे अचल चढ़त न देख्यो कोय॥

नायिका भेद सूरदास नन्ददास जैसे भक्त कवियो ने भी लिखा है और कृपाराम इत्यादि सांसारिक कवियों ने भी। बिहारी के पहले नायिका भेद पर लिखे हुए निम्नलिखित ६ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं :—

(१) **सूरदास कृत साहित्यलहरी**—इसमें साहित्यशास्त्र के विवेचन में नायिका के भेदोपभेदो का निरूपण किया गया है।

(२) **नन्ददास कृत रसमजरी**—इसमें भी नायिका भेद के साधारणतया

प्रचलित भेदोपभेदों का ही वर्णन किया गया है। कुछ थोड़ा सा अन्तर अवश्य पाया जाता है।

(३) **रहीम कृत बरवै नायिका भेद**—इसकी अनेक प्रतियाँ मतिराम के उदाहरणों के साथ प्राप्त होती है।

(४) **कृपाराम कृत हिततरंगिणी**—इसमें सामान्या का कुछ विस्तृत विवेचन किया गया है जो भक्त परम्परा के अनुकूल नही है। अतएव इन्हे हम भक्त कोटि में नही रख सकते।

(५) **केशव कृत रसिक प्रिया और**

(६) **चिन्तामणि त्रिपाठी कृत कविकुल कल्प-तरु।**

उपर्युक्त सभी ग्रथो में नायिका भेद प्रायः एक सा ही है। कही-कही कुछ अन्तर कर लिया गया है। नायिकाये सामान्यतया तीन प्रकार की होती हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या। इन नायिकाओ में स्वकीया का महत्व सब से अधिक है। यही नायिका धार्मिक दृष्टि से भी अधिक उपयुक्त कही जा सकती है। स्वकीया में ही यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, भूषण और वैभव ये आठ गुण पाये जाते हैं और यही नायिका प्रधान रस की भी नायिका बनने की क्षमता रखती है। वयःक्रम से इस नायिका को तीन भागो में विभाजित किया गया है—मुग्धा, मध्या और प्रौढा। मुग्धा नायिका मे लज्जा की अधिकता और उत्कण्ठा की न्यूनता होती है। मध्या में लज्जा और उत्कण्ठा दोनो समान होते है और प्रौढा में लज्जा अधिक से अधिक निम्न कोटि की हो जाती है। नन्ददास ने मुग्धा, मध्या और प्रौढा ये भेद सभी नायिकाओ में माने हैं। किन्तु सामान्या मे मुग्धात्व तथा मध्यात्व सम्भव नही हो सकते। इसी प्रकार परकीया कन्या में मध्यात्व तथा प्रौढात्व सम्भव नही हैं। इसी प्रकार परोढा का भी इस प्रकार का श्रेणी भेद सगत नही है। मुग्धात्व तो उस में हो ही नही सकता और सामाजिक सकोच के कारण प्रौढात्व भी असम्भव ही है, परोढा में प्रौढात्व होने पर वह वेश्या हो जावेगी, ऐसी दशा में ये नायिकाये केवल एक ही प्रकार की होती है। मुग्धा इत्यादि भेद केवल स्वकीया में ही सम्भव हैं। साहित्य शास्त्र के ग्रन्थो में मुग्धा के भेदो के विषय में आचार्यों का एक ही मत प्रतीत नही होता। साहित्य-दर्पण और दशरूपक में मुग्धा के भेद किये ही नही गये हैं। भानुदत्त की रसमजरी में मुग्धया के तीन भेद किये गये हैं - (१) अंकुरितयौवना (२) नवोढा और (३) विश्रब्धनवोढा। भानुदत्त के अनुसार ही हिन्दी कवियों ने भी मुग्धा के भेद किये है। सूर की साहित्य लहरी में दो भेद किये गये हैं—(१) अज्ञातयौवना तथा (२) ज्ञात यौवना। अज्ञात यौवना वस्तुतः भानुदत्त की अंकुरितयौवना ही है जब कि भानुदत्त के शेष दो भेदों को ज्ञात यौवना में अन्तर्निहित कर दिया गया है। इसीलिये रहीम ने प्रथम अज्ञात यौवना और ज्ञातयौवना ये दो भेद करके ज्ञातयौवना के नवोढा और विश्रब्ध नवोढा ये दो भेद कर दिये हैं। वस्तुतः रहीम की यह भेदोपभेद कल्पना ही समीचीन है।

कृपाराम ने अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोढा और विश्रब्ध नवोढा यह चार भेद माने हैं जो संगत नही कहे जा सकते क्योकि नवोढा और विश्रब्ध-नवोढा दोनों ही स्वभावतः ज्ञातयौवना होगी ही, उसको पृथक् भेद कैसे माना जा सकता है ? नन्ददास ने मुग्धा के दो भेद ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना फिर दो और भेद नवोढा और विश्रब्ध नवोढा माने है। यह विभाजन भी उचित प्रतीत नही होता क्योंकि विश्रब्ध नवोढा कभी अज्ञातयौवना हो ही नही सकती। इस प्रकार रहीम की भेदोपभेद कल्पना ही न्याय सगत है। मध्या और प्रौढा के भेदों में मत भेद नही है। प्रायः सभी आचार्यों ने धीरा, अधीरा और धीराधीरा यही भेद किये है।

दूसरा मतभेद परकीया के विषय में है। परकीया के कन्या और परोढा ये भेद तो प्रायः सभी ने माने है। धर्म-व्यतिक्रम के भय से परोढा नायिका के भेदोपभेदों का अधिक विस्तार कई एक आचार्यों ने किया ही नही है। भानुदत्त ने परोढा के ६ भेद किये हैं—गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना और मुदिता। इनके अतिरिक्त इनके उपभेद भी किये गये हैं। कृपाराम ने इस सूची में स्वयंदूतिका को और जोड़ दिया है जो कि आचार्यों ने दूती भेद के अन्दर रखा है। सूर ने भी परकीया के ६ भेद किये है। उन्होने कुलटा भेद अलग से नहीं माना है। रहीम ने भी यही भेद किये हैं। किन्तु नन्ददास ने परोढा के केवल तीन ही भेद माने हैं—सुरत-गोपना, वाग्विदग्धा और लक्षिता। वस्तुत कुलटा होना परकीया का सामान्य लक्षण है तथा अनुशयाना और मुदिता ये दो भेद तो सभी प्रकार की नायिकाओ में सम्भव है। अतएव परकीया के भेदो मे नन्ददास के किये हुए तीन ही भेद शेष रह जाते हैं जो अधिक समीचीन है। सुरत-गोपना भेद उपलक्षण भी कहा जा सकता है जिसमें भाव-गोपना का भी समावेश हो सकता है। रहीम ने सुरत-गोपना के तीन भेद किये हैं—भूत-सुरत-गोपना, भविष्यत्-सुरत-गोपना और वर्तमान-सुरत-गोपना। इसी प्रकार विदग्धा के भी वचन-विदग्धा और क्रिया-विदग्धा ये दो भेद किये है। विच्छित्ति विशेष के परिपोषक होने के कारण ये भेद समीचीन ही हैं। इन भेदों के अतिरिक्त नायक के प्रेम की दृष्टि से ज्येष्ठा और कनिष्ठा ये भेद भी किये गये हैं और साथ ही और इसी प्रकार के गुणो के अनुसार उत्तमा, मध्यमा और अधमा ये भेद भी शास्त्रो में पाये जाते है। किन्तु न तो इन में उक्ति वैचित्र्य ही अधिक सम्भव है और न कवियो ने इन का अधिक उल्लेख ही किया है। केवल कुछ चलते हुए उदाहरण देकर इन्हे छोड दिया गया है।

ऊपर संक्षेप में जो नायिका भेद का परिचय दिया गया है वह वयः क्रम, धर्म और गुण को लेकर प्रवृत्त हुआ है। इन्ही नायिकाओ की विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार की प्रवृत्ति हो जाती है। अतएव परिस्थितियो के अनुसार नायिकाओ की अवस्थाओं पर ही विचार किया गया है। संस्कृत-साहित्याचार्यों ने अवस्थानुसार नायिकाओं के आठ भेद किये हैं— स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा प्रोषित-पतिका और अभिसारिका। हिन्दी के

आचार्यों ने भी कुछ हेर फेर के साथ यही भेद माने हैं। कतिपय आचार्यों ने ये भेद ज्यों के त्यों उठा कर रख दिये हैं। साहित्य लहरी में विप्रलब्धा भेद पृथक् नही माना गया है, तथा पतिगामिनी और आगतपतिका ये भेद और मान लिये गये है। वस्तुत: पति का प्रस्थान काल, विदेश निवास और परावर्तन ये तीनो अवस्थाये पृथक्-पृथक् मनोवृत्तियो को उत्पन्न करने वाली होती है। अतएव प्रोषितपतिका के समान पतिगामिनी और आगत-पतिका ये दो भेद मानना सर्वथा उचित ही है। किन्तु प्रवास मात्र में इनका समाहार हो जाता है। अतएव जिन आचार्यों ने दो भेद पृथक् नही माने है उन के भी मत में प्रोषितपतिका को उपलक्षण मान कर शेष दो भेदों की व्याख्या की जा सकती है। केशव ने भोजराज के समान आठों प्रकार की नायिकाओं के प्रच्छन्न और प्रकाश ये दो भेद माने हैं। किन्तु ये आठों भेद स्वकीया और परकीया विषयक होने के कारण पिछले आचार्यों के नायिका भेद में ही गतार्थ हो जाते है। अतएव इनका पृथक् पृथक् मानना आवश्यक नही। इसी प्रकार अभिसारिका के भी ६ भेद किये गये है। शुक्लाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, गर्वाभिसारिका, कामाभिसारिका, प्रच्छन्नाभिसारिका और प्रकाशाभिसारिका। इन भेदो में परवर्ती साहित्य में प्रचलन केवल शुक्लाभिसारिका और कृष्णाभिसारिका का ही हुआ। शेष भेद प्रतिष्ठित नही हो सके। वस्तुतः अन्य भेद कुछ अधिक न्यायसगत हैं भी नही। यह तो मानी हुई बात है कि विभिन्न प्रकार की नायिकाओ का अभिसरण विभिन्न प्रकार का होगा। अतएव गर्वाभिसारिका को पृथक् रखना सगत नही प्रतीत होता। सभी नायिकाओ का अभिसरण कामनावश ही होता है और सभी प्रच्छन्न रूप में अभिसरण करती है, केवल वेश्या का अभिसरण प्रकट रूप में होता है। अतएव शेष तीनो भेदो के मानने की भी आवश्यकता प्रतीत नही होती।

भानुदत्त ने दशा-भेद से तीन भेद और किये है—अन्यसम्भोगदु:खिता, वक्रोक्ति-गर्विता और मानवती। वक्रोक्ति-गर्विता के दो भेद किये गये हैं—प्रेम-गर्विता और सौन्दर्य-गर्विता। इसको केवल गर्विता कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। मानवती के गुरु, लघु और मध्यम मान अधिक आवश्यक नही हैं। ये भेद संस्कृत साहित्य शास्त्र की अन्य पुस्तकों में नही दिये गये है। नन्ददास को छोड़ कर हिन्दी के प्राय: सभी आचार्यों ने इन भेदो को माना है। कृपाराम ने वक्रोक्ति-गर्विता के स्थान पर गर्विता भेद मान कर उसके दो भेद किये है— वक्रोक्ति-गर्विता तथा सरलोक्ति-गर्विता, इन दो-दो में प्रत्येक के तीन-तीन भेद माने गये हैं—रूपगर्विता, गुणगर्विता और प्रेमगर्विता। रहीम ने मानवती भेद पृथक् नही लिखा है। यही नायिका भेद का सक्षिप्त परिचय है। इनका परस्पर साकर्य भी सम्भव है जिससे नायिका भेद हजारो की सख्या तक पहुँच जाता है।

संक्षेप में नायिकाये तीन प्रकार की होती हैं – स्वकीया, परकीया और सामान्या। परकीया के दो भेद होते हैं— कन्या और परोढा। कन्या में स्वकीया के

रूप में परिणत होने की सम्भावना रहती है। परोढा में नहीं, धार्मिक दृष्टि से स्वकीया और कन्या के प्रति प्रेम उचित होता है, परोढ़ा तथा सामान्या के प्रति नहीं। अतएव स्वकीया और कन्या ही इसकी आलम्बन मानी जाती है। स्वकीया के तीन भेद होते है मुग्धा, मध्या और प्रौढा। कन्या केवल मुग्धा और मध्या ही हो सकती है। मध्यात्व धर्म के दिखलाये जाने में औचित्य की सीमा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये नहीं तो व्यभिचार दोष से रस मलिनता को प्राप्त हो सकता है। परोढा का मध्या के रूप में वर्णन अधिक अनुचित नहीं होता। किन्तु प्रौढा के रूप में उसका वर्णन वेश्या की सीमा तक पहुँच कर रस को मलिन कर सकता है। मुग्धा के चार भेद होते है :—अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोढा तथा विश्रब्ध नवोढा। मध्या और प्रौढा के तीन भेद होते है—धीरा, धीराधीरा और अधीरा। इनके ज्येष्ठा, कनिष्ठा तथा उत्तमा, मध्यमा और अधमा ये भेद और किये गये है जो अधिक महत्व नहीं रखते। परकीया रसाभास का आलम्बन होती है और सामान्या वासना-तृप्ति का साधन मात्र। अतएव इन नायिकाओ का विशेष विस्तार आचार्यों को अभिप्रेत नहीं है। परकीया के प्रति भावना अधिक तीव्र होती है और कतिपय धार्मिक सम्प्रदायो में भगवत्प्रेम को परकीया प्रेम के समकक्ष माना गया है। अतएव इस भेद का भी कतिपय आचार्यों ने विशेष विस्तार किया है और इसके भी भेदोपभेदों की कल्पना की है जो पीछे दिखलाई जा चुकी है। अवस्था भेद से नायिकाये आठ प्रकार की होती है और दशा भेद से तीन प्रकार की। यही नायिका-भेद का सक्षिप्त परिचय है।

बिहारी का काव्य नायिका भेद के उदाहरणो की दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसमें प्राय. सभी प्रकार की नायिकाओ के उदाहरण सुरक्षित हैं और टीकाकारो ने यत्र-तत्र उनकी ओर संकेत भी किया है। यहाँ पर उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर नायिका भेद की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) स्वकीया

धर्म प्रधान भारत में स्वकीया प्रम को सर्वोत्तम मानना स्वाभाविक ही है। केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह प्रेम सर्वोत्तम कहा जा सकता है। प्रेम की जो गम्भीरता यौवन और रूप का जो आकर्षण, गुण और शील का जो प्रकर्ष, कुल तथा वैभव का जो महत्व स्वकीया में उपलब्ध हो जाता है वह अत्यन्त दुर्लभ है। अमर कलाकार भवभूति के शब्दो में कहा जा सकता है कि जो सुख और दुख का अद्वैत होता है, सब अवस्थाओं में जो एक रूप में ही अनुगत होता है जहां हृदय विश्राम को प्राप्त होता है, जिस के रस को वृद्धावस्था दूर नहीं कर सकती, (दूसरे प्रेमो के प्रतिकूल) समय व्यतीत होते जाने पर जो स्नेह सार में स्थित होता है, इस प्रकार का सौभाग्य (स्वकीया प्रेम) मानव जीवन में बडी कठिनता से प्राप्त हो सकता है। इसीलिये बिहारी ने स्वकीया प्रेम पर कोटि अप्सराओ को भी निछावर कर दिया है :—

कोटि अपछरा वारियै यौं सुकिया सुखु देइ ।
ढीली आँखिनि ही चितै गढ़ै गहि मनु लेइ ।।

इसीलिये साहित्य मे स्वकीया प्रेम को सब से अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है । स्वकीया प्रेम में कुछ ऐसी लोकोत्तर मधुरिमा होती है कि उसका वर्णन करने में जड लेखनी भी मधुर बन जाती है । बिहारी के शब्दो में :—

बधू अधर की मधुरता वरणत मधु न तुलाइ ।
लिखत लिखक के हाथ की किलिक ऊख ह्वै जाइ ।।

(अ) स्वकीया मुग्धा

स्वकीया का प्रथम भेद मुग्धा है । यद्यपि कन्या भी मुग्धा हो सकती है । तथापि कन्या में भी स्वकीया के रूप में परिणत होने की योग्यता होती है और स्वकीया के समान ही कन्या का प्रेम साहित्यशास्त्र की दृष्टि से अनुचित नही माना जाता । अतएव स्वकीया के भेदो में ही मुग्धा का मानना उचित है । साहित्य-दर्पण कार ने मुग्धा में ५ विशेषताये बतलाई है—(१) जिस के यौवन का प्रथम ही अवतार हुआ हो । (२) जिसमें काम विकार का प्रथम बार ही सचार हुआ हो । (३) जो रतिकाल में वामाचरण करे । (४) जो मान में मृदु हो और (५) जिस में लज्जा की अधिकता हो ऐसी नायिका को मुग्धा कहते है । मुग्धात्व के ये सभी रूप हमें बिहारी में किसी न किसी रूप में अधिगत हो जाते है । मुग्धा के इन स्वरूपो का बिहारी ने कई दोहो में वर्णन किया है । नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते है :—

(१) प्रथमावतीर्ण-यौवना का उदाहरण .—

अरतैं टरत न बर-परे दई मरक मनु मैन ।
होड़ाहोड़ी बढ़ि चले चितु, चतुराई, नैन ।।

इसी प्रकार :—

नव नागरि तन-मुलुकुलहि जौबन आमिर जौर ।
घटि तैं बढ़ि बढ़ि घटि रकम करी और की और ।।

यौवनागम एक अत्याचारी अधिकारी ही नही वह एक कुशल शासक भी है, वह अपने अंगों को पहचानता है और उनको अपने वश में रखने का उपाय भी खूब जानता है । :—

अपने अँग के जानि कै जोवन नृपति प्रवीन ।
स्तन मन नैन नितम्ब को बड़ौ इजाफा कीन ।।

नव यौवन के विकास मे भी एक क्रम होता है जिसकी ओर कवियो ने विशेष ध्यान दिया है । सर्व प्रथम एक ऐसी अवस्था आती है जब कि अगों में अत्यधिक कोमलता होती है और यौवनागम का कोई लक्षण दिखलाई ही नही देता, हाँ कुछ थोड़ा आकर्षण अवश्य उत्पन्न हो जाता है । दूसरी अवस्था में कवियो ने वयःसन्धि का वर्णन किया है और तीसरी अवस्था में बाल भाव का सर्वथा अभाव और अंगो

में यौवन का पूर्ण अधिकार दिखलाया जाता है। प्रथम अवस्था को हम यौवन का आरम्भ कह सकते हैं। इसके उदाहरण :—

नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं विकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बँध्यो आगैं कौन हवाल॥

इसी प्रकार :—

सरस कुसुम मँडरातु अलि, न झुकि झपटि लपटातु।
दरसत अति सुकुमारु तनु, परसत मन न पत्यातु॥

कहीं कहीं यौवनजन्य स्वल्प परिवर्तन की ओर संकेत किया जाता है और उस का प्रभाव दिखलाया जाता है, जैसे :—

गाढ़ै ठाढ़ै कुचनु ठिलि पिय हिय को ठहराइ।
उकसौंहैं हीं तो हिये दई सबै उकसाइ।
इक भीजैं चहलौं बूड़ै परैं बहैं हजार।
कितेन औगुन जग करै बै नै चढ़ती बार॥
और ओप कनीनिकनु गनी घनी सिरताज।
मनीं धनी के नेह की बनीं छनीं पट लाज॥
देह दुलहिया की बढ़ै ज्यौं-ज्यौं जोवन जोति।
त्यौं त्यौं लखि सौतैं सबै बदन मलिन दुति होति॥

कहीं कहीं अंगों द्वारा गुणों का आदान प्रदान भी दिखलाया जाता है :—

अंगानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठन सुभ्रुवः॥

बिहारी ने भी अंगों के परस्पर आदान प्रदान का वर्णन किया है.—

ज्यौं ज्यौं जोबन जेठ दिन कुचमिति अति अधिकाति।
त्यौं त्यौं छिन छिन कटि छपा छीन परति नित जाति॥

कहीं कहीं यौवन के विस्तार में अत्युक्ति का भी बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया गया है, जैसे :—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

वय:संधि का वर्णन, जैसे :—

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहूँनु मिलि दिपति ताफता रंग॥

इस वय:संधि में रति दान का भी कितना महत्त्व है ? देखिये :—

तिय-तिथि तरुन-किसोर-वय पुण्य काल सम दोनु।
काहूँ पुन्यनु पाइयतु वैस संधि संक्रोनु॥

तीसरी अवस्था यौवन के पूर्ण विकास की आती है। इस अवस्था में यौवन की परिपूर्णता का वर्णन किया गया है, जैसे .—

अंग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरी ऊ तऊ लगै भरी सी देह॥

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी, सारी सेत।
कबि-आँकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत॥

इस प्रसंग में मीलित और उन्मीलित अलंकारों का भी सुन्दर प्रयोग किया गया है और इस प्रकार यौवनजन्य चमक का प्रभावशाली चित्रण हुआ है। जैसे :—

बरन बास सुकुमारता सब विधि रही समाइ।
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाइ॥

यहाँ पर मीलित अलंकार है। उन्मीलित का भी एक उदाहरण लीजिये :—

रंच न लखियति पहिरि यौं कंचन से तनु बाल।
कुँभिलाने जानो परैं उर चम्पक की माल॥

मुग्धा की दूसरी विशेषता होती है कामना का नवीन संचार। कामना के नवीन संचार में चेष्टाओं में कुछ नवीनता आ जाती है। पैरों की चंचलता, जोर से हँसना इत्यादि बातें जाती रहती हैं, दृष्टि में भी कुछ गम्भीरता, चंचलता तथा आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। काम-कला की बातों में रुचि उत्पन्न हो जाती है और ऐसी बातें सुनने में कुछ विशेष रुचि दृष्टिगत होने लगती है। बिहारी ने दो-एक दोहे मुग्धावस्था में काम के नवीन संचार के विषय में लिखे हैं। देखिये :—

औरै ओप कनीनिकनु गनी घनी सरताज।
मनीं धनीं के नेह की बनीं छनीं पट लाज॥

कनीनिकाओं में और ही ओप का आ जाना तथा लज्जा से आवृत होना नवीन काम-संचार को प्रकट करता है।

इसी प्रकार :—

सखियनि में बैठी रहे पूछै प्रीति प्रकार।
हँसि हँसि आपुस में कहै प्रकट भयौ है मार॥

इस अवस्था में लज्जा की अधिकता और उत्कण्ठा की विशेषता के कारण छिप छिप कर अपने अंगों को देखना, एकान्त प्रेम तथा व्याज से शरीर दर्शन इत्यादि बातें होती हैं। इस अवस्था का वर्णन बिहारी ने निम्नलिखित दोहों में भी किया है :—

चित में तौ कछु चोपसी, निपट न लाग्यौ नेह।
कहूँ दुरै देखै कहूँ, कहूँ दिखावै देह॥

रति में वामाचरण मुग्धा की तीसरी विशेषता है। नायिका जब नायक के साथ चारपाई पर लेटी हो तो प्रयत्न करने पर भी उसकी ओर मुँह नहीं करती। निम्न-लिखित दोहे में इसी दशा का वर्णन किया गया है :—

मैं बरजी कै बार तूँ इत कित लेति करौट।
पँखुरी लगैं गुलाब की परि है गात खरौट॥

इसी प्रकार :—

नाक मोरि नाहीं ककै नारि निहोरैं लेइ।
छुवत ओठ बिय आँगुरिनु बिरी बदन प्यौ देइ॥

मुग्धा में कामना विद्यमान तो होती है किन्तु निःसंकोच भाव से वह प्रियतम के सहवास का आनन्द नहीं ले सकती। किन्तु जब उसको मदिरा पान करा दिया जाता है तब उसकी दशा ही कुछ और हो जाती है। बिहारी ने अधिकतर लज्जाधिक्य में मदिरापान का वर्णन किया है जिस से नायिका की चेष्टाये ही बदल गई हैं। देखिये :—

हँसि हँसि हेरति नवल तिय, मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति वचन ललकि ललकि लपटाति॥

इसी प्रकार :—

ढीठ्यो दै बोलति हँसति पोढ़ बिलास अपोढ़।
त्यौं त्यौं चलत न पिय नयन छकए छकी नबोढ॥

एक और उदाहरण :—

निपट लजीली नवल तिय बहकि वारुनी सेइ।
त्यौं त्यौं अति मीठी लगति ज्यौं ज्यौं ढीक्यो देइ॥

मान में मृदु होना मुग्धा का चौथा लक्षण है। बिहारी ने इस आशय के कई दोहे लिखे हैं।

दो एक उदाहरण यहाँ पर दिये जाते हैं :

सोवत लखि मन मनु धरि ढिग सोयौ प्यौ आइ॥
रही, सुपन की मिलनि मिलि तिय हिय सौं लपटाइ॥

सखियाँ मान की विधि सिखाती है किन्तु नायिका प्रयत्न करने पर भी मान नही कर पाती, मान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है :—

मोहिं लजावत निलज ए हुलसि मिलत सब गात।
भानु-उदै की ओस लौं मानु न जानति जात॥

यहाँ पर "ए" यह संकेत वाचक सर्वनाम है और नेत्र का वाचक है; "सब गात" एक लाक्षणिक प्रयोग है जिस का लक्ष्यार्थ होता है "पूर्ण रूप से"। इस दोहे का पूरा अर्थ इस प्रकार होगा "मेरे नेत्र प्रियतम के आने पर प्रफुल्लित होकर सब अंगों से (पूर्ण रूप से) उनसे मिल जाते हैं।" रत्नाकर ने यहा पर "ए" यह सकेत वाचक विशेषण माना है और सब अंगों के मिलने का अर्थ किया है जो उतना समीचीन ज्ञात नही होता। क्योकि एक तो पहले अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग का सौन्दर्य आ जाता है, दूसरे मुग्धा नायिका का मान दशा का इसमें सुन्दर चित्रण हो जाता है। अतएव नेत्रपरक अर्थ ही करना चाहिये।

एक-दो और उदाहरण :—

(अ) तुहूँ कहति हौं आपु हू समुझति सबै सयानु।
लखि मोहन जौ मनु रहै तौ मन राखौं मानु॥

(ब) सतर भौंह रूखे बचन करति कठिनु मनु नीठि।
कहा करौं ह्वै जाति हरि हेरि हँसौंहीं दीठि॥
(स) रहैं निगोड़े नैन डिगि गहैं न चेत अचेत।
हौं कसि कै रिस को करौं ये निसुके हँसि देत॥

ईर्ष्या मान की मृदुता का उदाहरण :—

अनत बसे निसि की रिसनु उर बरि रही विसेखि।
तऊ लाज आई कत झुखरैं लजौहैं देखि॥

लज्जा का आधिक्य एक पाँचवाँ लक्षण है। वैसे तो लज्जा मुग्धा का प्रधान लक्षण है जो रतिवामता की अवस्था में भी सन्निहित रहती है फिर भी उसी में कहीं-कहीं कुछ विशेषता आ जाती है अतएव इसको पाँचवाँ लक्षण माना गया है :—

अत्र समधिकलज्जावत्त्वेनापि लब्धाया रतिवामताया विच्छित्तिविशेष-वत्तया पुनः कथनम्।

एक उदाहरण :—

हेरि हिंडौरैं गगन ते परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच ही करी खरी रस लूटि॥

मुग्धा के शास्त्रकारो ने चार भेद माने है, अज्ञात-यौवना, ज्ञात-यौवना, नवोढा और विश्रब्धनवोढा। बिहारी ने चारो प्रकार की नायिकाओ के उदाहरण लिखे हैं। अज्ञात-यौवना का यौवन प्रारम्भ हो जाता है, शरीर मे यौवन-जन्य चमक आ जाती है किन्तु कामना का सचार नही होता। इस अवस्था में लड़कपन का विशेष प्राधान्य होता है। देखिये :—

बरजैं दूनी हठ चढ़ै ना सकुचै, न सकाइ।
टूटत कटि दुमची मचक लचकि लचकि बचि जाइ॥

दूसरा उदाहरण :—

लाल, अलौकिक लरिकई लखि लखि सखी सिहाँति।
आजु काल्हि मैं देखियतु उरु उकसौंहीं भाँति॥

निम्नलिखित नायिका का अल्हड़पन भी कितना विचित्र है। उसके अधर पर मोती की झलक पड़ी है। यौवन के विकास के कारण उसकी आकृति कुछ और ही सी हो गई है। अज्ञात-यौवना होने के कारण वह समझ नही पाती है और उस को आटा समझ कर बार-बार अपने वस्त्र से पोछती है .—

बेसरि-मोती दुति झलक परी ओठ पर आइ।
चूनौ होइ न चतुर तिय क्यों पट पोंछ्यौ जाइ॥

ज्ञात-यौवना यौवनागम को जानती है, उसके अन्दर कामना का सचार हो चुका होता है तथापि वह प्रकट रूप में यौवनागम-जन्य हर्ष को प्रकट नही कर पाती। वह एकान्त में अपने व्यजनो को देखती है :—

भावकु उभरौहौं भयौ कछुकु पर्‌यौ भरुआइ।
सीप हरा कैं मिस हियौ निसिदिन हेरत जाइ॥

इसी प्रकार :—

छपि छपि देखति कुचनि-तनु करसौं अँगिया टारि ।
नैननि मैं निरखति रहै भई अनोखी नारि ।।

मध्ययुग में छोटी आयु में कन्याओ के विवाह करने की प्रथा थी । अतएव नवोढा को मुग्धा के अन्तर्गत ही माना जाता है । बिहारी ने नवोढा के वर्णन में कई दोहे लिखे हैं । पीछे मुग्धा की विभिन्न दशाओं के जो उदाहरण दिये गये है वे नवोढा विषय में भी लागू होते हैं । कहीं-कही वैवाहिक जीवन का भी इस प्रसग में वर्णन किया जाता है और सौतो की निराशा दिखलाई जाती है । निम्नलिखित दोहो में इसी अवस्था का वर्णन किया गया है :—

मानहु मुँह दिखरावनी दुलहिहिं करि अनुरागु ।
सासु सदनु मनु ललन हूँ सौतिनु दियौ सुहागु ।।

जब वधू पहले-पहल घर आती है तब मुंह देखने की प्रथा होती है जिसमें घर की सब ज्येष्ठ स्त्रियाँ नव-वधू को कुछ न कुछ भेट देती है । उसी प्रथा का इस दोहे में वर्णन किया गया है । प्रथम सम्मिलन के पहले बर्तन छूने की भी एक प्रथा है । जिस में नव-वधू पहले पहल भोजन बनाती है । उसी का वर्णन निम्नलिखित दोहे से किया गया है :—

टटकी धोई धोवती चटकीली मुख जोति ।
लसत रसोई कैं बगर जगर मगर दुति होति ।।

नवोढा नायिका के यौवन विकास को देखकर सौतो की चिन्ता और निराशा का भी वर्णन किया गया है । जैसे :—

निरखि नवोढ़ा नारि तन छुटत लरिकई-लेस ।
भौ प्यारौ प्रीतम तियनु मानहु चलत विदेश ।।

जब कुछ दिनों के सम्पर्क से नायिका कुछ-कुछ प्रियतम के आग्रह को स्वीकार करने लगती है तब उसे विश्रब्धनवोढा कहते हैं । जैसे:—

हँसि ओठनु बिच करु उचै कियैं निचौंहैं नैन ।
खरैं अरैं पिय के पिया लगी बिरी मुख दैन ।।

कभी-कभी यह विश्रम्भ प्रारम्भ से ही उत्पन्न हो जाता है और कभी कभी जब कुछ अधिक आयु में विवाह होता है तब विवाह में ही नायक और नायिका एक दूसरे को हृदय अर्पित कर देते हैं । जैसे :—

स्वेद सलिलु रोमांच कुसु गहि दुलही अरु नाथ ।
दियौ हियौ सँग हाथ कै हथलैयैं ही हाथ ।।

संक्षेप में मुग्धा नायिका की उत्कण्ठा सर्वदा लज्जा और सकोच से आवृत रहती है और जब कभी उसे प्रियतम के अवलोकन का अवसर मिलता है तो उसकी विचित्र ही अवस्था हो जाती है । बिहारी ने इस प्रकार की चेष्टा का बडा ही सुन्दर वर्णन किया है :—

सटपटाति सैं ससिमुखी मुखु घूंघट पटु ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि॥

यह नायिका कभी भी सामने देख नही पाती और यदि कभी प्रियतम सामने हो तो उत्कण्ठावश उस की दृष्टि एक क्षण के लिए ऊपर उठती है और तत्काल पुनः नीची हो जाती है इस प्रकार की चेष्टा का वर्णन बिहारी ने बडा ही सुन्दर किया है :—

नीची यै नीची निपट दीठ कुहीलौं दौरि।
उठि ऊँचैं नीचौ दयौ मनु कुलिंगु झपि झौरि॥

जिस प्रकार बाज नीचे नीचे उड़ता रहता है फिर एक दम ऊपर को उठकर किसी पक्षी को झपट लेता है और पुनः नीचा हो जाता है। नायिका के सकोचमय अवलोकन से नायक के मन की भी कुछ ऐसी ही दशा हुई है।

मध्या नायिका

यहाँ तक मुग्धा नायिका का परिचय दिया गया है। मुग्धा के बाद नायिका मध्या बनती है। मुग्धा का यौवन चढाव पर होता है और मध्या का यौवन पूर्ण विकसित हो जाता है। इस समय शरीर में एक यौवनजन्य चमक उत्पन्न हो जाती है जो सम्पूर्ण शरीर को आप्यायित किये रहती है। यही वह लावण्य है जो कुरूप से कुरूप स्त्री को मधुरिमामय बना देता है। बिहारी ने इस लावण्य का अनेक दोहों में वर्णन किया है। देखिये :—

झीनैं पट मैं झुलमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु मैं लसति सपल्लव डार॥

कभी-कभी तो शरीर की चमक से वस्त्रों का रग भी बदल जाता है—

सोनजुही सी जगमगति अँग अँग जोवन जोति।
सुरँग कसूँभी कंचुकी दुरंगें देह दुति होति॥

इसी प्रकार :—

देखी सोनजुही फिरति सोन जुही सैं अंग।
दुति-लपटनु पट सेत हूँ करति बनौटी रंग॥

कभी कभी तो यह चमक इतनी अधिक बढ जाती है कि वस्त्र शरीर पर होते हुए भी दिखलाई नही देते :—

भई जु छवि तन बसन मिलि, बरनि सकैं सु न बैन।
आँग ओप आँगी दुरी आँगी आँग दुरै न॥

वैसे तो तन्वी होना सुन्दरियों का स्वभाव ही है। किन्तु जब यौवन की चमक आ जाती है तो उनका तन्वीपन लक्षित कर सकना कठिन हो जाता है :—

अंग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरी ऊ तऊ लगै भरी सी देह॥

इस यौवन में एक अभूतपूर्व लचक, एक विचित्र प्रकार की चेष्टा स्वतः

उत्पन्न हो जाती है जो युवको को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है :—

चिलक चिकनई चटक सौं लफति सटक लौं आइ ।
नारि सलोनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ ।।

इसी प्रकार :—

लहलहाति तन तरुनई लचि लग लौं लफि जाइ ।
लगै लाँक लोयनु भरी लोयनु लेइ लगाइ ।।

मुग्धा की अपेक्षा मध्या में लज्जा की कमी हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मुग्धा में लज्जा उसकी उत्कण्ठा को दबाये रहती है, इसके प्रतिकूल मध्या में उत्कण्ठा और लज्जा समान भाव में स्थित होती हैं। मध्या नायिका नायक को बार बार देखना चाहती है और देखने से संतुष्ट नही होती। इसी दशा का वर्णन बिहारी ने इस प्रकार लिखा है :—

करे चाह सौं चुकुटि कै खरैं उड़ौंहैं मैन ।
लाज नवाएँ तरफत करत खूँद सी नैन ।।

इस नायिका की दृष्टि अपने प्रियतम को ढूँढती भी खूब है। तत्काल अपने चित्तचोर के पास जा पहुँचती है :—

सबही त्यौं समुहाति छिनु चलति सबनु दै पीठि ।
वाही त्यौं ठहराति यह कविलनवो लौं दीठि ।।

इसकी दृष्टि भीड के अन्दर भी अपने प्रियतम को ढूँढ निकालती है और भीड़ की परवाह न करके नायक की दृष्टि से एक दम जुड़ जाती है :—

इती भीर हूँ भेदि कै कित हू ह्वै इत आइ ।
फिरै दीठि जुरि दीठि सौं सबकी दीठि बचाइ ।।

यही बात बिहारी ने दूसरे दोहे में भी कही है :—

गड़ी कुटुम की भीर में रही बैठि दै पीठि ।
तऊ पलकु परि जाति इत सलज हसौंहीं दीठि ।।

लज्जा और लालच के बस में नेत्रों की विचित्र सी दशा हो जाती है और यह विचित्रता उस समय और अधिक बढ़ जाती है जब प्रियतम नैहर में पहुँच जावे—

छुटी न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर-गेह ।
सटपटात लोचन खरे भरे सँकोच सनेह ।।

केवल देखने में ही नही प्रियतम को अपने अग दिखलाने में भी यह नायिका निपुण होती है और इस क्रिया में आनन्द भी लेती है :—

देख्यौ अनदेख्यौ कियैं अँगु अँगु सबै दिखाइ ।
पैठति सी तन में सकुचि बैठी चितै लजाइ ।।

इसे प्रियतम से मिलने में हर्ष होता है किन्तु उस हर्ष को यह प्रकट नहीं कर सकती। उसे नैहर में अच्छा नही लगता फिर भी इस भाव को यह प्रकट नही करती :—

चाले की बातैं चलीं सुनत सखिनु कैं टोल।
गोऐं हूँ लोइन हँसत बिहँसत जात कपोल॥

इसकी आनन्द क्रीडा लज्जा से भरी होती है :—

पीठि दिये हीं नैंक मुरि कर घूंघट पटु टारि।
भरि गुलाल की मूठि सौं गई मूठि सी मारि॥

मध्या नायिका की कामना मुग्धा की अपेक्षा अधिक उद्दीप्त होती है। इसे वियोग-जन्य पीडा भी अधिक सताती है। शीतल वस्तुये भी जलाने वाली होती हैं—

चन्दन चम्पक चन्द-रस चन्द चुर्‌यो तनु जाइ।
बारक आली अ ग सौं आँग्यो देखि लगाइ॥

प्रियतम ने पीछे से आकर आखे बन्द कर ली हैं। वह समझ तो शीघ्र ही गई है किन्तु आनन्दातिरेक से उसे प्रकट करना नही चाहती :—

प्रीतम दृग मिहचत प्रिया-पानि-परस-सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नैंकु न होति जनाइ॥

सुरत काल में भी यह अधिक आनन्ददायक होती है और सुरत में प्रवृत्ति भी विशेषता के साथ होती है।

रँगी सुरत रँग पियहियैं लगी जगी सब राति।
पैंड पैंड पर ठुठुकि कै एंड भरी एंडाति॥

इसी प्रकार —

लाज-गरब आलस-उमग-भरे नैन मुसकात।
राति रमी रति देति कहि औरै प्रभा प्रभात॥

यहाँ पर लज्जा और गर्व तथा आलस्य और उमंग इन विरुद्ध भावो का संघटन किया गया है इससे अनेक प्रकार की सुरत लक्षित होती है। गर्व तथा उमंग इन दो भावो से यह लक्षित होता है कि नायिका ने सुरत काल में विपरीत रति के अवसर पर विशेष कौशल दिखलाया है तथा यह दोनो भाव उक्त कौशल के ही परिचायक है। इसी प्रकार लज्जा और आलस्य से प्रमाणित होता है कि उक्त गर्व तथा उमग रति के कारण ही हैं।

मध्या नायिका के वचनो में भी कुछ अधिक प्रगल्भता आ जाती है। एक तो यह बातचीत करती ही अधिक है, केवल संकोचवश सामने निरन्तर देख नही सकती :—

सकुच सहित बातनि लगी आननु फेरत नाहिं।
नैना हीं चित चोर लौं निरखि निरखि नै जाहिं॥

देखिये पत्र में यह नायिका क्या सदेश देती है :—

भौ यह ऐसोई समै जहाँ सुखद दुखु देत।
चैत मास की चाँदनी डारति किये अचेत॥

निस्संदेह इस विषय में कालीदास की व्यंजना अधिक स्फुट हो जाती है :—

उत्पन्न हो जाती है जो युवको को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है :—

चिलक चिकनई चटक सौं लफति सटक लौ आइ ।
नारि सलोनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ ।।

इसी प्रकार —

लहलहाति तन तरुनई लचि लग लौं लफि जाइ ।
लगै लाँक लोयनु भरी लोयनु लेइ लगाइ ।।

मुग्धा की अपेक्षा मध्या में लज्जा की कमी हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मुग्धा में लज्जा उसकी उत्कण्ठा को दबाये रहती है, इसके प्रतिकूल मध्या में उत्कण्ठा और लज्जा समान भाव में स्थित होती हैं। मध्या नायिका नायक को बार बार देखना चाहती है और देखने से संतुष्ट नही होती। इसी दशा का वर्णन बिहारी ने इस प्रकार लिखा है —

करे चाह सौं चुकुटि कै खरैं उड़ौंहैं मैन ।
लाज नवाएँ तरफत करत खूँद सी नैन ।।

इस नायिका की दृष्टि अपने प्रियतम को ढूँढती भी खूब है । तत्काल अपने चित्तचोर के पास जा पहुँचती है :—

सबही त्यौं समुहाति छिनु चलति सबनु दै पीठि ।
वाही त्यौं ठहराति यह कविलनवो लौं दीठि ।।

इसकी दृष्टि भीड के अन्दर भी अपने प्रियतम को ढूँढ निकालती है और भीड़ की परवाह न करके नायक की दृष्टि से एक दम जुड जाती है :—

इती भीर हूँ भेदि कै कित हू ह्वै इत आइ ।
फिरै दीठि जुरि दीठि सौं सबकी दीठि बचाइ ।।

यही बात बिहारी ने दूसरे दोहे में भी कही है :—

गड़ी कुटुम की भीर में रही बैठि दै पीठि ।
तऊ पलकु परि जाति इत सलज हसौंहीं दीठि ।।

लज्जा और लालच के बस में नेत्रों की विचित्र सी दशा हो जाती है और यह विचित्रता उस समय और अधिक बढ़ जाती है जब प्रियतम नैहर में पहुँच जावे—

छुटी न लाज न लालचौ प्यौ लखि नैहर-गेह ।
सटपटात लोचन खरे भरे सँकोच सनेह ।।

केवल देखने में ही नही प्रियतम को अपने अग दिखलाने में भी यह नायिका निपुण होती है और इस क्रिया में आनन्द भी लेती है :—

देख्यौ अनदेख्यौ कियैं अँगु अँगु सबै दिखाइ ।
पैठति सी तन में सकुचि बैठी चितै लजाइ ।।

इसे प्रियतम से मिलने में हर्ष होता है किन्तु उस हर्ष को यह प्रकट नहीं कर सकती । उसे नैहर में अच्छा नही लगता फिर भी इस भाव को यह प्रकट नही करती :—

चाले की बातैं चलीं सुनत सखिनु कैं टोल।
गोऐं हूँ लोइन हँसत बिहँसत जात कपोल॥

इसकी आनन्द क्रीडा लज्जा से भरी होती है :—

पीठि दिये हीं नैंक मुरि कर घूंघट पटु टारि।
भरि गुलाल की मूठि सौं गई मूठि सी मारि॥

मध्या नायिका की कामना मुग्धा की अपेक्षा अधिक उद्दीप्त होती है। इसे वियोग-जन्य पीडा भी अधिक सताती है। शीतल वस्तुये भी जलाने वाली होती हैं—

चन्दन चम्पक चन्द-रस चन्द चुर्‌यो तनु जाइ।
बारक आली अ ग सौं आँग्यो देखि लगाइ॥

प्रियतम ने पीछे से आकर आखे बन्द कर ली हैं। वह समझ तो शीघ्र ही गई है किन्तु आनन्दातिरेक से उसे प्रकट करना नही चाहती :—

प्रीतम दृग मिहचत प्रिया-पानि-परस-सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नैंकु न होति जनाइ॥

सुरत काल में भी यह अधिक आनन्ददायक होती है और सुरत में प्रवृत्ति भी विशेषता के साथ होती है।

रँगी सुरत रँग पियहियैं लगी जगी सब राति।
पैंड पैंड पर ठुठुकि कै एंड भरी एंडाति॥

इसी प्रकार —

लाज-गरब आलस-उमग-भरे नैन मुसकात।
राति रमी रति देति कहि औरै प्रभा प्रभात॥

यहाँ पर लज्जा और गर्व तथा आलस्य और उमंग इन विरुद्ध भावो का संघटन किया गया है इससे अनेक प्रकार की सुरत लक्षित होती है। गर्व तथा उमग इन दो भावो से यह लक्षित होता है कि नायिका ने सुरत काल में विपरीत रति के अवसर पर विशेष कौशल दिखलाया है तथा यह दोनो भाव उक्त कौशल के ही परिचायक हैं। इसी प्रकार लज्जा और आलस्य से प्रमाणित होता है कि उक्त गर्व तथा उमग रति के कारण ही है।

मध्या नायिका के वचनो में भी कुछ अधिक प्रगल्भता आ जाती है। एक तो यह बातचीत करती ही अधिक है, केवल संकोचवश सामने निरन्तर देख नही सकती :—

सकुच सहित बातनि लगी आननु फेरत नाहिं।
नैन हीं चित चोर लौं निरखि निरखि नै जाहिं॥

देखिये पत्र में यह नायिका क्या सदेश देती है :—

भौ यह ऐसोई समै जहाँ सुखद दुखु देत।
चैत मास की चाँदनी डारति किये अचेत॥

निस्सदेह इस विषय में कालीदास की व्यंजना अधिक स्फुट हो जाती है :—

प्राणेश विज्ञप्तिरियं मदीया ,
तत्रैव नेया दिवसा कियन्त ।
सम्प्रत्ययोग्यस्थितिरेष देशः,
कला हिमांशोरपि तापयन्ति ।।

प्रगल्भता का एक उदाहरण और देखिये :—

लाल तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार ।
सरसैं बरसै नीर हूँ झर हूँ मिटै न झार ।।

संक्षेप में मध्या नायिका का यौवन अधिक प्रस्फुटित तथा अधिक आकर्षक हो जाता है, यौवनजन्य चमक बढ़ जाती है, लज्जा और संकोच तथा उत्कण्ठा का स्तर एक हो जाता है, काम अधिक उद्दीप्त हो जाता है, सुरत में विशेषता आ जाती है और वचनों में प्रगल्भता का संचार हो जाता है। यह मध्या नायिका की सामान्य दशा का परिचय है।

प्रौढा नायिका

प्रौढ़ा नायिका की एक बड़ी विशेषता यह होती है कि यह नायिका काम-वासना से अन्धी हो जाती है। रात दिन इसे चैन नहीं पड़ती .—

तजी संक सकुचवति न चित बोलत वाकु कुवाकु ।
दिनछिनदा छाकी रहति छुटतु न छिनु छवि छाकु ।।

इसी प्रकार .—

ह्याँ तैं ह्वाँ ह्वाँ तैं इहाँ नैकौ धरति न धीर ।
निसि दिन डाढ़ी सी फिरति बाढ़ी गाढ़ी पीर ।।
इत तैं उत उत तै इतै छिनु न कहूँ ठहराति ।
जक न परति चकरी भई फिरि आवति फिरि जाति ।।

रात दिन खींचातानी में पड़े रहना, बार बार नायक को देखने के लिये ऊपर चढना, नीचे उतरना इसका स्वभाव होता है। जैसे :—

झटकि चढति उतरति अटा नैंकु न थाकति देह ।
भई रहति नटकौ बटा अटकी नागर नेह ।।

प्रियतम के चिन्हो का भी उसके हृदय में अत्यन्त आदर होता है और रात दिन उन्ही चिन्हो के आनन्द में मस्त रहती है। यदि प्रियतम का दन्त-व्रण या नख-व्रण प्राप्त हो जाता है तो यह उसी आनन्द में निरन्तर मस्त रहती है :—

छिनकु उघारति छिनु छुवति राखति छिनकु छिपाइ ।
सबु दिनु पिय खण्डित अधर दरपन देखत जाइ ।।

यहाँ तक यदि प्रियतम की उड़ाई पतग की छाया घर के आंगन में आ कर पडती है तो यह पागल हो उठती है :—

उड़ति गुड़ी लखि लाल की अँगना अँगना माँह ।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीलो छाँह ।।

यह प्रियतम का इतना अधिक ध्यान करती है कि सारे जगत् को प्रियतम मय देखने लगती है यहाँ तक कि अपने को भी प्रियतममय देखती है .—

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि ।
आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि ।।

इसी प्रकार :—

कब की ध्यान लगी लखौं यह घरु लगि है काहि ।
डरियतु भृंगी कीट लौं मति वहई ह्वै जाइ ।।

कभी कभी तो इसकी कामना मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाती है। यदि प्रियतम ने पुत्र का मुख चूम लिया हो तो यह पुत्र के मुख को चूम कर प्रियतम के अधर चुम्बन का आनन्द लेती है :—

विहँसि बुलाइ बिलोकि उत प्रौढ़ तिया रस घूमि ।
पुलकि पसीजति पूत कौ पिय चूम्यौ मुँहु चूमि ।।

जिस प्रकार इसमें कामान्धता होती है उसी प्रकार यौवन भी प्रगाढता को प्राप्त कर लेता है :—

कटि छोटी छाती बड़ी आँख्यौं लागतिं कान ।
छीवरवारी छोहरी लेति छुड़ाए प्रान ।।

बिहारी ने एक दूसरे दोहे में नायिका के दृष्टि-विस्तार का बडा ही सुन्दर वर्णन किया है .—

जोग जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन ।
चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन ।।

यौवन के विस्तार का एक और उदाहरण —

कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै चली दीठि मुँह चाड ।
फिरि न टरी परियै रही गिरी चिबुक की गाड़ ।।

प्रौढा में लज्जा हीनातिहीन सीमा तक पहुँच जाती है। इसे किसी भी अवस्था में संकोच नही होता :—

चलतु घैरु घर घर तऊ घरी न घर ठहराति ।
समुझि उहीं घर कौं चलै भूलि उहीं घर जाइ ।।

इसके नेत्रो की चेष्टा तत्काल उसके भाव को प्रकट कर देती है —

बहके सब जिय की कहत ठौरु कुठौरु लखैं न ।
छिन औरै छिन और से ए छवि छाके नैन ।।

प्रौढा के नेत्रों की दशा भी विलक्षण होती है। इसके नेत्र रूपी घोडे लज्जा रूपी लगाम की परवाह ही नही करते :—

लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहीं ।
ये मुँह जोर तुरंग लौं ऐंचत हू चलि जाहिं ।।

इसको यश अपयश की भी परवाह नही होती :—

जसु अपजसु देखत नहीं देखत साँवल गात ।
कहा करौं लालच भरे चपल नैन चलि जात ।।

इसको लाखों की भीड की भी परवाह नही होती । वीर सैनिक की भाँति इसके नेत्र भीड को चीरते हुए जा कर अपने प्रियतम ही से टकराते हैं :—

पहुँचति डटि रण सुभट लौं रोकि सकैं सब नाँहि ।
लाखनुहू की भीर मैं आँखि उहीं चलि जाँहि ।।

इसके नेत्रो की चेष्टाये नर्तकी को भी मात देने वाली होती है :—

सब अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ ।
रसजुत लेति अनन्त गति पुतरी पातुर राइ ।।

मध्या नायिका तो प्रियतम के नेत्र बन्द कर लेने पर आनन्द ही लेती रहती है यह स्वयं घूम कर प्रियतम से चिपट जाती है :—

दृग मिहचत मृगलोचनी भर्‌यो उलटि भुजवाथ ।
जानि गई तियनाथ के हाथ परसही हाथ ।।

मध्या नायिका के वचनो में कुछ कुछ प्रगल्भता का संचार होता है किन्तु इसकी भावनायें बड़ी उद्दीप्त होती है और रति क्रीडा में तो यह अपने प्रियतम को भी मात दे देती है :—

पर्‌यौ जोरु बिपरीत रति रुपी सुरत रण-धीर ।
करति कुलाहलु किंकिनी गह्‌यो मौनु मजीर ।।

रात भर सुरत क्रीडा करने के बाद भी इसकी इच्छा प्रातः काल चारपाई छोड़ने की नही होती :—

नीठि नीठि उठि बैठिहूँ प्यौ प्यारी परभात ।
दोऊ नींद भरैं खरैं गरैं लागि गिरि जात ।।

इस नायिका की सब से बडी विशेषता होती है नायक को अपने अधीन कर लेने की । बिहारी ने इस का वर्णन निम्नलिखित ६ दोहो में किया है :—

वेद भेद जानैं नहीं नेतिनेति कहैं बैन ।
ता मोहन सौं राधिका कहैं महावरु दैंन ।।
जग्य न पायौ ब्रह्म हूँ जोग न पायौ ईस ।
ता मोहन पैं राधिका सुमन गुहावति सीस ।।
जिन सिगरी बसुधा करी तत्व मिलैं कै पांच ।
ता मोहन कौं राधिका किते नचावति नाच ।।

इसी प्रकार :—

रहौ गुही वेनी लखे गुहिवे के ब्यौनार ।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुकाये बार ।।

संक्षेप में प्रौढ़ा नायिका कामोन्मत्त होती है । हर समय उसे सम्भोग का ही ध्यान आता रहता है । उसका तारुण्य प्रगाढ अवस्था को पहुँच चुका होता है ।

वह रति क्रीडा में बडी ही निपुण होती है। लज्जा-शीलता उसमें निम्नातिनिम्न मात्रा में होती है—और वह प्रियतम पर अधिकार बनाये रहती है। इस प्रकार अवस्था भेद से मुग्धा, मध्या और प्रौढा यह तीन प्रकार की नायिकाये होती है।

मध्या तथा प्रौढा के अवान्तर भेद

आचार्यो ने मध्या तथा प्रगल्भा (प्रौढा) के तीन अवान्तर भेद भी किये हैं, धीरा, धीराधीरा तथा अधीरा। इस प्रकार मध्या और प्रौढा के ६ भेद हो जाते है। सम्भोग की दृष्टि से मध्या और प्रौढा के रूप में नायिका को विभाजित कर देना ही पर्याप्त है क्योकि सहवास तथा सम्मिलन की चेष्टाओ में विशेष अन्तर केवल लज्जा का तारतम्य हो जाता है। किन्तु जब इस बात पर विचार किया जाता है कि प्रियतम के सापराध होने पर नायिका किस प्रकार का व्यवहार करती है तब इनके अवान्तर भेद स्पष्ट लक्षित हो जाते है।

(१) यदि प्रियतम के अपराध को देखकर नायिका आपे से बाहर नही हो जाती, न तो वह कठोर शब्द ही कहती है, न रोती है, अपितु मुस्कराकर गम्भीरता के साथ प्रियतम को बनाने लगती है और प्रियतम से कहती है कि वह उसके अपराध पर प्रसन्न है—तब वह धैर्यशालिनी मध्या (मध्या धीरा) कही जाती है। बिहारी ने कई दोहो में मध्या धीरा की सूक्तियो का वर्णन किया है। नायक सम्भोग चिन्हो के साथ प्रात.काल घर को आया है। नायिका मध्या धीरा है, वह कहती है "क्या खूब आज तो तुम्हे देखकर मुझे ऐसा लगता है मानो मैने साक्षात् शिव और विष्णु के सम्मिलित रूप के दर्शन किये हो :—

प्रानप्रिया हिय में बसै नखरेखा ससि भाल।
भलौ दिखायौ आइ यह हरि हर रूप रसाल॥

इसी प्रकार :—

पलनु पीक अंजनु अधर धरे महावरु भाल।
आजु मिले सुभली करी भले बने हौ लाल॥

नायिका आश्चर्य प्रकट करती है कि यह प्रात.काल ही सध्या कैसे हो गई। प्रात काल और सध्या का सम्मिलित आनन्द लेने का सौभाग्य तो बिरले ही भाग्यशालियो को प्राप्त होता है :—

रह्यौ चकितु चहुँधा चितै चितु मेरौ मति भूलि।
सूर उयैं आए रही दृगनु साँझ सी फूलि॥

यह विधुवदनी सम्बोधन का समर्थन कितना सुन्दर है :—

बिधु बदनी मोसौं कहत मैं समुझी निज बात।
नैन नलिन पिय रावरे न्याय निरखि नै जात॥

एक और उदाहरण :—

पटकी ढिग कत ढाँपियत सोभित सुभग सुरेष।
हृद रद छद छबि देति यह सद रद छद की रेख॥

(२) यदि नायिका का गम्भीरता का बाँधटूट जाये और उसका धैर्य जाता रहे

तथा कटु शब्द उसके मुख से निकलने लगे तो वह नायिका मध्या अधीरा होती है। बिहारी ने इसके वर्णन में बहुत से दोहे लिखे है। यहाँ पर कतिपय उदाहरण दिये जा रहे हैं। मध्याधीरा तो विधुवदनी का सामर्थन उपहास के साथ कर देती है किन्तु मध्या अधीरा तत्काल वहाँ से चले जाने का आदेश देती है :—

बिधुबदनी मोसौं कहत कत उपजावत दाहु।
नयन नलिन फूले जहाँ रबिबदनी पै जाहु॥

निम्नलिखित दोहो मे मध्या अधीरा का ही वर्णन किया गया है :—

(अ) पावक सो नैननु लगै जावकु लाग्यो भाल।
मुकुरु होहुगे नेक में मुकुरु विलोकहु लाल॥

(आ) दुरैं न निघरघटयौ दिये ए रावरी कुचाल।
बिषु सी लागति है बुरी हँसी खिसी की लाल॥

(इ) कत बेकाज चलाइयति चतुराई की चाल।
कहे देति यह रावरे सब गुन निरगुन माल॥

(ई) पटसौं पोंछि परी करौ खरी भयानक भेष।
नागिनि ह्वै लागति दृगनु नागबेलि रँगरेख।

(उ) सदन सदन के फिरन की सद न छुटै हरि राह।
रुचै तितै बिहरत फिरौ कत बिहरत उरु आह॥

(ऊ) मोंहूँ सौं बातनु लगे लगी जीभ जेहि नाइ।
सोई लै उर लाइयै लाल लागियतु पाइ॥

(ए) नख रेखा सो नई अलसौंहैं सब गात।
सौंहैं होत न नयन ये तुम सौंहैं कत खात॥

(ऐ) वैसी यै जानी परति झंगा ऊजरे माँह।
मृगनैनी लपटत जु हिय बेनी उपटी बाँह॥

(ओ) कत कहियत दुखु देन कौं रचि-रचि वचन अलीक।
सबै कहाउ रह्यौ लखैं लाल महावर लीक॥

(औ) सुभर भर्यौ तव गुन कननु पकयौ कपट कुचाल।
क्यों धौं दार्‌यो लौं हियौ दरकतु नहिं नन्द लाल॥

(३) कुछ नायिकाये ऐसी होती है जो ऐसे अवसर पर न तो गम्भीरता ही धारण कर पाती है और न कटु शब्द कहने में प्रवृत्त होती हैं। न तो वे इतनी धीरा ही होती हैं कि उनका रोष उपहास के रूप में परिणत हो सके और न इतनी अधीरा ही होती है कि तत्काल रोषपूर्ण शब्द मुह से निकलने ही लगे। ऐसी नायिकायें या तो रोने लगती है या रुष्ट होकर आंख-भौं चढाकर एक ओर बैठी रहती हैं, कहती कुछ नही। ऐसी नायिकाओ को मध्या धीराधीरा कहा जाता है। बिहारी में कोई भी दोहा रोकर रोष प्रकट करने का प्राप्त ही नहीं होता। वस्तुतः रोना भी अधैर्य का ही एक लक्षण है। वास्तविक धीराधीरा तो वे ही हो सकती हैं जो

बोलना-चालना बन्द कर दें और उनके आकार-प्रकार से ही क्रोध की व्यंजना हो। इस प्रकार के उदाहरण बिहारी में कई एक मिलते है। देखिये :-

सौंहैं हूँ हेर्यो न तैं केती घाईं सौंह।
ऐहो क्यौं बैठी किये ऐंठी ग्वेंठी भौंह॥

इसी प्रकार :—

हौं हारी कै कै हहा पायनु पार्यो प्योरु।
लेहु कहा अजहूँ किये तेह तरेरौ त्यौरु॥

कभी-कभी सम्भोग चिन्हो से ऐसी नायिका व्याकुल हो जाती है और प्रणय को स्वीकार न करके ही अपने रोष की व्यजना करती है

बिलखी लखै खरी खरी भरी अनख वैराग।
मृग नैनी सैन न भजै लखि वेनी के दाग॥

कभी कभी इस अवस्था मे सखियो की मध्यस्थता बडी ही चमत्कारपूर्ण होती है :—

(अ) तेह तरेरौ त्यौरु करि कत करियत दृग लोल।
लीक नहीं यह पीक की श्रुति मनि झलक कपोल॥

(आ) कहा लेहुगे खेलपैं तजौ अटपटी बात।
नैकु हँसौंहीं हैं भईं भौंहैं सौंहैं खात॥

कभी कभी जब नायक निराश होकर लौट जाता है तो सखि उसे जाकर पुनः लौटने के लिए प्रेरित करती है :—

चलौ चलैं छुटि जाइगौ हठु रावरैं संकोच।
खरे चढाये हे तिअब आये लोचन लोच॥

(४) यदि नायिका प्रौढा हो तो उसकी मान चेष्टाये मध्या की मान चेष्टाओं से कुछ भिन्न होती है। यह भी मध्या के समान धीरा, धीराधीरा और अधीरा इन तीन भेदो में विभाजित की जा सकती है। ऊपर बतलाया जा चुका है मध्या धीरा का रोष न तो मौनावलम्बन के द्वारा ही व्यक्त हो पाता है और न वह सहसा कटु शब्दों का ही प्रयोग करने लग जाती है। किन्तु उसके अन्दर इतना अधिक धैर्य भी नही होता कि वह अपने भाव को सर्वथा छिपा ले। अतएव वह वक्रोक्ति का प्रयोग कर अपनी भावना व्यक्त किया करती है। इसके प्रतिकूल यदि नायिका प्रौढा-धीरा हो तो वह सर्वथा अपना रोष छिपा लेती है। प्रियतम का पहले की अपेक्षा भी अधिक आदर करती है। इस प्रकार उसका रोष व्यवहार की नवीनता के कारण व्यक्त होता है। बिहारी ने इस प्रकार के मान में सोठ के मिठास की सुन्दर कल्पना की है :—देखिए —

खरैं अदब इठलाहटी, उर उपजावति त्रासु।
दुसह संक बिस कौ करै जैसैं सौंठि मिठासु॥

इस नायिका का मान अधिक आदर के द्वारा ही व्यक्त होता है :—

मुँह मिठास दृग चीकने भौंहें सहज सुभाइ।
तऊ खरैं आदर खरौ खिन खिन हियौ सकाइ॥

कभी कभी मुस्कराहट ही मान की व्यजिका होती है :—

ढीठि परोसिनि ईठि ह्वै कहे जु गहे सयानु।
सबै सँदेसे कहि कह्यौ मुसकाहट में मानु॥

इसी प्रकार :—

छला परोसिनि हाथ तैं छलु करि लियौ पिछानि।
पियहिं दिखायौ लखि बिलखि रिस सूचक मुसकानि॥

कभी कभी हसने और आदर करने की चेष्टा में कुछ थोडा सा रूखापन लक्षित हो जाता है :—

ललकि लोल लोचन भये सुनत नाह के बोल।
ऊपर की रिस क्यौं दुरै हाँसी भरे कपोल॥

कभी कभी हँसी के अन्दर ही आखो की लाली उसके इस भाव को व्यक्त करती है :—

रस की सी रुख ससि मुखी हँसि हँसि बोलत बैन।
गूढ़ मानु मन क्यौं रहै भये बूढ रँग नैन॥

कभी कभी चेष्टा में भोलापन इस भाव का व्यंजक होता है :—

चितवनि रूखे दृगनु की हाँसी बिनु मुसकानि।
मानु जनायौ मानिनी जानि लियौ पिय जानि॥

(५) प्रौढा धीराधीरा अपने रोष को छिपा नही पाती। वह ऐसे वचन बोलती है जिनका वाच्यार्थ तो डाट फटकार परक नही होता किन्तु उससे रोष की व्यंजना निकल अवश्य जाती है। मध्या धीरा भी वक्रोक्ति का प्रयोग करती है और यह भी इसी प्रकार की उक्तियो को काम में लाती है किन्तु अन्तर यह होता है कि मध्या धीरा की उक्तियो में कुछ प्रसन्नतासूचक तथा प्रशसापरक कथन होते है और साथ में धैर्य के कारण मुस्कराहट भी रहती है किन्तु प्रौढा धीराधीरा के कथनो में कुछ खीझ अवश्य लक्षित हो जाती है। मध्या धीरा की अपेक्षा यह प्रियतम को अधिक स्पष्ट रूप में अपराधी बतलाती है। इसकी वचनावली के कुछ नमूने लीजिये :—

(अ) कत सकुचत निधरक फिरौ रतियौ खोरि तुह्मैं न।
कहा करौ जौ जाइ ए लगैं लगौहैं नैन॥

(आ) तरुन कोकनद बरन बर, भये अरुन निसि जागि।
वाही कैं अनुराग दृग रहे मनौं अनुरागि॥

(इ) बेई गड़ि गाढ़ैं परीं उपट्यो हारु हियैं न।
आन्यो मोरि मतगु मनु मारि गुरेरनु मैन॥

(ई) बाल कहा लाली भई लोयनु कोयनु माँहि।
लाल तुह्मारे दृगनु की परी दृगन मैं छाँहि॥

(ङ) तुरत सुरत कैसैं दुरत मुरत नैन जुरि नीठि।
डौंड़ी दै गुन रावरे कहति कनौडी दीठि॥

(ऊ) लालन लहि पाएँ दुरै चोरी सौंह करैं न।
सीस चढ़े पनिहा प्रगट कहैं पुकारैं नैन॥

(ए) पल सौंहैं पगि-पीक रग छल सोहैं सब बैन।
बल-सोहैं कत कीजियत ये अलसौहैं नैन॥

(ऐ) कत लपटइयतु मोगरैं सोनजुही निसि सैन।
जिहिं चंपक बरनी किये गुल्लाला रँग नैन॥

(ओ) वाही की चित चटपटी धरत अटपटे पाइ।
लपट बुझावत विरह की झपट भरेऊ आइ॥

(६) यदि नायिका प्रौढा अधीरा हो तो उसका क्रोध सीमा में नही रहता। नायक पर उसका पूरा अधिकार तो होता ही है। अतएव नायक के अपराध में वह उसे मारने भी लगती है। किन्तु यह व्यवहार कुल वधुओ के लिए उचित नही है। बिहारी ने इसका सकेत मात्र दिया है स्पष्ट वर्णन नही किया है :—

मार्‌यौ मनुहारिनु भरी गार्‌यौ खरी मिठाहिं।
वाकौ अति अनखाइटौ मुसकाइट बिनु नाहिं॥

मारना उपलक्षण मात्र है। इसमें क्रोधपूर्ण वचनों का भी समावेश हो जाता है। मध्या अधीरा का भी रोष व्यक्त होता है और उसका भी। अन्तर यह है कि मध्या अधीरा के रोष में निराशा वैराग्य इत्यादि की व्यंजना होती है और इसके रोष में क्रोध की।

उदाहरण .—

लाज घोरि आँचई सबै अरु डरु दीनौ नाखि।
ताही सौं बातनि लगौ जासौ लागी आँखि॥

"अरु डरु दीन्यो नाखि" से उसके क्रोध तथा धमकाने की व्यंजना होती है।

इसी प्रकार :—

ह्याँ न चलै बलि रावरी चतुराई की चाल।
सनख हियैं खिन खिन नटत अनख बढ़ावत लाल॥

"अनख बढावत लाल" से व्यंग्यार्थ निकलता है "मेरा क्रोध बढ़ रहा है, यहाँ से चले जाओ नही तो मै मार बैठूगी" अतएव यह प्रौढा अधीरा है।

इस प्रकार स्वकीया के सभी भेदो के उदाहरण बिहारी में विद्यमान हैं और उनकी मनोवृत्तियों का अच्छा चित्रण किया गया है।

परकीया नायिका

परकीया नायिका शास्त्रो में दो प्रकार की मानी गई है कन्या और परोढा। कन्या को परकीया इसलिए कहते हैं कि इसका सम्मिलन तथा इसका सुरत

स्वच्छन्द नहीं होता। यह भी पिता इत्यादि किसी अभिभावक के आधीन ही होती है और लोक में इसका भी मिलना जुलना बुरा ही माना जाता है। किन्तु साहित्य शास्त्र में कन्या का प्रेम रस का ही आलम्बन माना जाता है, रसाभास का नहीं। शास्त्रकारों का मत है कि कन्या का प्रेम काव्य मे स्वेच्छापूर्वक अग तथा अंगी दोनो रूपों मे रखा जा सकता है।[1] काम शास्त्र में गान्धर्व विवाह सर्वोत्तम माना गया है;[2] धर्मशास्त्र की दृष्टि से भी यदि कन्यानुराग दाम्पत्य प्रेम के रूप में परिणत हो जावे तो वह दूषित नही कहा जा सकता[3] और समाज भी उसका अनुमोदन करता ही चला आया है।[4] यही कारण है कि भारतीय काव्य जगत् में कन्यानुराग सर्वदा स्वच्छन्द रूप से अगी रस के रूप में ही स्वीकृत होता चला आया है। सबसे अच्छा वह प्रेम होता है जिसका क्रमिक विकास क्रीड़ा क्षेत्र से होता है। सूर ने राधा कृष्ण के प्रेम में यही क्रमिक विकास दिखाया है कि इसी प्रकार राधा और कृष्ण साथ साथ खेलते खेलते प्रणय-बन्धन में बन्ध जाते है और अन्त में राधा भगवान् कृष्ण की पत्नी बन जाती है। बिहारी ने भी खेल के मैदान में प्रणय बन्धन के विकास की ओर इगित किया है :—

दोऊ चोर मिहीचनी खेलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै छुवत हियैं लपटात॥

सच है दोनो के एकान्त सम्मिलन का अवसर चोर मिचहुनी खेलने से अधिक और कहाँ मिल सकता है? बिहारी का कन्या प्रेम विषयक स्पष्ट दोहा यही एक मिलता है। इसके अतिरिक्त दो एक दोहे और ऐसे है जिनमें कन्यानुराग की झलक मिलती है। जैसे :—

चलतु घैरु घर घर तऊ घरी न घर ठहराइ।
समुझि उहीं घर कौं चलै भूलि उहीं घर जाइ॥

यह नायिका स्वकीया नही हो सकती क्योकि ऐसी दशा में घर पर "घैरु" चलने की बात ही नही उत्पन्न होती और परोढा भी नही है क्योकि वधुओं को किसी के घर जाने आने का वर्णन सगत ही नही कहा जा सकता।

इसी प्रकार :—

सहित, सनेह, सकोच, सुख, स्वेद, कंप, मुसकानि।
प्रान पानि करि आपनैं पान धरे मो पानि॥

जब कोई किसी के घर जाता है तब घर के लोग प्रायः लडकियो से पान दिलवाया करते है वधुओ से नही।

नोट :—१—कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादगागिसश्रयम। दश रूपकम २। २०

२—काम सूत्र।

३—मनुस्मृति।

४—गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योंथ मुनिकन्यका।
श्रूयन्ते परिणीतास्ता पितृभिश्चानुमोदिताः॥ कालिदास

कन्या का कुट्टमित हाव भी देखिए :—

नासा मोरि नचाइ जे करी ककी की सौंह।
काँटे सी कसकै ति हय गड़ी कँटीली भौंह ॥

"ककी की सौंह" इसे कन्या सिद्ध करती है। इसी प्रकार:—

लहि सूनैं घर करु गहत दिखा दिखी की ईठि।
गड़ी सुचित नाहीं करति करि ललचौंहीं दीठि ॥

प्रथम सम्मिलन का एक दूसरा अनूठा उदाहरण देखिए :—

भौंहनु त्रासति मुँहु नटति आँखिनु सों लपटाति।
एंची छुड़ावति करु इंची आगें आवति जाति ॥

यह भी कन्यानुराग का ही वर्णन है।

परकीया का दूसरा भेद परोढा है। परोढा-प्रेम शास्त्र-विहित तथा लोक-सम्मत नही है। साहित्य शास्त्र में इसे प्रधान रस नही माना गया है और न यह रस का आलम्बन ही होता है। परोढा प्रेम सर्वदा रसाभास का ही आलम्बन होता है। किन्तु कामिनी का विघ्नित और निषिद्ध सुरत ही सबसे अधिक आनन्ददायक हुआ करता है। प्रेम की जो गहराई और उत्कण्ठा की जो अधिकता परकीया में पाई जाती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए अनेक शस्त्रकारों ने परमेश्वर के प्रेम का आदर्श परकीया-प्रेम बतलाया है। बिहारी ने स्वकीया प्रेम को ही प्रेम का आदर्श माना है और उसी का विस्तार से वर्णन किया है। किन्तु परकीया प्रेम-वर्णन भी काव्य का एक अंग है जिस के अभाव में काव्य पूरा कहा ही नहीं जा सकता। अतएव बिहारी ने भी परकीया प्रेम का वर्णन किया है। किन्तु यह वर्णन बडा ही संयत और मर्यादाबद्ध है। सीमा का अतिक्रमण इस में कही नही किया गया है।

जैसा कि पहले बतलाया गया है परकीया के एक भेद कन्या का अनुराग रसाभास नही होता। परोढा का प्रेम रस नही हो सकता सर्वदा रसाभास ही होता है। परोढा प्रेम में देवर के साथ प्रेम का वर्णन करना कवि परम्परा रही है।[1] इसी परम्परा का निर्वाह करने के लिए बिहारी ने देवर के प्रति प्रेम का वर्णन कई एक दोहों में किया है:—

देवर फूल हने जु सु उठे हरषि अंग फूलि।
हँसी करति औषधि सखिनु देह ददोरनु भूलि ॥
और सबै हरषी हँसतिं गावतिं भरी उछाह।
तुँहीं बहू बिलखी फिरै कत देवर कैं ब्याह ॥

देवर के अतिरिक्त पौरोहित्य वृत्ति करने वालो को भी परस्त्री-गमन का अधिक अवसर रहता है। एक पण्डित जी पुराण बाँच रहे हैं। उनकी प्रेयसी वही बैठी है। उसका भी हाल सुनिये—

१. देवगाथा सप्तशती.

परतिय दोषु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि ।
कसु करि राखी मिश्रहू मुंहुँ आई मुसकानि ।।

इसी प्रकार मन्दिर के पण्डित जी का भी हाल देखिए:—

यह मैं तोही मैं लखी भगति अपूरव बाल ।
लहि प्रसाद माला जु भौ बौलसिरी की माल ।।

पड़ोसियो से प्रेम होना तो स्वाभाविक ही है:—

चलत देत आभारु सुनि उहीं परोसिहिं नाह ।
लसी तमासे की दृगनु हाँसी आँसुनु माँह ।।

पड़ोस में प्रेम करना भी कितना सरल है ? देखिए:—

अँगुरिनु उचि भरु भीतिदै उलमि चितै चख लोल ।
रुचिसौं दूहूँ दुहूँन के चूमे चारु कपोल ।।

इसी प्रकार :—

सुख सौं बीती सब निसा मनु सोए मिलि साथ ।
मूका मेलि गहे सु छिनु हाथ न छोड़े हाथ ।।

परस्त्री प्रेम में कुल मर्यादा के उल्लंघन का प्रायः वर्णन किया जाता है। बिहारी ने भी इसका वर्णन किया है :—

जौलों लखौं न कुल कथा तौलौं ठिक ठहराइ ।
देखैं आवत देखिहीं क्यौं हूँ रह्यो न जाइ ।।

तथा :—

किती न गोकुल कुल बधू काहि न किहि सिख दीन ।
कौनैं तजी न कुल गली ह्वै मुरली सुर लीन ।।

परकीया के उपभेदों का भी बिहारी ने थोड़ा बहुत वर्णन किया है। यदि हम परकीया के परम्परागत ६ भेद माने तो भी बिहारी में सभी भेदों के एक दो, उदाहरण मिल जाते हैं। परकीया के परम्परागत ६ भेद हैं:—गुप्ता, विदाग्धा लक्षिता। कुलटा, अनुशयाना और मुदिता। इनके कतिपय उदाहरण यहाँ पर दिए जा रहे हैं:—

(१) गुप्ता—जब नायिका अपनी सुरत को छिपाने के लिए कोई बहाना बनाती है तब वह गुप्ता होती है। उदाहरण के लिए एक नायिका को नायक से सहवास करने में देर लग गई है। वह विलम्ब का कारण अपना रास्ता भूल जाना और भटकते फिरना बतलाती है तथा यह भी कहती है कि वहाँ से मुझे एक व्यक्ति ने निकाल दिया नही तो मैं भटकती ही रहती। वह व्यक्ति कोई और नही है भगवान् कृष्ण ही है। किन्तु नायिका कृष्ण का इस रूप में वर्णन करता है मानो वह भगवान् कृष्ण को जानती ही नहीं:—

लटकि लटकि लटकनु चलनु डटनु मुकट की छाँह ।
चटक भर्यो नटु मिलि गयौ अटक भटक बट माँह ।।

केवल सुरत को ही नही प्रेम के दूसरे लक्षणों को भी छिपाया जाता है।

निम्नलिखित दोहे की नायिका अपने सात्विक कम्प को भय का कारण बतला कर छिपाती है:—

कारे वरन डरावने कत आवत इहिं गेह ।
कै वा लखी सखी हू खैं लगै थरथरी देह ।

(२) विदग्धा—नायिका दो प्रकार की मानी जाती है—(क) वाग्विदग्धा और (ख) क्रिया विदग्धा ।

(क) वाग्विदग्धा नायिका वचन द्वारा संकेत स्थान इत्यादि प्रकट करने में निपुण होती है, जैसे:—

लाज गहौ बेकाज कत घेरि रहे घर जौंहिं ।
गोरसु चाहत फिरत हौ गोरसु चाहत नौंहि ।।

यहाँ पर नायिका ने वैदग्ध्य के द्वारा यह व्यक्त किया है कि मैं सीधी घर ही जा रही हूँ, यदि तुम्हे सहवास-जन्य इन्द्रिय-सुख प्राप्त करना हो तो वहीं आ जाना ।

इसी प्रकार:—

धाम घरीक निवारिये कलित ललित अलि पुंज ।
जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुंज ।।

(ख) क्रिया विदग्धा नायिका क्रिया द्वारा अपने अनुराग को व्यक्त किया करती है और नायक से मिलने के लिए संकेत द्वारा समय स्थान इत्यादि का निश्चय करती है ।

उदाहरण के लिए दो एक दोहे लीजिये .—

हरषि न बोली लखि ललनु निरखि अमिलु संग साथु ।
आँखिन हीं में हँसि धस्यो सीस हियैं धरि हाथु ।।

इस में नायिका ने अपनी चेष्टा द्वारा प्रणय की स्वीकृति, प्रसन्नता, संकेत-स्थान इत्यादि का निर्देश कर दिया है ।

दूसरा उदाहरण :—

लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम ।
हरि सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम ।।

इसी प्रकार :—

छलसों चली छुआइ कै छिनकु छबीली छाँह ।।

केवल इतना ही नहीं प्रियतम को शीघ्र मिलने के लिए ये नायिकाये उपाय खूब ढूँढ निकालती हैं :—

मन मोहन के मिलन कौं करति मनोरथ नारि ।
धरै पौन के सामुहैं दिया भौन को बारि ।।

(३) लक्षिता—जब प्रयत्न करने पर भी नायिका की अनुराग चेष्टायें और सुरत इत्यादि नहीं छिपती हैं तब वह नायिका लक्षिता कहलाती हैं । बिहारी ने इसके

बहुत से उदाहरण लिखे हैं। कुछ उदाहरण यहाँ पर दिये जा रहे हैं :—

(अ) चकी जकी सी ह्वै रही बूझैं बोलति नीठि।
कहूँ डीठि लागी लगी कै काकी की दीठि॥

(आ) फिरि फिरि दौरत देखियत निचले नैंक रहैं न।
ए कजरारे कौन पर करत कजाकी नैन॥

(इ) पूछैं क्यौं रूखी परति सगियगि गई सनेह।
मन मोहन छवि पर कटी कहै कँस्यानी देह॥

(ई) मोसौं मिलबति चातुरी तूँ नहिं मानति मेउ।
कहे देत यह प्रकट हीं प्रगट्यो पूस पसेउ॥

(उ) आज कछू औरै भये छये नये ठिक टैन।
चित के हित के चुगुल ए नितके होहिं न नैन॥

(ऊ) रही अचल सी ह्वै मनौ लिखी चित्र की आहि।
तजै लाज डरु लोक कौं कहौ विलोकति काहि॥

(ए) पलन चलैं जकि सी रही थकि सी रही उसास।
अबहीं तनु रितयौ, कहौ मनु पठयो किहि पास॥

(ऐ) इहिं वसन्त न खरी अरी गरम न सीतल बात।
कहि क्यौं झलक के देखियत पुलक पसीजे गात॥

(ओ) रहि मुँहु फेरि के हेरि इत हित-समुहौ चितु नारि।
डीठि परस उठि पीठि के पुलके कहैं पुकारि॥

(औ) रुख रुखी मिस रोस मुख कहति रुखौंहैं बैन।
रुखे कैसैं होत ये नेह चीकिने नैन॥

(अं) ऊँचै चितै सराहियतु गिरह कबतरु लेतु।
झलकित दृग मुलकित बदनु तनु पुलकित किहिं हेतु॥

(अः) मानति मों सौं क्यौं नहीं छई छबीली छाँह।
प्रेम प्रकट भयौ हे सखी आभा आँखिनि माँह॥

(क) प्रेम दुरायौ ना दुरै नैना देहिं बताइ।
छेरी कैं मुँह री सखी क्यौं हु कुम्हड़ौ माइ॥

(४) कुलटा नायिका—जब नायिका की रति अनेक कान्त विषयक होती है अथवा नायिका का प्रेम किसी एक निश्चित कान्त विषयक नही होता तब वह कुलटा कहलाती है।

दो एक उदाहरण :—

चली अली कहि कौन पैं बढ़ौ कौन कौ भाग।
उलटी कंचुकि कुचनि पैं कहैं देति अनुराग॥

यहाँ पर यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि नायिका का स्वभाव किसी भी व्यक्ति से प्रेम करने का है। वह चाहे जिसके पास जा सकती है।

इसी प्रकार :—

आनन उपटै ओप अति कसे कंचुकी लेति।
का पर कोपैं कामिनी काजरु नैननि देति॥

यहाँ पर भी उपर्युक्त व्यंग्यार्थ निकलता है।

पलन चलैं जकि सी रही थकि सी रही उसास।
अबहीं तनु रितयौ कहौं मनु पठयौ किहिं पास॥

एक और उदाहरण :—

लखि लोने लोइननु के कोइनु होइ न आजु।
कौनु गरीबु निवाजिबौ कित ब्यौ रतिराजु॥

यहाँ पर "आजु" से यह व्यक्त होता है कि नित्य नया प्रेम करना ही नायिका का स्वभाव है। इस प्रकार ये कुलटा के उदाहरण हैं।

(५) अनुशयाना—जब नायिका नायक से मिलने की सम्भावना न रहने के कारण अथवा संकेत स्थान में न पहुँच सकने के कारण पश्चात्ताप करती है तब उसे अनुशयाना नायिका कहते हैं। बिहारी ने अनुशयाना नायिका के दो चार उदाहरण लिखे हैं। देखिये :—

(अ) फिरि फिरि बिलखि हौं लखति फिरि फिरि लेति उसासु।
साईं सिर सित केस लौं वीत्यौ चुनति कपासु॥

(आ) सनु सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहरि अजैं धरु धरहरि जिय नारि॥

(इ) केलि करैं मधु मत्त जहँ घन मधुपन के पुंज।
सौंचन करि तब सासुरैं सखी सघन बन कुंज।

संकेत के चूक जाने में अनुशयाना का उदाहरण :—

सखि सोहति गोपाल कैं उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति मनौ पिए दावानल की ज्वाल॥

(६) मुदिता नायिका—परकीया का अन्तिम भेद है मुदिता। जब नायिका सम्भोग सुख प्राप्ति की सम्भावना में आनन्दित होती है तब उसे मुदिता नायिका कहते हैं।

उदाहरण :—

चलत देत आभारु सुनि उहीं परोसिहिं नाह।
लसी तमासे की हगनु हाँसी आँसुनु माँह॥

इसी प्रकार :—

देवर फूल हने सु सु उठे हरषि अंग फूलि।
हँसि करति औषधि सखिनु देह ददोरनु भूलि॥

इस प्रकार परकीया नायिका के सभी उपभेदों के उदाहरण बिहारी में मिल जाते हैं।

साधारणी नायिका

साधारणी नायिका सर्व साधारण की प्रेयसी बन सकती है। वेश्या को ही साधारणी नायिका कहते हैं। वेश्या न तो धार्मिक दृष्टि से ही उचित होती है और न उसमें प्रेम की ही गहराई होती है। धनोपार्जन के लिये उसे प्रेम का दिखावा करना पड़ता है। इसका वर्णन करते हुए साहित्य दर्पणकार ने लिखा है—"यह सामान्य नायिका (वेश्या) धीरा होती है, कलाओं में निपुण होती है, यह गुणहीनों से द्वेष नही करती और गुणवानो से प्रेम नही करती। केवल धन को ही देखकर बाहर से आदर प्रदर्शित किया करती है। चाहे कितना ही किसी व्यक्ति को स्वीकार कर लिया हो किन्तु जब उसका धन ले लेती है तब माता से उसे बाहर निकलवा देती है। स्वयं नही निकालती जिससे वह विरक्त न हो जावे और पुनः आवे। चोर, पण्डक, मूर्ख, सुख से जिन को धन मिल जाता हो, सन्यासादि चिन्हों को धारण करने वाले और प्रच्छन्न कामना वाले इसके प्यारे होते हैं। यह भी कभी कभी काम-परवश होकर सत्य प्रेम करती है। किन्तु चाहे यह रक्त हो या विरक्त हो किन्तु इस का सुरत सर्वथा दुर्लभ होता है।"

साधारणी नायिका का वर्णन न तो धर्मशास्त्रानुकूल है और न साहित्यशास्त्र-सम्मत। क्योंकि वेश्या गमन का समर्थन धर्मशास्त्र तो करते ही नही और भावना की कमी होने के कारण साहित्यशास्त्र भी इसको उपयुक्त नहीं समझते। जहाँ कहीं साहित्य-दर्पण के अनुसार वेश्या सत्यानुरागणी होती है वहाँ उसका समावेश इतर नायिकाओं में हो जाता है। प्रबन्धकाव्य और नाटको में उसको विविक्त करके दिखलाया जा सकता है मुक्तक काव्य में नही इसी लिये बिहारी ने वेश्या के विषय में केवल एक दोहा लिखा है :—

ज्यौं ज्यौं पटु झटकति हठति हँसति नचावति नैन।
त्यौं त्यौं निपट उदार हू फगुवा देत बनै न॥

ज्येष्ठा-कनिष्ठा

कामसूत्रों में ज्येष्ठा-कनिष्ठा पर विस्तृत प्रकरण है। इसी आधार पर साहित्य शास्त्र में भी नायिका भेद के अन्तर्गत ज्येष्ठा कनिष्ठा भेद को स्थान दिया गया है। जो नायिका नायक को अधिक प्यारी होती है वह ज्येष्ठा कहलाती है और जो कम प्यारी होती है वह कनिष्ठा कहलाती है। बिहारी ने एक दोहा ज्येष्ठा कनिष्ठा विषयक भी लिखा है :—

मिस ही मिस आतप दुसह दई सबै बहराइ।
चले ललन मन भावतिहिं तन की छाँह छिपाइ॥

ज्येष्ठा कनिष्ठा प्रसंग में एक भेद और सम्भव है कभी-कभी दो नायिकाओं के प्रति समान प्रेम भी हो सकता है। इस भेद की ओर साहित्यशास्त्रकारों ने ध्यान नहीं दिया है। बिहारी ने इस आशय का भी एक दोहा लिखा है :—

आयो मीत विदेस ते काहू कह्यो पुकारि ।
सुनि पुलकी विहँसी हँसी दोऊ दुहुन निहारि ॥

अवस्था भेद से नायिका भेद

आचार्यों ने अवस्था भेद से नायिकाओं के आठ भेद किये हैं—

स्वाधीन पतिका, खण्डिता, अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषित-पतिका, वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता। इन में खण्डितावस्था का विस्तृत विवेचन मध्या और परोढा के उपभेदों (धीरा, धीराधीरा और अधीरा) के प्रसग में किया जा चुका है। प्रोषितपतिका तीन प्रकार की होती है—प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसत्पतिका, और आगमिष्यत्पतिका। इन तीनों भेदों का विस्तृत निरूपण विप्रलम्भ शृंगार के प्रकरण में किया जावेगा। शेष ६ भेदों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

(१) स्वाधीनपतिका—जिसका पति सर्वदा उसके आधीन ही रहे उसे स्वाधीन-पतिका कहते हैं। यह नायिका प्रयत्न करने पर भी नायक के अपराध नही ढूँढ पाती और इसे मान का अवसर ही नही मिलता।

राति द्यौस हौंसै रहै मानु न ठिकु ठहराइ ।
जेतौइ औगुनु ढूँढियै गुनै हाथ परिजाइ ।

नायक अनेक प्रकार से इस का शृंगार करता है और उसके निकट बैठने में अपने को कृतार्थ मानता है। नायिका भी निरन्तर नायक की निकटता से सात्विकता का अनुभव करती रहती है :—

रहौ गुही बेनी लखे गुहिवे के त्यौनार ।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुकाये बार ॥

इसी प्रकार :—

नैंकु उतै उठि बैठिये कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जाति नहदी छिनकु महदी सूकन देहु ॥

इस नायिका का जादू जैसा प्रभाव नायक पर पड़ता है और वह सर्वदा हर्षोत्फुल्ल रहती है :—

गुहि लैहौं अपनौ हरा, छोड़ौ लाल सुभाउ ।
मेरौ टुनहाई बहू पर्‌यौ जात है नाउ ॥

(२) अभिसारिका नायिका दो प्रकार की मानी जाती है—शुक्लाभिसारिका तथा कृष्णाभिसारिका। शुक्लाभिसारिका उसे कहते हैं जो चाँदनी रात में श्वेत वस्त्र पहन कर अभिसरण करती है। जैसे :—

जुवति जोन्ह मैं मिलि गई नैंक न होति लखाइ ।
सौंधे कैं डोरैं लगी अली चली सँग जाइ ॥

कृष्णाभिसारिका कृष्ण रात्रि में काले वस्त्र पहन कर अभिसरण करती है।

उदाहरण :—

निसि अँधियारी नील पटु पहिरि चली पिय-गेह ।
कहौ दुराई क्यों दुरै दीप-सिखा सी देह ।।

अभिसारिका का स्वरूप (शुक्लात्व या कृष्णात्व) चन्द्रोदय पर निर्भर रहता है । किन्तु चन्द्र का प्रकाश व्यवस्थित नही होता । यह सर्वदा स्वाभाविक ही है कि नायिका चन्द्रमा के प्रकाश में शुक्ल वस्त्र धारण कर अभिसरण करे और सुरत क्रीड़ा में विलम्ब हो जाने से लौटने पर चन्द्र प्रकाश का सहयोग प्राप्त न हो सके । इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि कृष्ण रात्रि में कृष्ण वस्त्र धारण कर अभिसार किया जावे और लौटने के अवसर पर चन्द्र उदय हो जावे । किन्तु बिहारी की नायिकाओं को इन दोनों अवस्थाओ में निराश होने की आवश्यकता नहीं है । शुक्लाभिसारिका तो हँस कर चन्द्रमा का प्रकाश फैला लेती है और कृष्णाभिसारिका के शरीर की सुगन्ध पर लुब्ध हो कर भौरे गली में अँधेरा करते चलते हैं । देखिये मार्ग में चन्द्र उदय हो जाने पर शुक्लाभिसारिका की सखी नायिका को क्या परामर्श देती है :—

छिपैं छिपाकर छिति छुवै तम ससिहरि न सँभार ।
हँसति हँसति चलु ससिमुखी मुख तैं आँचरु टारि ।।

इसी प्रकार कृष्णाभिसारिका का हर्ष भी देखने योग्य है :—

निसि अँधियारि नीलुपटु पहिरि चली पिय गेह ।
कहौ दुराई क्यों दुरै दीप सिखा सी देह ।।

इन नायिकाओं को वर्षा काल तो और भी अधिक सहायता देता है । वर्षा काल में न इन्हे काले कपड़े पहनने की आवश्यकता होती है और न सफेद । बादलों के घेरे में ये बिजली समान चमकती चली जाती हैं और कोई जान भी नहीं पाता :—

उठि ठकु ठकु ऐतौ कहा पावस कैं अभिसार ।
जानि परैगी देखियौ दामिनि घन अंधियार ।।

किन्तु कठिनाई वहाँ पड जाती है जहाँ अन्धकार में काले कपडों से भी काम नही चलता, नायिका दीपशिखा के समान अन्धकार में चमक उठती है :—

सघन कुंज घन घन-तिमिरु अधिक अँधेरी राति ।
तउ न दुरि है स्याम वह दीपसिखा सी जाति ।।

बिहारी ने एक और अभिसारिका की ओर संकेत किया है जिस पर अन्य आचार्यों का ध्यान नही गया है कभी-कभी नायक और नायिका परस्पर वेश बदल कर अभिसार करते हैं । जैसे :—

राधा हरि, हरि राधिका बनि आये संकेत ।
दम्पति रति बिपरीत-सुखु सहज सुरतहूँ लेत ।।

ईश्वर ने राधा और कृष्ण का वर्ण क्या सोच समझ कर अभिसार के अनुकूल बनाया है :—

मिलि परछाहीं जोन्ह सौं रहे दुहुनु के गात ।
हरि राधा इक संग ही चले गली महिं जात ।।

(३) प्रेम सर्वदा कुटिलगामी माना जाता है । उसका आनन्द जितना वियोग में आता है उतना संयोग में नही। प्रणय का सोत्साह उपभोग उतना आनन्ददायक नही होता जितना प्रणय कलह । यह कलह कभी-कभी किसी कारण से होता है और कभी-कभी अकारण ही स्वाभाविक प्रवृत्तिवश भी हो जाता है । प्रणय कलह में सखियों का सहयोग अत्यन्त अपेक्षित होता है और बिहारी ने प्राय: सर्वत्र इसका सहारा लिया है । प्रणय-कलह प्रवृत्त नायिका को कलहान्तरिता कहते है । यह जब किसी प्रकार भी नही मानती तब देखो नायिका की सखी इससे क्या कहती है :—

सौहैं हू हेर्यो न तैं केती आई सौंह ।
ऐहो क्यौं बैठी किए ऐंठी ग्वैठी भौंह ।।

इसी प्रकार :—

अहे कहै न कह्यो कहा तो सौं नन्द किसोर ।
बड़बोली बलि होति कत बड़े दृगनु के जोर ।।

इन कथनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सखी नायिका को भय दिखला रही है कि कही तुम्हारे अधिक मान करने पर नायक स्वय रूठ कर न चला जावे । किन्तु अन्त में होता वही है जिसकी आशंका पहले से ही रहती है । नायक निराश हो कर लौट जाता है तब नायिका की सखी की वचनावली के ये नमूने होते हैं .—

हम हारी कै कै हहा पायनु पार्यो प्योरु ।
लेहु कहा अजहूँ किये तेह तरेरौ त्यौरु ।।

वह समझाती भी है :—

मैं तब तू बरजी हूती नहीं रोस को काम ।
ताती बातैं तैं कहीं सीरे ह्वै गये स्याम ।।
कोटि कुटिलता छाँडि कै कियौ प्रेम प्रतिपाल ।
टेढ़ी भौंहैं तैं करीं सूधे ह्वै गये लाल ।।

फिर अन्त में नायक को पुन: लाने की चेष्टा करती है किन्तु किसी प्रकार भी वचनबद्ध नही होती जिससे नायिका की लघुता न होने पावे और नायिका के मन जाने पर नायक पर उसका अहसान भी बना रहे। वह नायक से कहती है :—

चलौ चलैं छुटि जाइगौ हठु रावरे संकोच ।
खरे चढ़ाये हेति अब आये लोचन लोच ।।

(४) जब नायिका शृंगार करके प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा करती है तब उसे वासकसज्जा कहते हैं : -

बेंदी भाल तंबोल मुख सौंस सिलसिले बार ।
दृग आँजे राजै खरी ए सहज सिंगार ।।

कभी कभी वह अपना शृंगार पूरा करके स्वयं प्रियतम की प्रतीक्षा करती

है और उसकी सूचना सखी द्वारा प्रियतम के पास भेजती है :—

भाल लाल बेंदी ललन आखत रहे विराजि।
इन्दु कला कुज में बसी मनौ राहु भय भजि ।।

इसी प्रकार :—

तिय मुख लखि हीरा जरी बेंदी बढ़ै विनोदु।
सुत-सनेह मानौ लियौ विधु पूरन बुधु गोदु ।।

(५) जब नायिका सकेत स्थान पर नायक को प्राप्त नही कर पाती तब वह अत्यन्त दुःखित होती है। इस प्रकार की नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं :—

साहस करि कुंजन गई लख्यो न नन्द किसोर।
दीप सिखा सी थरहरी लगै बयार-झकोर ।।

कभी कभी नायिका को सामाजिक और पारिवारिक उलझनो के कारण स्वयं अपना वादा पूरा नही कर मिलता; नायक सकेत स्थान पर जा कर निराश होकर लौट आता है। वह अपने संकेत स्थान पर जाने के प्रमाण के रूप में कोई वस्तु लेता आता है। उस समय नायिका की मनोवृत्ति कुछ और ही प्रकार की होती है। अतः यह भी एक पृथक् भेद होना चाहिये जिस की ओर आचार्यों ने ध्यान नही दिया है। बिहारी ने इस आशय के भी कुछ दोहे लिखे हैं।

दो एक उदाहरण लीजिये —

छरी सपल्लव लाल कर लखि तमाल की डाल।
कुभिलानी उर साल धरि फूलमाल ज्यौं बाल ।।

कही कही सखी भी नायिका का ध्यान इस ओर आकर्षित करती हुई दिखलाई जाती है।

सखि सोहति गोपाल कै उर गुंजनु की माल।
बाहिर लसति मनौ पिये दावानल की ज्वाल ।।

(६) जब नायिका रात्रि भर प्रतीक्षा करती रहती है और नायक नही आता तब नायिका अत्यन्त उद्विग्न हो जाती है। उसे विरहोत्कण्ठिता कहते हैं :—

नभ-लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली, अनत, आए वनमाली न ।।

वस्तुतः विप्रलब्धा और विरहोत्कण्ठिता में अधिक भेद नही है। विप्रलब्धा को भी बिरह में उत्कण्ठित होना ही पड़ता है और विरह में उत्कण्ठिता भी विप्रलब्धा ही होती है। किन्तु इनका भेद आचार्य परम्परानुसार माना जाता है। अतः पृथक्-पृथक् उदाहरण दिखाये गये हैं।

दशा भेद से नायिका भेद

पहले बतलाया जा चुका है कि भानुदत्त ने दशा भेद से नायिकाओं के तीन भेद किये थे--अन्य सम्भोग दुःखिता, गर्विता और मानवती। इस का अनुसरण हिन्दी के अधिकतर आचार्यों ने किया है। इन में मानवती का विस्तृत वर्णन मान-विप्रलम्भ

के प्रसंग में किया जावेगा। शेष दो दशा भेदो का यहाँ पर सक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है :—

(१) अन्य सम्भोग दु.खिता—जब नायिका की सखी या दूती नायिका द्वारा भेजी जाने पर स्वय सम्भोग करा कर लौटती है या नायिका किसी सौत के सम्भोग चिन्हो को देखती है तब उसे तीव्र वेदना का अनुभव होता है। इस प्रकार की नायिका को अन्य सम्भोग-दु.खिता कहते हैं, जैसे :—

खलित बचन अधखुलित दृग, ललित स्वेदकन जोति।
अरुन बदन छवि मदन की खरी छबीली होति॥

यह व्याजोक्ति द्वारा दूती को उपालम्भ दिया गया है।

दूसरा उदाहरण :—

वेई कर ब्योरनि वहै ब्यौरौ कौन बिचार।
जिनही उरझ्यो मो हियो तिनहीं सुरझेवार॥

सौत के सम्भोगचिन्हों से व्यथित होने का उदाहरण :—

बिथुर्यो जावकु सौति पग निरखि हँसी गहि गाँसु।
सलज हँसौंहीं लखि लियौ आधी हसी उसाँसु॥

इसी प्रकार :— बिथुर्यो जावकु सौति पग निरखि रही अनखाइ।
पिय अंगुरिनु लाली लखैं खरी उठी लगि लाइ॥

यह खण्डिता से इस अर्थ में भिन्न होती है कि खण्डिता के समक्ष प्रियतम सम्भोग चिन्हों के साथ प्रातःकाल जाता है और अन्य सम्भोगदु.खिता दूसरी नायिका के प्रियतम विषयक सम्भोग को देख कर दु.खित होती है।

(२) गर्विता—गर्व अनेक प्रकार का हो सकता है--गुणों का गर्व, प्रेम का गर्व, सुरत का गर्व, सौन्दर्य का गर्व, इत्यादि। बिहारी ने कतिपय गर्विताओ का वर्णन किया है :—

(अ) गुणों का गर्व:—

दुसह सौति सालैं जु हिय गनति न नाहवियाह।
धरे रूप गुन कौ गरबु फिरै अछेह उछाह॥

इसी प्रकार :—

सुघर सौति बस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरब सलज सहास॥

(आ) प्रेम का गर्व :—

फिरति सबनु में डहडही उहीं मरगजी माल॥

दूसरा उदाहरण :—

कियौ जु चिबुक उठाइ कै, कम्पित कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति टेढ़ै तिलक लिलार॥

तीसरा उदाहरण :—

गुहि लैहौं अपनौ हरा छोड़ौ लाल सुभाउ।
मेरौ दुनहाई बहू पर्यो जात है नाउ॥

(इ) सुरत का गर्व :—

तीज परब सौ तिनु सजे भूषन बसन सरीर।
सबै मरगजे मुंह करी इहीं मरगजैं चीर॥

(ई) सौभाग्य का गर्व जैसे :—

मनु मायौं केते मुनिनि मनु न मनायौ आइ।
ता मोहन पै राधिका मान गहावति पाइ॥

इसी प्रकार दूसरे गर्वों के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

नायिका की सहायिकायें

आचार्यों ने नायिका की साहायिकाओं पर भी पर्याप्त विस्तार के साथ विचार किया है। साहित्यदर्पण में दूती-भेद करते हुए लिखा है :—

दूत्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी।
बाला प्रव्रजिता कारुः शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा॥

(सखी, नटी, दासी, धाय की पुत्री, पड़ोसिन, बाला, संन्यासिनी, परजा, शिल्पकार की स्त्री इत्यादि और स्वय नायिका ये दूती के भेद हैं)

कुछ हेर फेर के साथ दशरूपक इत्यादि दूसरे लक्षण ग्रन्थो में भी यही सूची स्वीकृत की गई है। वस्तुत काम शास्त्रो में तो यह बतलाना उपयोगी हो सकता है कि प्रेम को जोड़ने के लिये किन से सहायता ली जा सकती है किन्तु साहित्य-शास्त्र में इस प्रकार के विभाजन की कोई आवश्यकता नही। दूती का कार्य नटी करे तो क्या? पडोसिन या धाय की पुत्री करे तो क्या? न तो इससे मनोवृत्ति में कोई अन्तर आता है और न विच्छित्ति विशेष का परिपोष ही होता है जो समस्त भेदोपभेदो का एकमात्र उपजीवक है। अन्तर इस बात में अवश्य पड़ जाता है कि नायिका स्वयं दौत्य कार्य करती है या प्रेम सम्बन्ध को जोड़ने के लिये वह दूसरे की सहायता पर निर्भर रहती है। यही कारण है कि जहाँ दूती के इतने अधिक भेदोपभेद किये भी गये हैं वहाँ भी उदाहरण दो के ही दिये गये हैं। एक तो नायिका द्वारा स्वयं दौत्य कार्य करने का और दूसरा दूसरे से सहायता लेने का। इस प्रकार दोही दूती भेद उचित प्रतीत होते हैं। स्वयं-दूती और पर-दूती।

कामशास्त्र के अनुसार सर्वोत्तम प्रेम वही होता है जिसमें दूसरे की सहायता न ली जावे और प्रेम-सम्बन्ध स्वयं स्थापित कर लिया जावे। इस प्रकार के प्रेम में कोई बुराई उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। इसके प्रतिकूल यदि प्रेम में किसी मध्यस्थ की सहायता ली जावे और दौत्य कार्य कुशलतापूर्वक न किया जा सके तो उस में प्रेम की असफलता के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की बुराई भी उत्पन्न हो सकती है। इसीलिये बिहारी ने लिखा है :—

तीन बार लाला तुम्हैं पठै दई अलि साथ ।
चोरी प्रेम सुगंधि की उघरि गई तिहिं हाथ ।।

अतएव स्वय दूतिका का काव्य-जगत् में बहुत बड़ा महत्त्व है। बिहारी ने भी स्वयंदूतिका के कई दोहे लिखे हैं।

एक दो उदाहरण लीजिये .—

घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलि पुंज।
जमुना-तीर तमाल-तरु-मिलित मालती कुंज ।।

यहाँ पर नायिका मालती कुंज में रमण की अपनी इच्छा स्वयं व्यक्त करती है और जल लेने के बहाने वहाँ जाने का वायदा भी करती है।

दूसरा उदाहरण :—

झूठैं ही ब्रज में लग्यौ मोहिं कलंक गुपाल ।
सपनैं हूँ कबहूँ लगे हियैं न तुम नन्दलाल ।।

यहाँ पर नायिका स्वय सहवास की आकांक्षा प्रकट करती है। कभी कभी यह कार्य संकेतों द्वारा भी किया जाता है :—

न्हाइ पहिरि पटु डटि कियौ बेदी मिसि परनामु ।
दृग चलाइ घर कौं चली विदा किये घर स्यामु ।।

स्वयदूतिका द्वारा संस्थापित प्रेम महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सर्वथा एकमात्र साधन नहीं कहा जा सकता। कभी कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब किसी दूसरे की सहायता के बिना काम चलता ही नही। बिहारी के कथन के अनुसार प्रेम रूपी भवन का निर्माण करने में दूती "कालबूत" (मिट्टी या ईंट का ढांचा जिस पर लिन्टर जोडा जाता है) का काम देती है। किन्तु दूती को बहुत सोच समझ कर चुनना चाहिये। दूती में अनेक अच्छे गुणो की आवश्यकता होती है। एक तो यह कला-कौशल में निपुण हो, उसके अन्दर उत्साह होना चाहिये। अन्यथा वह एक दो बार की असफलता से निरस्त हो सकती है। उसके अन्दर भक्ति भी होनी चाहिए नहीं तो वह या तो कार्य में प्रवृत्त ही नही होगी और यदि प्रवृत्त भी होगी तो स्वार्थ-साधन मात्र उसका ध्येय रहेगा। सब से बड़ी उसकी विशेषता है चित को समझना और अवसर के अनुकूल बात करना क्योकि यही सफलता के एक मात्र साधन होते है। उसे हसी-मजाक का भी ज्ञान होना चाहिये और उसके अन्दर मधुरता भी पूर्ण रूप से आवश्यक है।

दूती का कार्य-क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। उसे नायक के हृदय में नायिका के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना पडता है और एतदर्थ नायिका की प्रशंसा करनी पड़ती है। इस आशय के बिहारी में बहुत से दोहे हैं जिन में दूती नायक के सामने नायिका के सौन्दर्य और गुणों की प्रशंसा कर उस के हृदय में प्रेम उत्पन्न करने की चेष्टा करती है। उसे इस बात का भी ध्यान रखना पडता है कि नायक के हृदय में उत्पन्न हुआ प्रेम क्षणिक ही न हो। अतएव उसे नायक को शीघ्रातिशीघ्र नायिका

के पास लाने की चेष्टा करनी पड़ती है। यदि नायिका स्वयं उत्कण्ठित दिखलाई दे तो प्रेम को अधिकाधिक दृढ करने के लिये उसे यह भी कहना पड़ता है :—

छबै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि कोवलि तुम्हैं पत्याइ॥

उसे नायिका पर भी नियन्त्रण रखना पडता है कि कही नायिका को लोकापवाद का सामना न करना पड़े। दूसरी ओर उसे यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं नायिका प्रेमोन्मत्त होकर नायक की दृष्टि में लघुता को प्राप्त न हो जावे। क्योंकि जो वस्तु जितनी सुलभ होती है उसका महत्त्व उतना ही कम हो जाता है। अतएव वह नायिका को मान की शिक्षा देती है। फिर वह इस विषय में भी सावधान रहती है कि कही मान इतना सीमातीत न हो जावे कि नायक विरक्त हो कर चला जावे और नायिका को सताप करना पड़े। यदि कभी ऐसी स्थिति आ ही जावे तो उसे पुनः नायक का प्रतिसधान करना पडता है। मान कराने और मनाने में नायक नायिका का प्रेम तो दृढ़ होता ही है इसी में दूती का भी महत्त्व बना रहता है। अन्यथा प्रेम के जुड़ जाने के बाद उसका महत्त्व ही क्या रह जावे। इसलिये तो सखी कहती है :—

तुम रूठीं उत वे झुकैं थकें हमारे पाइ।
पाथर लागै लोह सौं रूई बीचि जरि जाइ॥

नायक से अपराध हो जाने पर उसे एक ओर नायिका को शान्त करना पड़ता है और दूसरी ओर नायक को सावधान करना पड़ता है। साथ ही सौतों के चित्त में निराशा, उदासी और खेद उत्पन्न कर नायक को उनसे फोड़ना पड़ता है और उनके सामने नायिका की प्रतिष्ठा स्थापित रखने की चेष्टा करनी पड़ती है। बिहारी ने बडे ही विशद रूप में इन समस्त कार्यों का चित्रण किया है और इस दिशा में बिहारी का काव्य सर्वांग पूर्ण है। इस प्रकार नायिका भेद की दृष्टि से बिहारी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है तथा साहित्य-शास्त्रानुमोदित सभी भेदों को आत्मसात् कर लेता है।

नायक के भेद

साहित्य शास्त्र में नायिका भेद के समान नायक भेद का विस्तार नही किया गया है। वस्तुतः स्त्री-पुरुष की स्थिति में अन्तर भी है और पुरुष की मनोवृत्ति उतनी जटिल भी नही होती। अतएव नायिका भेद के समान नायक भेद सम्भव ही नहीं है। सुरत में पुरुष क्रिया शील होता है और स्त्री साधन। पुरुष में यदि काम-प्रवृत्ति न हो तो ऐसी दशा में सम्भोग की क्रिया-शीलता उत्पन्न हो ही नही सकती, अतएव क्रियाशीलता में प्रवृत्ति के तारतम्य के आधार पर नायिका के भेद (मुग्धा, मध्या और प्रौढा) पुरुष में सम्भव ही नहीं है। स्त्री के बहुविवाह का विधान न होने के कारण स्वकीया के अपराध का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। अतएव धीराऽधीरा, धीरा और अधीरा यह भेद पुरुष में भी सम्भव नहीं हो सकते। इसीलिये नायिका के

अन्य सम्भोग दुःखिता और मानवती के भेद भी पुरुष में सम्भव नहीं हैं। पुरुष को अपनी पत्नी पर सर्वदा स्वामित्व होता ही है। अतएव उसे पत्नी के बहुमत होने का गर्व भी नहीं हो सकता। अतः तीसरा दशा भेद "गर्विता" भी पुरुष में सम्भव नहीं है। पुरुष में स्वकीया परकीया और सामान्य भेद भी नही किये जा सकते। स्त्री पर पूर्ण स्वामित्व होने के ही कारण स्वाधीनपत्नीत्व, कलहान्तरितत्व, विप्रलब्धत्व, खण्डितत्व और विरहोत्कण्ठितत्व भी सम्भव नही है। शृंगार करके स्त्री के आगमन की प्रतीक्षा करना भी पुरुष जाति में व्यवहृत नही है। अतएव पुरुष वासकसज्ज भी नही हो सकता। स्त्री जाति की भाँति समाज ने पुरुष के कही आने-जाने पर प्रतिबन्ध लगाया ही नही है। अतएव शुक्ल और कृष्ण वस्त्र पहन कर छिप कर जाने की उसे न तो आवश्यकता ही पड़ती है और न उस का सामान्य रूप से निकलना लोगों के कौतूहल और अगुलिनिर्देश का कारण हो सकता है। इसीलिये उसका अभिसारक भेद भी नही माना जा सकता। अब केवल प्रोषितत्व भेद रह जाता है। एक तो अनेक पत्नियो के होने के कारण किसी एक पत्नी का कही चला जाना पुरुष के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं होता। दूसरे केवल एक तत्व को लेकर भेदो की कल्पना भी नहीं की जा सकती। पुरुष विप्रलम्भ शृंगार का आश्रय होता ही है। अतएव नायिका के ये सभी भेद पुरुष में सम्भव नही है।

आचार्यों ने नायक के केवल चार भेद किये है—(१) दक्षिण, (२), अनुकूल, (३) शठ और (४) धूर्त। जब नायक का अनुराग अनेक महिलाओं से एक जैसा हो तब उसे दक्षिण नायक कहते हैं। जैसे :—

गोपिनु सँग निसि सरद की रमत रसिकु रस रास।
लहा छेह अति गतिनु की सबनु लखे सब-पास॥

यहा पर कृष्ण का सब गोपियो से एक जैसा व्यवहार है अतएव कृष्ण दक्षिण नायक हैं।

अनुकूल नायक एकनिष्ठ रहता है वह दूसरी ओर दृष्टि भी नही डालता, जैसे :— **दच्छिन पिय ह्वै बाम-बस बिसरौ तिय आन।**
एकै बाषरि कैं बिरह लागी बरष बिहान॥

इस नायक का कभी अपराध मिलता ही नही :—

राति द्यौस हौंसै रहै मानु न ठिकु ठहराइ।
जेतौइ औगुनु ढ्वैयै गुनै हाथ परि जाइ॥

शठ नायक उसे कहते है जो गुप्तरूप से अपकार करे। इसकी भावना एक ओर बन्धी होती है और यह बाहर से अनुराग दूसरी ओर प्रकट करता है तथा अन्यत्र अप्रिय व्यवहार करता है। जैसे :—

आए आपु भली करी मेटन मान मरोर।
दूरि करौ यह, देखिहै छला छिगुनिया छोर॥

इसी प्रकार :—

तूँ मति मानै मुकतई कियैं कपट चित कोटि।
जौ गुनही तौ राखियै आँखिनु माँझ अगोटि॥

जो अपराधी होने पर भी निश्शङ्क हो, तर्जित करने पर भी लज्जित न हो और दोष दिये जाने पर भी मिथ्या बाते करे उसे धृष्ट नायक कहते हैं।

इसके उदाहरण :—

दुरैं न निघर घक्यौ दियैं ए रावरी कुचाल।
विषु सी लागति है बुरी हँसी खिसी की लाल॥

यहाँ पर नायक के प्रत्यक्ष दोष देखे गये हैं किन्तु वह लज्जित नहीं होता।

दूसरा उदाहरण :—

मायौं मनुहारिनु भरी गायौं खरी मिठाहिं।
बाकौ अति अनखाहटौ मुसकाहट बिनु नाहिं॥

इसी प्रकार :—

निधरक अटकत कटनि बिनु साईं सुरसु नखियाल।
अनत अनत नित नित हितनु चित सकुचत कत लाल॥

इस प्रकार नायक के चारों भेदों के उदाहरण बिहारी में विद्यमान हैं।

नायिकाओं के अलंकार

स्त्री जाति स्वभावनः स्रष्टा की सर्वोत्तम कृति है। जो आकर्षण स्त्री जाति में पाया जाता है उसकी तुलना विश्व के किसी अन्य मनोरम पदार्थ से नहीं की जा सकती। किन्तु यौवनजन्य लावण्य और कामनाजन्य हाव, भाव, विलास आदि चेष्टायें इनके स्वभावसिद्ध सौन्दर्य को और अधिक बढाने वाली होती हैं। स्वाभाविक विलासों में भी एक अभूतपूर्व आकर्षण होता है जिस पर मानव-मनोमयूर स्वतः नाच उठता है। भर्तृहरि के शब्दो में :—

लीलावतीनां सहजा विलासास्त एव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति।
रागो नलिन्या हि स्वभावसिद्धस्तत्र भ्रमत्येव वृथा षडंघ्रिः॥

सस्कृत साहित्यशास्त्रकारो ने इन चेष्टाओं को स्त्रियो का अलंकार बतलाया है। जिस प्रकार अन्य आभूषण सुन्दरता को बढाने वाले होते हैं उसी प्रकार ये चेष्टाये भी नायिकाओ के सौन्दर्य को बढाती है। इसीलिये इन्हे अलंकार शब्द से अभिहित किया जाता है। बिहारी इन चेष्टाओ को सर्वोत्तम अलंकार मानते हैं जिन की तुलना में बाह्य अलंकार खड़े ही नही हो सकते :—

नहिं टीकौ न गुलीबंदौ नहिं हमेल नहिं हारु॥
सुरत-समै इक नाहियैं नख-सिख होति सिंगारु।

हिन्दी में इन्हे "हाव" की सज्ञा प्रदान की जाती है। साहित्यशास्त्र के अनुसार इन अलंकारों की कुल संख्या २८ होती है। इन को तीन भागों में विभाजित किया जाता है:—कुछ अलंकार शारीरिक विकारों तक ही सीमित होते हैं, इनको

अंगज अलकार कहते है। कुछ अलंकार आभ्यन्तर होते हैं और कुछ बाह्य। यौवन और कामना के संचार के साथ-साथ कुछ विशेषताये स्वतः प्रकट हो जाती हैं इनको अयत्नज चेष्टा कहते हैं, इसके प्रतिकूल कुछ चेष्टाये स्वभाव सिद्ध न होकर बाह्य प्रयत्न साध्य होती है इन्हे यत्नज चेष्टा कहते है। यहाँ पर ध्यान रखना चाहिये कि वे ही चेष्टाये अलकार कहला सकती है जिन में राग जागृत करने और प्रेम का उद्दीपन बनने की क्षमता होती है। जो चेष्टाये नायिकाओ के अनुराग को व्यक्त किया करती है वे चेष्टाये अनुभाव होती है अलंकार नही। किन्तु अधिकतर नायिकाओं के अन्तःकरण का अनुराग भी नायको में रति भाव को जागृत करने में कारण बनता है। ऐसी दशा मे जितने अश में नायिकाओ की चेष्टायें नायक के अनुराग को जागृत करती है उतने अश में वे अलकार कहलाती हैं और जितने अश में नायिकाओं की भावना को व्यक्त करती हैं उतने अंश में अनुभाव कहलाती है। आशय यह है कि जहाँ नायिका के अनुभाव नायक में प्रेमोद्दीपन करने वाले दिखलाये जाते है वहाँ वे अनुभाव अलकार का रूप धारण कर लेते हैं।

प्रथम प्रकार के अलकार अगज कहलाते है। ये तीन प्रकार के होते है— भाव, हाव और हेला। (१) बचपन में चित्त विकारहीन होता है। उसमें किसी प्रकार की वासना या कामना नही होती। जब यौवनारम्भ में इसी विकारशून्य चित्त में काम विकार प्रथम बार उत्पन्न होता है तब इसे भाव कहते है। जैसे :—

लाल अलौकिक लरिकई लखि लखि सखी सिहाति।
आज काल्हि में देखियतु उर उकसौंहीं भाँति॥

लड़कपन का अलौकिक हो जाना ही काम विकार का परिचायक है। इसी प्रकार :—

औरै ओप कनीनिकनु गनी घनी सरताज।
मनीं धनी के नेह की बनीं छनीं पट लाज॥

और ओप कामनाजन्य है

(२) जब यही भावजन्य विकार इस रूप में प्रकट होने लगता है कि दूसरे लोग भी उसे लक्षित करने में समर्थ हो जाते है तब इसे हाव कहते हैं। जैसे :—

त्रिबली नाभि दिखाइ कर सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली अली की ओट कै चली भली विधि चाहि॥

यहाँ पर नायिका की चेष्टाये सर्वजन सवेद्य नही हैं किन्तु निपुणतापूर्वक प्रत्यभिज्ञेय है। इसी प्रकार :—

(१) देख्यौ अनदेख्यौ कियैं अँगु अँगु सबै दिखाइ।
पैठति सी तन में सकुचि बैठी चितै लजाइ॥
(२) मुहुँ धोवति एडी घसति हँसति अनगवति तीर।
धसति न इन्दीवरनयनि कालिन्दी के नीर॥

(३) चितवत जितवत हित हियँ कियँ तिरीछे नैन।
भीजैं तन दोऊ कँपैं क्यौं हूँ जप निवरै न ॥

उत्कण्ठा और लज्जा के अन्तर्द्वन्द्व में नेत्रो में कुछ विलक्षण मनोरम आ जाती है जिसका वर्णन बिहारी ने इन शब्दों में किया है :—

करे चाह सौं चुटकि कै खरे उड़ौंहैं मैन।
लाज नवाएँ तरफत करत मूंद सी नैन ॥

नेत्रों का शिकारी के रूप में मन को आक्रान्त करना भी हाव के अन्दर आता है :—

डारी सारी नील की ओट अचूक चुकै न।
मो मन मृग करबर गहैं अहे अहेरी नैन ॥

(३) जब हाव की चेष्टायें इतनी अधिक बढ़ जाती हैं कि उनमें लज्जा व भाव न्यूनातिन्यून अवस्था को पहुँच जाता है और उनसे साधारण से साधार व्यक्ति भी नायिका के प्रेम को लक्षित कर लेते है तब उसे हेला कहते हैं जैसे :—

ज्यौं ज्यौं आवति निकट निसि त्यौं त्यौं खरी उताल।
झमकि झमकि टहलैं करै लगी रहचटैं बाल ॥

हेला में नेत्रों की चंचलता और भी अधिक बढ जाती है। बिहारी ने इस उपमा नर्तकी मे दी है :—

सब अँग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनन्त गति पुतरी पातुर राइ ॥

इसको कभी कल तो पड़ती ही नहीं :—

चलतु घैरु घर घर तऊ घरी न घर ठहराइ।
समुझि उहीं घर कौं चलै भूलि उहीं घर जाइ ॥

लाखो की भीड़ में भी नायिका अनुरागाभिव्यजना को नहीं रो सकती :—

पहुँचति डटि रण सुभट लौं रोकि सकैं सब नाहि।
लाखनु हू की भीर मैं आँखि उहीं चलि जाँहि ॥

ये चेष्टाये कभी-कभी उपहास के योग्य भी हो जाती हैं :—

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह ॥

ऊपर अगज चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। दूसरे प्रकार के अलका अयत्नज होते हैं। जब यौवनागम का अवसर होता है, तब स्वभावत: लावण्य ह ही जाता है। इस लावण्य के लिए किसी प्रयत्न की अपेक्षा नही होती। इसीलि इस प्रकार के अलकारों को अयत्नज अलंकार कहते है। अयत्नज अलकार सा प्रकार के होते हैं :—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य

बिहारी में इन सभी अलकारो के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। अतएव यहा पर उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

(१) शोभा—यौवनागम से शरीर के सौन्दर्य की वृद्धि हो जाती है। चेहरे पर नई चमक आ जाती है। इसी चमक को शोभा कहते हैं। यह शोभा आकर्षण में सबसे बड़ा कारण होती है। बिहारी ने इस सौन्दर्य का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। इस चमक के आ जाने पर दुबली-पतली नायिका का शरीर भी भरा सा प्रतीत होता है —

अंग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरी ऊ तऊ लगै भरी सी देह॥

इस यौवन के विकास में नायिका अपनी सहेलियो में ऐसे ही नही छिपती जैसे दीप शिखा नही छिपाई जा सकती —

बाल छबीली तियनु मैं बैठी आपु छिपाइ।
अरगट हीं फानूस सी परगट होति लखाइ॥

बिहारी की नायिका का सौन्दर्य देख कर तो आँख का मैल भी जाता रहता है :—

कहा कुसुम कह कौमुदी कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखै आंखि ऊजरी होति॥

नवोढा के यौवन-विकास को देख कर सौतो की चिन्ता स्वाभाविक है —

निरखि नवोढ़ा नारि तन छुटत लरिकई-लेस।
भौ प्यारौ प्रीतमु तियनु मनहुं चलत परदेस॥

इसी प्रकार —

देह दुलहिया की बढ़ै ज्यौं ज्यौं जोबन जोति।
त्यौं त्यौं लखि सौत्यैं सबैं बदन मलिन दुति होति॥

(२) जब पूर्वोक्त यौवनजन्य लावण्य के अन्दर काम वासना का भी संचार हो जाता है तब शरीर के रंग-ढंग कुछ और ही हो जाते है। उस समय काम वासना का प्रभाव शारीरिक सौन्दर्य पर भी पडता है। इस प्रकार काम वासना से युक्त शोभा को कांति कहते हैं। कान्ति के उदाहरण—

अरतैं टरत न बर परे दई मरक मनु मैंन।
होड़ा होड़ी बढ़ि चले चितु चतुराई, नैन॥

यहां पर चित्त और चतुराई का होड में सम्मिलित होना काम वासना के संचार का परिचायक है। काम संचार में चेष्टाये कुछ और ही हो जाती है —

और हँसनि और्रे लसनि और कसनि कटि ठौर।
नैन चुगल कानन लगे मनु करि डार्यौ और॥

(३) जब कान्ति का बहुत अधिक विस्तार हो जाता है तब उसे दीप्ति कहते

वर्णन में बिहारी सतसई में केवल एक दोहा मिलता है :—

जंघ जुगल लोइन निरे करे मनौ विधि मैन ।
केलि तरुनु दुखु दैन ए केलि तरु न दुख-दैन ।।

यहाँ पर विरोधाभास तथा व्यतिरेक से सौन्दर्याधिक्य तथा रमण करने की स्पृहणीयता अभिव्यक्त होती है। नख-शिख वर्णन में दो और महत्त्वपूर्ण अंग आते हैं ऊरु तथा नितम्ब। बिहारी ने इन दोनो का वर्णन छोड़ दिया है। ऊपर के दोहे में केला का वृक्ष अप्रस्तुत विधान के रूप में उपस्थित किया गया है। केला की उपमा जंघा के लिये नहीं अपितु ऊरु के लिये दी जाती है। दोनों में विस्तृत परिणाह ही साधर्म्य के रूप में स्वीकृत किया जाता है। परिणाह ऊरु में ही होता है जंघा में नही। ज्ञात होता है कि बिहारी ने ऊरु और जघा दोनों को एक ही माना है। नितम्ब की स्थूलता और विशालता के वर्णन करने की कवि-परम्परा है। बिहारी ने कटि वर्णन के सम्बन्ध में नितम्ब की स्थूलता और विशालता का ओर संकेत मात्र किया है :—

लगी अनलगी सी जु बिधि करी खरी कटि खीन ।
किए मनौ बैं हीं कसर कुच, नितम्ब अति पीन ।।

प्राय: कवियों ने अंगो के परस्पर विनिमय का वर्णन किया है :—

अंगानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठन सुभ्रुवः ।

इसी परम्परा का प्रभाव इस दोहे पर लक्षित होता है। कटि की क्षीणता के वर्णन में कवि ने विशेष पाडित्य का परिचय दिया है :—

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किएँ नीठि ठहराइ ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाइ ।।

निस्संदेह इस दोहे में नायिका की कटि के अन्दर परब्रह्म के दर्शन करना बिहारी के हृदय की पवित्रता का परिचायक है। बिहारी ने इस दोहे में उच्च कोटि के दार्शनिक सिद्धात और न्यायशास्त्र के चारो प्रमाणों का कुशलतापूर्वक उल्लेख किया है जो सर्वथा सराहनीय है।

स्तन वर्णन

स्तन वर्णन के प्रसंग में कवियों ने विशालता और सघनता का वर्णन किया है। किन्तु बिहारी में इस प्रकार के वर्णन प्राप्त नही होते। स्तन सौन्दर्य के प्रसंग में शारीरिक चमक से आँगी के छिप जाने का वर्णन किया गया है :—

भई जु छवि तन बसन मिलि बरनि सकैं सु न बैन ।
आँग ओप आँगी दुरी आँगी आँग दुरै न ।।

यहाँ पर शब्दालंकारो के साथ मीलित और विभावना का जितना सुन्दर संयोग है वह वास्तव में बिहारी जैसे कुशल कवि की लेखनी से ही सम्भव हो सकता है।

हस्त वर्णन

गोस्वामी तुलसीदास ने साधु समाज में प्रयाग के दर्शन किये थे, बिहारी नायिका की "छला" से युक्त "गोरी छिगुनी" और "अरुण नख" में त्रिवेणी के दर्शन करते है। त्रिवेणी स्नान से मुक्ति की प्राप्ति बतलाई जाती है। किन्तु एक तो वह कालान्तर में होती है और दूसरे उससे मुक्ति लाभ निश्चित नही है। किन्तु नायिका की छिगुनी तत्काल रति रूपी मुक्ति को प्रदान करने वाली है :—

गोरी छिंगुनी नखु अरुनु छला स्यामु छवि देइ।
लहत मुकति रति पलकु यह नैन त्रिवेनी सेइ॥

बिहारी नायिका की छिगुनी की शोभा पर विशेष अनुरक्त हैं और वह भी यदि मेंहदी से रगी हो तो नेत्र तो उसी में रग कर रह जाते है :—

गड़े, बड़े छवि-छकि छकि छिगुनी छोर छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीं नह-दी महदी नैन॥

हस्त सौन्दर्य का ठग से रूपक भी सुन्दर है :—

नख-रुचि, चूरनु डारि कै, ठगि, लगाइ निज साथ।
रह्यो राखि हठि लै गए हथाहथी मनु हाथ॥

कोई कितना ही बडा क्यो न हो कितना ही महान् क्यों न हो किन्तु हस्त-सौन्दर्य को देखकर उसका मन भी उस के हाथ में नही रहता :—

बड़े कहावत आपसौं गरुवे गोपीनाथ।
तौ बहौं हौं जौ राखिहौ हाथनु लखि मनु हाथ॥

ग्रीवा वर्णन

ग्रीवा वर्णन में कवि प्राय: उसकी वर्तुलाकारता का वर्णन किया करते हैं किन्तु बिहारी ने त्वचा की निर्मलता और पतलेपन का वर्णन किया है :

खरी लसति गोरैं गरैं धँसति पान की पीक।
मनौ गुलीबँद लाल की लाल लाल दुति-लीक॥

नायिका की त्वचा इतनी पतली और इतनी निर्मल है कि पान की पीक भी निगलते समय दिखलाई पड जाती है और तब ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो नायिका ने गुलीबन्द पहर रखा हो।

चिबुक वर्णन

नख शिख वर्णन में चिबुक वर्णन की परम्परा प्राय: नही है। किन्तु बिहारी ने कई दोहो में चिबुक वर्णन किया है। बिहारी का मन चिबुक की दो विशेषताओ पर रीझा है—चिबुक के गड्ढे की सुन्दरता पर और चिबुक के गोदने पर। चिबुक के गड्ढे में तो नेत्र और मन दोनो ही फंस कर रह जाते हैं। नेत्रो के फसने में बिहारी ने ठगो के द्वारा बटोही के मारे जाने और गड्ढे में डाल दिये जाने की सुन्दर कल्पना की है :—

डारे ठोढ़ी गाड़ गहि नैन बटोही मारि।
चिलक चौंध में रूप-ठगु हाँसी फाँसी डारि॥

नेत्र मृत व्यक्ति के समान सर्वथा निष्क्रिय और विवेकशून्य हो गये हैं। अब वे वहाँ से हट सकने की क्षमता क्या चेतना भी नही रखते किन्तु मन की विचित्र दशा है। वह ठोड़ी के गड्ढे में गडा हुआ भी उड़ा-उड़ा फिरता है :—

तो लखि मो मन जो लही सो गति कही न जाति।
ठोड़ी गाड़ गड़्यो तऊ उड़यो रहै दिन राति॥

कितना सुन्दर विरोधाभास है? गौर वर्ण में श्याम वर्ण के गोदने के लिये गुलाब पर भ्रमर की कल्पना भी बड़ी सुन्दर है :—

ललित स्याम लीला ललन बढ़ी चिबुक छवि दून।
मधु छाक्यौ मधुकर पर्‌यौ मनौ गुलाब-प्रसून॥

इस दोहे में उत्प्रेक्षा जहाँ सौन्दर्य की परिचायिका है वहाँ मधुर शब्दावली तथा अलंकृत प्रौढ भाषा सौन्दर्य को व्यंजित करती है।

अधर वर्णन

अधर वर्णन के प्रसग में अधर की लाली और पतलापन ही मुख्य वर्ण्य विषय रहे हैं। बिहारी के निम्नलिखित दोहे में अधर की लाली की व्यजना होती है :—

अधर धरत हरि कैं परत ओठ-डीठि-पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्र-धनुष रँग होति॥

निस्सदेह बिहारी की दृष्टि में वे अचेतन पदार्थ भी भाग्यशाली हैं जिनको अधर सम्पर्क का सुयोग प्राप्त हो जाता है —

बेसरि-मोती, धनि तुही को बूझै कुल, जाति।
पीबौ करि तिय-ओठ कौ रसु निधरक दिनराति॥

दशन वर्णन

दन्त पक्ति के सौन्दर्य में उनका शिखरी तथा समपक्ति बद्ध होना और उनकी चमक ही कवि परम्परा में मुख्य वर्ण्य-विषय रहे है। बिहारी ने निम्न-लिखित दोहे में दन्त पक्ति की चमक का वर्णन किया है :—

नैकु हँसौंहीं बानि तजि लख्यो परतु मुँहुँ नीठि।
चौका चमकनि चौंध में परि चौंधि सी डीठि॥

यहाँ पर 'दन्त पक्ति" की चमक बिजली के समान है।" यह उपमा व्यक्त होती है। दन्त पक्ति की चमक इतनी बढ़ी चढी है कि नायक की दृष्टि चौधिया जाती है और यह मुख की ओर भली भाति देख भी नही पाता। इस प्रकार असम्बन्ध में सम्बन्ध होने से यहा पर सम्बन्धातिशयोक्ति भी है।

कपोल वर्णन

गुलाबी चेहरे में कपोलो के रंग सुकुमारता और सुगन्ध का संयोग वास्तव में

सर्वाधिक वशीकरण होता है। बिहारी ने मीलित अलकार के द्वारा गुलाब की पखडी से समता स्थापित कर इसी सयोग का परिचय दिया है .—

बरन बास सुकुमारता सब विधि रही समाइ ।
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाइ ।।

कपोलो की स्वर्णिम आभा में कही ताटक का स्वर्ण विलीन हो जाता है और कही पान का पाटल वर्ण कपोल का स्मरण कराने का कारण होता है :—

(अ) **तरिवन कनकु कपोल-दुति बिच बीचहीं बिकान ।**
लाल लाल चमकनि चुचीन्ह चौका चीन्ह समान ।।

(आ) **परसत पोंछत लखि रहतु लगि कपोल कें ध्यान ।**
कर लै प्यौ पाटल विमल प्यारी पठए पान ।।

कभी कभी हँसने से कपोलो में गढे पड जाते है। बिहारी को किसी ग्रामीण वनिता की यह विशेषता बडी ही मनोमोहनी प्रतीत हुई है —

गोरी गदनु कारी परैं हँसत कपोलन गाढ़ ।
कैसी लसति गँवारि यह सुन किरवा की आढ़ ।।

नासिका वर्णन

नायिका का प्रत्येक अवयव आकर्षक होता है। यदि तिरछे नेत्र हृदय को बीधते हैं तो नासिका का छिद्र भी जो स्वयं आविद्ध है हृदय को विदीर्ण करने वाला हो जाता है ·—

बेधक अनियारे नयन बेधत करिं न निषेधु ।
बरबट बेधतु मो हियो तो नासा कौ बेधु ।।

स्वर्णिम आभामयी नासिका में नील मणि जटित सीक भी कितनी सुन्दर लगती है ·—

जटित नीलमनि जगमगत सींक सुहाई नाँक ।
मनौ अली चम्पक कली बसि रसु लेत निसाँक ।।

सामान्यतया भौरा चम्पा की कली पर नही बैठता । अतएव इस उत्प्रेक्षा से यह व्यजना निकलती है कि नासिका का सौदर्य विवेक को भुला देने वाला होता है। जब तिर्यग्योनिजात भ्रमर की यह दशा है तब सहृदय पुरुषों का तो कहना ही क्या ?

नेत्र वर्णन

बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के सौदर्य वर्णन में नेत्रों का स्थान सर्वोच्च है। शृ गार रस में इनका महत्व अनिर्वचनीय है। ससार के प्राय: समस्त कवीश्वरों ने नेत्रों के बाह्य वर्णन और उनके द्वारा प्रेमानुभव को महत्त्व दिया है। हिन्दी में भी अनेक कवियों ने नखशिख वर्णन में नेत्रों के सौन्दर्य तथा चेष्टाओं के सजीव तथा हृदयाकर्षक चित्र खीचे हैं। इन सब वर्णनों में बिहारी का वर्णन अत्यन्त उच्च कोटि का कहा जा सकता है। इसमें रमणीय कवि-कल्पनाये, अलकारा

का सामंजस्यपूर्ण योग, सानुप्रास सशक्त भाषा ऐसे तत्व हैं जिनका हिन्दी साहित्य में ही नहीं विश्व साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सर्वप्रथम बाह्य सौन्दर्य चित्रण को लीजिए। सुन्दरता उसी को कहते है जो प्रत्येक अवस्था में आकर्षक प्रतीत हो। नेत्र चाहे शृंगार सहित हो चाहे शृगार रहित हों, आकर्षकता उनमे विद्यमान रहती ही है :—

रस सिंगार मंजनु किए कंजनु भजनु दैन।
अंजनु रंजनु हू बिना खजनु गंजनु नैन॥

चाहे नेत्रों में हाव, भाव, कटाक्षादि की लहरे उठ रही हो, चाहे अजनहीन श्यामता उनमें विद्यमान हो प्रत्येक अवस्था में उनका सौन्दर्य अपने उपमानो का मान मर्दन करने वाला होता है। यही भाव निम्नलिखित दोहे में विद्यमान है :—

बर जीते सर मैन के ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं हरि नीके ए नैन॥

केवल कमल, खंजन और हरिणी के नेत्र ही नही मछली और मोती के उपमान भी नायिका के नेत्रो के सामने नही ठहर सकते :—

सायक-सम मायक नयन रँगे त्रिबिधि रँग गात।
झखौ बिलखि दुरि जात जल लखि जलजात लजात॥

झीने घूंघट पट के अन्दर से चमचमाने वाले नेत्रों की सुन्दरता और भी बढ़ जाती है :—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन।
मानहु सुर सरिता-विमल जल उछरत जुग मीन॥

यह तो नेत्रो के बाह्य सौन्दर्य की बात हुई। चितवन का बाँकापन भी कम महत्वपूर्ण नही होता। इस विषय में बिहारी का निम्नलिखित दोहा बहुत प्रसिद्ध है :—

तिय कित कमनैती पढ़ी बिन जिहि भौंह-कमान।
चल चित बेझैं चुकति नहिं बंक विलोकनि बान॥

वैषम्य की पराकाष्ठा है। सामान्य धनुर्धर बिना डोरी के कभी बाण नहीं छोड़ सकता किन्तु नायिका की भौ रूपी कमान में डोरी है ही नही फिर भी बाण छूटता है। सामान्य धनुर्धरो का बाण यदि जरा भी टेढा हो तो लक्ष्य पर नहीं पहुँचता, किन्तु नायिका का तिरछा चितवन रूपी बाण सर्वदा टेढा ही है। फिर सामान्य धनुर्धर स्थिर लक्ष्य को ही बेधते हैं, यदि लक्ष्य कुछ हिलता हुआ हो तो उसको बेध देना बड़ी कुशलता की बात मानी जाती है। किन्तु नायिका का लक्ष्य मन है जिससे बढकर ससार का दूसरा पदार्थ चचल नही। डोरी रहित धनुष, टेढ़ा बाण और सर्वाधिक चंचल मन लक्ष्य, फिर भी बाण छूटता है और लक्ष्य बिध जाता है, सामान्य धनुर्धर कभी चूक भी जाते हैं किन्तु नायिका के नेत्र लक्ष्य बेधने में

कभी चूकते ही नही। कितना बड़ा आश्चर्य है। केवल इतना ही नहीं यहा तो उलटी शिकार भी खेली जाती है। यह तो सभी ने सुना होगा कि नागरिक लोग जंगली हिरणो का शिकार खेलते हैं, किन्तु यह बिहारी की नायिका में ही सुना गया है कि जगली हिरण भी नागरिको का शिकार खेलते है :—

खेलन सिखए अलि भलैं चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार॥

यहाँ तक तो कोई बात नही। किन्तु इन नेत्र बाणो में एक और बहुत बड़ी विलक्षणता है। सामान्य बाण जिसको लगते है उसी के घाव करते है और उसी को व्याकुल करते है तथा जहाँ पर लगते है वही पर घाव करते है। किन्तु इन नेत्र बाणो का हाल ही दूसरा है। यह लगते नेत्रो में हैं, हृदय में घाव करते है और दूसरे अगो को व्याकुल करते है .—

दृगनु लगत वेधत हियहिं बिकल करत अंगु आन।
ए तेरे सब तैं कठिन ईछन-तीछन बान॥

सामान्य बाण की अपेक्षा नेत्र बाणों में एक और विशेषता है। सामान्य बाण जब किसी शरीर को फाड़ कर आरपार निकल जाते है तब उनका कोई अश अन्दर शेष नही रह जाता। किन्तु नयन बाण हृदय के दो टुकडे करके पार भी हो जाते है और टूटी नोक के समान कसकते भी रहते है —

लागत कुटिल कटाच्छ-सर क्यौं न होहिं बेहाल।
कढ़त जियहिं दुसाल करि तऊ रहत नट साल॥

दो जीवो के शिकार खेलने का ढग अत्यन्त विलक्षण है--एक तो बाज का और दूसरे चीते का। बाज नीचे नीचे उड़ता रहता है और एक दम ऊपर उठ कर झपट लेता है। चीता संध्या समय किसी पेड़ पर चढ कर किसी डाली के सहारे छिपकर बैठ जाता है और जब रात में कोई मृग उस वृक्ष के नीचे आश्रयार्थ आता है तब उस पर ऊपर से टूट पड़ता है। नेत्र इन दोनो प्रकारो का शिकार खेलने में निपुण हैं। बाज के शिकार के विषय में देखिये :—

नीचीयै नीची निपट दीठि कुही लौं दौरि।
उठि ऊँचै नीचौ दयौ मनु कुलिंगु झपि झौरि॥

नायिका नीचे-नीचे ही देखती रही। सहसा आख ऊपर उठकर जो एकदम नीचे झुक गई उसकी तुलना बाज के शिकार से की गई है। इससे व्यजना निकलती है कि मन सर्वथा गतिहीन हो गया है। इसी प्रकार चीते के शिकार के विषय में भी देखिये :—

डारी सारी नील की ओट अचूक चुकै न।
मो मन मृगु कर्बुर गहैं अहे अहेरी नैन॥

जिस प्रकार चीता डाली की आड़ में छिपकर मृग का शिकार करता है उसी प्रकार नेत्र घूंघट की आड़ से मनरूपी हिरण का शिकार खेलते हैं।

इसके अतिरिक्त बिहारी ने नेत्रों की रूपपिपासा, दृष्टिमिलन, प्रेम में नेत्रो की बहक, अश्रु और नेत्रों द्वारा बातचीत का भी वर्णन किया है। किन्तु उसे हम अलंकारों में सन्निविष्ट नही कर सकते। उनका समावेश अनुभावो में होगा।

भृकुटि वर्णन

भृकुटि की शरासन-रूपता इत्यादि का वर्णन नेत्रो से मिलाकर ही किया गया है किन्तु केवल भृकुटि मरोड़ भी आकर्षक होती है :—

नासा मोरि, नचाइ जे करी ककी की सौंह।
काँटे सी कसकैति हिय गड़ी कँटीली भौंह॥

मस्तक वर्णन

जिस प्रकार बिहारी ने नेत्र वर्णन में शिकार की अप्रस्तुत योजना की है उसी प्रकार मस्तक तथा उसके प्रसाधनो के वर्णन में ज्योतिष से अप्रस्तुतो का उपादान किया गया है। मस्तक में लाल बिन्दी लगी है और उस पर छूटे हुए बिखरे बाल राहु के समान शोभित हो रहे है। मुख चन्द्रमा के समान और बिन्दी सूर्य के समान है :—

भाल लाल बेन्दी छए छुटे बार छबि देत।
गह्यौ राहु अतिआहु करि मनु ससि सूर-समेत॥

लोक में सूर्यग्रहण अमावस्या को और चन्द्रग्रहण पूर्णिमा को पडा करता है। दोनों एक साथ हो ही नही सकते। यहाँ विलक्षणता यह है कि सूर्य और चन्द्र दोनों का उपराग एक साथ हो रहा है। इसमें व्यजना यह है कि यदि सूर्य और चन्द्र दोनों ग्रहणो का सम्मिलित फल प्राप्त करना हो तो रतिदान का इससे और अधिक अच्छा अवसर नही मिल सकता। केवल सामान्य पुण्यलाभ ही नही राज्य-धन इत्यादि की प्राप्ति का भी बड़ा सुन्दर योग बतलाया गया है.—

भाल लाल बेंदी ललन आखत रहे विराजि।
इन्दु कला कुज में बसी मनौ राहु भय भाजि॥

बृहत्पाराशरी के अनुसार यदि केन्द्रस्थ मगल में चन्द्र की दशा आ जावे और ये ग्रह उच्च के हो तो अनेक प्रकार की सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। यहां पर स्त्री स्थान में (सप्तम स्थान में) जो केन्द्र का एक स्थान है, मस्तक जैसे उच्च स्थान पर बिन्दीरूपी मंगल में अक्षतरूपी चन्द्र विराजमान है। अत यह योग अनेक शुभ फलों को देने वाला है। केवल एक ही नही दूसरा योग भी देखिये —

तिय-मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढ विनोद।
सुत-सनेह मानौ लियौ बिधु पूरन बुधु गोद॥

स्त्री का मुख चन्द्रमा के समान है और उसमें लगी हुई हीरा जडी बेदी ऐसी शोभित होती है मानो पुत्र प्रेम के कारण चन्द्रमा ने बुध को गोद ले लिया है। बृहत्पाराशरी के अनुसार चन्द्र में बुध का अन्तर्भाव यदि ये केन्द्रस्थ तथा उच्च के हों, तो अनेक सुख जैसे धनागम, राजमान इत्यादि देने वाला होता है। वे ही फल

सम्प्रति नायिका को देखने से भी प्राप्त हो सकते हैं। बिन्दी के वर्णन में बिहारी ने मीलित और उन्मीलित अलकारो का भी अच्छा प्रयोग किया है :—

मिलि चन्दन बेंदी रही गोरे मुँहु न लखाइ।
ज्यौं-ज्यौं मद लाली चढ़ै त्यौं-त्यौं उघरत जाइ॥

गणित में बिन्दी का बहुत बडा महत्त्व है। किन्तु गणितज्ञो में सर्वदा से एक भ्रम रहा है कि बिन्दी लगाने से केवल दसगुना मूल्य ही बढता है। किन्तु बिहारी इससे सहमत नही। बिहारी कहते है कि रमणी के मस्तक पर बिन्दु लगाने से केवल दस गुना ही नही असख्य गुना मूल्य बढ जाता है।

कहत सबै बेंदी दिये आँकु दसगुनौ होतु।
तिय-लालाट बेंदी दियैं अगनितु बढ़तु उदोतु॥

समस्त मुख वर्णन

कवि परम्परा के अनुसार नख-शिख वर्णन में मुख वर्णन आता है और मुख को प्राय: चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। बिहारी ने मुख चन्द्र के सामने चकोरों के भ्रम का अच्छा वर्णन किया है —

सूर उदित हूँ मुदित-मन मुखु सुखमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तैं निहचल चखनु चकोर॥

केवल चकोरो को ही क्यो सारे विश्व को भ्रम हो जाता है। लोगों को मुख-चन्द्रिका के प्रकाश में तिथि का ही पता नही चल पाता। तिथि देखने के लिये पचांग का ही सहारा लेना पड़ता है।

पत्रा हीं तिथि पाइयैं वा घर कैं चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौई रहे आनन-ओप उजास॥

यह तो केवल मुख सौदर्य की बात हुई। घूघट में ढके हुए मुख की शोभा कुछ और ही होती है —

छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै नीलैं अंचल-चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिन्दी के नीर॥

कालिदास इत्यादि कवियो ने मुख की चमचमाहट और आह्लादकत्व धर्मों के एकीकरण के लिये चन्द्र तथा बिजली के एक में मिल जाने का वर्णन किया है। बिहारी ने दोनों तत्वो को पृथक्-पृथक् रखते हुए एकस्थीभाव का वर्णन किया है :—

जरी-कोर गौरैं बदन बढ़ी खरी छबि, देखु।
लसति मनौ बिजुरी किये सारद-ससिपरिवेषु॥

श्रम के अनन्तर स्वेद बिन्दु सहित मुख की शोभा कुछ और ही होती है। देखिये :—

चलित ललित सम-स्वेदकन-कलित अरुन मुख तैं न।
बन बिहार थाकी तरुनि खरे थकाये नैन॥

कश वर्णन

सौन्दर्य वर्णन में केशों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तुलसी ने तो कलियुग का आभूषण ही केशो को बतलाया है। केशों की सुन्दरता देख कर मन का कुमार्ग-गामी हो जाना स्वाभाविक ही है :—

सहज सचिक्कन स्याम सुचि रुचि सुगन्ध सुकुमार।
गनतु न मन पथु अपथु लखि बिथुरे सुथरे बार॥

बाल किसी भी अवस्था में हो वशीकरण होते ही है :—

छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे, सुकुमार।
मनु बाँधत बेनी बँधे नील छबीले बार॥

प्रथम पक्ति में स्वाभाविकता है और दूसरी पक्ति में विरोधाभास की ध्वनि। छुटकारा वही दे सकता है जो स्वय छुटा हुआ हो। किन्तु जो बँधा हुआ है वह बेचारा बाध क्या सकता है? जब कभी बालो की टेढी लट मुख पर पड जाती है, तब सौन्दर्य कितना अधिक बढ़ जाता है इसका बिहारी ने ठीक हिसाब लगाया है :—

कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोतु।
बंकबकारो देत ज्यौं दामु रुपैया होतु॥

निम्नलिखित दोहो में बिहारी ने जूडा बाधने का कितना स्वाभाविक चित्र खींचा है जो नेत्रो के सामने नाचने लगता है :—

कर समेट कच, भुज उलटि, खएँ सीस-पटु टारि।
काकौ मनु बाँधे न यह जूरा-बाँधनहारि॥

यही बिहारी के नखशिख वर्णन का सक्षिप्त परिचय है। इस समस्त वर्णन को शोभा, कान्ति और दीप्ति इन अलंकारों में सन्निविष्ट किया जा सकता है।

(४) वास्तविक सौन्दर्य को बाह्य उपकरणो की आवश्यकता नही होती। सुन्दर व्यक्ति किसी भी अवस्था में क्यो न रहे सुन्दर ही प्रतीत होता है। बिहारी ने कहा ही है :—

सबै सुहाएई लगैं बसे सुहाएँ ठाम।
गोरैं मुँह बेंदी लसैं अरुन पीत सित स्याम॥

सभी अवस्थाओ में सुन्दर प्रतीत होना "माधुर्य" कहलाता है। सुन्दरता का सब से बड़ा आश्रय नेत्र ही होते हैं। बिहारी की नायिका के नेत्र अंजन से रगे हुए या न रंगे हुए दोनो अवस्थाओ में सुन्दर ही मालूम पडते हैं :—

रस सिंगार मजनु किये कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रजनुहूँ बिना खजनु गजनु नैन॥

नेत्रो की ही क्यो बालो की भी यही दशा है। चाहे वे बन्धे हुए हो या न बँधे हुए हों दोनो अवस्थाओ में सुन्दर ही प्रतीत होते हैं :—

छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे सुकुमार।
मनु बाँधत बेनी बधे नील, छबीले बार॥

वस्तुतः सौन्दर्य में शृंगार की आवश्यकता ही नही, हां कहने-सुनने के लिये शृंगार किया अवश्य जाता है :—

तन भूषन अंजन दृगनु पगनु महावर रंग।
नहिं सोभा कौं साजियतु कहिबैं हीं कौं अंग ।।

(५) नायिकाओ का भोलापन आकर्षित करता ही है उनका प्रगल्भता भी कम मनमोहक नही होती। यह प्रगल्भता भी बाह्य लक्षण नहीं किन्तु आन्तरिक मन का एक प्रतिबिम्ब मात्र है और बिना प्रयत्न के स्वत. प्रवृत्त हो जाती है। इस प्रकार "प्रगल्भता" भी एक अयत्नज अलंकार है। इसके उदाहरण :—

ज्यौं-ज्यौं पावक-लपट सी तिय हिय सौं लपटाति।
त्यौं-त्यौं छुही गुलाब सैं छतिया अति सियराति ।।

कभी कभी प्रगल्भता की कमी दूर करने के लिये मदिरा पान का प्रबन्ध करना पड़ता है। तब तो मुग्धाओं में भी प्रगल्भता का आधिक्य हो जाता है। बिहारी ने मदिरापान-जन्य प्रगल्भता का कई दोहो में वर्णन किया है। दो एक उदाहरण लीजिये :—

(१) निपट लजीली नवल तिय बहकि वारुनी सेइ।
त्यौं-त्यौं अति मीठी लगति ज्यौं-ज्यौं ढीठ्यो देइ ।।

(२) हँसि-हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
बलकि-बलकि बोलति वचन ललकि-ललकि लपटाति ।।

(३) ढीठ्यौ दै बोलति हँसति पौढ बिलास अपौढ़।
त्यौं-त्यौं चलत न पिय-नयन छकए छकी नवोढ़।

(६) नायिकाओं का रूठना और इठलाना तो आकर्षक होता ही है उनकी सरलता भी जादू का प्रभाव उत्पन्न करने वाली होती है। यह भी कुलवती ललनाओं का एक आभूषण ही है। इस अलंकार को औदार्य कहते हैं। बिहारी की नायिका मान का उपदेश देने वाली सखी से क्या कहती है :—

सखी सिखावति मान-विधि सैननि बरजति बाल।
हरुये कहु मो मन बसत सदा बिहारी लाल ।।

नायिकाये स्वभाववश प्रयत्न करने पर भी नायक से रूठ नही सकतीं। यह भी उनका अयत्नज अलकार ही है :—

बालम, तुम सौं रूठियै मन सौं कछु न बसाइ।
ज्यों-ज्यौं खैंचौं आपु त्यौं त्यौं-त्यौं तुम तन जाइ ।।

(७) धैर्य—सातवा अयत्नज अलकार है धैर्य। नायिकाओं का सटपटाना, चचल होना इत्यादि जिस प्रकार आनन्ददायक होता है उसी प्रकार उन का धैर्य और दृढ़ता भी आनन्द देने वाली होती है। बिहारी की नायिका पत्र द्वारा अपने प्रियतम को क्या संदेश देती है :—

कहा भयौ जौ बीछुरै मो मन, तो मन साथ ।
उड़ी जाउ किते गुडी तउ उडाइक हाथ ।।

रत्नाकर ने इसका अर्थ गणिकापरक किया है। गणिकापरक अर्थ करने में भी यह धैर्य का ही उदाहरण हो सकता है। क्योंकि गणिका भी ऊपरी दिखावा करने में तो कुशल होती ही है और वह भी ऐसी बात क्यो लिखेगी जिससे नायक उसके प्रेम की न्यूनता की आशका करने लगे। ऐसी दशा में प्रेम की दृढता का बहाना करके ही यहाँ पर नायक को आकर्षित करने का प्रयत्न किया है। दूसरा उदाहरण :—

प्रियतम दृग मिहिचत प्रिया पानि परस सुखु पाइ ।
जानि पिछानि अजान लौं नैकु न होत लखाइ ।।

ये अगज और अयत्नज अलकार पुरुषो में भी सम्भव है। किन्तु इनका सौन्दर्य नायिकाओ के अन्दर ही विच्छित्ति-विशेष का परिपोषक होता है।

उपर्युक्त अयत्नज अलकारों के अतिरिक्त कुछ यत्नज चेष्टाये भी होती है। इनकी सख्या १८ है।

"लीला विलासो विच्छित्तिर्विब्बोकः किलकिंचितम् ।
मोहायित कुट्टमित विभ्रमो ललितं मद ।।
विहृत तपन मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसित चकित केलि · · · ·

(१) प्रथम यत्नज अलकार लीला है। प्रियतम का वेष बनाना लीला नामक हाव कहलाता है। बिहारी ने नायक और नायिका के परस्पर वेष परिवर्तन का निम्नलिखित दोहे में वर्णन किया है :—

राधा हरि राधिका बनि आये सकेत ।
दंपति रति विपरीति सुखु सहज सुरत हू लेत ।।

कभी कभी नायक और नायिका एक दूसरे का वेष धारण कर विपरीत रति करते हैं। यह भी लीला ही है। रात में नायक और नायिका ने वेष विपरिवर्तन करके विपरीतरति की है। संयोग वश प्रातःकाल पर्यन्त नायक के मस्तक में बेदी लगी रह गई है जिससे सखिया विपरीत रति का अनुमान लगाती है —

मेरे बूझत बात तू कत बहरावति बाल ।
जग जान विपरीत रति लखि बेंदी पिय भाल ।।

यह भी लीला ही है।

(२) दूसरा यत्नज अलकार "विलास" है। प्रेयसी का चलना-फिरना, उठना-बैठना तथा किसी प्रकार की चेष्टा करना प्रियतम के लिए एक आकर्षण होता है। यदि प्रियतम के अवलोकन से इस प्रकार की चेष्टाये प्रवृत्त हों अथवा उनमें विशेषता आ जाये तो प्रियतम के लिए उनमें और अधिक अनुराग उत्पन्न हो जाता है। इन चेष्टाओं को विलास कहते हैं। बिहारी ने विलास के कई दोहे लिखे हैं। राधा का

बन्सी चुराना और कृष्ण से उस विषय में बातचीत करना विलास का ही उदाहरण है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करे भौंहनु हँसै देन कहैं नटि जाय॥

चरखा कातने वाली का भी विलास देखिए:—

ज्यों कर त्यों चुकुटी चलै ज्यों चुकुटी त्यो नारि।
छबि सौं गति सी लै रही चातुर कातनि हारि॥

वेश्याओं की विलास चेष्टाओ का उदाहरण :—

ज्यों ज्यों पटु झटकति हटति हँसति नचावति नैन।
त्यों-त्यों निपट उदार हू फगुआ देत बनै न॥

स्नान करने के बाद की किसी नायिका की विलास चेष्टाओ का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

त्रिवली नाभि दिखाइ कै सिर ढकि सकुचि समाहि।
गली अली की ओट ह्वै चली भली विधि चाहि॥

प्रेम प्रदर्शन करने वाली दो एक विलास चेष्टाये देखिए :—

(अ) करु उठाइ घूंघट करत उझरत पट गुझरौट।
सुख मौटैं लूटीं ललन लसि ललना की लौट॥

(आ) मौंह उचै आंचरु उलटि मोरि मोरि मु ह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सों जोरि॥

(इ) फेरु कछुक करि पौरि ते फिर चितई मुसकाई।
आई जावन लेन जिय नेहे चली जमाइ॥

(३) जब थोड़ी ही शृंगार सामग्री से अधिक कांति का परिपोष दिखलाया जावे तब उस हाव को बिच्छित्ति कहते हैं। कोई ग्रामीण नायिका अपने सीमित शृंगार साधनो में ही कितनी अच्छी मालूम पड़ती है :—

बेंदी भाल तमोल मुख सीस सिलसिले वार।
दृग आँजे राजे खरी बेई सहज सिंगार॥

एक नायिका दो मोतियो को ही नाक में पहन कर ससार के नेत्रो को अपनी ओर आकृष्ट करने लगी है :—

इहिं द्वै ही मोती सुगथ तु नथ गरवि निसांक।
जेहि पहिरे जगदुग ग्रसति लसति हँसति सी नाक॥

नायिका की शोभा मलिन वस्त्रों द्वारा ही बढ गई है :—

मलिन देह बेई वसन मलिन विरह के रूप।
पिय आगम औरे चढ़ी लाली ओठ अनूप॥

(४) विब्बोक स्त्रियों का स्वाभाविक गुण है, इष्ट वस्तु का अनादर। कालिदास के कथनानुसार "उत्कट इच्छा होते हुए प्रियतम की प्रार्थना में वामाचरण की उनकी प्रवृत्ति होती है, सम्भोग सुख की आकांक्षा होते हुए भी अपने शरीर के प्रदान में वे कातर हो जाती हैं। इस प्रकार केवल कामदेव ही उन्हे पीडित नही करता अपितु वे भी समय को बिता कर कामदेव को पीड़ित करती है।" जब गर्व के कारण वे अभीष्ट वस्तु का आदर नही करती तब उस हाव को विब्बोक कहते हैं। इसके उदाहरण :—

ऐरी यह तेरी दई क्यों हूँ प्रकृति न जाइ।
नेह भरे हिय राखिए तौ रुखियै लखाइ॥

दूसरा उदाहरण :—

नहि नचाइ चितवति दृगनु नहि बोलत मुसकाइ।
ज्यों ज्यों रूखो रुख करै त्यों त्यों चित चिकनाइ॥

(५) किलकिंचित—भावनाओं के सघात को कहते हैं। जब परस्पर विरुद्ध अनेक भावनाये उदभूत होकर हंसी, त्रास, रोदन इत्यादि को उत्पन्न करती हैं तब वहाँ पर किलकिंचित हाव होता है। बिहारी ने किलकिंचित के कई एक अच्छे उदहारण लिखे है। विशेष परिस्थिति में जो अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है उसके चित्रण में बिहारी बहुत अधिक सिद्धहस्त हैं। कोई नायिका सौत की पारी में प्रियतम का परस्त्रीगमन सुनती है। उस समय के उसके मनोभाव को बिहारी किन शब्दों में चित्रित कर रहे है :—

बालम बारैं सौति के सुनि परनारि बिहारु।
भौ रसु अनरसु रिस रली रीझे खीझ इकवार॥

यहाँ पर नायिका के अन्दर अनेक भावनाये उत्पन्न हुई हैं। एक तो ईर्ष्या के कारण सुख हुआ। दूसरी सौत पैदा हो गई, इस बात का दुःख हुआ। यदि नायक को कही जाना ही था तो मेरे यहाँ क्यों नहीं चला आया, इस बात पर क्रोध हुआ। सौत की गुणहीनता पर मजाक करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। रीझ इस बात से हुई कि नायक मेरी पारी में कहीं नहीं जाता और खीझ इस बात से हुई कि बुरी आदत पडने पर मेरी भी पारी में कहीं जा सकता है। इस प्रकार अनेक भावनाओ के सघात होने के कारण यहाँ पर किलकिंचित हाव है। प्रियतम ने रति की प्रार्थना की है, उस समय का किलकिंचित हाव देखिये :—

रमण कह्यौ हठि रमन को रति विपरीत विलास।
चितई करि लोचन सतर सलज सरोस सहास॥

यहाँ पर अनेक भावों के संघात होने के कारण किलकिंचित हाव है। कोई नायक किसी के घर पर गया है उस समय पान देने में नायिका के अन्दर कौन

भावनाओं का संघात उत्पन्न होता है उसे भी देखिए :—

सहित सनेह संकोच सुख स्वेद कम्प मुसुकानि ।
प्राण पानि करि आपमें पान धरे मो पानि ।।

एक नायिका सरोवर पर स्नान कर रही है, वहाँ उस का प्रियतम अकस्मात् आ जाता है । उस समय उसका किलकिंचित हाव देखिये :—

सुनि पग धुनि चितई इतै ह्वाति दियें हीं पीठि ।
चकी झुकी सकुची डरी हंसी लज सी दीठि ।।

(६) मोट्टायित :—हाव वहाँ पर होता है जहाँ नायिका अपने प्रेम को छुपाने के लिये कान खुजलाना इत्यादि कोई अन्य कार्य करने लगती है, वैसे उसका पूरा ध्यान प्रियतम की ओर ही होता है और प्रियतम की भावना ही से उस का हृदय भावित होता है । बिहारी सतसई में इसका केवल एक उदाहरण प्राप्त होता है । प्रियतम प्रस्थान करना चाहता है । उस समय परकीया की आंखो में आंसू आ जाते हैं, किन्तु अपने अनुराग को छिपाने के लिये वह जमुहाने लगती है :—

ललनु'चलनु सुनि पलनु में अँसुवा झलके आइ ।
गई लखाइ न सखिनु हूँ झूठै हीं जमुहाइ ।।

(७) कुट्टमित—यह हाव बिहारी को बहुत पसन्द है । बिहारी ने दो एक सूक्तियो में इस का महत्व भी बतलाया है । सहवास के अवसर पर जब नायक हाथ पकड़ता है तब नायिका चाहते हुए भी नही नही करती चली जाती है । यही हाव कुट्टमित की संज्ञा प्राप्त करता है । बिहारी इस की प्रशसा करते हुए कहते है .—

तनक झूठ न सवादिली कौन बात परि जाइ ।
तिय मुख रति आरम्भ नाहिं झूठियै मिठाइ ।।

कुट्टमित हाव के चित्रण में बिहारी ने कई दोहे लिखे है :—

(क) भौंहनु त्रासति मुँह नटति आँखिन सौं लपटाति ।
ऐंचि छुड़ावति करु इची आगे आवति जाति ।।

(ख) जदपि नाहिं नाहँ नहीं लगी वदन जक जाति ।
तदपि भौंहिं हाँसी भरिनु हाँसीयै ठहराति ।

(ग) लहि सूनै घर करु गहत दिठा दिठी की की ईठि ।
गढ़ी सुचित नाहीं काहि करति करि ललचौंहीं दीठि ।।

(घ) नाक मोहीं नाहीं ककै नारि निहोरैं लेइ ।
छुवत ओठ बिय आँगुरिनु बिरी बदन प्यौ देइ ।

(८) विभ्रम – हाव वहाँ पर होता है जहाँ प्रियतम के अकस्मात् आ जाने पर अथवा नायक के प्रेम से प्रभावित होने पर नायिका की विचित्र सी दशा हो जाती है और वह ऊटपटाग काम करने लगती है । बिहारी में केवल इसके एक दो उदाहरण मिलते हैं । नायक के अकस्मात् आ जाने पर दही बिलोने वाली नायिका

की क्या दशा हो जाती है :—

रही दहेंडी ढिग धरी भरी मथनियां वारि।
फेरति करि उलटी रई नई बिलोवनि हारि ।।

नायिका प्रियतम के पास जाना चाहती है। वह ठीक कपड़े भी नही पहन सकी है :—

चली अली कहि कौन पै बडो कौन को भाग।
उलटी कंचुकि कुचनि पै कहै देति अनुराग ।।

(९) ललित – अंगों के सौकुमार्य की अभिव्यक्ति ललित हाव कही जाती है। निम्नलिखित दोहे में ललित हाव है :—

छिनकु चलति ठिठुकति छनकु भुज प्रियतम गल डारि।
चढी अटा देखति घटा बिज्जु छटा सी नारि ।।

यहाँ पर क्षण भर चलना और फिर ठिठक जाना अगो के सौकुमार्य को अभिव्यक्त करता है। सौकुमार्य के दूसरे वर्णन भी इसी ललित हाव के अन्तर्गत आते हैं। कहीं गुलाब की पँखुडी से शरीर पर खरौच आने की बात कही गई है और कहीं उंगली लग जाने से पैरों में छाले पड़ने की आशका व्यक्त की गई है; गुलाब के झामा घुमाने में भी नाइन को संकोच ही होता है। यह सब ललित हाव के अन्दर ही आते है।

(१०) मद—सौभाग्य या यौवन के प्रभाव से जो एक गर्व उत्पन्न होता है उस का भी प्रभाव बाह्य चेष्टाओ पर अवश्य पड़ता है। ये चेष्टाये भी आकर्षण में कारण होती हैं। इन गर्विता की चेष्टाओं को मद कहते हैं। प्रियतम के प्रेम के द्वारा उत्पन्न होने वाले मद का उदाहरण :—

कियौ जु चिबुक उठाइ कै कम्पित कर भरतार।
टेढी यै टेढी फिरति टेढे तिलक लिलार ।।

यौवन जन्य मद का उदाहरण :—

गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार।
हूँठ्यो दैं इठलाइ दृग करै गंवारि वार ।।

(११) विहृत :—यदि बात करने का अवसर होते हुए भी अवरुद्ध कण्ठ के कारण अथवा संकोच से बात मुंह से न निकले तो यहाँ पर विहृत हाव होता है। नायक प्रस्थान कर रहा है। नायिका का कण्ठ अवरुद्ध हो गया है। उसके मुंह से शब्द नही निकलते। उसी का वर्णन कवि ने निम्नलिखित दोहे में किया है :—

ललनु चलनु सुनि चुपु रही, बोली आपुन ईठि।
राखौ गहि गाढै गरैं मनौ गलगली ठीठि ।।

प्रस्थान काल में ही नहीं, परावर्तन काल में भी नायिका के मुख से शब्द नही निकलते :—

बिछुरे जिए सकोच इहिं बोलत बनत नबै न।
दोऊ दौरि लगे हियैं किए लजौहैं नैन॥

(११) नायिका की उद्दीप्त वियोग व्यथा भी अनुराग का सचार करने मे कारण बनती है। इस दशा को तपन हाव कहते हैं। बिहारी ने कई स्थानो पर वियोग व्यथा का अतिरंजित वर्णन किया है कतिपय उदाहरण लीजिये.—

(क) जाति मरी बिछुरी घरी जल सफरी की रीति।
खिनु खिनु होति खरी खरी अरी, जरी यह प्रीत॥

(ख) प्रजरयौ आगि वियोग की बह्यो विलोचन नीर।
आठौं याम हियौं रहै उड्यो उसास समीर॥

(ग) ह्यां तै ह्यां ह्यां तै इहां नैकौ धरति न धीर।
निसि दिन डाढी सी रहति वाढी गाढी पीर॥

(घ) बेरिबे को साहस ककै बढै विरह की पीर॥
दौरत ह्वै समुही सजी सरसिज सुरभि समीर॥

यद्यपि नायिका की चेष्टायें भाव की व्यंजिका होने के कारण अनुभाव ही कही जावेगी तथापि वियोग व्यथा भी अलंकृत करने वाली होती है। इस से भी शोभा बढ जाती है और इससे भी नायक के हृदय में प्रेम का संचार होता है। अतएव इसे अलंकारों के अन्दर भी लिया जा सकता है। इस अलंकार को तपन हाव कहते हैं।

(१३) नायिका का अल्हडपन भी आकर्षक होता है। इस अल्हड़पन को मौग्ध्य हाव कहते हैं। मुग्धता के कारण कभी कभी ये नायिकाये बड़ी विचित्र बातें करने लगती है जिससे सहृदय व्यक्ति का इनकी ओर स्वभावतः आकर्षण हो जाता है। देखो बिहारी की नायिका खद्योतों के विषय में क्या कहती है.—

बिरह जरी लखि जीगननु कह्यौ न उहि कै बार।
अरी, आड भजि भीतरी, बरसत आजु अगार।

(१४) साहित्यदर्पणकार ने विक्षेप की परिभाषा लिखते हुए इसके अन्दर तीन बाते मानी हैं।

(क) आभूषणों की अर्ध रचना, (ब) वृथा इधर-उधर देखना और (ग) कुछ थोड़ा-थोडा रहस्य कथन। आभूषणों की अर्ध रचना का कोई स्पष्ट उदाहरण बिहारी में नही मिलता। किन्तु अस्पष्ट रूप में एक-दो स्थानों पर इस ओर सकेत अवश्य किया गया है। प्रियतम के निकट होने पर वृथा इधर-उधर दृष्टि दौड़ाना और इसी प्रसग में प्रियतम को भी देख लेना एक आनन्ददायक चेष्टा है। इसका वर्णन बिहारी ने निम्नलिखित शब्दो में किया है :—

सबही त्यौं समुहाति छिनु, चलति सबनु दै पीठि।
वाही त्यौं ठहराति यह, कविलनवी लौं दीठि॥

यहाँ पर कविलनवी की उपमा बडी सुन्दर है। जिस प्रकार मन्त्र की कटोरी चोर को प्रकट कर देती है उसी प्रकार नायिका की दृष्टि भी उसके चित्त चोर को प्रकट कर देने में समर्थ है। कुछ थोड़े-थोड़े रहस्य कथन का भी एक उदाहरण लीजिए :—

ढोरी लाई सुमन की, कहि गोरी मुसकात।
थोरी थोरी सकुच सौं भोरी भोरी बात॥

(१५) किसी रमणीय वस्तु को देखकर जो चचलता उत्पन्न हो जाती है वह भी आकर्षण का कारण होती है। इस चचलता को कुतूहल कहते हैं। इसका एक उदाहरण :—

उर लीनै अति चटपटी सुनि मुरली धुनि धाइ।
हौं निकसी हुलसी सु तौ गौ हुलसी हिय लाइ॥

(१६) हसित—कामदेव के आवेश से जो अकारण हँसी उत्पन्न हो जाती है उसे हसित कहते हैं :—

मुँहु धोवति एड़ी घसति हसति अनगवति तीर।
धँसति न इन्दीवरनयनि कालिंदी कैं नीर॥

(१७) चकित—जब कही से अकस्मात् प्रियतम आ जावे तब जो भय और सम्भ्रम उत्पन्न हो जाता है उसे चकित हाव कहते है। एक नायिका हिंडोल झूल रही है। अकस्मात् नायक आ जाना है। उस समय का उसका भय और सम्भ्रम देखने योग्य है .—

हेरि हिंडोरै गगन तैं परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच हीं, करी खरी रस लूटि॥

(१८) प्रियतम के साथ क्रीडा करना केलि हाव कहलाता है। राधा ने कृष्ण की वशी चुरा कर रख ली है। कृष्ण वँशी माँगने आये हैं। उस समय राधा की केलिमयी चेष्टाये देखने योग्य है :—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं, भौंहनु हँसै, दैन कहैं नटि जाइ॥

चोर निहचिनी खेल का भी अच्छा वर्णन है :—

दोऊ चोर मिहीचनी खेलु न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियैं लपटात॥

होली का खेल भी मनोरम है :—

जज्यौं उझकि झाँपति बदनु झुकति विहँसि सतराइ।
तत्यौं गुलाल मुठी झुठी झझकावत प्यो जाइ॥

विश्वनाथ ने उपर्युक्त १८ अलकार ही माने हैं। हिन्दी में कुछ आचार्यों ने बोधक हाव और माना है। जब नायिका नायक को संकेत स्थान इत्यादि का बोध

कराती है तब बोधक हाव कहा जाता है। बिहारी में इसके दो एक उदाहरण मिलते है। जैसे :—

लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम॥

इसी प्रकार :—

विनती रति विपरीत की करी परसि पिय पाइ।
हँसि, अनबोलैं ही दियौ ऊतरु, दियौ बताइ॥

यहाँ पर दीपक घर करके विपरीत रति करने का बोध कराया गया है। अतएव यहा पर बोधक अलकार (हाव) है। इस प्रकार नायिकाओ के अलकारो के सभी उदाहरण बिहारी में मिल जाते है।

उद्दीपन-विभाव

रस की निष्पत्ति में कारण भूत दूसरे प्रकार के विभाव उद्दीपन कहलाते हैं। जिन कारणों से प्रेम इत्यादि भावनाये उद्दीप्त होती हैं उन्हें उद्दीपन कहते हैं। ये उद्दीपन अनेक प्रकार के हो सकते हैं। आवम्बन की चेष्टाये भी उद्दीपन हो सकती है, आलम्बन से सम्बन्ध रखने वाली कोई दूसरी वस्तु भी उद्दीपन हो सकती है और देश काल भी उद्दीपन हो सकता है। देश काल की परिस्थितियाँ प्रायः हमारे मन के भाव उद्दीप्त करने वाली हो जाती हैं। जब शीतल मन्द सुगन्धपवन बह रहा हो, चादनी अपना रजतपट सारे विश्व में तान रही हो ऐसे अवसर पर स्वभावत· हृदय में गुदगुदी उत्पन्न हो जाती है और हम चाहते हैं कि हम प्रियतम के सम्पर्क में इस प्राकृतिक सौदर्य का आनन्द ले। इसी प्रकार परिस्थितिया हमारे अन्दर क्रोध, उत्साह इत्यादि को भी उत्पन्न कर सकती हैं।

आलम्बन की चेष्टाओं का वर्णन नायिकाओं के अलंकार के प्रसग में किया जा चुका है। ये चेष्टायें नायकों के मन में रसोद्दीपन करती है। यदि नायिकाओं के मन में रसोद्दीपन हो तो नायक की चेष्टायें उसमें उद्दीपन का काम करती हैं। किन्तु साहित्य-शास्त्रकारों ने नायिका की चेष्टाओं को अधिक महत्त्व दिया है। किन्तु जो सौन्दर्य नायिकाओं की चेष्टाओं में होता है वह नायको की चेष्टाओ क्यों नही हो सकता। बिहारी ने कतिपय दोहे नायक की चेष्टाओं के भी लिखे हैं। में निलिखित दोहे में भगवान् कृष्ण का हँसते हँसते सामने से निकल जाना नायिका के हृदय में प्रेम जागृत करने में कारण बना है :—

बन तन कौं, निकसत, लसत हँसत हँसत, इत आइ।
दृग खंजन गहि लै चल्यौ चितवनि चैंपु लगाइ।,

भगवान् कृष्ण की दूसरी चेष्टाये भी भावोद्दीपन करने वाली दिखलाई गई हैं :—

भृकुटी भटकनि पीत पट खटक लटकती चाल।
चल चख चितवनि चोरि चितु लियौ बिहारीलाल॥

एक देहाती नायक की तम्बाकू पीने की चेष्टाये भी नायिका के लिए उद्दीपन हो गई है.—

ओठु ऊँचै हाँसी भरी दृग भौंहनु की चाल।
मो मनु कहा न पी लियौ पियत तमाकू लाल॥

चेष्टाओ के अतिरिक्त नायिकाओ के आभूषणों की शोभा भी उद्दीपन हो सकती है। नायिकाओं के आभूषणो का विस्तारपूर्वक परिचय पहले दिया जा चुका है। एक उदाहरण लीजिये :—

सालति है नटसाल सी क्यौं हूँ निकसति नाहिं।
मनमथ-नेजा-नोक सी खुभी खुभी जिय माँहि॥

अपने प्रियतम की प्रत्येक वस्तु प्यारी होती है। प्रियतम की किसी भी वस्तु को देखकर स्वभावतः उसका स्मरण आने लगता है। वियोग में वही वस्तु प्रियतम का प्रतिनिधित्व करती है और वही प्राणों का एक आलम्बन होती है :—

हंसि उतारि हियतैं, दई तुमजु तिहिं दिना लाल।
राखति प्रान कपूर ज्यौं बहै चुहु टिनी-माल॥

यहाँ पर घुंघची की माला उद्दीपन है। नायक ने प्रेमपूर्वक पखा भेजा है। नायिका के लिए वही उद्दीपन का काम करता है :—

हितु करि तुम पठयौ, लगैं वा बिजना की बाइ।
टली तपति तन की, तऊ चली पसीना न्हाइ।

यहाँ तो चुहुटिनी की माला और बिजना से तपन मिट जाती है और प्राणा की रक्षा होती है किन्तु यदि प्रियतम की वस्तु कष्टदायक भी हो तो भी प्रेम कों उद्दीपन करने के कारण वह वस्तु आनन्ददायक ही होती है और उसका आदर भी स्वभावतः बढ ही जाता है। एक नायिका आँखो की पीडा की परवाह न कर प्रियतम के द्वारा डाले हुए गुलाल को भी अपनी आँख से दूर नहीं करना चाहती :—

दियौ जु पिय लखि चखनु मैं खेलत फाग-खियालु।
बाढ़त हूँ अति पीर सुन काढत बनतु गुलालु॥

एक दूसरी नायिका प्रियतम द्वारा खण्डित अधर को कितने आदर से देखती है यह भी देखिए :—

छिनकु उघारति, छिनु छुवति, राखति छिनकु छिपाइ।
सबु दिनु पिय खण्डित अधर दरपन देखत जाइ॥

इतना ही क्यों एक नायिका तो नख-क्षत को स्वयं खोट खोट कर उसे हरा रखने की चेष्टा करती है। कभी-कभी सकेत स्थान भी उद्दीपन का काम करता है :—

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखति, फिर फिरि लेति उसासु।
साईं सिर कच-सेत लौं बीत्यौ चुनति कपासु॥

देशकाल की परिस्थितियों का उद्दीपन के रूप में वर्णन भी अत्यन्त महत्व

पूर्ण रहा है। इसका विवेचन बिहारी के प्राकृतिक चित्रण के प्रसग में किया जावेगा वही देखना चाहिये।

अनुभाव

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है रस का सर्व प्रथम विवेचन नाट्य के प्रसग में हुआ था और इसको नाट्य रस की सज्ञा भी प्राप्त हुई। बाद मे उसका अनुकरण प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में किया गया और मुक्तक के क्षेत्र में उसका समावेश और भी बाद में हुआ। नाट्य में सर्वाधिक महत्त्व अभिनय का ही है। किसी दूसरे के भावों का अभिनय अनुभावो द्वारा ही किया जाता है। काव्य मे भी भाव कभी स्वशब्द-वाच्य होकर आस्वादन का कारण नही बनते। उनको अनुभाव वर्णन के द्वारा ही व्यक्त करना पडता है। ऐसी दशा में रस शास्त्र में अनुभाव का बहुत बडा महत्त्व है। अनुभाव की परिभाषा करते हुए नाट्य-शास्त्रकार ने लिखा है :— "अथानुभाव इति कस्माद्उच्चते ? यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागंग-सत्वैः कृतोऽभिनय इति। "अर्थात् इसका नाम अनुभाव क्यों पड़ा ? (इस का नाम पड़ने का कारण यही है कि) नाना अर्थों से अभिनिष्पन्न होने वाला वाणी. अग और सत्व के द्वारा किया हुआ यह अभिनय ही भाव को अनुभव का विषय बनाता है। आशय यह है कि वाणी, अंग और सत्व के द्वारा किया हुआ अभिनय ही अनुभाव के नाम से पुकारा जाता है। अभिनय भावो का ही होता है और वे भाव अनुभावो के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं, अनुभाव भावो को अनुभव का विषय बनाते हैं और भावो का अनुगमन करते है। इसीलिए इन्हें अनुभाव कहते हैं।

भरत मुनि ने अभिनय के चार भेद किए हैं—कायिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य। यही अनुभाव के भी भेद कहे जा सकते है। भरत मुनि ने इन अनुभावों का वर्णन करने के लिए कई एक अध्याय व्यय किये हैं। करणो और अगहारो का भी इसी प्रसंग में वर्णन किया गया है और वाणी के भी अनेक भेदोप-भेद गिनाये गये हैं। किन्तु इनका उपयोग नाट्य-शास्त्र में ही संगत होता है। काव्य शास्त्र में न तो उनका अधिक विस्तार सम्भव ही है और न उपयोगी ही। यही कारण है कि काव्य में रस निरूपणपरक ग्रन्थो में इनका वर्णन छूटता ही गया।

स्थायी भाव ही विभावादि अनुचरों से सम्पुष्ट होकर एक राजा के समान रस-रूपता को धारण करते हैं और यही सहृदय पाठकों और दर्शको के आनन्द में कारण बनते हैं। सहृदय पाठकों को स्थायी भाव का परिज्ञान अनुभाव के द्वारा ही होता है। ये भ्रूविक्षेप, कटाक्ष इत्यादि अनुभाव स्थायी भाव को प्रतीति-गोचर बना कर ही सम्पुष्टकरते है। नाट्य की तो यह आत्मा हैं किन्तु काव्य में भी अनुभव करने वाले रसिकों की अनुभव क्रिया में ये ही साक्षात् कारण होते हैं इसलिए भी इन्हे अनुभाव कहा जाता है। स्त्रियों के शारीरिक लावण्य विकास से ले कर जितने भी छोटे-बड़े अलकार हैं वे सब अनुभाव की सीमा में आते हैं। (साहित्य दर्पण तीन-१४२) आश्रय की दृष्टि से ये अनुभाव होते हैं और प्रेमियो के अन्दर प्रेम को जागृत करने

में कारण बन कर वे उद्दीपन भी हो जाते हैं। आशय यह है कि नायिका के भावाभिव्यंजक अलंकार नायिका की दृष्टि से अनुभाव होते हैं और नायक की दृष्टि से उद्दीपन। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

बिहारी ने कहीं-कहीं पर स्वतन्त्र रूप से भी अनुभावों का सुन्दर चित्रण किया है। देखो नायिका के दृष्टिपात से नायक की क्या दशा होती है :—

कहा लड़ैते दृग करै परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीतपटु कहूँ मुकटु बनमाल॥

दो परकीया नायिकाये किस प्रकार अनुभावों के द्वारा एक दूसरे के सामने खुलती हैं इसका भी चित्र देखिये .—

आयौ मीतु विदेस तैं काहू कह्यौ पुकारि।
सुनि हुलसी विहसी हँसी दोऊ दुहुनु निहारि॥

कायिक अनुभाव का निम्नलिखित उदाहरण बहुत ही सुन्दर है :—

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँहि।
बौरी लौं दौरी फिरति छुअत छबीली छाँह॥

हर्ष का अनुभाव गति में स्वभावत: वक्रता उत्पन्न कर देता :—

कियौ जु चिबुक उठाइ कै कम्पित कर भरतार।
टेढ़ीयै टेढ़ी फिरति टेढ़ैं तिलक लिलार॥

अनुभावों में नेत्रों का बहुत अधिक महत्त्व है। प्रेम प्रदर्शन में सबसे अधिक उपयोग नेत्रों का ही किया जाता है। दम्पति घर में है वे एक दूसरे से बातचीत करना चाहते हैं किन्तु घर में सभी वयोवृद्ध तथा दूसरे लोग उपस्थित हैं। ऐसी दशा में वे नेत्रों द्वारा किस प्रकार एक दूसरे से बातचीत करते है इसका भी एक नमूना देखिये :—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं नैननु ही सब बात॥

नायक के नेत्र सम्भोग की प्रार्थना करते है, नायिका के नेत्र "नटत" इन्कार करते हैं, इस पर नायक के नेत्र "रीझत" प्रसन्न हो जाते हैं, इन्कारी पर नायक की प्रसन्नता को देखकर नायिका के नेत्र "खिझत" खिसिया जाते है, थोडी देर की अप्रसन्नता के बाद दोनों के नेत्र "मिलत" मिल जाते हैं, इस पर नायक के नेत्र मुस्करा देते हैं, यह देखकर नायिका के नेत्र लज्जित हो जाते है। निस्सन्देह बातचीत का यह अनोखा ढंग बिहारी की लेखनी से ही सम्भव है।

वाचिक अनुभावों में एक ओर तो प्रेम प्रदर्शन परक दोहे आते हैं जिनमें या तो प्रत्यक्षरूप से नायक या नायिका एक दूसरे के समक्ष अपनी सम्भोगेच्छा को प्रकाशित करता है अथवा सदेश भेजा जाता है। इसका विस्तृत विवेचन यथास्थान किया गया है। दूसरी ओर खडिता नायिका की कटूक्तियां आती हैं इनका भी

नायिका भेद के अन्तर्गत धीरा इत्यादि के प्रसग में विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। नायिकाओ का सामान्य स्वभाव होता है प्रेमी के पास अनलकृत न जाना। बिहारी ने अधिकतर नायिकाओ के बनाव शृगार का वर्णन किया है। यदि शृंगार करने में भाव की अभिव्यक्ति हो तो उसे आहार्य अनुभाव कहते है। इसका भी परिचय पहले दिया जा चुका है।

सात्विक भाव

सात्विक भावों के विषय में दो मत है। कुछ लोग सात्विक भावों को अनुभाव के अन्तर्गत रखते हैं और कुछ लोग सचारियो में ले जाते हैं। भरतमुनि ने एक ओर सात्विक अभिनयों का वर्णन कर इनको अनुभाव की कोटि में रखा है दूसरी ओर ४९ भावो में इन्हें सन्निविष्ट कर सचारी भावो के समकक्ष स्थान दिया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र से न्यूनाधिक रूप में दोनो मतो की पुष्टि हो जाती है। संस्कृत के परवर्ती आचार्यों ने सात्विक भावों को अनुभाव की कोटि में रखते हुए भी इन्हे अनुभावो से कुछ भिन्न बतलाया है। (सा० द० ३—१४४) भानुदत्त ने सात्विकों को अनुभाव न मानकर शारीर सचारी माना है। उन्ही का अनुकरण कर देव ने भी दो प्रकार के सचारी माने हैं शारीर और आन्तर। शारीर संचारियो में सात्विक भाव रखे गये है और आन्तर सचारियो में हर्ष निर्वेद इत्यादि ३३ सचारी। इन्ही के अनुकरण पर बाद मे रसलीन ने व्यभिचारी भाव के दो भेद किये है, तन व्यभिचारी और मन व्यभिचारी। तन व्यभिचारी में सात्विको को और मन व्यभिचारी में निर्वेदादिको को रखा है। सम्भवत. इसीलिए इन्हे सात्विक अनुभाव न कह कर सात्विक भाव की ही संज्ञा प्राप्त हो गई है।

जहां तक सात्विक भावो के अनुभाव या सचारी भाव में सन्निविष्ट करने के औचित्य का प्रश्न है बहुमत इनको अनुभावो के अन्तर्गत रखने के ही पक्ष में है। सस्कृत के प्रामाणिक महान् आचार्यों ने इन्हे अनुभाव ही माना है। पडितराज ने रस की परिभाषा देते हुए "अश्रुपातादिभिरनुभावै." लिखा है। यद्यपि अभिनवगुप्त इत्यादि आचार्यों ने परम्परानुरोध से भावो की सख्या ४९ मानी है तथापि सात्विको को अनुभाव के अन्तर्गत मानने का ही समर्थन किया है। विश्वनाथ महापात्र ने सम्भवत. इसी सदेह के कारण भावो की पृथक् सज्ञा ही नही दी है। वस्तुत: सात्विको को भाव कहना ही उचित प्रतीत नही होता। भाव या मनोविकार आतरिक तत्व है जिनकी सत्ता सात्विक भावो से अभिव्यक्त होती है। अतएव सात्विक भाव दूसरे भावो का कार्य कहे जा सकते है स्वय भाव कभी नही हो सकते। कुछ लोगो ने (देखो रीतिकाल की भूमिका, डा० नगेन्द्र के द्वारा) सात्विको को भाव मानने में यह कारण दिया है कि "सात्विक भाव भी रस के परिपाक में शरीर में संचरण कर स्थायी को पुष्ट करते ही हैं, इस रूप में मन को व्यभिचारी का शरीर रूप मान लेने में कोई हर्ज भी नही है।" किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो

शरीर में संचरण करना और स्थायी को पुष्ट करना ये दोनों हेतु ऐसे है जो नायिका के स्वभावज शोभा कांति इत्यादि अलकारो और प्रायः समस्त अनुभावो के विषय में वैसे ही लागू हो जाते हैं जैसे सात्विको के विषय में। किन्तु इनको भाव न कहकर अनुभाव ही कहा जाता है क्योकि वे भाव के पीछे आने वाले और भाव को अनुभव गोचर बनाने वाले होते हैं। नाट्यशास्त्रकार ने लिखा है कि सात्विको को भाव इसलिए माना जाता है कि नाट्य में सुख और दु ख का अभिनय ऐसे व्यक्ति करते हैं जो स्वयं सुखी या दुखी नही होते। वे लोक के सुख और दुःख को उन्ही के समान अश्रुपातादि द्वारा व्यक्त किया करते हैं। आशय यह है कि लोकगत भावों या मनोविकारों की सत्ता नटो के शरीर तक ही सीमित होती है उनके मन पर उनका कोई प्रभाव नही पड़ता। भरतमुनि के कथन से दो बाते स्पष्ट हो जाती हैं—सात्विको को हम भाव भले ही कहें सचारी मनोविकार नही कह सकते। दूसरी बात यह है कि सात्विकों की भावरूपता नाट्य में कुछ अ शों तक भले ही संगत हो काव्य में उनको किसी अ'श में भी भाव नही कहा जा सकता। अतएव सात्विकों को भाव न कह कर अनुभाव ही मानना चाहिये।

बिहारी सतसई में प्रत्येक सात्विक भाव के लिए एक-दो उदाहरण मिल जाते हैं। नीचे कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं :—

चकी जकी सी ह्वै रही बूझैं बोलति नीठि।
कहूँ दीठि लागि, लगि कै काहू की डीठि।।

यहां पर स्तम्भ सात्विक है। इस प्रकार —

(अ) पलन चलैं जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
अबहीं तनु रितयौ कहौ मनु पठयौ किहिं पास।।

(आ) रही अचल सी ह्वै है मनौ लिखि चित्र की आहि।
तजैं लाज, डरु लोक कौ, कहौ विलोकत काहि।।

ये नायिकागत स्तम्भ के उदाहरण हैं। नायकगत स्तम्भ के भी एक-दो उदाहरण लीजिये :—

(अ) चलित ललित, श्रम-स्वेदकन कलित अरुन मुख तैन।
बन-बिहार थाका तरुनि खरे थकाये नैन।

(आ) बीच्यौ दै बोलति, हँसति पोढ़-विलास अपोढ़।
त्यौं-त्यौं चलत न पिय-नयन छकये छकी नबोढ़।।

प्रथम दोहे में नायिका के मुख की अरुणिमा और स्वेद बिन्दु उद्दीपन हैं तथा नायक का स्तम्भ सात्विक है। इसी प्रकार द्वितीय दोहे में नायिका की प्रौढ़ चेष्टाये उद्दीपन हैं और नायक का स्तम्भ सात्विक है।

रहौ गुही बेनी, लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुकाए बार।।

यहाँ पर उभय (नायक-नायिका) गत स्वेद सात्विक है। केवल नायिका-

गत स्वेद सात्विक के उदाहरण लीजिए—

(अ) नैंक उतै उठि बैठिये कहा रहे गहि गेहु।
छुटी जाति नह-दी छिनक मेंहदी सूकन देहु॥

(आ) मोसौं मिलवति चातुरी तूँ नहिं मानति भेउ।
कहे देत यह प्रगट ही प्रकट्यौ पूस पसेउ॥

(इ) हितुकरि तुम पठयो लगैं वा बिजना की बाइ।
टली तपति तन की तऊ चली पसीना न्हाइ॥

रोमान्च के लिए अधिकतर कवियो ने मोलश्री की उपमा दी है। बिहारी ने भी इस परम्परा का पूर्ण रूप से पालन किया है।

दो-एक उदाहरण :—

मैं यह तोही मैं लखी भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद माला जु भौ तनु कदम्ब की माल॥

यहाँ पर नायिका को पुजारी के प्रति रति के कारण रोमांच सात्विक हो गया है।

इसी प्रकार:—

पहिरत हीं गोरैं गरैं यौं दौरी दुति, लाल।
मनौ परसि पुलकित भई बौलसिरी की माल॥

निम्नलिखित दोहे में केवल रोमाच सात्विक का वर्णन किया गया है:—

रहि मुंहु फेरि कि हेरि इत, हित समुहौ चितु नारि।
डीठि परस उठि पीठि के पुलके कहैं पुकारि॥

स्वर भग का भी एक उदाहरण बिहारी ने लिखा है :—

सुरति न ताल न तान की उट्यो न सुर ठहराइ।
ऐरी राग बिगारिगौ बैरी बोलु सुनाइ॥

कम्प सात्विक के नायिकागत होने का उदाहरण :—

कारे बरन डरावने कत आवत इहिं गेह।
कै वा लखी सखी लखैं लगै थरथरी देह॥

एक दूसरा उदाहरण :—

साहस करि कुंजनि गई लख्यौ न नन्द किसोर।
दीप शिखा सी थरहरी लगैं बयार झकोर॥

कम्प सात्विक के नायक गत होने का उदाहरण :—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कम्पि किसोरी दरसि कै खरैं लजाने लाल॥

बिहारी ने वैवर्ण्य का वर्णन प्रतिनायिकाओं के लिए किया है :—

तीज परब सौतिनु सजे भूषन बसन सरीर।
सबै मर गजे मुँह करीं इहीं मरगजैं चीर॥

इसी प्रकार सम्भावित वैवर्ण्य का वर्णन :—

फूली फाली फूलसी फिरति जु बिमल बिकास ।।
भोर तरैयाँ होहु तें चलत तोहि पिय पास ।

अश्रुओं का वर्णन बिहारी ने कई दोहों में किया है। यहाँ पर एक-दो उदाहरण दिए जाते है :—

नेहु न नैननुको कछू उपजी बड़ी बलाइ ।
नीर-भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाई ।।

यहाँ पर औत्सुक्य के साथ सन्ताप का विपरिणाम अश्रु है। निम्नलिखित दोहे में अश्रु सन्ताप मात्र से उद्भूत हुए है :—

स्यौं बिजुरी मनु मेंह आनि इहाँ विरहा धरे ।
आठौहु जाम अछेह दृग जु बरत बरसत रहत ।।

स्मृति से अश्रु :—

स्याम सुरति करि राधिका, रुकति तरनिजा तीरु ।
अंसुवनु करति तरौंसकौ खिनकु खरौंहौं नीर ।।

निम्नलिखित दोहे में अश्रुओ के मार्ग का सुन्दर वर्णन है :—

पलनु प्रगटि वरुनी नु बढि नहिं कपोल ठहरात ।
अंसुवा परि छतिया छिनकु छनछनाइ छिपि जात ।।

आसुओ के निरन्तर भरे रहने के लिए भी कितनी सुन्दर उपमा दी गई है —

हरि छवि जल जब तैं परे तब ते छिनु बिछुरैं न ।
भरत ढरत बूड़त तरत रहत घरी लौ नैंन ।।

प्रलय (मूर्छा) का भी एक-दो दोहों में वर्णन किया गया है :—

(अ) मरी डरी कि टरी बिथा कहा खरी चलि चाहि ।
रही कराहि कराहि अति अब मुँह आहि न आहि ।।

(आ) कहा लडैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहूँ मुकुट बनमाल ।।

प्रथम दोहे में नायिका की मूर्च्छा का वर्णन है और दूसरे में नायक की।

कही कही एक-एक दोहे में कई-कई सात्विको का समावेश हो गया है :—

इहिं बसन्त न खरी अरी गरम न सीतल बात ।
कहि क्यौं झलके देखियत पुलक पसीजे गात ।।

यहाँ पर रोमाच और स्वेद का वर्णन है।

गिरै कंपि कछु, कछु रहे कर पसीजि लपटाइ ।
लैयौ मुठी गुलाल भरि छुटत झुठी ह्वै जाइ ।।

यहाँ पर कम्प और स्वेद का वर्णन है।

ध्यान आपनि ढिग प्रानपति रहति मुदित दिन रात ।
पलकु कंपति पुलकति पलकु पलकु पसीजति जाति ।।

यहाँ पर कम्प रोमांच और स्वेद का एक साथ वर्णन किया गया है।

ये विभाव और अनुभाव भरत मुनि तथा धनंजय के अनुसार लोक स्वभाव प्रसिद्ध होते हैं और भावों की अभिव्यजना में कारण बनते हैं। अभिव्यंग्य भाव ही होते हैं। इन विभाव और अनुभावो को लोक-व्यवस्था के अनुसार भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया जाता है। बिहारी के अनुसार इनका यहाँ पर संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

भाव

रस सिद्धान्त में सर्वाधिक महत्त्व भावो का ही है। विभाव और अनुभाव साधक होते है और भाव साध्य। हमारी चित्त-वृत्तियाँ प्रारम्भ में निर्लेप होती हैं किन्तु जैसे जैसे जगत् के बाह्य सवेदनो का हमारे अन्त.करणों पर प्रभाव पड़ता जाता है उनमें विकार उत्पन्न होने लगता है। इसी विकार को भाव कहते हैं। जब अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ हमारे सामने आती हैं तब उनके सम्वेदनों से हमारे अन्त: करणो में तदनुकूल परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन का प्रभाव केवल अन्त:-करण तक ही सीमित नहीं रहता अपितु सारे शरीर पर इसका प्रभाव पडता है और तद्भावानुकूल प्रयत्न भी आविर्भूत हो जाते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी मनोविकार की अनुभूति में एक ओर परिस्थितियाँ कारण होती हैं दूसरी ओर उनके प्रभाव से शारीरिक प्रयत्न उत्पन्न हो जाते है और शरीर की स्थिति परिवर्तित हो जाती है। यह तो लोक की बात हुई। कवि हमारे मनोविकार को उत्तेजित कर आस्वादन के योग्य बनाने के लिए उसी प्रकार की परिस्थिति तथा प्रभाव की उद्भावना करता है जो लोक में उस प्रकार के मनोविकार को जागृत करने में कारण होते हैं। परिस्थितियों तथा तदन्तर्गत व्यक्तियों को विभाव की संज्ञा प्रदान की जाती है। मनोविकार-जन्य प्रभावों और प्रयत्नों को अनुभाव कहा जाता है और स्वय मनोविकार को भाव के नाम से पुकारा जाता है।

भरत मुनि ने भाव के नामकरण का कारण लिखते हुए लिखा है कि जिस प्रकार कोई द्रव्य किसी सुगन्ध इत्यादि से भावित किया जाता है अर्थात् बसाया जाता है और वह द्रव्य तत्सुगन्धिमय हो जाता है उसी प्रकार हमारे अनिर्लिप्त अन्त:करण भी मनोविकार विशेष के द्वारा भावित या वासित किए जाते है, इसी लिए इन्हे भाव कहते हैं। ये भाव अनेक प्रकार के होते हैं, कुछ तो ऐसे होते है जो अल्प काल के लिए हमारे अन्त:करणो को प्रभावित कर चलते बनते हैं, कुछ भाव स्थिरता को प्राप्त कर लेते है, कुछ भाव स्वतन्त्र होते हैं, कुछ कई मनोविकारो का सघात रूप होते हैं, कुछ मनोविकार पोषक होते है और कुछ पोष्य। साहित्य शास्त्र में इन सभी प्रकार के मनोविकारों को भाव शब्द से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार हम भावों या मनोविकारो को शुद्ध, मिश्र, मन्द, तीव्र, अस्थायी, स्थायी, आदि अनेक भागों में विभाजित कर सकते हैं। जो मनोविकार कई दूसरे मनाविकारो द्वारा पोषित होकर स्थायित्व धारण करने की क्षमता रखते हैं उन्हें मनोवृत्ति या स्थायी

भाव का संज्ञा प्रदान की जाती है और जो मनोविकार मनोवृत्ति के पोषक हो कर आते हैं तथा स्वतन्त्र (मिश्रण रहित) होते हैं उन्हें मनोविकार मात्र कहा जाता है तथा साहित्य के आचार्यों की भाषा में उन्हे व्यभिचारी भाव या संचारी भाव कहते हैं। नाट्य शास्त्र में व्यभिचारी शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में लिखा है—"वि० अभि० यह दो उपसर्ग हैं तथा "चर" यह गमनार्थक धातु है। "वि" का अर्थ है विविध प्रकार से, और "अभि" का अर्थ है अभिमुख। इस प्रकार व्यभिचारी शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ हुआ जो विविध रूप में अभिमुख होकर रसों को प्राप्त करावें। यह व्यभिचारी भाव किसी रस को उसी प्रकार प्राप्त कराते है जिस प्रकार सूर्य किसी दिन या नक्षत्र को प्राप्त कराता है।"

नाट्य-शास्त्र के अनुसार भावो की सख्या ४२ है जिनमें ३३ सचारी, ८ स्थायी और ८ सात्विक भाव माने जाते हैं। सात्विको के विषय में कहा जा चुका है कि ये अनुभाव अधिक है और भाव कम। वस्तुतः इनको भाव कहना ही अधिक समीचीन ज्ञात नही होता। शेष ४२ भावो को ज्यो का त्यो परवर्ती आचार्यों ने मान लिया। इस सख्या में मतभेद उत्पन्न ही नही हुआ। केवल रस-तरगिणी में छल को पृथक् सचारी मान कर सचारियों की संख्या ३४ करने की चेष्टा की गई जिसका केवल देव ने अपने "भाव विलास" में अनुसरण किया। आचार्य शुक्ल ने छल को "अवहित्थ" अथवा" भाव गोपन" के अन्दर दिखला कर उसका खण्डन किया है। वास्तव में देव ने ही अपनी परवर्ती रचना "शब्द रसायन" में केवल ३३ ही सचारी माने हैं इस प्रकार देव ने स्वय ही उस त्रुटि को सुधार लिया था। इस प्रकार सचारियों की सख्या केवल ३३ ही सर्वसम्मति से मानी जाती है। जब हम सचारियों की सख्या का निर्धारण करते है तब उसका अर्थ होता है केवल सचारी अर्थात् हम सचारी भाव उन्ही को कहते है जिनमें स्थायी भाव बनने की क्षमता नही होती। जिनमें स्थायी भाव बनने की क्षमता विद्यमान है वे भी संचारी हो सकते हैं। इस प्रकार संचारियो की ठीक संख्या ४२ है ३३ नहीं। इन्ही ४२ संचारियों में केवल ८ को (और बाद में ९ को) स्थायी भाव का पद प्राप्त हुआ। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि भावों की सख्या का पूर्ण निर्धारण नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार लौकिक सम्वेदन अनन्त है उसी प्रकार मनोविकार भी अनन्त ही हैं। भावों की संख्या परम्परानुरोध से ही चलती है और इस विषय में मुनि का मत ही अनुशासन की भाँति स्वीकृत किया जाता है।

मानव ध्वनि

जिस प्रकार कपूर, शक्कर मिर्च इत्यादि अनेक पदार्थों से बने हुए पेग में एक सामूहिक रस की निष्पति हो जाती है उसी प्रकार अनेक संचारियों से पुष्ट होकर स्थायी भाव रस रूपता को धारण करते हैं किन्तु जिस प्रकार कभी-कभी उक्त द्रव्यों मे बने हुए पेग में किसी एक वस्तु की प्रधानता हो जाती है और तब हमें अन्य द्रव्यों की अपेक्षा उसी एक वस्तु का आस्वादन होता है उसी प्रकार स्थायी

के साथ कई सचारियों के संयोग से निष्पन्न आस्वाद में कभी-कभी किसी एक संचारी की प्रधानता हो जाती है। तब आस्वादन का पर्यवसान उसी एक भाव में हो जाता है; हम उसे उस सचारी) भाव की ध्वनि कहने लगते है। बिहारी ने भी इस प्रकार की भावध्वनियों के कई एक दोहे लिखे हैं। यहा पर उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

(१) निर्वेद—यहा पर तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या अथवा ऐसे ही किसी अन्य कारण से आत्म-गर्हणा की भावना जागृत हो जाती है उसे निर्वेद कहते है।

उदाहरण :—

भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार ॥
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ गंवार ॥

यहा तत्त्वज्ञानसे निर्वेद हुआ है।

(२) ग्लानि—ग्लानि शब्द का सामान्य अर्थ है हर्ष-क्षय तथा उससे होने वाला बल-क्षय।

पंडितराज ने लिखा है कि आधि-व्याधि से बल हानि के कारण जो दुख होता है और उससे वैवर्ण्य, शिथिलागता, दिग्भ्रम इत्यादि अनुभव उत्पन्न हो जाते है उस दुःख को ग्लानि कहते हैं। साहित्यदर्पण में रति और आयास इत्यादि से उत्पन्न होने वाले दुःख को ग्लानि कहा गया है। दोनो आचार्यो के उदाहरण वियोगजन्य दुखपरक है। रति इत्यादि से उत्पन्न शिथिलागता को ग्लानि कहने पर उसका श्रम से भेद ही क्या रह जावेगा ? अतएव वियोग इत्यादि कारणो से चित्त में जो एक प्रकार का वेदनामय निर्वेद होता है और जिससे शिथिलांगता, कृशता इत्यादि अनुभाव उत्पन्न हो जाते हैं उसे ही ग्लानि कहना चाहिये। पडितराज ने लिखा है कि बहुत से आचार्य बल-क्षय को ग्लानि कहते हैं, किन्तु बलक्षय कोई मनोविकार नही है। अतएव बलक्षय के साथ कार्श्य इत्यादि को उत्पन्न करने वाले दुःख को ही ग्लानि संज्ञा प्राप्त होती है।

ग्लानि का उदाहरण :—

करके मीड़े कुसुम लौं गई विरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपनु सखिनुहू नीठि पिछानी जाइ ॥

यहा पर प्रिय-विरह विभाव है। कुम्हिलाना यहा पर अनुभाव है। इन से पुष्ट हो कर ग्लानि सचारी आस्वाद का विषय बन गया है। इसी प्रकार न पहिचाने जाने से अभिव्यक्त होने वाली कृशता और वैवर्ण्य इत्यादि भी अनुभाव हैं।

इसी प्रकार :—

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैंहूँ चसमा चखनु चाहै लहै न मीचु ॥

यहां पर भी विरह ही विभाव है।

(३) शंका—जहा पर किसी अपराध के कारण अनिष्ट की आशंका उत्पन्न हो जावे उसे शका व्यभिचारी कहते हैं। इस में बार-बार इधर उधर देखना, शीघ्रता-पूर्वक छिपने का प्रयत्न करना इत्यादि अनुभाव होते है।

उदाहरण .—

अरी खरी सटपट परी बिधु आधैं मग हेरि।
संग लगैं मधुपनु लई भागनु गली अँधेरि॥

यहा पर पूर्वार्ध में नायिका का अभिसरण अपराध है जिससे लोकापवाद की शंका उत्पन्न हो गई है। सटपटाना उसका अनुभाव है।

(४) असूया—ईर्ष्या को कहते है। यह दो कारणो से उत्पन्न होती है—परापराध से और परोत्कर्ष को देखकर। इस में दूसरे की निन्दा और दु ख, मालिन्य इत्यादि अनुभाव होते है।

परापराध से असूया का उदाहरण :—

सोवत सपनैं स्यामघनु मिलिहिलि हरत वियोगु।
तबहीं टरि कितहूँ गई नींदौ नींदनु जोगु॥

यहा पर निन्दा के अपराध से उसके प्रति असूया उत्पन्न हुई है और उसकी निन्दा अनुभाव है। परोत्कर्ष से असूया का उदाहरण :—

तीज परब सौतिनु सजे भूषण वसन सरीर।
सबै मरगजे मुँह करीं इहीं मरगजे चीर॥

यहा पर नायिका के सौभाग्य के कारण सौतो में असूया उत्पन्न हुई है जिसका अनुभाव मुख-मालिन्य है, यहा सौतों का मुख-मालिन्य ही आस्वाद का कारण है।

(५) मद—मदिरा के उपयोग से उत्पन्न होने वाला सम्मोह और आनन्द नामक मनोविकार मद कहलाता है। इसके अनेक अनुभाव विभिन्न प्रकृति के पुरुषो के भेद से बतलाये गये है। किन्तु बिहारी ने मध्यम प्रकृति के अनुसार हसना, उन्मत्तवत् देखना, झुकना इत्यादि चेष्टाओ का वर्णन किया है। सोने का वर्णन केवल अभिनय में ही चमत्कारोत्पादक हो सकता है और नीच प्रकृति के पुरुषो में सुलभ गाली देना, बकना इत्यादि बिहारी की सात्विक कला के प्रतिकूल है। अतएव मध्यम प्रकृति के पुरुषो में प्राप्त होने वाला हंसना, गाना, झुकना इत्यादि चेष्टाये ही बिहारी के काव्य में स्वीकृत की गई हैं। उदाहरण के लिये :—

हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति वचन ललकि ललकि लपटाति॥

इसी प्रकार :—

मानु तमासौ करि रही विवस वारुनी सेइ।
झुकति हँसति हँसि हँसि झुकति झुकि झुकि हँसि हँसि देइ॥

यहा पर मादक द्रव्य सेवन विभाव है। हँसना, देखना, बोलना इत्यादि अनु-

भाव है। यहां पर स्वभावोक्ति अलकार मद की व्यंजना करता है। अतएव मद को ही प्रधानता है।

(६) **श्रम**—किसी शारीरिक क्रिया की अधिकता से उत्पन्न होता है। इसके अनुभाव जंभाना, शरीर का टूटना, गति का अभाव, नेत्र का आधा खुला रह जाना, तीव्र श्वास लेना इत्यादि है।

इसके उदाहरण :—

लखि अँखियनु अधखुलिनु आँगु मोरि अँगिराइ।
अधिक उठि, लेटति, लटकि, आलस-भरी जम्हाइ॥

दूसरा उदाहरण :—

खलित बचन अधखुलित दृग, ललित स्वेद-कन-ज्योति।
अरुन बदन छबि मदन की खरी छबीली होति॥

यहा पर सुरत में सलग्नता विभाव है। वचन-स्खलन इत्यादि अनुभाव है।

तीसरा उदाहरण —

रँगी-सुरत-रँग पिय हियैं लगी जगी सब राति।
पैंड पैंड पर ठठुकि कै ऐंड भरी ऐंडाति॥

यहा पर सुरत में निरन्तर लगे रहना और रात भर जागना विभाव है। आधी खुली हुई आखो से देखना, अग मरोडना, जभाना, ठिठुकना इत्यादि अनुभाव है।

(७) **आलस्य**—गर्भ व्याधिश्रम इत्यादि से जो अत्यन्त तृप्ति हो जाती है जिस से काम में लगने से अरुचि हो जाती है उसे आलस्य कहते है।

उदाहरण —

दृग थरकौंहैं अधखुले देह थकौंहैं ढार।
सुरत सुखित सी देखियत दुखित गरभ कैं भार॥

यहा पर गर्भ का भार विभाव है, नेत्रो की चचलता, देह की थकावट इत्यादि अनुभाव है। इसके अनुभाव श्रम के जैसे ही होते है। यहा पर श्रम के अनुभावो की अधिक आवश्यकता है। किन्तु गर्भ के विभाव से श्रम का निराकरण हो जाता है। रसगंगाधरकार ने लिखा है कि श्रमजन्य आलस्य में श्रम की पोषकता अनिवार्य होती है।

(८) **दैन्य**—इस के विभाव है चित्त की अधिक उत्कण्ठा, मन का संताप, दुर्गति इत्यादि। इस से ओज की हीनता, मलिनता इत्यादि अनुभाव उत्पन्न होते है।

उदाहरण :—

हरि कीजति बिनती यहै तुम सौ बार हजार।
जिहिं तिहिं भाति डर्‌यौ रह्यौ पर्‌यौ रहौं दरबार॥

यहा पर आक्षेप-गम्य दैहिक, दैविक, भौतिक ताप विभाव हैं और दीन वचन अनुभाव हैं।

इसी प्रकार :—

बाल-बेलि सूखी सुखद इहिं रूखी रुख-घाम ।
फेरि डहडही कीजियै सुरस सींचि घनस्याम ।।

यहा पर नायक की रूखी रुख विभाव है और सूखना तथा मिलने की प्रार्थना करना अनुभाव है ।

(९) चिन्ता—इष्ट की अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाला और वैवर्ण्य, हतप्रभता इत्यादि को उत्पन्न करने वाला मनोविकार चिन्ता के नाम से पुकारा जाता है ।

जैसे :—

रहिहैं चंचल प्रान ए कहि कौन की अगोट ।
ललन चलन की चित धरी कलन पलन की ओट ।।

यहा पर प्रियतम के वियोग रूप अनिष्ट की प्राप्ति से कल न पडना, वैवर्ण्य इत्यादि अनुभाव हैं । इससे प्राणों की रक्षा की चिन्ता अनुभाव है ।

दूसरा उदाहरण :—

देखत बुरै कपूर ज्यौं उपै जाइ जिन लाल ।
छिन छिन जाति परी खरी छीन छबीली बाल ।।

यहाँ पर इष्ट (नायक) की अप्राप्ति विभाव है । प्रतिक्षण क्षीण होना अनुभाव है । इन से पुष्ट होकर नायिका की रक्षा रूप चिन्ता ध्वनित होती है ।

(१०) मोह—जहाँ पर किसी कारण वास्तविकता का अवधारण न किया जा सके उसे मोह कहते हैं । जैसे .—

रही पकरि पाटी सु रिस भरे भौंह, चितु, नैन ।
लखि सपनैं तिय मान-रत जगतहु लगत हियैं न ।।

यहाँ पर स्वप्न-दर्शन विभाव है । पाटी पकड़े रहना, नेत्र चढ़ाना, हृदय में लगाना इत्यादि अनुभाव हैं ।

(११) स्मृति—संस्कार-विशेष से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं । जैसे .—

जहाँ जहाँ ठाढौ लख्यौ स्यामु सुभग-सिरमौरु ।
बिनहूँ उन छिनु गहि रहतु दृगनु अजौं वह ठौरु ।।

यहाँ पर कृष्ण के साहचर्य के सस्कार से स्मृति उत्पन्न हुई है । इसमें विभाव है कृष्ण का वियोग । स्थानो की ओर दृष्टि लगाये रहना, शरीर की निश्चलता इत्यादि अनुभाव हैं । यद्यपि यहां पर रस-सामग्री भी विद्यमान है— कृष्ण आलम्बन हैं, स्मारक स्थान उद्दीपन है, दृष्टि लगाये रहना इत्यादि अनुभाव हैं, स्मृति सचारी भाव हैं । किन्तु फिर भी स्मृति इतनी अधिक प्रधान हो गई है कि स्मृति ध्वनि

कहना ही उचित प्रतीत होता है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहो में भी स्मृति है:—

(अ) चितवनि भोरे भाइ की, गोरैं मुँह मुसकानि।
लगति लटकि आली गरैं चित खटकति नित आनि॥

(आ) खिन खिन मैं खटकति सुहिय भरी भीर मैं जात।
कहि जु चली अनहीं चितै ओठनु हीं बिच बात॥

(१२) धृति—ऐसे मनोविकार को कहते है जिस में भय, शोक इत्यादि किसी लौकिक कारण से विचलित न होने का भाव पाया जाये। जैसे —

नैन लगे तिहिं लगनि जु, न छुटैं छुटैंहू प्रान।
काम न आवत एकहू तेरे सैंक सयान॥

यहा पर नेत्रो का लगना विभाव है और आक्षेप-गम्य आकृति की दृढता अनुभाव है।

(१३) व्रीडा—यह स्त्रियों में पुरुष-मुखावलोकन इत्यादि से उत्पन्न होती है और पुरुषों में प्रतिज्ञा-भग, पराभव इत्यादि से होती है। स्त्रियो में लज्जा स्वभाव-सिद्ध है तथापि कभी-कभी कारण-विशेष से भी इस की उत्पत्ति सम्भव है और पुरुषो का प्रतिज्ञा-भंग कारण स्त्रियों में भी सम्भव है। उदाहरण .—

सटपटाति सैं ससिमुखी मुख घूँघट पटु ढाँकि।
पावक-झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि॥

यहाँ पर नायक का अवलोकन विभाव है। सटपटाना, घूघट में मुंह छिपा कर तत्काल अन्दर को भाग जाना इत्यादि अनुभाव हैं।

इसी प्रकार प्रतिज्ञाभग से व्रीडा का उदाहरण :—

बिछुरैं जिए संकोच इहिं बोलत बनत न बैन।
दोऊ दौरि लगे हियैं किए लजौंहैं नैन॥

(१४) चपलता—मनोवृत्ति की अस्थिरता को कहते है। इस में राग, द्वष, ईर्ष्या, अमर्ष इत्यादि अनेक कारण हो सकते है। इसके अनुभाव शरीर की अस्थिरता, परुषभाषण इत्यादि हो सकते है।

उदाहरण :—

समरस-समर-सकोच-बस बिवस न ठिक ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति, फिरि दुरति दुरि दुरि उझकति जाइ॥

यहाँ पर राग और सकोच की समानता विभाव है जिससे उत्पन्न होने वाली शरीर की अस्थिरता अनुभाव है।

(१५) हर्ष—इष्ट-प्राप्ति इत्यादि से जो विशेष सुख मिलता है उसे हर्ष कहते हैं। इस में मुख की प्रसन्नता, गद्गदस्वर, रोमाच इत्यादि अनुभाव होते हैं।

जैसे :—

छला छबीले लाल कौ नवल नेह लहि नारि।
चूँबति, चाहति लाइ उर, पहिरति, धरति उतारि॥

यहाँ पर प्रियतम का छल्ला मिलना विभाव है, उसे चूमना, देखना, हृदय में लगाना इत्यादि अनुभाव उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार —

बिय सौतिनु देखत दई अपने हिय तें लाल।
फिरति सबनु में डहडही उही मरगजी माल।।

(१६) आवेग—नाट्य शास्त्र में आवेग ८ प्रकार का माना गया है। किन्तु भावध्वनि में दो ही प्रकार का अधिक उत्तम माना जा सकता है—(१) अप्रिय का अधिगम और (२) प्रिय का अधिगम। बिहारी में भी इन्ही दो आवेग ध्वनियों के उदाहरण मिलते हैं। रस-गंगाधरकार ने भी अनर्थातिशय से उत्पन्न होने वाले सम्भ्रम को ही आवेगसंज्ञा प्रदान की है। बिहारी ने शृंगार रस का ही विशेष विस्तार किया है। शृंगार रस के अनुकूल यही आवेग होता है। उदाहरण —

ह्याँ तैं ह्वाँ ह्वाँ तैं इहाँ नैकौ धरति न धीर।
निसिदिन ठाढ़ी सी रहति बाढ़ी गाढ़ी पीर।।

यहाँ पर वियोग की परिस्थिति विभाव है और एक स्थान पर स्थिर न रहना अनुभाव है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहो में भी आवेग ध्वनि है :—

इत तैं उत उत तै इतै छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकरी भई फिरि आवति फिरि जाति।।

यहाँ पर "जक न परति" कहने से चपलता का निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार :—

न जक धरत हरि हिय धरैं, नाजुक कमला बाल।
भजत, भार-भय-भीत ह्वै, धनु, चन्दनु, वनमाल।।

इष्ट-प्राप्तिजन्य आवेग का उदाहरण :—

उड़ति गुड़ी लखि ललन की अँगना अँगना माँहि।
बौरी लौं दौरी फिरति छुवति छबीली छाँह।।

(१७) जड़ता—इसके विभाव हैं—चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह, इष्ट और अनिष्ट का वर्णन तथा श्रवण इत्यादि। इस का सामान्य लक्षण है कार्य का ज्ञान न होना, मौन हो जाना। विस्मरण इत्यादि इस के अनुभाव है। उदाहरण :—

चकी चकी सी ह्वै रही बूझैं बोलति नीठि।
कहूँ दीठि लागी, लगी कै काहू की डीठि।।

यहाँ पर प्रिय दर्शन विभाव है। स्तम्भ, उत्तर न देना इत्यादि अनुभाव हैं। इसी प्रकार :—

पल न चलैं, जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
अबहीं तनु रितयौ कहौ मनु पठयौ किहिं पास।।

(१८) गर्व—इस के ऐश्वर्य, कुल, रूप, यौवन इत्यादि अनेक विभाव हो सकते हैं। इस के अनुभाव इठलाना, सीधे न चलना, उत्तर न देना इत्यादि अनेक है। उदाहरण : —

दुसह सौति सालैं, सु हिय गनति न नाह-बिबाह।
धरे रूप गुन कौ गरबु फिरै अछेह उछाह॥

यहाँ पर रूप और गुण विभाव हैं। उत्साह के साथ इधर-उधर घूमना अनुभाव है। इसी प्रकार—

सुघर-सौति-बस पिउ सुनत दुलहिंनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरब, सलज, सहास॥

यहां पर सुघरता विभाव है। प्रसन्नता, सखी की ओर देखना इत्यादि अनुभाव हैं—

(१९) **विषाद**—इष्ट की असिद्धि तथा राजा, गुरु इत्यादि के प्रति अपराध करने से जो अनुताप उत्पन्न होता है उसे विषाद कहते हैं। इसके अनुभाव उत्साह-नाश, खिन्नता, निश्श्वास, सहायान्वेषण इत्यादि हैं। उदाहरण—

नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली अनत, आए वनमाली न॥

यहाँ प्रातःकाल के लक्षण, इष्ट भगवान् कृष्ण की अप्राप्ति ये विभाव है और प्राक्षेपगम्य निश्श्वास, मुख-मालिन्य इत्यादि अनुभाव है।

दूसरा उदाहरण :—

फिरि फिरि बिलखि ह्वै लखति, फिरि फिरि लेति उसासु।
साईं! सिर-कच-सेत लौं बीत्यौ चुनति कपासु॥

यहाँ पर स त-स्थानो के अभाव की सम्भावना विभाव है। उच्छ्वास, व्याकुलतापूर्वक अवलोकन इत्यादि अनुभाव है। साहित्यदर्पणकार ने विषाद का विभाव उपाय का अभाव माना है। उक्त उदाहरणो में भी उपायहीनता विद्यमान है।

(२०) **औत्सुक्य**—प्रिय जन वियोग में कालक्षेप की असहिष्णुता औत्सुक्य कहलाती है। इस की उत्पत्ति इष्ट वियोग से होती है, उद्दीपन प्रिय के संस्मरण से होता है और खेद, त्वरा, स्वेद तथा दीर्घनिश्श्वास इत्यादि से इसका अनुभावन किया जाता है। बिहारी के कई एक दोहों में औत्सुक्य की अच्छी ध्वनि अधिगत होती है। दो-एक उदाहरण लीजिये :—

लई सौंह सी सुन्न की, तजि मुरली, धुनि आन।
किए रहति नित राति दिनु कानन लागे कान॥

यहाँ पर कृष्ण वियोग औत्सुक्य का उत्पादक है, वंशी श्रवण उद्दीपन है और बनकी ओर कान लगाये रहना अनुभाव है। इसी प्रकार—

(अ) जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैंड़ौ घर कौ भयौ पैंडौ कोस हजार॥

(आ) फिरि घर कौं नूतन पथिक चले चकित-चित भागि।
फूल्यौ देखि पलासु बन समुही समुझि दवागि॥

(इ) रहे बरोठे मैं मिलत पिउ प्राननु के ईसु।
आवत आवत की भई विधि की घरी घरी सु ॥

(२१) निद्रा—की उत्पत्ति दुर्बलता, क्षय, मद, आलस्य, चिन्ता इत्यादि अनेक कारणों से होती है। इस के अनुभाव वदन-गौरव. शरीर का टूटना, नेत्रों का चारो ओर घुमाना, जभाना, निश्श्वास, सम्मोहन इत्यादि होते है। इसके उदाहरण :—

लखि लखि अँखियनु अधखुलिनु आँगु मोरि अँगिराइ।
अधिक उठि लेटति लटकि आलस भरी जँभाइ ॥

यहा सुरत तथा रात्रि-जागरण विभाव हैं तथा अक्षि संकोच, अंग टूटना जमुहाई लेना इत्यादि अनुभाव है।

दूसरा उदाहरण :—

नीठि उठि नीठि बैठिहू प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नींद भरैं खरैं गरे लागि गिरि जात ॥

(२२) अपस्मार—वियोग, शोक, भय, जुगुप्सा इत्यादि की अत्यन्त अधिकता से जो व्याधि उत्पन्न होती है उसे अपस्मार कहते है। अपस्मार में शरीर अस्त-व्यस्त हो जाता है। भूमि पतन, झाग डालना इत्यादि इसके दूसरे लक्षण हैं। जब वियोग इत्यादि की तीव्रता के कारण शरीर की ऐसी दशा हो जाती है तब उसे अपस्मार कहते हैं। नायिका के दृष्टिपात से भगवान् कृष्ण की यही दशा हो गई है :—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहुँ मुकुट बनमाल ॥

निम्नलिखित दोहे में अपस्मार माना गया है :—

चिलक चिकनई, चटक सौं लफति सटकलौं आइ।
नारि सलौनी साँवरी नागिनि लौं डसि जाइ ॥

किन्तु अपस्मार एक व्याधि है जो किसी भावना को तीव्रता में आश्रय की दशा प्रकट करती है। यहाँ नायिका की स्वाभाविक चेष्टाये उद्दीपन मात्र हैं; सचारी भाव से उद्भूत अनुभाव हो सकने की क्षमता नही रखती।

(२३) सुप्त या स्वप्न—भरतमुनि ने 'सुप्त' नामक व्यभिचारी भाव माना था और बाद के आचार्यों ने भी उसी का अनुसरण किया। किन्तु विश्वनाथ महापात्र ने उसको स्वप्न कर लिया। यहा यह ध्यान रखना चाहिये कि इस विषय में शब्द भेद मात्र है। परिभाषा सभी आचार्यों की विश्वनाथ के स्वप्न से कुछ मिलती जुलती है। निद्रागत व्यक्ति के द्वारा विषय का अनुभव करना स्वप्न या सुप्त कहलाता है। इससे कोप आवेग सुख-दुःख इत्यादि अनुभाव उत्पन्न होते हैं। इसके उदाहरण रूप में कवि लोग प्राय. स्वप्न में बड़बड़ाने इत्यादि का वर्णन करते हैं। किन्तु इस अर्थ में बिहारी का कोई भी दोहा स्वतन्त्र रूप में स्वप्न का उदाहरण

नही कहा जा सकता। निम्नलिखित दोहे के पूर्वार्ध में स्वप्न का वर्णन है और उत्तरार्ध में निद्रा के प्रति असूया का —

सोवत सपनैं स्यामधनु हिलि मिलि हरत वियोगु।
तबहीं टरि कितहूँ गई नींदौ नींदनु जोगु॥

यहा पर प्रधानता असूया की है। वैसे इसे हम विरोध के उदाहरण में रख सकते हैं। सुप्त भी एक साधारण भाव हो सकता है। क्योकि सुप्तावस्था में हमारी वृत्तिया कुछ न कुछ क्रियाशील अवश्य रहती है। वियोगावस्था की निद्रा और प्रियतम के गले लग कर सोने की निद्रा में अन्तर होता है। धनजय ने सुप्त का यही रूप माना है।

केवल सुप्त का उदाहरण :—

सुख सौं बीती सब निसा, मनु सोए मिलि साथ।
मुकामेलि गहे सुछिनु हाथ न छोड़े हाथ॥

स्वप्न के अभिनय का बिहारी ने एक दोहे में अच्छा चित्रण किया है :—

सोवत लखि मनु मानु धरि, ढिग सोयौ प्यौ आइ।
रही सुपन की मिलनि मिलि तिय हिय सौं लपटाइ॥

(२४) विबोध—निद्रानाश के बाद स्वप्न के न रहने से जो चेतना उत्पन्न हो जाती है उसे विबोध कहते हैं।

जैसे :—

देखौं जागत बैसियै साँकर लगी कपाट।
कित ह्वै आवतु जातु भजि को जानै किहिं बाट॥

कुछ लोग अविद्या-ध्वंसजन्य विबोध का वर्णन करते है।

इसका उदाहरण :—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ॥

यहां पर तत्व ज्ञान से विबोध उत्पन्न हुआ है। वैराग्यपूर्ण उदासीनता का आक्षेप कर लिया जाता है जो कि अनुभाव है।

(२५) अमर्ष—परकृत अवज्ञा इत्यादि नाना अपराधो से जो मनोविकार उत्पन्न होता है, उससे कठोर वाणी बोलना, मौन हो जाना इत्यादि अनुभाव उत्पन्न होते हैं। जैसे :—

दुसहदुनु चरचा नहीं आनन आनन आन।
लगी फिरैं ढूका दिये कानन कानन कान॥

यहां पर नायिका के विषय में बहुत अधिक बातचीत करना और पीछे लगे रहना अपराध है जिससे अमर्ष उत्पन्न हुआ है। कठोर वचन अनुभाव है।

दूसरा उदाहरण :—

फिरि सुधि दै, सुधि द्याइ प्यौ, इहि निर्दयी निरास।
नई नई बहुर्‌यौ दई ! दई उसासि उसास ।।

यहां पर पपीहा का बोलना विभाव है और गहरी श्वास अनुभाव है। बिहारी ने पडितराज के उदाहरणो[1] से मिलता-जुलता भी एक दोहा लिखा है :—

लरिका लैबै कैं मिसनु लंगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैलु छुआइ ।।

किन्तु यहां पर अमर्ष की अभिव्यक्ति शिथिल है।

(२६) अवहित्था—व्रीडा इत्यादि कारणो से हर्ष इत्यादि अनुभावो के गोपन को अवहित्था कहते हैं। इसके अनुभाव है किसी और काम में लग जाना और बहाना कर देना, दूसरी ओर देखना इत्यादि।

इसके उदाहरण:—

लखन चलनु सुनि पलनु मैं अँसुआ झलके आइ।
भई लखाइ न सखिनुहूँ झूठैंहीं जमुहाइ ।।

यहा पर व्रीडा विभाव है और जमुहा कर आँसुओ का कारण छिपाना अनुभाव है।

इसी प्रकार :—

ऊँचैं चितै सराहियतु गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग मुलकित वदनु तनु पुलकित केहि हेतु ।।

यहां पर प्रियतम दर्शन जन्य हर्ष को कबूतर के देखने से हर्ष के रूप में छिपाया गया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।[2]

(२७) उग्रता—शौर्य, अपराध इत्यादि से उत्पन्न होने वाली प्रचण्डता को उग्रता कहते हैं। निम्नलिखित अन्योक्ति में उग्रता की ध्वनि है :—

गोधन तू हरस्यौ हियैं घरियक लेहि पुजाय।
समुझि परैगी सीस पर परत पसुनु के पाइ ।।

यहाँ पर अत्याचारी राजा के प्रति उग्रता व्यक्त की गई है।

(२८) मति—नाना शास्त्रो के चिन्तन इत्यादि से जो नीतिशास्त्र के अनुसरण इत्यादि की बुद्धि उत्पन्न होती है उसे मति कहते है। जैसे :—

कहै यहै श्रुति सुम्रत्यौ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं पातक, राजा, रोग ।।

दूसरा उदाहरण :—

मैं लखि नारी-ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह।
बहई रोग-निदानु वहै वैदु औषधि वहै ।।

१—वक्षोजाग्र पाणिनामृश्य दूरे यातस्य द्रागाननाब्ज प्रियस्य।
शोणाभ्यां भामिनी लोचनाभ्यां जोषं जोषमेवावतस्थे ।।

२—देखो—लक्षिता नायिका के उदाहरण।

प्रथम दोहे में नाना शास्त्रों के चिन्तन से दरिद्र के उत्पीडन का सिद्धात निकाला गया है और दूसरे दोहे में कामशास्त्र के चिन्तन के द्वारा नायिका के रोग और औषधि इत्यादि का निर्णय किया गया है।

(२९) व्याधि—रोग, विरह इत्यादि से उत्पन्न होने वाले मनस्ताप को व्याधि कहते हैं। यह दो प्रकार की मानी गई है—दाहमय और शैत्यमय। दाहमय के उदाहरण —

(अ) औंधाई सीसी सुलखि विरह-बरनि बिललात।
बीचहीं सूखि गुलाबु गौ छीटो छुई न गात॥

(आ) मैं लै दयौ लयौ सु कर छुवत छिनकि गौ नीरु।
लाल, तिहारौ अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीर॥

(इ) हितु करि तुम पठ्यौ, लगै वा बिजना की बाइ।
टली तपति तन की, तऊ चली पसीना न्हाइ॥

शैत्यमय व्याधि में कम्प का वर्णन किया जाता है[1]। इसका विवेचन कम्प सात्विक के प्रकरण में किया जा चुका है।

(३०) उन्माद—काम, शोक, भय इत्यादि के कारण उत्पन्न होने वाले चित्त के संमोह को उन्माद कहते है। इस में बिना अवसर के हसी, रोना, गाना, बकना इत्यादि अनुभाव होते हैं। उदाहरण :—

तजी संक सकुचति न चित बोलत बाकु कुबाकु।
दिनछिनदा छाकी रहति, छुटतु न छिनु छबि-छाकु॥

यहाँ पर कामनाजन्य उन्माद है जिस मे अंटसट बकना, मत्त रहना इत्यादि अनुभाव है।

(३१) मरण—यह भाव अमांगलिक है। अतएव धनजय ने इसकी परिभाषा ही नहीं दी। साहित्यदर्पणकार ने बाण इत्यादि से शरीर-पतन को मरण कहा है। इस पर पण्डितराज का कहना है कि जितने भी भाव होते हैं वे सब देह और प्राण के सयोग में ही होते है। शरीर-पतन और देह-त्याग कोई भाव नही हो सकता। मरण से पूर्व होने वाली चेतनाशून्यता या मूर्च्छा को मरण कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार ने भी विप्रलम्भ की मरण-दशा के प्रसग में लिखा है—"मरण से रस का विच्छेद हो जाता है। क्योकि आलम्बन के अभाव में रस निष्पत्ति हो ही नहीं सकती। अतएव जातप्राय या आकाँक्षित मरण का वर्णन करना चाहिए।" मरण व्यभिचारी की परिभाषा में दर्पणकार ने नाट्य शास्त्र का अनुसरण किया है। नाट्य शास्त्र का विवरण अभिनय के लिए उपयुक्त है। काव्य के क्षेत्र में उसका उपयोग नहीं हो सकता। अतएव काव्य की दृष्टि से पंडितराज की परिभाषा (मूर्छा को मरण कहना) ही उपयुक्त जंचती है। मूर्च्छा के दो पक्ष हो सकते हैं—एक

१. शैत्यभयत्वे उत्कम्पनादयः—(साहित्य दर्पण)

बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य दृष्टि से मूर्छा सात्विक भावों में आती है और आन्तरिक दृष्टि से मनोवृत्ति की सम्वेदनशून्यता मरण व्यभिचारी के अन्दर आवेगी। अतएव प्रलय सात्विक का उदाहरण निम्नलिखित दोहा मरण व्यभिचारी का भी उदाहरण हो सकता है :—

मरी डरी कि टरी बिथा, कहा खरी, चलि चाह।
रही कराहि कराहि अति अब मुँह आहि न आहि॥

मरण व्यभिचारी की ध्वनि का दूसरा उदाहरण बिहारी मे नही मिलता।

(३२) त्रास—किसी लोकातीत सुन्दर अथवा उद्वेगजनक वस्तु को देखकर अथवा ऐसे ही किसी दूसरे कारण से जो मन का सक्षोभ उत्पन्न होता है उसे त्रास कहते हैं। इससे उत्कम्पन, पलायन इत्यादि अनुभाव उत्पन्न होते हैं। उदाहरण:—

हेरि हिंडोरैं गगन तैं परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच हीं करी खरी रस लूटि॥

यहाँ पर प्रियतमाऽवलोकन विभाव है और हिडोरे से कूद पड़ना अनुभाव है। मिलाइये :—

आलीषु केलीरभसेन बाला रहो ममालापमुपालपन्ती।
आरादुपाकर्णयं गिरं मदीयां सौदामनीया सुषमामयासीत्॥

(पडितराज)

(३३) वितर्क—विचारपूर्वक किसी निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा करने को कहते हैं। इसमें भौंह, सिर, अगुलि, इत्यादि का हिलाना दिखलाया जाता है।

उदाहरण :—

नेहु न, नैननु, कौं कछू उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नित-प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ॥

यहाँ पर तर्क द्वारा व्याधि का निर्णय किया गया है। इसी प्रकार :—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियैं दई, नई, यह रीति॥

उपर्युक्त उदाहरणों में प्राय सर्वत्र (आलम्बन, उद्दीपन इत्यादि) विभाव, अनुभाव और सचारी भाव का योग दिखा कर अथवा आक्षेप कर स्थायी भाव की पुष्टि के द्वारा रस की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। किन्तु चर्वणा का पर्यवसान भाव ध्वनि में ही है। अतएव इन स्थानो पर रस ध्वनि न मान कर भाव ध्वनि मानना ही ठीक होगा। सचारी भावो की सख्या के विषय में भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ही प्रमाण है। उसको आधार मानकर यह सख्या साहित्य शास्त्र में एक मत से स्वीकार कर ली गई है। किन्तु नाट्य शास्त्र में इनका वर्णन सर्वथा नाट्योपयोगी है। प्रत्येक भाव के विभाव और अभिनय की प्रक्रियानाट्य के अनुसार दिखलाई गई है। किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इनकी परिभाषायें काव्य

के उपयुक्त बना ली हैं। इनमें कई एक में तो बहुत थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। जैसे श्रम, आलस्य, और निद्रा में बहुत थोडा भेद है। इसी प्रकार अपस्मार और व्याधि भी लगभग मिलते-जुलते ही हैं इनके वर्णन में मनोविकार के साथ बाह्य चेष्टाओं पर भी ध्यान रखा गया है।

उपर्युक्त ३३ सचारियो के अतिरिक्त रति भी जो कि शृंगार रस का स्थायी भाव है, दाम्पत्य-प्रेम से भिन्न क्षेत्रो में आकर भावध्वनि हो जाती है। उदाहरण के लिये .—

(अ) करौ कुबतु जगु, कुटिलता तजौं न, दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल॥

(आ) मैं तपाइ त्रयताप सौं राख्यौ हियौ हमामु।
मति कबहुँक आऐं यहाँ पुलकि पसीजै स्यामु॥

उक्त दोहों में भगवद्विषयक रति है। अतएव यह भावध्वनि के क्षेत्र में आ जाती है। इसी प्रकार राजविषयक तथा प्रकृतिविषयक रति इत्यादि के विषय में भी समझना चाहिये। इनका यथास्थान वर्णन किया जावेगा।

रस-ध्वनि

भारतीय साहित्य शास्त्र में रस सम्प्रदाय का सब से अधिक महत्त्व है। रसेतर काव्य को आत्मसात् करने के लिये जिन आचार्यों ने ध्वनि सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया अथवा मान्यता दी उनके मत में भी रसध्वनि ही काव्य की आत्मा मानी जाती है। रस सम्प्रदाय के आचार्य तो मुक्ति काव्य में भी किसी न किसी रूप में रस की सत्ता स्वीकार करते हैं। इन दोनों सम्प्रदायो से भिन्न दूसरे सम्प्रदाय भी रस की महत्ता स्वीकार अवश्य करते हैं किन्तु वे अलंकारो की अपेक्षा रस को गौण स्थान देने के पक्षपाती है।

रस के आचार्यों की सम्मति में जब स्थायिनी चित्तवृति का अनुकूल उपकरणों को प्राप्त कर इस रूप में परिपोष हो जाता है कि उसमें आस्वादन के प्रवर्तन की योग्यता उत्पन्न हो जाती है तब वही स्थायिनी चित्त वृत्ति रसमयता को प्राप्त हो जाती है। इस स्थायिनी चित्तवृत्ति के परिपोषक तीन तत्व है– (१) विभाव अथवा कारण, (२) अनुभाव अथवा कार्य और (३) व्यभिचारी अथवा सहकारी कारण। इन तीनो तत्वो के सयोग से पुष्ट हुई स्थायिनी चित्तवृत्ति का जब आस्वाद-रूपता में विपरिणाम हो जाता है तब उसे रस की सज्ञा प्राप्त हो जाती है। यह विपरिणाम ४ प्रकार का होता है—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप। विकास या आह्लादमयी प्रफुल्लता मुख्यतया रति की परिचायिका है और गौण रूप में हास की। यही कारण है कि भरत मुनि ने हास्य रस को शृंगार की प्रकृति माना है। विस्तार या ओजस्वितामय प्रसार उत्साह का द्योतक है और गौण रूप में आश्चर्य का। वीर रस का कार्य ही अद्भुत रस है। चित्तवृत्ति का आन्दोलित

होना जिसे क्षोभ कहते हैं, क्रोध का विपरिणाम है जिसके परिणाम में करुणा रहती है। इस प्रकार रौद्र और करुण दोनो रसो में चित्तवृत्ति विक्षुब्ध रहती है। चित्तवृत्ति का विक्षेप मुख्यतया घृणा से होता है और गौण रूप में भय से। भरत मुनि ने लिखा है कि बीभत्स का दर्शन ही भयानक होता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति तथा उसके विपरिणाम से रसो का सम्बन्ध इस प्रकार होगा :—

चित्तवृत्ति का स्वरूप	मुख्य या अमुख्य स्थायिनी चित्तवृत्ति	रस
१	२	३	४
१—विकास	मुख्य	रति	शृंगार
२—विकास	अमुख्य	हास	हास्य
३—विस्तार	मुख्य	उत्साह	वीर
४—विस्तार	अमुख्य	आश्चर्य	बीभत्स
५—क्षोभ	मुख्य	क्रोध	रौद्र
६ क्षोभ	अमुख्य	शोक	करुण
७—विक्षेप	मुख्य	घृणा	बीभत्स
८—विक्षेप	अमुख्य	भय	भयानक

नाट्य शास्त्र मे यही ८ रस माने जाते है। इनकी सख्या के अनुरोध मे परम्परा ही कारण है। कतिपय दूसरे मनोविकार भी स्थायित्व को प्राप्त हो सकते है और इनमें भी कुछ ऐसे है जिनका स्थायित्व परम्परागत होने के कारण ही स्वीकार्य होता है। रीतिकाल के रसशास्त्राचार्य अधिकतर शृगार निरूपण तक ही सीमित रहे हैं। बिहारी ने भी शृगार रस का ही विशेष विस्तार किया है और इसके प्राय सभी भेदोपभेदो के उदाहरण बिहारी सतसई में अधिगत हो जाते है। अन्य रसो में न तो इतना उक्ति-वैचित्र्य ही सम्भव है और न ये रस सर्वजन हृद्य ही हो सकते है। अतएव बिहारी ने अन्य आचार्यों की भाँति दूसरे रसो के एक-एक या दो-दो उदाहरण दे दिये है। यहाँ पर बिहारी की रस ध्वनि का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) **शृंगार रस**—भरतमुनि ने लिखा है—"लोक मे जो कुछ शुचि, मेध्य तथा दर्शनीय है उस सब का अनुमान शृगार से हो जाता है। शृगार हृद्य तथा उज्ज्वल-वेषात्मक होता है।" शृगार शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है मन्मथोद्भेद के आगमन में कारणभूत। यह शब्द दो शब्दो से मिलकर बना है शृग और आर। शृग शब्द का अर्थ है मन्मथोदभेद या कामोद्दीपन। 'आर' शब्द आङ् उपपद 'ऋ गतौ' धातु से सज्ञार्थक और घञ् प्रत्यय होकर बनता है। इसी प्रकार इस रस के अनुसार परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुष दोनो में कामोद्दीपन की प्राप्ति शृगार शब्द के द्वारा अभिहित की जाती है। आचार्यो ने रसो के वर्णो तथा देवताओ का भी

वर्णन किया है। किन्तु उनकी आवश्यकता केवल नाट्य के रंग-पूजन में ही होती है। मुक्तक काव्य के विवेचन में उनका कोई उपयोग नही।

रस-ध्वनि में औचित्य का बहुत बड़ा महत्त्व है। यदि रस औचित्य से प्रच्युत होगा तो उसे रस ध्वनि की सज्ञा प्राप्त नही हो सकेगी और वह रसाभास कहा जावेगा। अतएव शृंगार रस का आलम्बन स्वकीया नायिकाये तथा कन्या होगी यदि अनुरागिणी वेश्या हो तो वह भी आलम्बन हो सकती है। किन्तु वह प्रौढा नही होनी चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण इत्यादि नायक भी रति के आलम्बन होते है। औचित्य के लिए रति का उभयनिष्ठ होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि रति उभयनिष्ठ नही होती है तो वह भी रसाभास ही कही जाती है। नायिकाओं के सात्त्विक, यत्नज और अयत्नज अलकार, दूसरे प्रकार की चेष्टाये, प्राकृतिक सौन्दर्य, सुख तथा विलास की सामग्री इत्यादि उद्दीपन होते है। भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष, हसित इत्यादि चेष्टाएँ और सात्विक भाव अनुभाव होते है। शृंगार रस में प्रायः सभी सचारी भाव होते है। विश्वनाथ ने लिखा है कि उग्रत्व, मरण, आलस्य और जुगुप्सा ये व्यभिचारी भाव शृंगार रस में नही होते। किन्तु विभिन्न आचार्यो के सचारी भाव विषयक उदाहरणो के परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये व्यभिचारी भाव भी शृंगार रस मे सम्भव है। मरण तो काम दशाओं में गिनाया ही गया है। सभोग-श्रमजन्य आलस्य हो ही सकता है। यह केवल उपनिबन्धन की कुशलता होती है कि प्राय सभी सचारी भाव शृंगार रस में दिखलाये जा सकते हैं। इन से पुष्ट होकर रति स्थायी भाव आस्वादनरूपता को धारण कर शृंगार रस की सज्ञा प्राप्त करता है।

इस शृंगार रस के दो पक्ष होते है, सुख और दुख। जहाँ पर विलासी दम्पति दर्शन, स्पर्श इत्यादि सुख का अनुभव करते हैं, वहाँ पर सम्भोग शृंगार कहलाता है। इसके चुम्बन-परिरम्भण इत्यादि असख्य भेद हो सकते है। इसमें वन-विहार, जल, केलि, नृत्य, गीत, अनुलेपन, आभूषण, नेपथ्य-रचना, उपभोग, श्रवण, दर्शन, क्रीडा-लीला इत्यादि सैकडो प्रकार के वर्णन किये जा सकते हैं। यहाँ पर केवल दो एक उदाहरण दिए जा रहे है जो कि काव्यप्रकाश में दिए हुए उदाहरणों के अनुवाद मात्र कहे जा सकते है :—

मैं मिसही सोयौ समुझि मुहु चूम्यौ ढिग आइ।
हंस्यो खिसानी गल गह्यौ रही गरै लपटाइ॥

यहाँ पर नायक और नायिका एक दूसरे के लिए आलम्बन है। आक्षेपगम्य एकान्त स्थान इत्यादि उद्दीपन हैं। मुख चूमना, गले लिपटाना इत्यादि अनुभाव है। औत्सुक्य, हर्ष, लज्जा इत्यादि सचारी भाव हैं। इससे पुष्ट होकर रति आस्वादरूपता को प्रकट करती है। सस्कृत के काव्य शास्त्रो में अमरुक का निम्नलिखित पद्य सभोग शृंगार के उदाहरण के रूप में प्रायः उद्धृत किया जाता है :—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चित् क्षणात् ।
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम् ।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ।।

इस पद्य का बिहारी ने आश्चर्यजनक रूप में दोहे की केवल दो पंक्तियों में सफल अनुवाद किया है। इसी आशय का एक दूसरा दोहा बिहारी ने लिखा है :—

मुखु उघारि पिउ लखि रहत रह्यौ न गौ मिस सैन ।
फड़के ओठ, उठे पुलक, गये उघरि जुटि नैन ।।

एक और दूसरा उदाहरण :—

यति रति की वतियाँ कहीं सखी लखी मुस्काइ ।
कै कै सबै टला टली अली चलीं सुखु पाइ ।।

यहाँ पर भी नायक और नायिका एक दूसरे के लिए आलम्बन है। नायिका का शृंगार और सौन्दर्य इत्यादि उद्दीपन है। मुस्कराहट, सखी की ओर देखना अनुभाव हैं। औत्सुक्य, हर्ष और लज्जा सचारी भाव है और इनसे पुष्ट होकर रति स्थायी भाव शृंगार रस के रूप में आस्वाद प्रवर्तक बन गया है।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सयोग और वियोग ये आन्तरिक भावनाये है। यह आवश्यक नही है कि संयोग में दम्पति एक साथ ही हो और वियोग में दोनो दूरदेशस्थ ही हो। एक ही चारपाई पर वियोग हो सकता है और दूर स्थित होने पर भी सयोग सुख प्राप्त हो सकता है। यह आन्तरिक भावना पर अधिक निर्भर है, बाह्य परिस्थिति पर कम। जैसे :—

दूरौ खरै समीप कौ लेत मानि मन मोदु ।
होत दुहुन के दृगनु हीं बतरस हसी विनोदु ।।

यहाँ पर दूरस्थता में भी सयोग सुख का अनुभव किया जा रहा है।

इसके प्रतिकूल :—

रही पकरि पाटी सु रिस भरे भौंह, चित, नैन ।
लखि सपनैं तिय-आन-रत, जगतहु लगत हियै न ।।

यहाँ पर एक ही चारपाई पर वियोग का अनुभव हो रहा है।

विप्रलम्भ शृंगार में वियोगजन्य दुःख का वर्णन किया जाता है। वस्तुत अनुराग की तीव्रता का माप दण्ड वियोग ही है। यही कारण है कि सयोग की अपेक्षा वियोग अधिक मधुर तथा महत्वपूर्ण माना जाता है। भरतमुनि ने वियोग शृंगार के उपभेद नही किये थे और बहुत बाद तक वियोग शृंगार भी सयोग शृंगार की भाँति एक ही प्रकार का माना जाता रहा। पडितराज के अनुसार वियोग शृंगार के उपभेदों में परस्पर विशेष विच्छित्ति-वैचित्र्य नही होता। मनोदशा प्रायः प्रत्येक प्रकार के वियोग में एक जैसी ही रहती है। इसीलिए उन्होंने वियोग शृंगार के उपभेद नहीं किये :—

(इमं च पंचविधं प्रांचः प्रवासादिभिरुपाधिभिरामनन्ति। ते च प्रवासाभिलाषविरहेर्ष्याशापानां विशेषानुपलम्भात् नास्माभिः प्रपंचिता)। विप्रलम्भ की उपाधियों का सर्वप्रथम उल्लेख भोजराज ने शृंगारप्रकाश में किया और तब से लेकर विप्रलम्भ के उपभेद करने की परम्परा सी चल पड़ी। विप्रलम्भ के उपभेदों में अधिक अन्तर भले ही न हो किन्तु मनोदशा में कुछ अन्तर अवश्य पाया जाता है। उदाहरण के लिए प्रवासजन्य विप्रलम्भ में संताप की तीव्रता होगी तो ईर्ष्याजन्य विप्रलम्भ में खेद की जैसी मनोवृत्ति हो जावेगी और उसमे रोष का भी कुछ न कुछ संचार अवश्य होगा। इसी प्रकार प्रथम सम्मिलन के पहले के विप्रलम्भ में सम्मिलन के बाद के विप्रलम्भ की अपेक्षा कुछ न कुछ विशेषता अवश्य होगी। इसीलिए धनंजय ने शृंगार के तीन भेद किये हैं और अयोग को विप्रयोग से पृथक् रखा है। विप्रलम्भ के उपभेदों के विषय में दो मत है। एक मत में विप्रलम्भ ५ प्रकार का माना जाता है —अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और शाप। दूसरे मत में इसके ४ उपभेद है पूर्व राग, मान, प्रवास और करुण। वस्तुतः अभिलाष और पूर्व राग दोनो एक ही होते हैं और ये दोनो धनंजय के अयोग के ही पर्यायवाचक हैं। करुण तथा शाप भी लगभग एक जैसे ही हैं। किन्तु ये दोनों भेद विप्रलम्भ के कारण मात्र हैं और इनसे मनोवृत्ति पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता। अतएव इनको प्रवास की कक्षा में सन्निविष्ट हो नही किया जा सकता। मान और प्रवास दोनो में विद्यमान हैं। साहित्यदर्पणकार ने विरह नाम का पृथक् भेद नहीं माना है। किन्तु जब तक प्रियतम के परस्त्री-संसर्ग का पता न चल जावे तब तक हम इसे ईर्ष्या मान में सन्निविष्ट नही कर सकते और प्रवास तथा प्रणय मान में यह रखा ही नही जा सकता। अतएव विरह को पृथक् भेद के रूप में स्वीकार करना ही उचित है। इस प्रकार विप्रलम्भ के ४ भेद हो जाते है—पूर्वराग, मान, विरह और प्रवास। मान दो प्रकार का होता है। प्रणय मान और ईर्ष्या मान। शास्त्रकारों ने इनकी उत्पत्ति के प्रकार तथा विभिन्न दशाओ का परिचय दिया है। यहां पर विहारी से दिङ्मात्र एक दो उदाहरण दिए जा रहे है।

(१) पूर्वराग —जहाँ पर सखी इत्यादि के मुख से किसी के गुण श्रवण करके अथवा लोकोत्तर सौन्दर्य को स्वयं देखकर परस्पर अनुराग जागृत हो जाता है किन्तु विशेष प्रतिबन्धो के कारण सम्मिलन नही हो पाता उसे पूर्वराग कहते हैं। उदाहरण :—

हरि छवि जल जब तैं परैं तब तैं छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत बूड़त तरत रहत घरी लौं नैन॥

यहा पर दृक्सगजन्य पूर्वराग है। नायक (हरि) आलम्बन हैं, सौन्दर्य उद्दीपन है, रोते रहना इत्यादि अनुभाव हैं और स्मृति, दैन्य, चिन्ता, औत्सुक्य और आवेग संचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर रति स्थायी आस्वादन में कारण हुआ है। यह

दृक्सङ्गजन्य पूर्वराग है। श्रवणजन्य पूर्वराग निम्नलिखित दोहे से अभिव्यक्त होता है :—

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुण्डल कान।
धर्‌यौं मनौ हियधर समर ड्योढी लसत निशान ।।

यहाँ पर उत्प्रेक्षा द्वारा अभिव्यक्त होता है कि कृष्ण के हृदय पर कामदेव ने पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया है। और इस कामदेव ने श्रवण-मार्ग से कृष्ण के हृदय में प्रवेश किया है पहले दोहे में नायिका गत पूर्वराग है और प्रस्तुत दोहे में नायकगत पूर्वराग है। साहित्यदर्पण में श्रवण के तीन भेद किए गए हैं —(१) दूत के मुख से श्रवण, (२) बन्दी के मुख से श्रवण और सखी के मुख से श्रवण। इसी प्रकार दर्शन के भी ४ भेद किये गये हैं—(१) इन्द्रजाल में दर्शन, (२) स्वप्न में दर्शन, (३) साक्षात् दर्शन, (४) चित्र में दर्शन। वस्तुतः यह भेदोपभेद कल्पना सङ्गत नही है। श्रवण चाहे सखी के मुख से हो, चाहे दूत के मुख से और चाहे बन्दी के मुख से— इनसे किसी विछित्ति-वैचित्र्य की पुष्टि नही होती। बिहारी में संभवतः इसीलिए इस भेदोपभेद कल्पना के पृथक्-पृथक् उदाहरण नही पाये जाते।

(२) मान—प्रणय सदा कुटिलगामी होता है। अतएव जहाँ एक दूसरे के रूठने की प्रवृत्ति होती है वहाँ प्रणय मान कहा जाता है। जहाँ प्रियतम के अपराध के कारण रोष होता है उसे ईर्ष्या मान कहते है। प्रथम मान का उदाहरण —

दोऊ चाह भरे कछू चाहत कह्यौ कहैं न।
नहिं जाचकु सुनि सूम लौं बाहर निकसत बैन ।।

ईर्ष्या मान का उदाहरण .

वाही दिन ते ना मिट्यो मानु कलह को मूलु।
भलौं पधारे पाहुने ह्वै गुडहर कौ फूलु ।।

ईर्ष्या मान का विशेष विवेचन स्वकीया के मध्या इत्यादि के भेदोपभेदो के प्रकरण में किया जा चुका है। वही देखना चाहिए।

(३) विरह —खण्डिता अथवा विप्रलब्धा नायिका की उत्कण्ठा तथा सताप का वर्णन विरह विप्रलम्भ कहलाता है। उदाहरण :—

नभ-लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत आये बनमाली न ।।

(४) प्रवास—जब किसी कार्य से प्रियतम विदेश को चला जाये तब उस समय की सतापमयी मनोवृत्ति प्रवास विप्रलम्भ कहलाती है। प्रवास विप्रलम्भ में तीन प्रकार की मनोवृत्ति लक्षित होती है— (१) जिस समय नायक विदेश जाने के लिए उद्यत हो रहा हो, (२) जब विदेश में रहे और (३) जब लौट कर घर आ

जावे। प्रथम अवस्था में उद्वेग की प्रधानता होती है, द्वितीय अवस्था ...प की और तृतीय अवस्था में औत्सुक्य की। बिहारी में तीनों अवस्थाओं का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। एक-एक उदाहरण दिया जा रहा है.—

(अ) प्रस्थान काल की मनोवृत्ति का चित्रण। जैसे:—

रहिहैं चंचल प्रान ए कहि, कौन की अगोट।
ललन चलन की चित धरी कल न पलनु की ओट॥

(आ) प्रोषित अवस्था का वर्णन। जैसे :—

जिहिं निदाघ दुपहर रहै भई माघ की राति।
तिहिं उसीर की रावटी खरी आवटी जाति।

(इ) आगमन काल का वर्णन :—

रहे बरोठे मैं मिलत हरि प्राननु के ईसु।
आवत आवत की भई बिधि की घरी घरीसु॥

इस प्रकार बिहारी में केवल ४ प्रकार के विप्रलम्भ शृंगार के उदाहरण प्राप्त होते है। करुण अथवा शाप का कोई उदाहरण बिहारी में नही है। एक तो ये प्रबन्धोपयोगी हैं दूसरे ये विप्रलम्भ के कारण मात्र हैं। इनसे मनोदशा में अन्तर नहीं पड़ता। इसी लिए बिहारी ने इनके उदाहरण नही दिए है। इनके अतिरिक्त काम दशाये भी होती हैं और उनके उदाहरण भी बिहारी मे मिल जाते हैं।

काव्य शास्त्र में वियोगजन्य काम दशाओ का विवेचन किया गया है। साहित्यदर्पण में पूर्वराग की १० तथा प्रवास की १० कामदशाओ का उल्लेख किया गया है। पूर्वराग की दशाये ये है—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, सम्प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मृति। प्रवास की दशाये ये है अगो का असौष्ठव, ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधृति, तन्मयता, उन्माद, मूर्छा और मृति। इनमें मृति दोनो अवस्थाओं में समान है। पूर्वराग की व्याधि में ही—अगो का असौष्ठव, ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, उन्माद और मूर्छा का अन्तर्भाव हो जाता है। अधृति, और तन्मयता ये दशाये प्रवासावस्था में अधिक बतलाई गई है। ये दोनों पूर्वराग में भी सम्भव है। इसीलिए मल्लिनाथ ने कुमारसभव की टीका में पार्वती जी के पूर्वराग में १२ दशाओ की व्याख्या की है। बिहारी में न्यूनाधिक रूप में उक्त सभी दशायें प्राप्त हो जाती है। चिन्ता, स्मृति, उद्वेग (आवेग), उन्माद, जड़ता और मरण इनका वर्णन सञ्चारियों के प्रकरण में किया जा चुका है। व्याधि की ताप-दशा का भी वर्णन हो चुका है। शेष दशाओ का सक्षेप में परिचय दिया जा रहा है:—

(१) **अभिलाष** सम्मिलन की इच्छा को कहते है। मल्लिनाथ ने दृवसग, मनःसग और सकल्प का कामदशाओ में उल्लेख किया है। इनका समावेश अभिलाष के अन्दर हो जाता है। बिहारी ने नेत्र सम्मिलन का बहुत ही सुन्दर वर्णन

किया है। कही कोई नायिका अपनी छत पर खड़ी होकर दूसरी ओर खड़े हुए नायक के ऊपर कटाक्ष पात कर रही है, कही कोई दम्पति भरे घर में ही आंखों ही आखों सारी बाते कर रहे है। कही दृष्टि को रस्सी बतलाया गया है और उस पर दौड़ने वाले दोनो के चित्त को नट की उपमा से विभूषित किया गया है तथा कही उन्हें बाजी खेलने वालो से उपमा दी गई है। इस दिशा में एक से एक उच्च कोटि की कल्पना दर्शनीय है किन्तु ये वर्णन सुखात्म-मनोवृत्ति के परिचायक हैं, अतः दृक्सग के उदाहरण में वे ही दोहे उद्धृत किए जा सकते हैं जिनमें नेत्रो के सम्मिलन से वियोग व्यथा के जागरूक होने का वर्णन किया गया है जैसे :—

कहत सबै कवि कमल से, मो मत नैन पखानु ॥
न तरुक कत इन बिय लगत उपजत बिरह-कृसानु ॥

इसी प्रकार.—

को जानै, ह्वै है कहा, ब्रज उपजी अति आगि।
मन लागै नैननु लगैं चलै न मग लगि लागि ॥

मन.सग का वर्णन निम्नलिलित दोहे में पाया जाता है :—

क्यौं,बसियै क्यौं निबहियै, नीति नेह-पुर नौंहि।
लगा लगी लोइन करैं नाहक मनु बँधि जाइ ॥

सकल्प का समावेश भी अभिलाष में ही होता है। निम्नलिखित दोहे की नायिका ने दृढ निश्चय कर लिया है कि वह भगवान् कृष्ण से मिलकर रहेगी। कोई भी उसका प्रेम छुडा नही सकता। उसका मन भगवान् के रूप से पानी में नमक के समान मिल गया है :—

कीनैंहूँ कोटिक जतन अब कहि काढै कौनु।
भो मनु मोहन-रूपु मिलि पानी में कौ लौनु ॥

इसी प्रकार :

नैन लगे तिहिं लगनि जु, न छुटैं छुटैं हूँ प्रान।
काम न आवत एकहूँ तेरे सैक सयान ॥

शुद्ध अभिलाप का उदाहरण :—

मोहूँ सौं तजि मोहु, दृग चले लागि उहिं गैल।
छिनकु छाइ छबि-गुर-डरी छले छबीलैं छैल ॥

२. गुण कथन बिहारी ने वियोग की दशा में आलम्बन के शरीर-सौन्दर्य की ओर प्रायः संकेत किया है। एक उदाहरण:—

फिरि फिरि चितु उतहीं रहतु, टुटी लाज की लाव।
अंग अंग छबि झौंर मैं भयौ भौंर की नाव ॥

सामान्य गुणो की ओर न रीतिकाल के कवियों का ध्यान था और न बिहारी ने उसका कही कथन ही किया है। निम्नलिखित दोहे में सामान्य गुणों की ओर संकेत किया गया है :—

(३) धैर्य के अभाव का आशय है कहीं स्थिर न होना। इसके बिहारी मे कई दोहे हैं।

एक उदाहरण—

नई लगनि कुल की सकुच विकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति फिरकी लौं दिन जाइ॥

(४) तन्मयता का उदाहरण :—

कबकी ध्यान-लगी लखौं, यह घरु लगिहै काहि।
डरियतु भृंगी कीट लौं मति वहई ह्वै जाइ॥

एक नायिका तो ध्यान करते-करते प्रियतम के रूप में परिणत भी हो गई है। अब वह स्वय अपनी आकृति में प्रियतम की आकृति देख-देख कर रीझरही है :—

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही ह्वै नारि।
आपु आपुहीं आरसी लखि रीझति रिझवारि॥

(५) वियोग दशा में प्रसाधनों का अभाव और उससे उत्पन्न होने वाला अंगो का असौष्ठव प्रेमाधिक्य का भी अभिव्यंजक होता है किन्तु बिहारी की सात्विक कला असौष्ठव का वर्णन करना नही जानती। बिहारी ने आगमिष्यत्पति के प्रसग में ही असौष्ठव की ओर इङ्गित किया है जबकि नायिका अपने असौष्ठव को छोडकर प्रसाधन में लग जाती है। जैसे—

मलिन देह, वेई बसन, मलिन बिरह कैं रूप।
पिय-आगम औरै चढ़ी आनन ओप अनूप॥

(६) व्याधि दशा का व्याधि सचारी के प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है। व्याधि अनेक प्रकार की हो सकती है। संताप का उदाहरण पहले दिया जा चुका है। व्याधि की कतिपय अन्य दशाये देखिए :

(क) कृशता :—

(i) देखत बुरै कपूर ज्यौं उपै जाइ जिन, लाल।
छिन छिन जाति परी खरी छीन छबीली बाल॥

(ii) नैंक न जानि परति, यौं पर्‌यौ बिरह तनु छामु।
उठति हियैं लौं नाँदि, हरि, लियैं तिहारौ नामु॥

(iii) कर कै मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा समीपिनि सखिनुहूँ नीठि पिछानी जाइ॥

(ख) उन्माद :—

(i) बहके, सब जियकी कहत, ठौरु कुठौरु लखैं न।
छिन औरै, छिन और से, ए छबि छाके नैन॥

(ग) जागर:—

लाल तुम्हारे रूप की कहौ रीति यह कौन।
जासौं लागत पलक दृग लागत पलक पलौ न॥

इसी प्रकार व्याधि के दूसरे रूपो के विषय में भी समझना चाहिए। इस प्रकार बिहारी ने वियोग की प्राय: सभी दशाओ का वर्णन किया है।

दूसरे रस

हिन्दी के रसशास्त्रीय ग्रन्थो में शृंगार रस का ही विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। रसशास्त्र की पूर्णता के निमित्त अन्य रसों के चलते हुए उदाहरण दे दिए गए हैं। इसी परम्परा को बिहारी ने भी निवाहा है। बिहारी की सतसई में शृंगारातिरिक्त रसो के एक-एक या दो-दो उदाहरण दे दिए जा रहे हैं।

शृंगार से भिन्न जिस दूसरे रस में चित्त का विकास पाया जाता है वह है हास्य। हास्य में चित्त का विकास शृंगार के समान केवल आन्तरिक ही नही होता अपितु इस में चित्त का विकास वाणी और अग इत्यादि के विकार के रूप में अधिक प्रस्फुटित हुआ करता है। इसमें विशेषता यह है कि अन्य रसो के समान हास्य तथा अद्‌भुत में सर्वत्र आश्रय के उपनिबन्धन का अनिवार्य नियम नही हैं। संस्कृत तथा प्राचीन हिन्दी साहित्य में हास्य रस का प्राय: अभाव है। नाट्य शास्त्र में हास्य के जो आलम्बन गिनाये गये है वे अधिकतर नाट्योपयोगी ही है और उन्ही का अनुकरण कर आचार्यों ने सामान्य रूप में उनको हास्य का आलम्बन मान लिया है। किन्तु मुक्तक काव्य के क्षेत्र में ज्योतिषी, वैद्य, पण्डित इत्यादि दो ही चार आलम्बन प्रतिष्ठित हो सके।

बिहारी ने प्रचलित परम्परा के अनुसार हास्य रस के आलम्बन के रूप में या तो किसी ज्योतिषी को चुना है या वैद्य को। इनके हास्य रस में शृंगार भावना का योग अनिवार्य रूप से पाया जाता है। एक ज्योतिषी का पुत्रजन्म के-अवसर पर विषाद और हर्ष भी कितना मनोरंजक है। ज्योतिषी जी नवजात पुत्र का जन्म-पत्र देख रहे है। उसमें पितृमारक योग देखकर ज्योतिषी जी को बड़ा दु.ख होता है कि पुत्र मुझे ही मारने आया है। किन्तु जब ज्योतिषी जी एक दूसरा योग देखते हैं जिसके अनुसार वह पुत्र उनसे पैदा ही नहीं है तब उनका दु:ख हर्ष में बदल जाता है:—

चितु पितुमारक-जोगु गनि भयौ भयँ सुत, सोगु।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी समुझैं जारज जोगु॥

इसी प्रकार इन वैद्य जी की ओर भी देखिए जो स्वय तो नपुंसक होने के कारण अपनी पत्नी को संतुष्ट नही कर पाते, किन्तु नपुंसकता को दूर करने का पारा दूसरो को बड़ी प्रशंसा के साथ देते हैं:—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद-बधू हँसि भेद सौं, रही नाह-मुँह चाहि॥

एक और नपुंसक की मर्यादा की रक्षा किस प्रकार होती है यह भी देखिए:—

गुरुजन दूजैं ब्याह कौ, नित उठि रहत रिसाइ।
पति की पति राखति वधू आपुन बाँझ कहाइ।

एक पुराण-वाचक पण्डित जी स्वयं तो परस्त्री गमन करते हैं और दूसरो को परस्त्री गमन के दोष समझाते हैं। उनकी भी दशा देखिए :

परतिय-दोषु पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि।
कसु करि रोकी मिश्रहूँ मुहुँ आइ मुसुकानि॥

बिहारी का हास्य शिष्ट है और स्मित के अन्तर्गत आता है।

(२) जिस मनोविकार से चित्तवृत्ति का विस्तार हो जावे उसे उत्साह कहते है। यदि स्थायिनी चित्तवृत्ति पराक्रमादि के कारण उत्साहमयी हो और आलम्बनादि के सयोग से उसमें आस्वादन की क्षमता उत्पन्न हो जावे तो उसे वीर रस कहते है। यह वीर रस अनेक प्रकार का हो सकता है। किन्तु परम्परा-नुरोध से केवल चार ही प्रकार का माना जाता है—दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर। यद्यपि दान और दया का धर्म वीर में अन्तर्भाव हो सकता है और धर्म के दूसरे भी अनेक भेद सभव हैं तथापि मुनि-वचनानुरोध से आचार्यों ने चार ही प्रकार के उत्साह का रस दशा को प्राप्त होना माना है। बिहारी ने वीर रस के विभिन्न भेदो के आश्रय के रूप में जयसिह का उपादान किया है। निम्नलिखित दोहो में जयसिह की दानवीरता तथा युद्ध-वीरता व्यक्त होती है :—

रहति न रन, जयसाहि मुख लखि, लाखनु की फौज।
जांचि निराखरऊ चलै लै लाखनु की मौज॥

दयावीरता का उदाहरण—

घर घर तुरकिनि, हिंदुनी देतिं असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी, जयसाहि॥

धर्मवीरता का उदाहरण:—

प्रलय-करन बरसन लगे जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति गरबु हर्‌यौ हरषि गिरिधर गिरि धरि हाथ॥

यह दोहा युद्धवीरता का उदाहरण भी हो सकता है।

युद्धविषयक उत्साह का उदाहरण :—

सार्यौ सेन, सयान की सबै साहि कैं साथ।
बाहुबली जयसाहिजू फते तिहारैं हाथ॥

वस्तुतः बिहारी ने वीर रस ध्वनि के जो दो-चार दोहे लिखे हैं वे या तो राज-विषयक रति भाव के उदाहरण कहे जा सकते हैं या भगवद्विषयक रति भाव के। ऐसी दशा में व्यग्य वीर रस उस रति भाव का अंग होकर गुणीभूत हो जाता है। किंतु एक तो आस्वादन का पर्यवसान वीर रस में ही होता है, दूसरे कवि की रति स्पष्ट रूप में व्यक्त भी नही हो रही है। अतएव ये उदाहरण वीर रस ध्वनि के ही कहे

जावेंगे, गुणीभूत व्यंग्य के नही। (देखो लालचन्द्रिका में इन दोहों की व्याख्या)

(३) वीर रस के समान ही अद्‌भुत रस में भी चित्तवृत्ति विस्तार को प्राप्त हो जाती है। इसका स्थायीभाव विस्मय है। जब हम किसी अलौकिक वस्तु को देखते हैं उस समय जो हर्ष तथा कौतूहलमय आनन्द का अनुभव हो जाता है उसे अद्‌भुत रस कहते हैं। हास्य के समान विस्मय के आश्रय का उपनिबन्धन अनिवार्य नहीं है। यदि आश्रय का उल्लेख किया जावे तो नेत्रों को फाड़-फाड कर देखना, टकटकी लगाना, रोमांच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधु वाद, चरण-भ्रमण अथवा अंगुलि-भ्रमण इत्यादि अनुभाव होते हैं। आवेग, सम्भ्रम, जडता इत्यादि व्यभिचारी होते हैं। बिहारी ने दो दोहे अद्‌भुत रस ध्वनि के लिखे हैं :—

(अ) मोहन-मूरति स्याम की अति अद्‌भुत गति जोइ।
बसतु सुचित-अन्तर तऊ प्रतिबिम्बितु जग होइ॥

(आ) या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्ज्वल होइ॥

प्रथम दोहे में भगवान् की मूर्ति की विलक्षणता अद्‌भुत रस का विभाव है और दूसरे दोहे में चित्त की विलक्षणता का चित्रण किया गया है।

(४) रौद्र रस—इस रस का वर्णन बिहारी की प्रकृति के अनुकूल नहीं था फिर भी एक उदाहरण में रौद्र रस की ध्वनि लक्षित की जा सकती है :—

अनी बड़ी उमड़ी लखैं असिबाहक भट भूप।
मंगलु करि मान्यौ हियैं, भौ मुँहु मंगलु रूप॥

मुख का मंगलरूप होना क्रोध का अनुभाव है।

लोपे कोपै इन्द्र लौं रोपे प्रलय अकाल।
गिरधारी राखै सबै गो, गोपी, गोपाल॥

यहाँ पर कृष्ण की युद्ध तथा धर्म वीरता प्रधान है। अतः यह रौद्र का उदाहरण नहीं हो सकता। लालचन्द्रिका में निम्नलिखित दोहे में रौद्ररस लिखा है :—

हम हारीं कै कै हहा पाइनु पार्‌यौ प्यौरु।
लेहु कहा अजहु किए तेह तरेर्‌यौ त्यौरु॥

किन्तु यहा पर क्रोध स्थायी भाव नही है। यहां पर क्रोध रति स्थायी का संचारी मात्र है। अतएव यहां पर रौद्र रस नहीं हो सकता।

(५) करुण—रौद्र के समान करुण में भी चित्तवृत्ति आन्दोलित और क्षुब्ध हो जाती है। जब तक अपनी प्रिय वस्तु अथवा व्यक्ति के मिलने की सम्भावना रहती है तब तक तो रति ही स्थायीभाव होता है और उसके अन्तर्गत विषाद रति का पोषक मात्र होता है। किन्तु जब प्रियतम की पुनरावृत्ति की सम्भावना नहीं रहती है तब वह विषाद शोक का रूप धारण कर करुण रस में परिणत हो जाता है।

लालचन्द्रिका में निम्नलिखित दोहो में करुण रस बतलाया गया है :—

(अ) गोपिनु कैं अँसुवनु भरी सदा असोस अपार।
डगर डगर नै ह्वै रही अगर अगर कै बार॥

(आ) स्याम सुरत करि राधिका तकति तरणिजा तीरु।
अँसुवनु करति तरौंस कौ खिनकु खरौंहो नीरु॥

इन दोनो दोहो में अश्रु करुणाजन्य नही किन्तु विप्रलम्भजन्य हैं। क्योकि यहा पर कृष्ण के पुनः सम्मिलन की सम्भावना सर्वथा समाप्त नही हुई है। निम्नलिखित दोहे में करुण रस की हलकी सी छाया अधिगत होती है :—

कहे जु बचन वियोगिनी बिरह विकल बिललाइ।
किए न कौ अँसुआ सहित सुबाति बोल सुनाइ॥

नायिका का वियोग व्यथा में देहान्त हो गया है और उसके अन्त काल के वचन सखियों तथा दूसरे लोगो की आखो में आँसू लाने वाले है। ये आँसू आलम्बन के विच्छिन्न हो जाने के कारण शृंगार रस के आँसू नही हो सकते, अतः ये करुणा के आँसू हैं।

(७) चौथे प्रकार की चित्त वृत्ति विक्षेपात्मक होती है इस में किसी विशेष परिस्थिति से पृथक् होने की आकाक्षा होती है। यह चित्तवृति मुख्य रूप में घृणा होती है और बीभत्स रस के आस्वादन में कारण बनती है। बिहारी के टीकाकारो ने निम्नलिखित दोहे में बीभत्स रस बतलाया है :—

यौं दल काढ़े बलक तैं तैं, जयसाहि भुवाल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ गुवाल॥

यहा पर अप्रस्तुत में ही बीभत्स की प्रतीति होती है। प्रस्तुत में उत्साह राज-विषयक रति भाव का अग है। किन्तु आस्वादन का पर्यवसान रौद्र में होता है। इसी प्रकार 'बचै न बड़ी सबील हूँ, चील-घोसुवा माँसु' में अप्रस्तुत मे बीभत्स की छाया सभझनी चाहिये।

(८) विक्षेपात्मक चित्तवृत्ति की गौण स्थिति भय होती है यह भयानक रस का स्थायी भाव है। निम्नलिखित दोहे के पूर्वार्ध में भयानक रस ध्वनि है :—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कपि किशोरी दरसि कै खरैं लजाने लाल॥

बिहारी की रस ध्वनि की दृष्टि से विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि बिहारी ने यद्यपि "भरी अनेक सवाद" सतसई के लिखने का दावा किया है तथापि शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रस परम्परा निर्वाह मात्र के उद्देश्य से लिखे गये हैं। उसमें कवि का काव्यात्मक अभिनिवेश अत्यन्त अल्प मात्रा में प्रस्फुटित हुआ है। शृंगारेतर रसों में हास्य और अद्भुत रसों के उदाहरण ही पूर्णतया स्पष्ट कहे जा सकते हैं।

भरत मुनि ने ये ही ८ रस लिखे थे। बाद में शान्त रस प्राय: सर्व सम्मति से ९ वाँ रस स्वीकार कर लिया गया। वस्तुत मुनि को भी शान्त रस की सत्ता सर्वथा अस्वीकार्य नही है। नाटचशास्त्र के छठे अध्याय के अन्त में "कही-कहीं भावों का प्रशम भी होता है" कह कर उन्होने शान्त रस की सत्ता सूचित की थी। किन्तु इसे पृथक् रस न मानने का कारण यही था कि यह रस अभिनय के लिए उपयुक्त नही है। विषयाभिलाष से सर्वतोभावेन निवृत्त हो जाना ही निर्वेद कहलाता है। इसमें भी एक अभूतपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है। निर्वेद जब विभावादि के संयोग से रसरूपता को धारण कर लेता है तब शान्त रस कहा जाता है। कहा भी है:—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत. षोडशी कलाम्॥ (ध्वन्यालोक की लोचन व्याख्या)

अर्थात् रसो में जो काम सुख है अथवा जो दिव्य महान् सुख है वह तृष्णा-क्षय से उत्पन्न होने वाले सुख की सोलहवी कला को भी नही प्राप्त हो सकता। योग दर्शन के तृतीय पाद का एक सूत्र है—"तस्य प्रशान्तवाहिता सस्कारात्" अर्थात् जब चित्तवृत्ति की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमिकाये समाप्त हो जाती है तब व्युत्थानरूप ज्ञानो का अवसर नही रहता, उस समय निरोध सस्कार से चित्त-वृत्ति का प्रभाव प्रशान्त हो जाता है। चतुर्थ पाद में एक दूसरा और सूत्र है—"तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि सस्कारेभ्य"। इसका आशय यह है कि जिस समय जीव समाधि में स्थित हो जाता है उस समय भी बीच-बीच में कुछ ऐसे विघ्नस्वरूप अवसर आते रहते है जिन में दूसरे प्रकार के प्रयत्नो का आविर्भाव होता रहता है और उनमें पुराने सस्कार कारण होते है। अर्थात् समाधि की दशा में आने से पहले जिन व्युत्थान रूप ज्ञानो का अनुभव किया था उनसे सस्कार बन जाते है, समाधि में आ जाने पर भी पीछा नहीं छोड़ते। बीच-बीच में विघ्न उपस्थित होते रहते है और उन अवसरों पर पुराने सस्कारो के बल पर व्युत्थानात्मक ज्ञानो का उद्रेक होता ही रहता है। यह है शान्तरस की पूर्व भूमिका का वर्णन। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शान्त रस की पूर्णावस्था में भी चेष्टाये होती ही है। इस अनुभव के बल पर कहा जा सकता है कि यम, नियम इत्यादि के मध्य में बहुत से व्यभि-चारियों की सम्भावना की जा सकती है। अतएव शान्त रस की प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता। जो लोग सभी प्रकार की चित्तवृत्तियो की प्रशम अवस्था को ही शान्त रस की संज्ञा प्रदान करते है उनका भी आशय यही है कि जिस चित्तवृत्ति में तृष्णा का प्रशम हो गया हो वही चित्तवृत्ति शान्त रस कहलाती है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि अभ्यास-शून्यता की अवस्था शान्त रस की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकती क्योकि रसन के लिये आनन्दानुभव अनिवार्य है।

ऐसी दशा में तृष्णा-प्रशम को ही शान्त रस कहना उचित होगा। इस तृष्णा-क्षय में उसी प्रकार का आनन्द आया करता है जिस प्रकार पूर्ण रूप से भोजन कर लेने पर भोजन इच्छा के अभाव में एक अनुपम तृप्ति का अनुभव होता है। इसके विभाव होते हैं शास्त्रानुशीलन, वीतरागों का संसर्ग, परमात्मतत्व, जगत् की असारता का ज्ञान इत्यादि। अनुभाव होते हैं रोमांच इत्यादि और हर्ष, स्मरण, मति इत्यादि सचारी भाव होते हैं।

बिहारी ने शान्तरस के बहुत से दोहे लिखे हैं। शान्त रस का विस्तारपूर्वक निरूपण अगले अध्याय में किया जायेगा। दो-एक उदाहरण लीजिये :—

कोऊ कोरिक संग्रहौ कोऊ लाख हज़ार।
मो संपति जदुपति सदा विपति विदारनहार॥

यहाँ पर कवि की तृष्णा-शून्यता के साथ भगवद्विश्वास का परिचय प्राप्त होता है। इतना ही नहीं कवि तो किसी न किसी रूप में भगवान् का दरवाजा छोड़ने को उद्यत नहीं है :—

हरि, कीजति बिनती यहै तुमसौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्यौ रहौं परयौ रहौं दरबार॥

यहाँ पर आत्मगर्हणा और भगवत् शरणागति की भावना ध्वनित होती है। इसी प्रकार शान्त रस के दूसरे उदाहरणों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

रसाभास और भावाभास

अनौचित्य प्रवृत्त रस और भाव में आस्वादन व्याहत हो जाता है क्योंकि इसमें अधर्म की गन्ध आती है। इसी लिए इसे रसाभास और भावाभास की सज्ञा प्राप्त होती है। जो प्रेम धर्मशास्त्र तथा लौकिक मर्यादा से अनुमोदित होता है वह रस की श्रेणी में आता है तथा तद्भिन्न प्रेम, रसाभास (शृंगाराभास) कहलाता है। स्वकीया प्रेम तथा कन्या प्रेम, रस होते हैं। नायकगत परोढा प्रेम रसाभास होता है इसी प्रकार परोढा का उपनायक से प्रेम-पुरुषप्रवृत्त रति, नायिका का अनेक पुरुषविषयक प्रेम इत्यादि भी रसाभास ही कहलाते हैं। परोढा प्रेम का उदाहरण:—

देह लग्यौ ढिग गेह पति, तऊ नेहु निरबाहिं।
नीची अँखियनु ही इतै गई कनखि मनु चाहि॥

यह नायिका परोढा है। यह अपने विवाहित पति के साथ बैठी हुई भी उपनायक को देखती है। परोढा के प्रेम में देवर के प्रेम का वर्णन अधिकतर किया गया है। बिहारी ने भी देवर प्रेम विषयक कई एक दोहे लिखे हैं। जैसे:—

देवर फूल हने जु सु उठे हरषि अँग फूलि।
हँसी करति ओषधि सखिनु देह ददोरनु भूलि॥

यदि नायिका का प्रेम पहले हो तो भी रसाभास ही होता है। इसी प्रकार अनुभयनिष्ठ रति भी रसाभास की ही श्रेणी में आती है। निम्नलिखित दोहे में

केवल नायकनिष्ठ रति है :—

कहति न देवर की कुबत कुल तिय कलह डराति ।
पंजर-गत मंजार-डिग सुक ज्यौं सूकति जाति ।।

यहां पर केवल देवर प्रेम करता है नायिका को प्रेम नही है । पुरुष-प्रवृत्त रति अत्याचार की सीमा तक पहुँच सकती है । इसीलिए रसाभास मानी जाती है । अनेक कांत-विषयक रति का उदाहरण :—

लखि लौने लोहननु के कोहनु होइ न आजु ।
कौनु गरीबु निवाजिबौ कित तूट्यौ रति राजु ।।

यहाँ पर "आजु" इस काल वाचक क्रिया विशेषण से व्यक्त होता है कि नित्य नया प्रेम करना नायिका का स्वभाव है । तिर्यग्गत प्रेम को भी रसाभास माना जाता है किन्तु बिहारी ने इसका वर्णन नही किया है । मुनि-गुरु पत्नी इत्यादि विषयक प्रेम का परोढा में ही समावेश हो जाता है । कुछ आचार्य रसाभास में सदोष-रसता मानते हैं । उनके मत में रस के अनौचित्य प्रवृत्त होने पर भी रसनीयता बनी ही रहती है किन्तु वह सदोष हो जाती है । दूसरे लोग रसाभास को रस की सीमा में सन्निविष्ट ही नही करते । उनके मत में रस उज्ज्वल ही होता है, कालुष्य आ जाने पर उसमें रसनीयता रहती ही नही । दूसरे रसों के भी आभास हो सकते हैं । किन्तु आचार्यों ने अधिकतर शृ गार रस के उदाहरण देकर दिग्दर्शन मात्र करा दिया है । बिहारी ने भी रसो के आभासो के उदाहरण नही दिए है । इस प्रकार अनौचित्य-प्रवृत्त रस में जहाँ किसी विशेष भाव की प्रधानता अभिव्यक्त होती है वहाँ भावाभास ध्वनि कही जाती है । जैसे :—

सनु सूक्यौ, बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि ।
हरी हरी अरहरी अजैं धरु धरहरि जिय नारि ।।

यहाँ पर, नारि, सम्बोधन से परोढागत उपपति-विषयक विषाद की ध्वनि होती है अतएव यह भावाभास ध्वनि है ।

भाव-संधि, भावोदय, भाव-शान्ति और भाव-शबलता

जिस प्रकार विद्यमान भाव की ध्वनि आस्वादन प्रवर्तक होती है उसी प्रकार भावों की विभिन्न अवस्थाये भी आस्वादन में निमित्त होती हैं । किन्तु अवस्थाओं के आस्वादन में पर्यवसान भाव ध्वनि में ही होता है । तो भी आस्वादन की प्रयोजिका विभिन्न अवस्थायें ही होती हैं । आचार्यों ने भाव की चार अवस्थाये आस्वादन में निमित्त मानी हैं :—भाव सन्धि, भावोदय, भाव शान्ति, और भाव शबलता । ये अवस्थाये रस की नही हो सकतीं क्योकि रस अखण्ड स्वरूप माना जाता है । अतः आचार्यों ने रस सन्धि इत्यादि भेद नहीं किए हैं ।

(१) भाव संधि—जहाँ पर दो भाव मिलकर आस्वादन में निमित्त हो रहे हों वहाँ पर भाव सन्धि होती है । वैसे तो एक ही स्थान पर अनेक संचारी अधिक-

तर हुआ ही करते हैं किन्तु उनमें भाव सन्धि की प्रतीति नही होती। जिन भावों में एक में मिलकर संघात रूप आस्वादन उत्पन्न करने की क्षमता होती है वहाँ भाव संधि नहीं कही जाती। भाव-सन्धि वहीं पर होती है जहाँ दो विरोधी भावों का एक साथ वर्णन किया जाता है और वे साघातिक प्रभाव न उत्पन्न कर पृथक् पृथक् आस्वादन में कारण बनते है। दो भावो की सन्धि एक ही विभाव के प्रति भी हो सकती है और अनेक विभावो के प्रति भी। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में एक ही विभाव के प्रति व्रीडा और औत्सुक्य की सन्धि दिखलाई है—

छुहैं न लाज न लालवौ प्यौ लखि नेहरगेह।
सटपटात लोचन खरे भरे सकोच सनेह॥

यहाँ पर प्रियतम विभाव है, नेत्रो का सटपटाना अनुभाव है और व्रीडा तथा औत्सुक्य की ध्वनि आस्वादन में निमित्त है। निम्नलिखित दोहे में व्रीडा तथा औत्सुक्य का अच्छा चित्रण है:—

करे चाह सौं चुकुटि कै खरैं उड़ौहैं मैन।
लाज नवाएँ तरफरत, करत खूँद सी नैन॥

यहां पर एक ही आलम्बन के प्रति व्रीडा और औत्सुक्य की ध्वनि है।

पिय बिछुरन कौ दुसहु दुखु हरसु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियति तजत प्रान इहि बार॥

यहाँ पर अनेक विभावो के प्रति हर्ष और विषाद की सन्धि है।

समरस समर-सकोच-वस-विवस न ठिक ठहराइ।
फिरि फिरि उझकति फिरि दुरति, दुरि दुरि उझकत भाइ॥

यहा पर अनुभाव-मुख से व्रीडा और औत्सुक्य सन्धि का चमत्कारकारक वर्णन किया गया है।

(२) भावोदय और (३) भाव शान्ति में क्रमशः उदय और अस्त के समय भाव आस्वादन में निमित्त बनते हैं। काव्यप्रकाशकार का मत है कि भावोदय और भाव-शान्ति दोनों प्रायः एक ही स्थान पर हुआ करते है किन्तु आस्वादन के प्रकर्ष के आधार पर उन्हे भावोदय या भाव-शान्ति की सज्ञा प्रदान की जाती है। इसके प्रतिकूल रसगंगाधरकार ने अपने उदाहरणों में दोनो को पृथक्-पृथक् रखा है। वस्तुतः उदयव्यतिरिक्त शान्ति भी हो सकती है और शान्तिव्यतिरिक्त उदय भी। किन्तु आस्वादन का प्रकर्ष एक की शान्ति और दूसरे के उदय में ही होता है। बिहारी में दोनों प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते है। जैसे :—

हेरि हिंडौरैं गगन लैं परी परी सी टूटि।
धरी धाइ पिय बीच हीं, करी खरी रस लूटि॥

यहां पर त्रास का उदय आस्वादन में निमित्त है। इसी प्रकार:—

सुरति न ताल न तान की उदयौ न सुरु ठहराइ।
एरी रागु बिगरिगौ बैरी बोलु सुनाइ॥

यहां पर जड़ता का उदय दिखलाया गया है।

सोवत लखि, मनु मानु धरि ढिग सोयौ प्यौ आइ।
रही, सुपन की मिलनि मिलि तिय हिय सौं लपटाइ ।।

यहां पर अमर्ष की शान्ति आस्वादन में निमित्त है। निम्नलिखित दोहों में भावोदय और भाव-शान्ति का सम्मिलित वर्णन है:—

बिथुरयो जावक सौति पग निरखि हँसी गहि गाँसु।
सलज ह सौही लखि लियौ आधी ह सी उसांसु ।।

यहाँ पर ईर्ष्या की शान्ति और विषाद का उदय आस्वादन में कारण है —

इसी प्रकार .—

सतर भौंह रूखे बचन करति कठिनु मनु नीठि।
कहा कहौं ह्वै जाति हरि हैरि ह सौंही दीठि ।।

यहाँ पर अवहित्था की शान्ति और हर्ष का उदय आस्वादन में निमित्त है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

(४) भाव-शबलता—कई भावो के मिलन को कहते है। इस विषय में भी दो मत हैं। काव्यप्रकाशकार विरोधी भावो के उपमर्द्य-उपमर्दक भाव में भाव शबलता मानते है और पण्डितराज किसी भी अवस्था में भावों के मिलन में भाव शबलता स्वीकार करते है। यदि भावशबलता के लिए उपमर्द्य-उपमर्दक भाव की अनिवार्यता न भी मानी जावे तो भी भावों का विरोधी होना तो अनिवार्य होगा ही, अन्यथा समान भावो की शबलता न होकर सघात रूप ही आस्वादन में कारण हो जावेगा।

बिहारी में भाव-शबलता का उदाहरण —

बालमु वारैं सौति के सुनि परनारि विहार।
भौ रसु अनरसु, रिस रली, रीझि, खीझ इक बार ।।

यहाँ पर ईर्ष्याजन्य सुख, दूसरी सपत्नी के सामने आ जाने का दुःख, नायक के अपने अवसर पर दूसरे के यहाँ न जाने पर रीझ और बुरी आदत के पड़ जाने की खीझ इन विरुद्ध भावो की शबलता आस्वादन में निमित्त है।

इस प्रकार ध्वनि काव्य के समस्त भेद-उपभेद न्यूनाधिक रूप में बिहारी में विद्यमान है और सभी प्रकार के उदाहरणो के संकलित करने में बिहारी को सफलता मिली है।

———

चतुर्थ अध्याय

अलंकार

चारुता की प्रतीति ही काव्य की आत्मा है, इस विषय में भारतीय काव्य-शास्त्राचार्यों में मतभेद नही है। स्वयं अभिनव गुप्तपादाचार्य ने कहा है :—

यच्चोक्तम्—चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा इति तदगीकुर्म एव। नास्ति खल्वय विवाद इति। (लोचन-पृ०-३३)

साहित्य के प्रारम्भ युग के आचार्य दण्डी ने इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली को काव्य कहा और अन्त में पण्डितराज ने रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द को काव्य कहकर उसका उपसहार किया। इष्टता और रमणीयता चारुता के ही दूसरे नाम हैं। इस प्रकार भारतीय मनीषी चारुता-प्रतीति को काव्य की आत्मा मानने में एक-मत है। चारुता प्रतीति के उपकरणो में मतभेद का प्रारम्भ होता है। काव्यशास्त्राचार्य इस विषय में अधिक हठधर्मिता नही दिखलाते कि काव्य के उपकरण कितने और कौन कौन से हो सकते है। उनकी सख्या घट भी सकती है और बढ भी सकती है तथा उनके रूप में भी परिवर्तन हो सकता है। यही कारण है कि प्राचीनों के प्रति मान्यता और श्रद्धा की भावना रखते हुए भी सभी नवीन आचार्यो ने अपने अपने ढग से अलकारो की संख्या तथा उनके स्वरूप का निर्णय किया है। इन आचार्यो के मत में सामान्य सिद्धान्त (चारुता-प्रतीति) को काव्यात्मा के रूप में अगीकृत कर लेने मात्र से प्राचीनो के आदर्श का निर्वाह हो जाता है। उपकरणो के तारतम्य का स्वतन्त्र निर्धारण प्राचीनो के प्रति श्रद्धा में व्याघात उपस्थित नहीं करता। हाँ, समस्त उपकरणो को किस एक नाम से अभिहित किया जावे, इस विषय में मतभेद हो सकता है और यही मतभेद विभिन्न सम्प्रदायो के प्रवर्तन का मूलाधार है। प्राचीन आचार्य चारुता-प्रतीति के समस्त उपकरणो को अलकार की सज्ञा प्रदान करते थे। चाहे उक्ति-वैचित्र्य हो, चाहे रसानुभूति हो चाहे वाच्य-व्यतिरिक्त अर्थ की प्रतीति हो, ये आचार्य सभी को अलकार नाम से ही अभिहित करते थे। इन लोगो ने कभी इस बात पर विचार नहीं किया था कि यदि काव्य के समस्त अंगो को अलंकार कहा जावेगा तो अलंकार्य कौन होगा। अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य थे भामह, उद्भट और रुद्रट।

कतिपय आचार्यों को आभूषण-स्थानीय अलकारों की नित्यधर्मिता उचित प्रतीत नही हुई। अतएव उन्होने गुणों तथा तदाश्रित रीतियो को काव्यात्मा के रूप में अंगीकृत किया। किन्तु उनके मत में भी अलंकारो का उतना ही माहात्म्य बना रहा, इसमें सन्देह नहीं। इन आचार्यों में प्रमुख थे वामन और दण्डी। वामन

ने स्पष्ट शब्दों में रीति को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया। दण्डी ने स्पष्ट तो नही कहा, किन्तु जिस रूप में उन्होंने अलकारो और रीतियों का विवेचन किया है उससे प्रकट हो जाता है कि वे भी रीतियो को अलकारो की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। इसीलिए दण्डी को भी रीति सम्प्रदायवादियों में ही स्थान दिया जाता है। अलकार सम्प्रदायवादियो के समान उसमें यही त्रुटि थी कि इन लोगों ने इस वास्तविकता की ओर ध्यान नही दिया था कि गुण सर्वदा द्रव्याश्रित होते हैं। रीति का पर्यायवाचक दण्डी ने मार्ग लिखा है। यदि मार्ग ही साध्य हो जावेगा तो गन्तव्य स्थान का क्या होगा ?

ध्वनि सिद्धान्त के आविर्भाव के पहले यही दो सम्प्रदाय प्रतिष्ठित थे। यद्यपि कतिपय आचार्यो ने रस को भी पर्याप्त महत्व दिया था और भामह की वक्रोक्ति में ध्वनि सिद्धान्त का बीज भी अन्तर्निहित ही था तथापि तब तक किसी ने भी खुलकर ध्वनि या रस को काव्य की आत्मा नही कहा था। इतना ही नहीं, ये आचार्य काव्य के सभी अगो को अलकार या रीति में ही सन्निविष्ट कर देना चाहते थे। इन लोगो की घोषणा थी कि न केवल वर्तमान अपितु भविष्य में भी प्रतीति-गोचर होने वाले समस्त काव्य तत्वो को अलंकार या रीति में ही अन्तर्भुक्त कर देना चाहिये। अभिनवगुप्त के समय तक ऐसे लोग विद्यमान रहे जो ध्वनि को रीति या अलकार का एक भेद मानते थे। अभिनव गुप्त ने ध्वनि के पूर्व-पक्ष की स्थापना करते हुए ऐसे लोगो की मनोवृत्ति का इस प्रकार परिचय दिया है —'इन लोगो का कहना है कि यदि ध्वनि को चारुता का हेतु मान भी ले और वह शब्द, अर्थ, गुण और अलकारो के अन्तर्भूत भी सिद्ध हो जावे तो भी ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सिद्ध नही हो सकती। ध्वनि भी चारुता-हेतुओ में एक है। अतएव उपर्युक्त चारुता-हेतुओ में उसका अन्तर्भाव कर दिया जाना उचित है।..... शब्द और अर्थ की विचित्रतायें अनन्त है। इस प्रकार यह मान लिया जावे कि ऐसा कोई प्रकार सम्भव है जिसको काव्य के प्रसिद्ध लक्षणकार आचार्यों ने नही दिखलाया है तो भी उसका सग्रह सामान्य लक्षण के द्वारा ही हो जाता है। 'सामान्य सिद्धातों के अंगीकार कर लेने पर यदि कोई नया प्रकार निकलता है तो उसका समावेश सामान्य लक्षण के द्वारा अलकारादिको में ही हो जाता है।" (लोचन प्रथम उद्योत)। ध्वनि सिद्धान्त के प्रकाश में आने से पहले प्रसिद्ध प्रस्थान में चार तत्व माने जाते थे। अलकार, गुण, रीति और वृत्ति। इसकी व्याख्या, इस प्रकार की जाती थी—शब्द और अर्थ की चारुता ही काव्य का जीवन है। यह चारुता दो प्रकार की हो सकती है—शब्दस्वरूपगत चारुता और सघटनागत चारुता। शब्दस्वरूपगत चारुता शब्दालकार के नाम से अभिहित होती है और अर्थस्वरूपगत चारुता अर्थालकार कही जाती है। शब्द सघटनागत चारुता शब्द गुण कहलाती है और अर्थसघटनागत चारुता अर्थ गुणो के नाम से पुकारी जाती है। उपनागरिका आदि वृत्तियो का

हो जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ध्वनि सिद्धान्त के सत्ता में आने से पहले केवल दो सम्प्रदाय प्रतिष्ठित थे—अलंकार सम्प्रदाय और गुण सम्प्रदाय। गुण सम्प्रदाय का ही दूसरा नाम रीति सम्प्रदाय भी था।

ध्वनिकार ने एक ओर ध्वनि सिद्धान्त के द्वारा काव्य के विस्तृत क्षेत्र का समाहार किया दूसरी ओर अलकार तथा गुण को यथास्थान विन्यस्त करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी सम्पादित किया। सर्वप्रथम उन्होने अलकार और अलंकार्य का ठीक विभेद किया। उन्होंने बतलाया कि अलकार चाहे उक्ति-वैचित्र्यमूलक हो, चाहे वस्तु-व्यंजनामूलक हो और चाहे भाव-व्यजनामूलक हो वह अलकार की संज्ञा तभी प्राप्त कर सकता है जब किसी दूसरे तत्व को अलकृत करे। उन्होंने इस बात से भी सावधान किया कि यदि काव्य में अलकार ही चरम उपास्य हो जावेगा तो वह अलंकार्य को सर्वथा आक्रान्त कर लेगा और उसका अलकारत्व-धर्म ही समाप्त हो जावेगा। ध्वनिकार का कहना है कि अलकारों की काव्यात्मता का आशय यही है कि उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता सम्पादित की जावे। ऐसी दशा में उपपाद्य वस्तु दब जाती है और विनेयाभिमुखीकरण-प्रयोजन सिद्ध नही होता। वही अलंकार प्रतिपाद्य वस्तु को अलकृत कर सकता है जो अपृथग्यत्न-निर्वर्त्य हो अर्थात् कवि का पूरा ध्यान रसबन्ध में लगा हो और बिना ही उसके यत्न किए हुए अलकार का स्वतः प्रयोग हो जावे। ऐसा ही अलकार काव्यशोभाधायक धर्म होता है। कभी-कभी तो इस प्रकार अलकार के प्रयोग हो जाने पर कवि को स्वय आश्चर्य हो जाता है कि अमुक अलंकार बिना ही उसके प्रयत्न किए हुए कसे आ गया।

शृगार रस सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सर्वाधिक आनन्ददायी होता है। अतएव इस रसानुबन्ध के अवसर पर विशेषरूप से सावधान रहने की आवश्यकता है। विशेषरूप से अनुप्रास, यमक और सभगश्लेष इत्यादि अलंकारों के प्रयोग में सावधानी बरतनी चाहिए। यदि शृंगाररस में एक से अनुबन्ध वाला अनुप्रास लाने की चेष्टा की जाती है तो वहाँ पर अनुप्रास प्रधान हो जाता है और उससे शृंगार रस का प्रकाशन नही होता। यदि अनेकरूपानुबन्ध वाला अनुप्रास स्वतः आ जाता है तो दोष नही होता। इसी प्रकार कवि कितना ही प्रतिभाशाली क्यो न हो यमक का बहुल प्रयोग उसके काव्य को बिगाड ही देता है। विप्रलम्भ शृगार में तो यमक का प्रयोग नही ही करना चाहिए। यही बात सभगश्लेष के विषय में कही जा सकती है। कारण यह है कि इन अलकारो के लिए पृथक् प्रयत्न करना ही पड़ता है। अर्थालंकारों का बहुल प्रयोग इतना रसोपघातक नही होता। आलोककार का कहना है कि प्रतिभाशाली कवियो के सामने अर्थालकार होड़ सी लगाकर स्वतः आया करते है। रसाक्षेप वाच्य के द्वारा ही होता है। अतएव वाच्यार्थगत अलकार रस का परिपोष ही करते हैं। फिर भी अर्थालंकारों के प्रयोग में इन बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। अलंकार को अंगी कभी नही बनाना चाहिए, उसे सर्वथा रसपरक

ही रखना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि किसी विशेष अलंकार का कहाँ पर ग्रहण करना उचित है और कहाँ पर त्याग करना। अलंकार को पूर्णता तक पहुँचाने का विशेष प्रयत्न कभी नही करना चाहिये। यदि अलकार पूर्णता को पहुँच ही गया हो तो भी उसे प्रयत्नपूर्वक रसादि का अग बना देना चाहिए। यदि इन बातों का ध्यान रक्खा जाता है तो अलंकार वास्तव में अलंकार का कार्य करता है।

अलकारो की सख्या बहुत लम्बी है। प्रारम्भ में मुनि ने केवल चार अलंकारो का वर्णन किया था—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। यह सख्या भामह के समय तक ३८ हो गई और उद्भट ने इसे बढ़ाकर ४८ तक पहुँचा दिया। रुद्रट अलकार सम्प्रदाय के अन्तिम आचार्य है। इन्होने पुराने अलकारो के भेदोपभेद किये और प्रचलित सख्या में ३० नये अलकार और जोड़ दिए। दण्डी और वामन रीति सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते हैं। किन्तु अलंकारो के विवेचन मे भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि रुद्रट के बाद अलंकार सम्प्रदाय का ह्रास हो गया तथापि अलकारों का महत्त्व कम नही हुआ। भोजराज, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ प्रभृति काव्यशास्त्राचार्यों ने विस्तारपूर्वक अलकारो का निरूपण किया। चन्द्रालोक में अलकारो की सख्या १०० तक पहुँच गई और अप्पयदीक्षित ने इसे बढाकर १२३ तक पहुँचा दिया।

हिन्दी साहित्यशास्त्र एक ओर संस्कृत की पुरानी परम्परा से निस्यूत हुआ है और दूसरी ओर फारसी की चमत्कारवादी प्रवृत्ति का भी इस पर प्रभाव पड़ा। अतएव प्रारम्भ से ही हिन्दी के आचार्यों का ध्यान शृंगार विवेचन के साथ-साथ अलंकार-विवेचन की ओर भी पर्याप्त मात्रा में रहा है। बिहारी से पहले हिन्दी में भी कई अलकार ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। प्रसिद्ध आचार्य केशव की कविप्रिया में अलकारों का विस्तृत विवेचन केशवमिश्र के अलकार शेखर के आधार पर किया गया है। इसमें अलंकारो के दो भेद किये गये है—साधारण और विशिष्ट। साधारण अलकारो में कविशिक्षा है और विशिष्ट में ३७ अलकारो का विवेचन किया गया है। अलंकारों का विभाजन तथा वर्गीकरण उक्ति, उपमा, तुलना, यमक, श्लेष, विरोध, कार्यकारण सम्बन्ध आदि को मानकर किया गया है। केशव ने काव्य की उपादेयता के लिये अलंकारों का होना अत्यन्त आवश्यक माना है। केशव के अतिरिक्त करणेश का करणाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण भी अलकार की प्रसिद्ध रचनाये है। सम्भवतः गोपा का रामभूषण भी बिहारी के पहले की रचना है। चिन्तामणि त्रिपाठी लिखित कविकुल कल्पतरु के तीसरे अध्याय में अर्थालकारो का विस्तृत विवेचन है। जसवन्तसिंह का भाषा भूषण हिन्दी साहित्य की अत्यन्त प्रसिद्ध कृति है। कुछ लोगो का मत है कि इसकी रचना स्वयं बिहारी ने जसवन्तसिंह के नाम पर की थी। किन्तु इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नही।

ध्वनि काव्य की दृष्टि से अलंकारों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—व्यंग्यार्थ-मूलक अलंकार और व्यंग्यार्थोपस्कारक अलकार। व्यग्यार्थ-मूलक अलंकार भी दो प्रकार के होते हैं—रसाभिव्यंजनामूलक अलकार और वस्तु-व्यजना-मूलक अलंकार। व्यंग्यार्थोपस्कारक अलकार व्यंग्य वस्तु और रस का उपस्कार करते हैं तथा कभी-कभी वाच्य वस्तु तथा अलकार का भी उपस्कार करते हैं। इनके भी दो भेद किये जा सकते हैं—शब्दालकार और अर्थालंकार। अर्थालकार भी दो प्रकार का होता है स्वभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति। अतिशयोक्ति औपम्य इत्यादि अनेक तत्वों का आधार लेती है।

जैसा कि बतलाया जा चुका है, बिहारी अलकारवादी नही थे और न अलकार को काव्य में अपरिहार्य ही मानते थे। किन्तु इन्होने स्वच्छन्द रूप में अलंकारो का पर्याप्त प्रयोग किया है और आजकल समालोचक जगत् में अपनी चमत्कारवादी सूक्तियों के लिए प्रसिद्ध हो गये हैं। इनका एक भी दोहा ऐसा नहीं है जिसमें चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य या किसी अलकार का प्रयोग न पाया जाता हो। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि बिहारी ने सभी अलकारो का प्रयोग किया है किन्तु अधिकतर अलंकार बिहारी की रचना में मिल ही जाते हैं। बिहारी के अलंकार-प्रयोग की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे पूरी सावधानी बरती गई है। अलंकार बाहुल्य या निर्वहणपरता के कारण कहीं रसभंग नहीं होने पाया है। यमक जैसे अलंकार भी बडे ही स्वाभाविक रूप में आये है। यही बिहारी की रससिद्धता है कि रसबन्धाभिनिवेश के होते हुए भी अलंकार होड सी लगाकर आते हैं और रस परिपोष में अपना पूरा भाग अदा करते हैं।

बिहारी की टीकाओं मे प्रत्येक दोहे के अलकारों का प्रायः विवेचन किया गया है। इनका वर्गीकृत रूप यहाँ पर अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे दिया जा रहा है। अलकारों का विशेष अध्ययन टीका-ग्रन्थो से ही करना चाहिए।

अलंकारों की दृष्टि से बिहारी का एक अध्ययन

(अ) रसाभिव्यंजना-मूलक अलंकार—रसाभिव्यंजनामूलक अलकारों की परिभाषा के विषय में कई मत है— (१) पुराने आचार्य मानते थे कि जहाँ कही रस हो वहीं रसवत् इत्यादि अलकार हुआ करते हैं। (२) ध्वन्यालोकवार ने बिना किसी आचार्य का नाम निर्देश किए इस मत का उल्लेख किया है कि जहाँ कहीं भी चेतन वस्तु का वर्णन होता है वहाँ रसवत् इत्यादि अलंकार हुआ करते है। अचेतन वस्तु वर्णन में ये अलकार नही हो सकते। कारण यह है कि रस तथा भाव की स्थिति के लिए चित्तवृत्ति अपेक्षित होती है और वह अचेतन में सम्भव नही, चेतन में ही हो सकती है। उद्भट तथा उनके अनुयायियों ने दो मतो का और निरूपण किया है—(१) जहां रस इत्यादि प्रधान होते हैं वहीं रसवत् इत्यादि अलकार होते हैं। यदि रस इत्यादि गौण हो तो उदात्त अलंकार होता है। (२) रस इत्यादि भी

रूपक इत्यादि के समान शोभाधायक ही होते हैं। इसी साम्य को लेकर रस इत्यादि को अलंकार कह दिया जाता है। वस्तुतः रस इत्यादि के विषय में अलंकार शब्द क प्रयोग सर्वथा गौण होता है। किन्तु यह कोई भी मत ध्वनिकार को समीचीन प्रती नही हुआ। हम रस की सत्ता मात्र मे ही उसे अलकार नही कह सकते क्योकि ऐस दशा में अलंकार और अलकार्य का भेद नही किया जा सकता। हम चेतन वस्तु वृत्त को भी रसालंकार नही कह सकते। कारण यह है कि काव्य-रसास्वादन के लिए चेतन वस्तु वृत्त की योजना अनिवार्य होती है। दूसरी बात यह है कि विभाव अनुभाव और सचारी भाव की सत्ता भी चेतनगत ही होती है। अतएव चेतन वस्तु वृत्तयोजनामात्र में रसालकार मानने पर उपमा इत्यादि का सर्वथा विषयापहार हो जावेगा। रस इत्यादि के प्रधान होने पर भी हम रसालकार की सज्ञा प्रदान नही क सकते। क्योंकि ऐसी दशा में जो अलंकार्य होता है वह अलकार कभी नही हो सकता उदात्त अलंकार रसादिको के गौण होने पर नही होता किन्तु महान् लोगो के चरि वर्णन में ही उदात्त अलकार होता है। अतएव ध्वनिकार ने सिद्धान्त स्थापित किय कि जहाँ पर वाच्य, वाचक तथा इनकी चारुता के अनेक हेतु रस को पुष्ट करते और इन सबसे पुष्ट होकर रस प्रधान रूप से आस्वाद का विषय बनता है वहाँ प रस अलंकार नही कहा जा सकता किन्तु वहाँ पर रस ध्वनि का ही रूप धारर करता है। इसके प्रतिकूल जहा पर वाक्य का वाच्यार्थ अथवा कोई अन्य व्यंग्या प्रधान हो और कोई रस इत्यादि अभिव्यक्त होकर उसमें सरसता का सम्पादन कर हुए उसे अलकृत करे वहाँ पर रसाभिव्यंजनामूलक अलकार होते है यही सिद्धान्त ठीक भी है। क्योकि इसमें अलंकार तथा अलकार्य का ठीक रूप विभाजन किया जा सकता है।

प्राचीन आचार्यों ने रसाभिव्यंजनामूलक अलकारो के चार प्रकार बतला थे--(१) जहां रस दूसरे तत्त्व का परिपोष करता है वहाँ पर रसवत् अलकार होत है। (२) जहाँ पर भाव किसी दूसरे तत्त्व का परिपोष करता है वहाँ पर प्रेय अलका होता है। (३) जहा पर रसाभास और भावाभास किसी अन्य तत्त्व का परिपोषर करते हैं वहाँ पर ओजस्वी अलंकार होता है और (४) जहाँ पर भाव-शान्ति किस दूसरे तत्व का परिपोष करती है वहाँ पर समाहित अलकार होता है। काव्य प्रकाशकार ने लिखा है कि जिस प्रकार भावशाति अलकार का रूप धारण क सकती है उसी प्रकार भाव की तीन और अवस्थाये भावोदय, भाव सन्धि औ भावशबलता भी अलकार हो सकती हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ये सात प्रका के अलंकार हो सकते हैं।

बिहारी का निम्नलिखित दोहा लीजिये :—

सामां सेन सयान के सबै साहि कैं साथ।
बाहुबली जय-शान्ति जु फतेह सिहारो हाथ'।।

यहाँ पर शत्रु सेना आलम्बन है। उसका अपकारी होना उद्दीपन है। बाहुबल दिखलाना अनुभाव है। हर्ष इत्यादि सचारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर जयसिंह के उत्साह ने वीर रस का रूप धारण किया है। यह वीररस कवि की राजविषयक रति का अग हो गया है। कवि की राजविषयक रति ही प्रधान वर्ण्य-विषय है। अतएव यहाँ पर रसवत् अलकार है।

इसी प्रकार

घर घर तुरकिनि, हिन्दुनी देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी तैं राखी, जयसाहि॥

यहाँ पर मुख्य वर्ण्य विषय है कवि की राजविषयक रति। उसे पुष्ट करती हैं हिन्दुओ और तुर्कों की स्त्रियो की राजा के प्रति कृतज्ञता की भावना और कृतज्ञता की भावना को राजा की शत्रुसंहारक वीरता पुष्ट करती है। वीरता द्वारा कृतज्ञता तथा श्रद्धा की भावना के पुष्ट होने में रसवत् अलंकार है और कृतज्ञता की भावना के द्वारा कवि की राजविषयक रति के पुष्ट होने में प्रेय अलंकार है। इन दोनों की यहाँ पर ससृष्टि है।

तीसरा उदाहरण :—

यौं दल काढे बलख तैं तैं जयसाहि भुआल।
उदर अघासुर कैं परैं ज्यौं हरि गाइ गुवाल॥

यहाँ पर राजा का वीर रस कवि की राजविषयक रति को पुष्ट करने के कारण रसवत् अलकार ही है। पिछले उदाहरणों से इसमें अन्तर यह है कि पिछले उदाहरण शुद्ध रसवत् अलंकार के उदाहरण हैं और यह संकीर्ण रसवत् का उदाहरण है। यहाँ पर वीररसालंकार के साथ उपमा का संकर हुआ है।

चौथा उदाहरण :—

प्रतिबिंबित जयसाहि दुति दीपति दरपन-धाम।
सबु जग जीतन कौं कर्‌यौ काय-व्यूह मनु काम॥

यहाँ शृंगार रस कवि की राजविषयक रति का पोषक होने के कारण रसवत् अलकार है। यह भी उत्प्रेक्षा से संकीर्ण है।

रसवत् अलंकार का पाँचवाँ उदाहरण :—

गोपिनु सँग निसि सरद को रमत रसिकु रस-रास।
लहाछेह अति गतिनु की सबनु लखै सब-पास॥

यहाँ पर शृंगार रस अद्‌भुत रस का अग है।

रसवत् अलंकार का छठा उदाहरण—

रहति न रन, जयसाहि-मुख-लखि, लाखनु की फौज।
जाँचि निराखर ऊ चलै लै लाखनु की मौज॥

इस दोहे के प्रथम दल में जयसिंह के शत्रुओं के उत्साह की शान्ति का वर्णन किया गया है जो कि कवि की राजविषयक रति का अंग है। अतएव यहाँ पर समाहित अलंकार है। द्वितीय दल में यह व्यंजना निकलती है कि राजा गुणों की तथा विद्वत्ता की परवा नहीं करता। निरक्षरों को लाखों का दान दे देना राजा की विवेकहीनता का परिचायक है। इस प्रकार यहाँ पर दानवीरता के अनौचित्य-प्रवृत्त होने के कारण वीररसाभास कवि की राजविषयक रति को पुष्ट करता है। अतएव ओजस्वी अलंकार है। इस प्रकार इस दोहे में समाहित और ओजस्वी अलंकारों का संकर है।

ओजस्वी अलंकार का शुद्ध उदाहरण यह है :—

चलत पाइ निगुनी गुनी धनु मनि-मुत्तिय-माल।
भेंट होत जयसाहि सौं भागु चाहियतु भाल॥

इसमें भी अविवेकपूर्ण दान वीररसाभास होकर कवि की राजविषयक रति को पुष्ट करता है। अतएव ओजस्वी अलंकार है। इसी प्रकार :—

अनी बड़ी उमड़ी लखैं असिबाहक भट भूप।
मंगलु करि मान्यौ हियैं भो मुँहु मंगलु रूप॥

यहाँ पर 'मंगलु करि मान्यौ हियैं" से हर्ष का उदय व्यक्त होता है। दोनों मुख्य वर्ण्य कवि की राजविषयक रति को पुष्ट करते हैं। अतएव यहाँ पर भावोदय अलंकार है। साथ ही हर्ष और क्रोध की संधि होने से 'भाव संधि अलंकार भी है। अन्तिम चरण 'भौ मुँहु मंगलु रूप' से क्रोध की अभिव्यक्ति होती है। इस क्रोध में ही चर्वणा का पर्यवसान मानकर यहाँ पर रौद्ररस ध्वनि भी मानी जा सकती है।

बिहारी का कोई भी दोहा भाव-शबलतालंकार का उदाहरण नहीं है। निम्न-लिखित ६ दोहे मिलकर भावशबलता अलंकार के उदाहरण कहे जा सकते हैं जो एक साथ लिखे भी गये हैं।

बेद भेद जानैं नहीं नेति नेति कहैं बैन।
ता मोहन सौं राधिका कहै महावरु दैन॥१॥
जग्य न पायौ ब्रह्म हूँ जोग न पायौ ईस।
ता मोहन पैं राधिका सुमन गुहावति सीस॥२॥
सिव सनकादिक ब्रह्म हूँ भरि देख्यौ नहिं दीठि।
ता मोहन-तन राधिका दै दै बैठति पीठि॥३॥
मनु मार्‌यौ केते मुनिनि, मनु, न मनायौ आइ।
ता मोहन पैं राधिका मान गहावति पाइ॥४॥
जिन सगरी वसुधा करी तल मिलै कै पाँच।
ता मोहन कौं राधिका किते नचावति नाच॥५॥

देव अदेव सबै अपै अपनैं अपनैं ऐन।
ता मोहन तन राधिका चितवति आधे नैन ॥६॥

यहाँ पर गर्व, अमर्ष, अवहित्था, असूया, हर्ष, लज्जा, औत्सुक्य इत्यादि भावो की शबलता कवि की भगवद्विषयक रति का अग है। अतएव यहाँ पर भावशबलता अलंकार कहा जा सकता है। यद्यपि यहां पर उपमर्द्य-उपमर्दक भाव नही है तथापि पृथक् प्रतीति ही शबलता की प्रयोजिका कही जा सकती है।

कुछ लोगो का कहना है कि अलंकार वही पर होता है जहाँ वह वाच्य वाचक का उपकार करते हुए रस का उपकार किया करता है। अलकार कभी भी रस का प्रत्यक्ष उपकारक नही होता। यहाँ पर रस भाव इत्यादि का प्रत्यक्ष उपकारक है, अतएव अलकार नही कहे जा सकते। अभिनवगुप्त का कहना है कि उपकारकत्व धर्म मात्र ही अलकार का प्रयोजक होता है। इसमे शब्द और अर्थ के द्वारा उप कारक होना प्रयोजनीय नही है। अतएव उपकारकत्व धर्म को लेकर इन्हे भी रस की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।

वस्तु-व्यंजनामूलक अलंकार

कुछ अलंकार ऐसे होते हैं जिनमें वस्तु-व्यंजना की विशदतापूर्वक प्रतीति होती है और जो वस्तु-व्यंजना पर ही आधारित होते है। वस्तु-ध्वनि तथा वस्तु-व्यंजना मूलक अलकारों में यह अन्तर है कि ध्वनि वहाँ पर होती है जहाँ पर व्यग्यार्थ की प्रधानता हो और वस्तु व्यजनामूलक अलकारो में व्यंग्य वस्तु गौण होती है। यद्यपि आस्वादन के अवसर पर प्रधानता का पता नही चलता क्योकि पहले बतलाया ही जा चुका है कि तत्वद्योतिनी बुद्धि में उस अर्थ की प्रतीति एकदम हो जाती है जिससे किसी भी काव्य का पर्यवसान अखण्ड चर्वणा में ही होता है और उसमें पौर्वापर्य का कुछ भी अनुभव नही होता तथापि जब विवेचक लोग काव्य के जीवन का अन्वेषण करते हैं तब उन्हे मालूम होता है कि जहाँ पर व्यंग्य वाच्यार्थ को अनुप्राणित करता है वहा वस्तु-व्यजना मूलक अलंकार हुआ करते हैं। कारण यह है कि वहां पर वाच्य अर्थ ही व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर चमत्कार में कारण हुआ करता है। यद्यपि पर्यवसान रस ध्वनि में ही होता है तथापि वह व्यग्यार्थ मध्य कक्षा में सन्निविष्ट हो चुका होता है, अत. वह रस-ध्वनि की सहायता के लिये उन्मुख नही होता, किन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक वाच्यार्थ के संस्कार की ओर ही दौड़ता है। वस्तु-व्यंजना मूलक कतिपय अलकारो के उदाहरण नीचे दिये जाते है—

(१) समासोक्ति :—

सरस कुसुम मँडरात अलि न झुकि झपटि लपटातु।
दरसत अति सुकुमारु तनु परसत मनु न पत्यातु॥

इससे किसी कोमलांगी नायिका पर अनुरक्त किसी नायक के संकोच की

व्यंजना होती है। इस व्यंजना से उपस्कृत होकर पुष्प और भ्रमर का वाच्यार्थ ही आस्वादन में निमित्त हो रहा है। इसी प्रकार

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहि काल।
अली, कली ही सौं बँध्यौ आगैं कौन हवाल॥

यहाँ पर भी किसी कामी द्वारा किसी कम आयु वाली नायिका से अनुरक्त होना व्यंग्य है जिससे उपस्कृत होकर भ्रमर का कली से बन्ध जाना रूप वाच्यार्थ आस्वादन में निमित्त होता है। समान विशेषणों के आधार पर अर्थान्तर की प्रतीति होने के कारण उक्त उदाहरणों में समासोक्ति है।

(२) आक्षेप :—

ज्यौं ज्यौं हूबे हौं, त्यौं होउँगौ हौं, हरि अपनी चाल।
हठु न धरिय अति कठिन है मो तारिवौ गुपाल॥

यहां निषेधाभास वाच्य है। इससे तरने की कवि की आकांक्षा व्यंग्य है। व्यंग्यार्थ से पुरस्कृत होकर निषेधाभास वाच्य ही चमत्कार-पर्यवसायी है। अतः यहां पर आक्षेप अलंकार है।

पूस-मास सुनि सखिनु पैं साईं चलत सवारू।
गहि कर बीन प्रवीन तिय राग्यौ रागु मलारू॥

यहाँ पर उपाय का आक्षेप किया गया है और नायक को रोकने की नायिका की कामना व्यंग्य हो कर वाच्य वस्तु की उपस्कारिका बन गई है।

कहीं-कहीं पर उक्त विषय में भी आक्षेप होता है। जैसे :—

भये बटाऊ नेह तजि, वादि बकति बेकाज।
अब, अलि, देति पुराहनौ अति उपजति उर लाज॥

यहां पर नायिका ने पूरी बात कह दी है किन्तु फिर भी "वादि बकत बेकाज" कहकर निषेध किया गया है।

(३) पर्यायोक्त :—

मोरचन्द्रिका, स्याम-सिर चढ़ि कत करति गुमानु॥
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियतु राधा-मानु॥

यहा पर व्यजना होती है – कि "राधा ने मान किया है और तुम्हे मनाना पड़ेगा।" यही बात मोर-चन्द्रिका के व्याज से कह दी गई है। अतएव दूसरे रूप में गम्य बात के कह देने के कारण यहाँ पर पर्यायोक्त अलकार ही है।

इसी प्रकार :—

इहिं बसंत न खरी, अरी, गरम, न सीतल बात।
कहि क्यौं झलके देखियत पुलक, पसीजे गात॥

यहाँ पर भी "मैं समझ गई हू कि तू सभोग कर आई है" यह बात भंग्यन्तर से कह दी गई है।

(४) अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति :—

कितौ न गोकुल कुलवधू किहिं न काहि सिख दीन ।
कौनैं तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुरलीन ।।

यहाँ पर कुल गली के छोडने का कारण है कृष्ण का रूप ही इतना मधुर तथा आकर्षक है कि उसको देख कर मर्यादा में रहा ही नही जा सकता। इसकी प्रतीति व्यजना से ही होती है :—

चितु तरसतु, मिलत न बनतु बसि परोस कै बास ।।
छाती फाटी जाति सुनि टाटी और उसास ।।

यहाँ पर परोस में रहने से मिलने का कारण तो सन्निहित ही है, किन्तु फिर भी मिलते नही बनता। इस प्रकार कारण के होते हुए भी फल नही निकल रहा है, अतएव विशेषोक्ति है। किन्तु न मिल सकने का कारण नही बताया गया है जिसका उन्नयन व्यजना वृत्ति से करना पडता है कि लोक-लाज इतनी बढी-चढी है कि दोनों ओर इच्छा होते हुए भी मिलना नही हो रहा है।

इसी प्रकार दूसरे अलंकारो के विषय में भी समझना चाहिए।

इसी वर्ग में अन्योक्तियाँ भी आती है। बिहारी की अन्योक्तिया सख्या में बहुत हैं। इनमें भी किसी लोक-वृत्त अथवा लोक-व्यवहार की व्यजना हुआ करती है। किन्तु व्यग्यार्थ चमत्कार-पर्यवसायी नही होता। चमत्कार का पर्यवसान वाच्यार्थ में ही हुआ करता है। अतएव वहा पर भी व्यग्यार्थोपस्कृत वाच्य ही आस्वादन में निमित्त होता है। इन अन्योक्तियो का विस्तृत-विवेचन यथा-स्थान किया जावेगा।

व्यंग्यार्थोपस्कारक अलंकार

पहले बतलाया जा चुका है कि व्यग्यार्थोपस्कारक अलकार दो प्रकार के होते है :—शब्दालंकार और अर्थालकार। शब्दालकार भाषा-सौन्दर्य से सम्बन्ध रखते हैं। अतएव उनका विवेचन भाषा के प्रकरण में किया जावेगा।

अर्थालंकार भी दो प्रकार के बतलाये गये हैं—स्वभावोक्ति और अतिशयोक्ति। बिहारी सतसई में दोनों प्रकार के अलंकारो के उदाहरण पाये जाते हैं। बिहारी ने ग्रामीण और नागरिक दोनो प्रकार की ललनाओं के स्वभाव का बहुत ही स्वाभाविक चित्रण किया है। कतिपय उदाहरण देखिये :—

चाले की बातैं चलीं सुनत सखिनु कैं टोल ।
गोएँ हूँ लोइनु हँसत, बिहँसत जात कपोल ।।

यहाँ पर किसी नायिका की गौने के अवसर की भावना का कितना सुन्दर स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

इसी प्रकार किसी सामान्य परिचित नायिका के प्रथमसम्मिलन का चित्र देखिए :—

भौंहन त्रासति मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति ।
ऐंचि छुडावति करु हँची आगैं आवति जाति ।।

इसी प्रकार .—

त्रिबली, नाभि दिखाई कर सिर ढकि, सकुचि, समाहि ।
गली अली की ओट कै, चली भली विधि चाहि ।।

यहाँ पर किसी नायिका के देखने की चेष्टाओ का सुन्दर वर्णन है । तम्बाकू पीने का चित्रण देखिए —

ओठु उँचे हाँसी-भरी दृग भौंहनु की चाल ।
मो मनु कहा पी लियौ, पियत तमाकू लाल ।।

यद्यपि स्वभावोक्ति को अलकार कहने में कुछ लोगो को आपत्ति है । कुन्तक ने लिखा है कि "जो लोग स्वभावोक्ति को भी अलकार मानते है उनके मत में अलंकार्य क्या होगा ? क्या कभी कोई अपने कधे पर भी चढ सकता है ।" किन्तु वास्तविकता यह है कि स्वाभाविक चेष्टाओ का जहा लोक-सामान्य रूप में वर्णन किया जाता है वहा स्वाभाविक चेष्टाये अलकार्य होती है । किन्तु जहाँ इन चेष्टाओं का वर्णन इस रूप में किया जाता है कि उनमें चमत्कार उत्पन्न हो जावे तब वे ही चेष्टायें अलंकार हो जाती हैं । आचार्यों ने स्वभावोक्ति को इसी आधार पर अलंकार माना है ।

दूसरे प्रकार के अर्थालंकार होते हैं अतिशयोक्ति मूलक । ये कई प्रकार के हो सकते हैं । कही कवि अप्रस्तुत की योजना करता है, कही कार्य-कारण की कोई विशेषता बतलाता है, कही प्रस्तुतों और अप्रस्तुतो की एक साथ ही योजना में चमत्कार का आधान करता है, कही साम्य दिखलाता है, कही वैषम्य प्रकट करता है, कहीं विरोध को ही चमत्कार के साथ अभिव्यक्त करता है । इस प्रकार इन अलंकारों की संख्या बहुत अधिक है । बिहारी ने प्राय. सभी प्रकार के अलकार लिखे हैं । बिहारी का ऐसा कोई दोहा नहीं, जिसमें चमत्कार विद्यमान न हो और ऐसे अलकार भी बहुत कम निकलेगे जिनका उदाहरण बिहारी में न मिल जाये । इन्होंने अलंकारों का प्रयोग ठीक अर्थ में किया है अर्थात् इनके अलंकार रस पर आवरण नही डालते अपितु रस को अलंकृत ही करते है ।

बिहारी के अलंकारो का विस्तृत विवेचन करना प्रस्तुत निबन्ध के छोटे से कलेवर में सम्भव नही है और न आवश्यक ही है । टीका-ग्रन्थों में अलंकारो पर विचार किया गया है । यहां प्रमुख अलंकारों का दिग्दर्शन मात्र कराया जा रहा है ।

सर्वप्रथम सादृश्यमूलक अलंकारो को लीजिए । इनकी उपजीवक उपमा है । पण्डितराज की परिभाषा के अनुसार जहाँ सुन्दर सादृश्य होता है उसे उपमा कहते हैं । बिहारी ने उपमानों का उपादान क्रीडा-क्षेत्र (पतंग, लट्टू इत्यादि), पौराणिक गाथायें, राजनैतिक स्थिति, सैनिक उपकरण, प्राकृतिक तत्त्व, जगली जीवों का स्वभाव और रासायनिक पदार्थ इत्यादि अनेक क्षेत्रो से किया है । उपमाये पूर्ण भी हैं और लुप्त भी ।

उदाहरण :—

हरि-छवि जल जब तैं परे, तब तैं छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत, बूडत तरत रहत घरी लौं नैन।

यहां पर नैन उपमेय है, 'घरी' उपमान है, 'लौं' वाचक शब्द है और भरत, ढरत, बूडत, तरत धर्म हैं। लुप्तोपमा के उदाहरण लीजिए :—

धर्मलुप्ता चढी अटा, निरखति घटा, बिज्जु-छटा सी, नारि।

× × ×

लै चुभकी चलि जाति जित जित जल-केलि-अधीर ॥
कीजतु केसरि-नीर से तित तित के सरि-नीर ॥

उपमेयलुप्ता – नई लगनि कुल की सकुच विकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरनि फिरकी लौं दिनु जाइ ॥

यहां पर उपमेय (नायिका) अनुक्त है।

वाचकलुप्ता – कत लपटइयतु मो गरैं सो न, जुही निसि सैन।
जिहिं चंपक बरणी किए गुल्लाला-रंग नैन ॥

नैन उपमेय, गुल्लाला उपमान, रग धर्म, किन्तु वाचक अनुक्त है।

उपमेय-वाचक लुप्ता– इततैं उत, उततैं इतै छिनु न कहूँ ठहराति।
जक न परति, चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति ॥

निम्नलिखित दोहे के पूर्वार्ध मे उपमेयलुप्ता उपमा है और उत्तरार्ध में धर्मोपमेयवाचक लुप्ता है। इनका सकर बहुत ही सुन्दर है —

फूली फाली फूल सी फिरति जु विमल-विकास।
भोर तरैयाँ होहु ते चलत तोहि पिय-पास ॥

पूर्वार्ध में फूल उपमान है, फूली फाली धर्म है और 'सी' वाचक है। किन्तु सौतो का उल्लेख नही किया गया है, जो कि उपमेय है। इसी प्रकार उतरार्ध में न वाचक ही है, न धर्म ही है और न उपमेय ही है। केवल उपमान 'भोर तरैया' का उल्लेख कर दिया गया है।

उपमा अनेक अलकारो की उपजीवक भी होती है और बहुत से अलकारो से उपमा की अभिव्यक्ति भी होती है। ऐसे अलंकारो में प्रत्येक की सख्या बिहारी सतसई में बहुत अधिक है। केवल प्रमुख अलंकारों के एक दो उदाहरण दिये जावेंगे।

रूपक बिहारी का बहुत प्रिय अलकार है। बिहारी ने इसका कम से कम ४८ बार प्रयोग किया है। दो उदाहरण लीजिये :—

(१) अरुन सरोरुह-कर-चरन दृग-खजन, मुख-चद।
समय आइ सुन्दरि सरद काहि न करति अनंद ॥
तिय-तिथि तरुन-किसोर वय पुन्यकाल सम दोनु।

अपह्नुति : (१) जोन्ह नहीं यह, तमु बहै, किए जु जगत निकेतु ।
होत उदै ससि के भयौ मानहु सबहरि सेतु ।।
(२) घुरवा होहिं न, अलि, उठै धुआँ धरनि-चहुँ कोंद ।
जारत आवत जगत कौं पावस प्रथम पयोद ।।

दृष्टान्त का भी बिहारी ने बहुत अधिक प्रयोग किया है। यह भी बिहारी का प्रिय अलंकार है। एक उदाहरण लीजिये :—

कैसैं छोटे नरनु तैं सरत बड़नु के काम ।
मढ्यौ दमामौ जात क्यौं कहिं चूहे कैं चाम ।।

यहाँ पर काम सरना और दमामा मढा जाना दोनो में धर्म भेद है, अतएव दृष्टान्त अलंकार है।

प्रतिवस्तूपमा—चटक न छाँडनु घटत हूँ सज्जन-नेहु गँभीरु ।
फीकौ परै न, बरु फटै रग्यौ चोल रंग चीरु ।।

यहाँ पर फीका न पड़ना और चटक न छोड़ना एक ही धर्म है। अतएव प्रतिवस्तूपमालकार है।

यह तो लोक-सम्भव सादृश्य विधान की बात हो गई। जब कल्पित वस्तु से सादृश्य विधान किया जाता है तब उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं। उत्प्रेक्षालंकार एक प्रसिद्ध अलंकार है। बिहारी ने इसका बहुत अधिक प्रयोग किया है। उदाहरण लीजिये :—

भाल लाल बेंदी, ललन, आखत रहे विराजि ।
इन्दु कला कुज में बसी मनौ राहु भय भाजि ।।

मंगल में कभी इन्दु कला नही बसती। किन्तु कवि ने कल्पना कर ली है। एक दूसरा उदाहरण लीजिये :—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन ।
मानहुँ सुरसरिता-विमलजल उछरत जुग मीन ।।

यहाँ पर लोक सिद्ध वस्तु से सादृश्य की सम्भावना मात्र कर ली गई है। बिहारी के दोहो में उत्प्रेक्षा की बहुतायत है। टीका-ग्रन्थो में इनका निदश किया गया है।

यह तो हुई सादृश्य-विधान की बात। वैषम्यमूलक अलंकारों के दो-एक उदाहरण देखिये।

जब उपमेय के सामने उपमान को व्यर्थ बतलाया जाता है तब उसे प्रतीप कहते हैं।

जैसे : —

कहाँ कुसुम, कहँ कौमुदी, कितक आरसी जोति ।
जाकी उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति ।।

इसी प्रकार :—

केसरि कै सरि क्यौं सकै, चंपकु कितकु अनूपु।
गात रूपु लखि जातु दुरि जातरूप कौ रूपु॥

व्यतिरेक के उदाहरण भी बिहारी ने बहुत ही सुन्दर लिखे हैं। निम्नलिखित दोहे में सौन्दर्य और मदिरा का वैषम्य दिखलाया गया है :—

डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-बिपाकु।
छिनकु छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषमु छवि-छाकु॥

सामान्य मदिरा का नशा डर में नीद में, अथवा समय के व्यतीत हो जाने पर जाता रहता है। किन्तु छवि का नशा इतना गहरा होता है कि क्षण भर मे पी लेने के बाद कभी नही उतरता। अतएव छवि के नशा में सामान्य नशा की अपेक्षा बहुत बड़ा वैषम्य है।

सादृश्यमूलक अलंकारो के अतिरिक्त बिहारी के सबसे अधिक प्रिय अलकार है असगति, दीपक और मीलित। बिहारी ने कई एक असगतियाँ बड़ी ही सुन्दर लिखी है। निम्नलिखित दोहे में असगति अलकार है :—

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत, चतुर-चित प्रीति।
परत गाँठि दुरजन-हियैं, दई, नई, यह रीति॥

सामान्य रस्सी के उलझने पर वही टूटती है और वही जुड़ती है और उसी में गाँठ पडती है। किन्तु प्रेम के क्षेत्र में उलझती आंखे है, कुटुम्ब टूटता है, चतुरो के चित्त में प्रेम जुड़ता है तथा दुष्टो के हृदय में गाँठ पड़ती है। यही असगति है। दूसरा उदाहरण लीजिये।

क्यौं बसियै, क्यौं निबहियै, नीति नेह-पुर नाँहि।
लगी लगी लोइन करैं नाहक, मनु बँधि जाँहि॥

दीपक के भी एक दो उदाहरण देखिये—

(१) तंत्री-नाद, कवित्त रस, सरस राग, रति-रग।
अनबूड़े बूड़े, तरै जे बूड़े सब अंग॥

(२) गढ़ रचना, बरुणी अलक, चितवनि, भौंहि कमान।
आधु बँकाई हीं चढ़ै तरुनि, तुरगम, तान॥

इसी प्रकार कई एक भावो और क्रियाओं का उल्लेख भी सुन्दर बन पड़ा है। बिहारी ने मीलित के कई दोहे लिखे है। किन्तु एक-दो को छोड़कर प्राय: सर्वत्र उन्मीलित हो गया है। मीलित अलकार का उदाहरण निम्नलिखित है :—

बरन, बास, सुकुमारता, सब बिधि रही समाइ।
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाइ॥

किन्तु इस दोहे के अतिरिक्त बिहारी ने सर्वत्र मीलित को उन्मीलित कर दिया है। एक उदाहरण लीजिये :—

मिलि चदन बेंदी रही गोरैं मुँह, न लखाइ।

विरोध के भी एक-दो उदाहरण लीजिये :—

(१) कत बेकाज चलाइयति चतुराई की चाल।
कहे देति यह रावरे सब गुन निरगुन माल॥

(२) जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहैं आँखें लागति नाँहि।

ग्रन्थ-विस्तार के भय से यह प्रकरण यही समाप्त किया जाता है। बिहारी की रचना अलंकार की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है और जितना ही इस पर विचार किया जाता है उतने ही रहस्य प्रकट होते हैं। किसी-किसी दोहे में सात-सात आठ-आठ अलंकार उलझे हुए है। अलंकारो की ससृष्टि और सकर सर्वथा दर्शनीय है और बिहारी की सबसे बडी विशेषता यह है कि अलंकार-प्रयोग में विशेष अभिरुचि लेते हुए भी परिमाण का बहुत अधिक ध्यान रक्खा गया है। अलंकार कही रस पर हावी नही हुए हैं। यही बिहारी की सफलता है।

बिहारी का चमत्कार-विधान

आलोचक-प्रवर क्षेमेन्द्र ने कवि कण्ठाभरण में लिखा है कि— जिस प्रकार स्वाद का लोभी भ्रमर पुष्पो के कारण सुशोभित होने वाले वन में वसन्त के समय में नवीन कुसुमो के आमोद को ग्रहण करने के लिए अग्रसर होता है उसी प्रकार एक सुकवि भी अपनी कविता में विशेषता उत्पन्न करने के लिए वस्तु, शब्द और अर्थों की मनोज्ञता को ग्रहण करता है। चमत्कारहीन कवि न तो कवि ही हो सकता है और न काव्य ही हो सकता है। काव्य में कितने ही सुन्दर वर्ण हों, चाहे उसमें दोष का एक भी अश न हो किन्तु जब तक उसमें बहुमूल्य मणि के समान कोई चमत्कारोत्पादक शब्द नही होगा तब तक वह किसी के भी मन को उसी प्रकार आकर्षित न कर सकेगा जिस प्रकार अगनाओं का यौवन लावण्यहीन होने पर किसी को भी आकृष्ट नहीं कर सकता।' (कवि तृ० स०) क्षेमेन्द्र ने १० प्रकार का चमत्कार माना है। बिहारी मे चमत्कार का आग्रह बहुत अधिक है। उनके ऐसे दोहो की सख्या बहुत अधिक है जिनमें उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार की प्रौढ़ता पाई जाती है। निम्न प्रकरण में बिहारी के दोहो में क्षेमेन्द्र के बतलाये हुए दश-विध चमत्कारों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है :—

(१) अविचारित रमणीय .—

लाज तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार।
सरसै बरसैं नीरहूँ झरहूँ मिटै न झार॥

अग्नि का जल बरसने पर बढना तथा सीचने से भी ताप का न मिटना चमत्कारपूर्ण ढग से वर्णित किया गया है। यह चमत्कार सहसा पाठक के सामने आ जाता है और पाठक को विचार नही करना पड़ता।

(२) विचार्यमाण रमणीय :—

बालमु वारैं सौति कैं सुनि पर नारि विहार।
भो रसु अनरसु रिस रली, रीझ खीझ इक बार॥

यहाँ पर सहसा चमत्कार प्रतीत नहीं होता। जब रस इत्यादि के हेतुओं पर विचार किया जाता है तभी चमत्कार की प्रतीति होती है। नायिका को अपनी सौत की पारी में नायक का किसी परस्त्री से विलास करना सुनकर अनेक भाव एक साथ उत्पन्न हुए—ईर्ष्याजन्य सुख हुआ कि अच्छा हुआ सौत को कष्ट मिला। दूसरी ओर सौत तैय्यार हुई इसका दुःख हुआ। नायक को यदि अन्यत्र ही जाना था तो मेरे यहाँ क्यों नहीं आया इस बात पर क्रोध हुआ। सौत से मज़ाक करने की भावना उत्पन्न हुई। नायक मेरी पारी में कहीं नहीं जाता इस बात की रीझ और नायक की आदत बुरी पड़ गई है, कहीं मेरी पारी में भी न चला जावे इस बात की खीझ उत्पन्न हुई। इन सब तत्वों पर विचार करने से ही चमत्कार की प्रतीति होती है।

(३) सम्पूर्ण सूक्तिव्यापी :—

भौंहनु त्रासति, मुँह नटति, आँखिनु सौं लपटाति।
ऐंचि छुड़ावति करु इँची आगैं आवति जाति।

इस दोहे में चमत्कार समस्त दोहे में विद्यमान है। पूर्वार्ध में नायिका की चेष्टाओं का सुन्दर वर्णन है और उत्तरार्ध में कुट्टमित हाव अपना चमत्कार स्थापित किये हुए है।

(४) सूक्ष्मैकदेश दृश्य :—

तो लखि मो मन जो लही, सो गति कही न जाति।
ठौढ़ी-गाढ़ गड्यौ, तऊ उड्यौ रहै दिन राति॥

यहाँ पर उत्तरार्द्ध में विरोध का चमत्कार है, किन्तु पूर्वार्ध में कोई चमत्कार नहीं।

(५) शब्द-चमत्कार .—

छकि रसाल-सौरभ, सने मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत भौंर झौंर मधु अंध॥

यहाँ पर शब्दों के द्वारा ही मत्त व्यक्ति की चेष्टाओं को मूर्त्त रूप सा दे दिया गया है। किसी नायिका के संकोच और उत्कण्ठा के साथ देखने का शब्द-चित्र कितना सुन्दर है—

पावक झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि॥

एक और उदाहरण :—

रस सिंगार मजनु किए कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु, नैन॥

(६) अर्थ चमत्कार :—

तिय, कित कमनैती पढी, बिनु जिहि भौंह कमान।
चलु चितु बेझैं चुकति नहिं बंक विलोकनि-बान ।।

यहाँ पर नेत्र बाणों का सामान्य बाणो से वैषम्य बहुत ही चमत्कार-पूर्ण है।

(७) शब्दार्थगत :—

डर न टरै, नींद न परैं हरै न काल-विपाकु।
छिनकु छाकि उ छकै न फिर, खरौ विषमु छवि-छाकु ।।

यहाँ पर मदिरा और प्रेम के नशे का वैषम्य अर्थ चमत्कार में आता है और 'छ' का अनुप्रास शब्द चमत्कार में।

(८) अलंकारगत :—

तूँ मोहन-मन गढ़ि रही गाढी गडनि गुवालि।
उठे सदा नर साल ज्यौं सौतिनु कैं उर सालि ।।

यहाँ पर चमत्कारपूर्ण असगति अलकार है। नायिका गडी तो है नायक के हृदय में और टीसती है सौतो के हृदयो में।

(९) रसगत —

छिनकु उघारति, छिनु छुवति राखति छिनकु छिपाइ।
सबु दिन पिय-खडिन अधर दरपन देखत जाइ ।।

यह सयोग की हर्षपूर्ण अवस्था का चमत्कारपूर्ण चित्रण है। नीचे के दोहे में विप्रलम्भ के अनुभाव आँसुओ का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया गया है :—

पलनु प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अंसुवाँ परि छतिया, छिनकु छन छनाई, छिपि जात ।।

(१०) प्रख्यात वृत्तिगत :—

'समरस समर संकोच वस विवस' तथा 'मरकत भाजन सलिलगतइन्दुकला' में समास वृत्ति का चमत्कार कारक प्रयोग किया गया है।

यहाँ पर बिहारी सतसई के अलकार प्रयोग तथा चमत्कार विधान का बहुत ही संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है। यदि कोई बिहारी सतसई के चमत्कार तथा अलकार के विषय में पूछे तो पूरी बिहारी सतसई उसके समक्ष उदाहरण के रूप में उपस्थित की जा सकती है। सभी दोहे चमत्कारपूर्ण है तथा बिहारी की प्रतिभा के परिचायक है इसमें सन्देह नही।

———

धीरे-धीरे प्राकृतिक कारणों से ही अपभ्रंश भाषाओं को भी साहित्यिक मरण का सामना करना पडा। नवीन भाषाओं का प्रादुर्भाव अपभ्रंशों के साहित्यिक रूपों और जन भाषाओ के मिश्रण से हुआ है। कोई भाषा कब सत्ता में आती है और कब साहित्य-जगत् से बहिष्कृत हो जाती है इसकी कोई एक तिथि निश्चित नही की जा सकती। सत्ता में आने वाली भाषा अपनी व्यवस्थित साहित्य-सर्जना से सैकड़ों वर्ष पहले कवियो और लेखको द्वारा व्यवहृत होने लगती है और बहिर्भूत भाषा में भी बहुत समय तक साहित्य रचना होती रहती है। यद्यपि नवागत भाषा में बहुत पहले सम्भवत. हेमचन्द्र से दो-तीन सौ वर्ष पहले ही रचनाये प्रस्तुत की जाने लगी थी तथापि भाषाओ के व्यवस्थित साहित्य का प्रथम महान् ग्रन्थ चन्द्रवरदायी का पृथ्वीराज रासो कहा जा सकता है। कवि चन्द्र ने अपनी भाषा को षड् भाषा कहा है। रत्नाकर ने कल्पना की है कि चन्द्र की षड्भाषा मे सस्कृत, प्राकृत, राष्ट्रीय अपभ्रश तथा तत्सामयिक तीनो प्रचलित भाषाओ का मेल है तथापि क्रियाये तथा विभक्तियाँ शौरसेनी की ही है। जिस प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत तथा राष्ट्रीय अपभ्रंश में शौरसेनी का ही प्राधान्य था उसी प्रकार षड् भाषा में शौरसेनी ही प्रतिष्ठित थी और अपने प्रदेश के बाहर भी एक बहुत बड़े भूभाग में काव्य भाषा के रूप में समझी जाती थी तथा सम्मानित होती थी। शौरसेनी के भी कई प्रादेशिक रूप हो गये। पश्चिमी उत्तरप्रदेश में ब्रजभाषा कहलाती थी, मध्य उत्तरप्रदेश में कन्नौजी, बैसवाडी इत्यादि नाम थे और अवध प्रान्त के आस पास इसे अवधी के नाम से अभिहित किया जाता था। राजस्थान में मारवाड़ी, मेवाडी इत्यादि भी इसी भाषा के रूप थे। बुन्देलखण्डी और ग्वालियरी रूप भी शौरसेनी से ही निस्सृत हुए थे। हिमालय के प्रदेशो में गढवाली, कुमायुनी, नेपाली, इत्यादि भाषायें भी इसी शौरसेनी के ही उपभेद थे।

शौरसेनी भाषाओ के उपभेदो मे ब्रजभाषा को सर्वाधिक प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुआ। यह तत्कालीन काव्य भाषा बन गई और ब्रज प्रान्त से दूरवर्ती प्रदेशो में भी कविगण कविता के लिये इसे ही अपनाने लगे। जिस प्रकार विस्तृत क्षेत्र में व्यापक प्रचार के लिए अति प्राचीन काल से महाराष्ट्री इत्यादि की कल्पना होती चली आई थी उसी प्रकार इस काल में ब्रजभाषा व्यापक क्षेत्र की काव्य भाषा बन गई। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्य भाग ब्रजभाषा के चरमोत्कर्ष का था। आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर अनेक रससिद्ध कवियो ने इस भाषा को समृद्ध बनाया। इस भाषा को गौरव प्रदान करने का सर्वाधिक श्रेय महात्मा सूरदास को दिया जा सकता है। यद्यपि इनके पहले और बाद में भी अनेक कवियो ने इस भाषा में कविता की थी तो भी जो लोकप्रियता तथा श्रेष्ठता महात्मा सूर को प्राप्त हुई वह दूसरे के लिए दुर्लभ है।

काव्य भाषा के रूप में ब्रज भाषा लोक में व्यवहृत होने वाली ब्रज भाषा

से भिन्न है। यद्यपि व्रज प्रान्त में प्रादुर्भूत होने के कारण इसमें व्रज के शब्दो की ही बहुलता है किन्तु अन्य प्रादेशिक शब्दो का सर्वथा प्रत्याख्यान नही किया गया है। व्रज-भाषा के रूप में होते हुए भी यह नई ही काव्य भाषा है जो कि अनेक प्रदेशो के शब्दों के उपादान के द्वारा बनाई गई है।

यद्यपि इस भाषा में काव्य-रचना पर्याप्त मात्रा में हुई तथापि व्याकरण का नियंत्रण न होने के कारण यह भाषा मनमाने रूप में लिखी जाती रही। इसका एक बहुत बडा कारण यह भी था कि व्रजभाषा के लिखने वाले अनेक कवि विद्वान् नही थे। इन लोगो का सारा ज्ञान सत्संग पर ही आधारित था। इधर-उधर से सुन-सुनाकर ये लोग भाषा का ज्ञान अर्जित कर लेते थे और मनमाने रूप में लिखने लगते थे। शब्दो की मनमानी तोड-मरोड, क्रिया, कर्त्ता, कर्म इत्यादि के रूपों का मनमाना प्रयोग व्रजभाषा काव्य में सर्वत्र पाया जाता है। न तो कभी किसी ने व्रजभाषा को नियमबद्ध करने की चेष्टा की और न कवियों पर भाषा सम्बन्धी नियन्त्रण ही लगाया गया। बिहारी के समय तक आते-आते हमें भाषा इसी अव्यवस्थित रूप में प्रयुक्त होती हुई मिलती है।

१—बिहारी की भाषा

'बिहारी सतसई को देखने से ज्ञात होता है कि ये सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश भाषाओ के अच्छे पण्डित थे। इन भाषाओ के काव्य-ग्रथो के साथ अनेक शास्त्रो की भी छाप इनकी रचना में पाई जाती है। अतएव भाषा का अव्यवस्थित तथा अपरिमार्जित रूप बिहारी को पसन्द नही आया।' इन्होने भाषा के क्षेत्र में अपनाये जाने वाले अनेक रूपो पर ध्यान दिया और उसका परिमार्जित ढाचा तैयार कर लिया।' इनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्रयोग अव्यवस्थित नही पाये जाते। बिहारी के पहले किसी भी कवि की भाषा इतनी परिमार्जित और एक-रूप नहीं मिलती। पुराने कवि एक ही शब्द को एक ही विभक्ति में अनेक रूपों में लिख दिया करते थे। अन्त्यानुप्रास के लिए ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व कर लेना तो मामूली बात थी। सानुनासिक वर्णों का भी प्रयोग चाहे जहां कर दिया जाता था। बिहारी ही एक ऐसे कवि है जिन्होने सर्वप्रथम विभक्तियो के परिनिष्ठित रूपों का प्रयोग किया। इन्होने किसी एक विभक्ति में प्रयुक्त होने वाले सभी प्रकार के रूपो पर ध्यान दिया और जो रूप इन्हे प्राचीन परम्परा से मिलता हुआ तथा असदिग्ध अर्थ देने वाला प्रतीत हुआ, उसी को इन्होने अपनी परिमार्जित भाषा के लिए चुन लिया और दृढ़तापूर्वक उसी प्रयोग का अनुकरण करते रहे। इससे बिहारी परिष्कृत भाषा लिखने में तो सफल हुए ही, परवर्ती कवियो के लिए भी इन्होंने मार्ग प्रशस्त कर दिया और बाद में घनानन्द इत्यादि जिन कवियो ने परिष्कृत व्रजभाषा का प्रयोग किया है उनके मार्ग-दर्शन का श्रेय बहुत कुछ बिहारी को ही प्राप्त है। आचार्य शुक्ल ने सतसई में लक्षण-ग्रंथों की छाप देखकर किसी

लक्षण ग्रंथ के न लिखने पर भी बिहारी को रीति-ग्रथकार कवियो में स्थान दिया है। यदि इसी दृष्टि से विचार किया जावे तो बिहारी की परिमार्जित तथा परिष्कृत भाषा उन्हें भाषा-शास्त्रियो में भी स्थान दिलाने में समर्थ है। बिहारी ने भाषा के परिमार्जन के लिये किन-किन उक्तियो का आश्रय ग्रहण किया था इसका पूरा विवरण उपस्थित करना पृथक् अनुसन्धान का विषय है। रत्नाकर ने इस प्रकार का कुछ अनुसन्धान किया भी था और उनका विचार भी था बिहारी के भाषा परिष्कार पर एक पृथक् ग्रंथ लिखा जा सके। किन्तु उनकी उक्त कामना चरितार्थ नही हो सकी और यह कार्य अब भी किसी भाषाशास्त्री के प्रयत्न की अपेक्षा कर रहा है। अग्रिम पृष्ठो में बिहारी के गृहीत रूपो का सक्षिप्त परिचय दिया जावेगा।

वैय्याकरण विद्वान् शब्दो को दो भागो में विभक्त करते है – सिद्ध तथा साध्य। सिद्ध शब्द वस्तु वाचक होते है और साध्य शब्द क्रिया वाचक। सिद्ध शब्दो में एक ओर वे शब्द आते है, जिनमे विभक्तियो के सयोग से रूपो में परिवर्तन हो जाता है और दूसरी ओर वे शब्द होते है जिनमें विभक्तियो के सयोग से किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। प्रथम प्रकार के शब्दो में सज्ञा, सर्वनाम और विशेषण आते है, दूसरे प्रकार के शब्दो को अव्यय कहते है।

(अ) सिद्ध शब्द : सज्ञायें

भाषा सर्वदा संयोग से वियोग की ओर, विस्तार से सक्षेप की ओर चला करती है। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सस्कृत में समस्त विभक्तियाँ सक्षिप्त अवस्था में पाई जाती हैं और एक-एक शब्द के कम से कम १८ रूप पाये जाते हैं किन्तु आज खड़ी बोली में सभी विभक्तियाँ विश्लिष्ट है। हम केवल तीन रूपों से ही काम चलाते हैं जैसे लडका शब्द में कर्त्ता कारक एक वचन में लड़का, कर्त्ता कारक बहुवचन में लड़के और शेष विभक्तियो में लड़को यह रूप हो जाता है। 'लड़कों' के बाद कोई भी विभक्ति चिन्ह लगा दिया जाता है। जैसे लडको को, लड़को में, लड़कों के लिए इत्यादि। किन्तु ब्रजभाषा में विभक्तियाँ इतनी अधिक विश्लिष्ट नही हैं और इसमें एक शब्द के सात रूप बनते हैं। संस्कृत का द्विवचन ब्रजभाषा में समाप्त हो गया था। केवल एक वचन और बहुवचन शेष रह गए थे। सस्कृत का कारक भेद भी ब्रज भाषा में समाप्त हो गया था। सस्कृत में ही सिद्धान्त रूप मे कर्म इत्यादि के स्थान पर षष्ठी स्वीकार की गई थी और प्राय. अन्य कारको के अर्थ मे षष्ठी का प्रयोग हो जाया करता था। इसी आधार पर संक्षिप्तीकरण की दिशा में चलते हुए ब्रजभाषा में केवल एक कारक शेष रह गया था जिसका प्रयोग सभी कारको के अर्थ में हो जाया करता था। इसे हम सामान्य कारक के नाम से अभिहित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त कर्त्ता और कर्म के लिए दूसरे रूपो का भी प्रयोग मिलता है। इन्हे हम विशिष्ट कारक कह सकते हैं। इस प्रकार सामान्य तथा विशिष्ट कारको के एक

वचन तथा बहुवचन के भेद से प्रत्येक शब्द के चार रूप हो जाते हैं। इन रूपों के अतिरिक्त कर्मवाच्य भूतकाल के एक वचन के कर्त्ता के लिए भी एक प्रथम रूप प्रयुक्त होता था जो कि करण कारक के एक वचन के रूप से सर्वथा भिन्न होता था। कर्म वाच्य भूतकाल के बहुवचन में सामान्य कारक के बहुवचन का ही प्रयोग होता था। इन रूपों के अतिरिक्त सम्बोधन के दोनों वचनों में भी दो पृथक्-पृथक् रूप आते थे। ब्रजभाषा के कवि इनकी एकविधता में आवद्ध नही रहते थे और विभक्तियो के प्रयोग में मनमाना हेर फेर कर लेते थे। बिहारी की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि उन्होने वैकल्पिक रूपो से एक रूप चुन लिया और उसी का प्रयोग किया। उनके इस चुनाव में क्या कारण था यह विषय प्रस्तुत निबन्ध से बाह्य है। यहाँ पर केवल यही दिखलाया जावेगा कि बिहारी ने अपनी भाषा के लिए किन शब्दो को चुना था। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अन्तिम स्वर रूप-भेद का निर्णायक होता है। उसी के आधार पर रूप वना करते हैं। उदाहरण के लिए—

बिहारी ने सामान्य कारक के एकवचन के लिए 'ही' विभक्ति चुन ली थी और बहुवचन के लिए 'नु' विभक्ति चुन ली थी। इन विभक्तियो के पहले कभी कभी दीर्घ वर्ण को ह्रस्व भी हो जाता है। कभी-कभी इस नु विभक्ति के बाद सौ, के, को, इत्यादि विश्लिष्ट विभक्तियों का प्रयोग भी कर दिया जाता है। 'हिं' विभक्ति के उदाहरण: —'गीधहिं तारि' यहाँ पर कर्म कारक में अदन्त से 'हिं' प्रत्यय है, मन भावतिहिं' में ईकारान्त को हस्व कर उससे 'हिं' प्रत्यय जोडा गया है। कहा जानि ये कहत है ससिहि सीतकर नाउ" यहाँ पर इदन्त से 'हिं' प्रत्यय जोड़ा गया है। उन्ही परोसिहि नाह' में ईकारात पुलिग को ह्रस्व कर 'हि' प्रत्यय कर्मकारक के अर्थ में जोडा गया है। इसी प्रकार कविहि, 'तनहिं', पियहि इत्यादि विभक्तियों में भी समझना चाहिए। अकारान्त या आकारान्त शब्द के बाद कभी इस 'हिं' के 'ह' का लोप होकर वृद्धि हो जाती है अर्थात् उस अवस्था मे 'हिं' विभक्ति के स्थान पर 'ऐं' विभक्ति शेष रह जाती है। जैसे 'हरिनावैं' अर्थात् भगवान के नाम को कर्मकारक एकवचन, 'बालमु वारैं सौति के' अर्थात् सौत की पारी मे अधिकरण कारक, 'मगलु करि मान्यो हिये' अर्थात् हृदय मे अधिकरण कारक इत्यादि। एक स्थान पर बिहारी ने ऐं विभक्ति ईदन्त से भी जोड़ी है और यण् संधि करके 'सौति' का 'सौत्यौ' बनाया है। कुछ आदन्त शब्द ऐसे भी होते हैं जिनमें आ को ह्रस्व कर अदन्त के समान रूप चलाये जाते हैं। ऐसे शब्दो से हि और नु विभक्तियो के जोड़ने पर अ को ए हो जाता है। जैसे 'सकुचेहिं' सकुचित हुए व्यक्ति के लिए सम्प्रदान कारक।

नु विभक्ति के रूपों के उदाहरण

शब्द	दो न	कारक	विशेष
कनीनिकनु	४	अधिकरण	आ को ह्रस्व हो गया है
चखनु	१२	करण	
मुकतनु कै	२०	करण	कै यह विश्लिष्ट विभक्ति जोडी गई है।
पलनु	२२	अधिकरण	
दृगनु	२६	सम्बन्ध	की पृथक् विभक्ति का प्रयोग
नैननु	३२	करण	
नैननु कौ	३७	कर्म	पृथक् विभक्ति कौ
आंखिनु	४१	करण	
कंजनु	४६	सम्प्रदान	पृथक् विभक्ति का प्रयोग
सरोजनु	५३	सम्प्रदान	
लोइननु कै	५८	सम्बन्ध	कारक चिन्ह का प्रयोग
लोइननु	६४	सम्बन्ध	कारक चिन्ह का लोप
नैनानु तै	६७	अपादान	प्रातिपादिक को दीर्घ
नयननु	७८	अधिकरण	पृथक् विभक्ति
लाखनुकी	८०	सम्बन्ध	
गुरेरनु	९०	करण	

प्रथम शतक के 'नु' विभक्ति के उदाहरण ऊपर दिए गये है। इसी प्रकार सतसई भर मे बहुवचन के सामान्य कारक मे 'नु' विभक्ति का प्रयोग मिलता है। आकारान्त को ह्रस्व करके जब उससे विभक्ति लगाई जाती है तब 'आ' को ए हो जाता है। जैसे 'बडेनु सो' ४३१ करण कारक 'घूटेनुतै' ६६६ इत्यादि। किन्तु जब दीर्घ आ' बना रहता है तब सीधा 'नु' जोड़ दिया जाता है। जैसे चकवा का चकवानु। कभी-कभी दीर्घ 'आ' ह्रस्व भी हो जाता है जैसे 'अखियाँ' का 'अखियनु', अँसुवा का अँसुवनु।

यह तो हुई सामान्य कारक की बात। प्रथमा तथा द्वितीया में इनमे पृथक् रूप भी आते है। अतएव इन्हे विशिष्ट कारक कहा जा सकता है। सामान्यतया विशिष्ट कारक में निर्विभक्तिक प्रातिपादिक का प्रयोग किया जाता है। ह्रस्व तथा दीर्घ वर्णों को कभी-कभी आवश्यकतानुसार दीर्घ तथा ह्रस्व कर लेते हैं। रवि वन्दौ २२४ (कर्म कारक), अनी लखे २१६ (कर्म कारक), उयौ सरद राका ससी २३६ (कर्त्ता कारक), नैना लागत नैन २३२ (कर्त्ता कारक व. व), खरे उरोजनु बाल २४८ (कर्त्ता कारक), जियत विचारी वान २५८ (कर्म कारक ए. व.) लियौ बिहारी लाल ३०२ कर्त्ता कारक ए. व., कुटिल वक्र गति नैन ३०३ (कर्त्ता कारक ब. व.)

सीचि गुलाब घरी घरी ३०८ (कर्म कारक ए व), आवति नारि नवोढ लौं सुखद वायु गति मंद ३९२ (कर्त्ता कारक ए. व) इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। इस नियम के दो-एक अपवाद भी हैं। अदन्त के विशिष्ट कारक एक वचन में उ जोड़ा जाता है जैसे आपु दियौ (कर्त्ता कारक) सबु जगु कह तु ३९४ (कर्त्ता कारक) अवधि दुसासनु वीर ४०० (कर्त्ता कारक) भये सुत सोगु समुझें जारज जोगु ५७५ (कर्म कारक) रहि मुहु फेरि (कर्म कारक), वादि मचावत सोरु एकै नन्द किसोरू ५७१ (कर्म कारक), हितुकरि ५९३ (कर्म कारक)। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। यदि आकारान्त शब्द को ह्रस्व किया जाता है तो विशिष्ट कारक के एक वचन में 'औ' जोड़ देते हैं और बहुवचन में ए जोड़ते हैं। जैसे एक वचन के रूप हियौ २७ (कर्म कारक) गह्यौ हियौ अंधेरौ डराहनौ टीकौ इत्यादि। बहुवचन के रूप टोने ४७ बडे १९१ संदेसे २८३, कर्म कारक खरे २४८ कर्म कारक सुहाये २४८ इत्यादि।

सामान्य विशिष्ट कारको के अतिरिक्त कर्म वाच्य भूतकाल की क्रिया के साथ कर्त्ता कारक में एक रूप और जुडता है। संस्कृत में जब कर्तृवाच्य से कर्म वाच्य बनाया जाता है तब कर्त्ता में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है कर्त्रर्थक तृतीया तथा करणार्थक तृतीया के रूपों में संस्कृत में कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु ब्रजभाषा में बहुवचन में तो सामान्य विभक्ति का नु ही जोड़ते हैं जैसे—'लगा लगी करि लोइननु करि उरमें लाई लाइ 'सबनु लखे सब पास' २९१, 'सौतिनु दियौ' इत्यादि। किन्तु एकवचन में विशिष्ट विभक्ति का 'उ' नही जुड़ता अपितु प्रातिपदिक का ही प्रयोग किया जाता है। जैसे—'लखि गुरुजन विच कमल सो ससि छुवायो स्याम।' इसी प्रकार 'हरि सन्मुख करि आरसी हिये लगाई वाम','दई मरक मनु मैन' 'रूपठग 'वटोही मारि' इत्यादि। आकारान्त को ह्रस्व करने पर सामान्य कारक ऐं ही जोड़ा जाता है जैसे, 'काटे मों पाँइ गडि' 'पीनसवारे जो तज्यो'।

सम्बोधन के दोनो वचनो में केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग किया जाता है। जैसे—ललन ६९०, मीत ४८१, जो लिग काग सराध पख ४३४, छबीले लाल ८, जग नाइक ७१, सुखी परेखा पुहमि में ६१९, बाल १९८, वेसरि मोती धनि तुही ७०६, अलिइन लोयन सरन को २७२, वामा भामा कामिनी कहि वोलौ प्राणेश ७०३ बिहारी सतसई में इस नियम का केवल एक अपवाद मिलता है। दीर्घ आकारान्त शब्दों के सम्बोधन संस्कृत के अनुसार एकारान्त रूप में भी आये हैं और प्रातिपदिक रूप में भी। जैसे, 'मोर चन्द्रिका स्याम सिर·····' में मोर चन्द्रिका सम्बोधन प्रातिपदिक रूप में आया है। 'सुनि राधिके सुजान' में 'राधिके' संस्कृत के अनुसार एकारान्त रूप में आया है।

संक्षेप में बिहारी की परिष्कृत भाषा में एक शब्द के ७ रूप होते हैं—(१) सामान्य कारक एकवचन; (२) सामान्य कारक बहुवचन, (३) विशिष्ट कारक कर्त्ता कर्म एकवचन; (४) विशिष्ट कारक बहुवचन; (५) सम्बोधन एकवचन; (६) सम्बोधन

बहुवचन; (७) भूतकाल में कर्मवाच्य क्रिया का कर्त्ता। इनमें निम्नलिखित विभक्तियाँ जोडी जाती है :—

विभक्ति	स्थान
उ	विशिष्ट कारक एक वचन में अदन्त के बाद तथा विशिष्ट कारक एक वचन में दीर्घ से ह्रस्व किये हुए अदन्त के वाद।
ए	विशिष्ट कारक बहुवचन में दीर्घ के ह्रस्व किये हुए अदन्त के बाद।
हि	सामान्य कारक एक वचन में, इसके लगने से दीर्घ से ह्रस्व के किये हुए अदन्त को ए हो जाता है।
ऐ	सामान्य कारक एक वचन में अ और आ के बाद विकल्प से।
नु	सामान्य कारक बहुवचन तथा करण कर्त्ता बहुवचन इसके लगने पर दीर्घ से ह्रस्व किये हुए अ को ए हो जाता है।
प्रातिपदिक रूप	१—ह्रस्व अ एकवचन को छोड़कर विशिष्ट कारक तथा कर्मवाच्य भू० का० का कर्ता ए० व० २—सम्बोधन के दोनो वचन।

सज्ञा शब्दो से कारक विभक्तियो का यही संक्षिप्त परिचय है। यदि समास न हुआ तो सामान्य तथा यही विभक्तिया विशेषणो से भी प्रयुक्त होती हैं।

(आ) सिद्ध शब्द : सर्वनाम

सर्वनामो में ३ पुरुष होते हैं—उत्तम पुरुष का प्रातिपदिक रूप है हम, मध्यम पुरुष का तुम और अन्य पुरुष में यह, वह, जअ, कअ, इत्यादि। सर्वनाम शब्दों के रूपो में यह विशेषता है कि सामान्य कारक में दोनो वचनों में हि तथा ऐ इन्ही विभक्तियों का प्रयोग किया जाता है। दोनों वचनों में अन्तर यह है कि एकवचन से 'हम' को 'मो' 'तुम' को 'तो' आदेश करके केवल हि विभक्ति जोड़ी जाती है। इस प्रकार सामान्य कारक में एक वचन में मोहि तोहि का प्रयोग होता है और बहुवचन में 'हमहि', 'तुमहि' का। उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष विशिष्ट कारक में एकवचन में हौ, तथा तूं और तो का प्रयोग होता है और बहुवचन में प्रातिपदिक का ही प्रयोग मिलता है। उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष के सामान्य कारक के रूपों में एक विशेषता यह है कि सम्बन्ध कारक में लोप हो जाता है और एकवचन में उत्तमपुरुष में 'मो' और मध्यम पुरुष में 'तुम' तथा 'तो' का प्रयोग होता है। सम्बन्ध कारक बहुवचन में प्रातिपदिक ही लिखा जाता है। करण, कर्त्ता एकवचन में 'मे' तथा 'तें' लिखा जाता है और बहुवचन में प्रातिपदिक आता है। सर्वनाम शब्दों में सम्बोधन नहीं होता।

अन्य पुरुष के रूपों में कुछ विलक्षणता होती है। एक तो बात यह है कि हि विभक्ति का अनुस्वार कहीं-कहीं लुप्त हो जाता है—जैसे याही, वाही इत्यादि यहां पर निश्चयार्थक ई जुड जाने से ही दीर्घ हो गया है। जहां इस प्रकार का ई नहीं जुडता वहा वाहि इत्यादि शब्दों में ह्रस्व का ही प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त कुछ नये प्रकार की विभक्तियाँ भी जुडती हैं। जैसे, याऊँ, कासौ इत्यादि। पर विस्तार भय से इस विषय को यही पर समाप्त किया जाता है।

जैसा कि बतलाया जा चुका है हिन्दी (खडी बोली) की भांति व्रजभाषा मे भी कतिपय विभक्तियाँ विश्लिष्ट होती हैं। उन विभक्तियो का संक्षिप्त परिचय यह है—

कारक	खडी बोली की विभक्ति	व्रज भाषा की विभक्ति
कर्म	को	कौ सौ
करण	से	सौ
सम्प्रदान	के लिए	कौ, सौं,
अपादान	से	तैं, पैं,
सम्बन्ध कारक	का, की, के.	कौ, के, की, कैं
अधिकरण	मे	माहि, माह, महि, मैं
	पर	पर
	बीच मे	बीच, बिच

बिहारी ने करणकर्त्ता की कोई पृथग्भूत विभक्ति का प्रयोग नही किया है। सिद्ध शब्दो में विभक्तियो के प्रयोग का यही सक्षिप्त परिचय है।

(इ) साध्य शब्द : क्रिया

क्रियाओ के दो प्रकार पाये जाते है—एक तो पूर्ण क्रियाये हैं जिन्हें तिङन्त कहते हैं और दूसरी कृदन्त क्रियायें होती है जिनमें सुबन्त विभक्तियो को जोड़ना पडता है। तिङन्त क्रियाओ में पुरुष भेद होता है किन्तु लिंगभेद नही होता, इसके प्रतिकूल कृदन्त क्रियाओ में लिंगभेद होता है, पुरुष भेद नहीं होता। सस्कृत में अति प्राचीन काल से कृदन्त रूपो को पूर्ण क्रिया के रूप में लिखने की प्रवृत्ति बढ़ गई थी। निष्ठा प्रत्ययान्त शब्दो का प्रयोग पूर्ण क्रियाओ के रूप में हुआ करता था। उनमें पूरक क्रिया लगाने की आवश्यकता नही पडती थी—जैसे 'रामेण पत्रं लिखितम्' में 'लिखितम्' क्रिया कृदन्त की है और पूर्ण क्रिया के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। यह प्रवृत्ति हिन्दी की उपभाषाओ में अधिक बढ़ी और जहाँ प्राचीन भाषाओं में तिङन्त का प्राधान्य था, वहाँ हिन्दी की उपभाषाओं में कृदन्त का प्राधान्य हो गया। तिङन्त की क्रियायें बहुत कम प्रयुक्त होने लगी।

सुबन्त विभक्तियों की भाँति तिङन्त विभक्तियो में भी सक्षिप्तीकरण हुआ। संस्कृत में दो पद थे—परस्मैपद और आत्मनेपद। हिन्दी में दोनों के स्थान पर

केवल परस्मैपद शेष रह गया। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लकार में पुरुष तथा वचन के विचार से कम से कम ६ रूप बनते थे। उनके स्थान पर दो चार रूपो से ही काम चलाया जाने लगा। लकारो की सख्या में भी पर्याप्त कमी हुई। सस्कृत में वर्तमान काल तथा भविष्य काल में सभी विभक्तियाँ एक ही थी। हिन्दी में भी वही दशा बनी रही। अतएव विभक्तियो के दो प्रकार हो गये वर्तमान-भविष्य की विभक्तियां और भूत काल की विभक्तिया।

बिहारी की भाषा में वर्तमान भविष्य में सामान्य धातु से 'ए' तथा 'ओ' ये विभक्तियाँ दृष्टिगत होती है। अन्य पुरुष तथा मध्यम पुरुष के एकवचनों में 'ऐ' जोड़ा जाता है। जैसे 'क्यो न नृपति ह्वै भगिवै' में 'ऐ' विभक्ति जोडी गई है। इस 'ऐ' का सानुस्वार प्रयोग करके अन्य पुरुष तथा उत्तम पुरुष का बहुवचन बनाया जाता है जैसे—'ठौरु कुठौर लखै न' ६ (अ०पु०व०व०) 'वरणि सकै सु न वैन' १८६ (अ० पु० ब० व०), मध्यम पुरुष के बहुवचन में ओ जोडा जाता है और उत्तम पुरुष के एकवचन में उसको सानुस्वार कर दिया जाता है। जैसे—'तो पर, वारौं' २५ (उ० पु०ए०व०), 'वारौ बलि तो दृगनु पर' ६२८ (उ० पु० ए० व०) कहा करौ उलटे परे' ४७ (उ०पु०ए०व०)। भविष्यकाल में भी यही विभक्तियाँ जुडती हैं, केवल भविष्य काल का चिन्ह 'ह' जुड जाता है। 'कौन भाँति रहिहै विरदु' ३१, कहिहै सबु तेरौ हियौ, ६० (अ० पु० ए० व०), 'रहिहै चचल प्राण' ३६५। (अ०पु० ए० व०, ब० व० 'लखि-रीझि हौं' ८ (म०पु०व०व०), तौ वादिहौ जौ राखिहौ २२६ (प्रथम में उत्तम पुरुष का एक वचन तथा दूसरे में मध्यम पुरुष का बहुवचन), लखै ५८६। इसी प्रकार अन्य उदाहरणो के विषय में भी समझना चाहिये।

कुछ धातुये आकारान्त भी होती है। इनमें ऐ के स्थान पर 'इ' तथा 'हि' जुडता है और ओ के स्थान पर 'उ' तथा 'हु' विभक्ति जुडती है। उदाहरण :—

१—लाखनु हू की भीर में आखि उही चलि जाहि १७७ (अ०पु०व०व०)

२—नैकु न होति लखाइ ७ (अ०पु०ए०व०)

३—एडी मीडति जाइ ३५ (अ०पु०ए०व०)

यह अन्तर भविष्य काल में 'ह' जुड जाने पर नही पडता। भूतकाल में प्रारम्भ से ही कृदन्त रूप लिखे जाते है। ब्रजभाषा में आकर तिडन्त रूपो का प्राय: अभाव हो गया और बिहारी की भाषा में भूतकाल के कृदन्त रूप ही मिलते हैं, तिडन्त रूप नही।

जिस प्रकार अँग्रेजी में प्रेजेन्ट पार्टीसिपिल और पास्ट पार्टीसिपल का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार सस्कृत में भी क्रमश: शतृप्रत्यय और निष्ठा प्रत्ययो का प्रयोग होता है। शतृप्रत्यय मूल शब्द अत् प्रत्यय को जोडकर बनता है—जैसे चलत् गच्छत् इत्यादि। इनके रूप पुल्लिग में चलन् और स्त्रीलिंग में चलन्ती, गच्छन्ती इत्यादि हो जाते हैं।

बिहारी ने इनका प्रयोग वर्तमान काल की पूर्ण क्रिया के रूप में किया है। यह बतलाया ही जा चुका है कि कृदन्त शब्दों में सुबन्त प्रत्ययों का संयोग होता है। अतएव शत् प्रत्ययान्त शब्दों को अदन्त मानकर उनसे पुलिंग में विशिष्ट कारक एक वचन में उ जोडा जाता था और बहुवचन में प्रातिपदिक का प्रयोग किया जाता था जैसे—रहतु न रन जयसाहि दुति २०, वरवस वेधतु मोहियो २७। इसी प्रकार बहुवचन में अरते टरत न ३, नैन मुसकात २३। कभी-कभी एकारान्त प्रयोग भी होता है। थोरे ही गुन रीझते ६८। इन शब्दों का प्रयोग कभी-कभी अपूर्ण क्रिया को प्रकट करने के लिए उस प्रकार भी होता है जिस प्रकार संस्कृत में हुआ करता है जैसे—चलत देत आभारु सुनि ५५१, अर्थात् चलते हुए। चलत चलत लौ लै चले १७२ श्रुति सेवत एक रंग २०।

स्त्रीलिंग में इन शब्दों का प्रयोग इकारान्त होता है और बहुवचन में अनुस्वार का संयोग कर दिया जाता है। जैसे झलकति ओप अपार १६ सालति है नटसाल सी ६, खिन खिन में खटकति सु हि यसांचु दिखावति बाल सिय लौ सोधति ७४ इत्यादि। बहुवचन के उदाहरण :—

(१) आँखें लागति नाहि ६२ (२) लाल लाल चमकति चुरीं ८२ कभी-कभी हैं, ही, थी इत्यादि सामान्य क्रियाओं का अध्याहार कर बहुवचन में अनुस्वार का प्रयोग नहीं किया जाता। लुवै चलति उहि गाँउ। फूली फाली फूल सी फिरति जु सहज विकास।

भविष्यकाल में वर्तमान काल के तिङन्त रूप ही प्रयुक्त होते हैं। केवल लिंग भेद प्रकट करने के लिए यथा स्थान गो, गी तथा गे जोड़ दिये जाते हैं। जैसे चलोगी चलौगो इत्यादि। सस्कृत में भविष्यत्काल के अर्थ में भी शतृ प्रत्यय होता था। जैसे गमिष्यन्, पठिष्यन् इत्यादि। इसी प्रकार व्रजभाषा में भी भविष्यत्काल वाचक 'है' को जोड़कर कृदन्त प्रत्यय जोड़े जाते हैं। जैसे कहा लेहुगे खेल पै, ज्यौ ह्वै हों त्यों होहुंगो, छुटि जाइगो इत्यादि।

भूतकाल में संस्कृत में निष्ठार्थक क्त प्रत्यय का प्रयोग होता था। यह शब्द कृअदन्त माना जाता था। व्रजभाषा में भी यह शब्द अदन्त ही माना गया, किन्तु दूसरी कोटि में आ गया अर्थात् इसके रूप दीर्घ से ह्रस्व किये हुए अ के समान चलते थे। बिहारी सतसई में भूतकालिक कृदन्त के एक वचन में दो रूप मिलते हैं। यौ जोड़कर अथवा औ जोड़ कर जैसे—कियो जु सीस उठाइ कै, 'उपज्यौ सुदिन सनेहु' 'कितौ मिठास दियौ दई' 'यों कहि दीनो ईठि' 'सूखि गुलाबुगौ' इत्यादि। पुलिंग के बहुवचन में ए जोड़ा जाता है जैसे 'गीधे' 'बीधे' इत्यादि। स्त्रीलिंग में एकवचन में य और बहुवचन में ई जोड़कर प्रयोग किया जाता है। जैसे—'गनी घनी सरताज', चाले की बातें चलीं करी खरी रस लूटि' 'करी विरह ऐसी तऊ। कभी-कभी बहुवचन में सामान्य क्रिया का अध्याहार कर अनुस्वार हटा दिया जाता है। जैसे—पतिनु राखि

चादरि चुरी तें राखी जयसाहि। यहाँ पर 'रक्खी' यह अर्थ होगा।

निश्चयार्थक क्रियाओं की भाँति सम्भावनार्थक, आज्ञार्थक और सकेतार्थक रूप भी प्रयुक्त होते है। अस तथा भू धातु के निश्चित रूप भी खडी बोली की भाँति कृदन्तरूपों के साथ व्यवहृत होते हैं तथा पूर्वकालिक और क्रियार्थक क्रियाये भी निश्चित पद्धति पर प्रयुक्त की गई हैं।

व्रजभाषा में कतिपय शब्द प्राय: प्रयुक्त होते थे। बिहारी ने भी परम्परानुरोध से उन्हें अपनाया है। इनमें कीन, लीन, दीन, कियौ, लियौ, दियौ इत्यादि के साथ किय लिय, दिय, भी हैं। इनके अतिरिक्त कर्मवाच्य कीजियतु, लीजयतु, दीजियतु इत्यादि शब्दो का भी प्रयोग बिहारी ने किया है।

ऊपर बिहारी द्वारा प्रयुक्त कतिपय भाषा व्याकरण सम्बन्धी नियमों का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार बिहारी ने मुक्तक काव्य-परम्परा की अन्तरात्मा को समझ कर परम्परागत प्रत्येक प्रकार की काव्य रचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की, जिस प्रकार उन्होने काव्यशास्त्र की परम्पराओ को ठीक रूप में समझकर उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व किया उसी प्रकार भाषा के विषय में भी उन्होने पर्याप्त खोज करने के बाद उसके रूप को स्थिर किया और दृढता के साथ भाषा के उसी स्वरूप पर डटे रहे। व्रजभाषा के अन्य कवियो की भाँति बिहारी ने अन्त्यानुप्रास के लिए भी कभी दीर्घ का ह्रस्व और ह्रस्व का दीर्घ करने की स्वतन्त्रता का लाभ नही उठाया। यहाँ यह आशय नही है कि बिहारी के निर्णय किन तत्वों पर आधारित थे और ये निर्णय कहाँ तक समीचीन कहे जा सकते हैं। यहाँ केवल यही कहना है कि बिहारी ने प्रथमवार भाषा मे एकरूपता लाने की चेष्टा की और इसका प्रभाव परवर्ती काव्य-जगत् पर भी पड़ा जिससे बाद के कवि घनानन्द इत्यादि अधिक परिष्कृत भाषा लिखने मे समर्थ हो सके। यही बिहारी की भाषाविषयक सफलता है।

शब्दों का प्रयोग

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, भाषा के विषय मे भारतीय कवियो मे सर्वदा उदारता रही है। अति प्राचीन काल से पैशाची मागधी और शौरसेनी के मिश्रित शब्दो का प्रयोग करने मे हमारे कवि गौरव का अनुभव करते थे। तुलसी ने अनेक भाषाओं का प्रयोग किया है। हमे बिहारी में भी इस विशेषता के दर्शन होते हैं। व्रजभाषा में प्रयुक्त होने वाले सामान्य शब्दो के अतिरिक्त बिहारी ने संस्कृत शब्दो का पूर्ण पाडित्य के साथ प्रयोग किया है। यदि बिहारी सतसई मे प्रत्येक भाषा के शब्दों का अनुपात निकाला जावे तो सबसे अधिक संख्या संस्कृत के तत्सम परिनिष्ठित शब्दों की आवेगी। इसके अतिरिक्त समासो के इतने सुन्दर तथा सुव्यवस्थित प्रयोग देखने से ज्ञात होता है कि बिहारी संस्कृत काव्यशास्त्र के ही नही व्याकरण के भी अच्छे विद्वान् थे—'विकसित नवमल्ली कुसुम निकसित परिमल'

का समास केवल एक शब्द (पाइ) को छोडकर समस्त पूर्वदल को घेरे हुए है और प्रत्ययान्तों का संयोग बहुत ही सुन्दर है। 'समरस समर सकोच वश' मे भी वही बात है। संस्कृत शब्दो के परिनिष्ठत तथा विवेकपूर्ण प्रयोग के कारण ही सतसई के दोहों का सस्कृत दोहो मे सफलतापूर्वक अनुवाद किया जा सका। इस अनुवाद मे अधिक से अधिक बिहारी के शब्दो का ही सस्कृत की विभक्तियों के साथ प्रयोग बिहारी के शब्द-प्रयोग की निपुणता का परिचायक है। सस्कृत के अतिरिक्त अरबी, फारसी के भी ताफता, इजाफा, कविलनवी, रोज इत्यादि शब्दों का प्रयोग मिलता है और बुन्देलखण्डी तथा अवधी के शब्दो का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है। शुद्धतथा परिनिष्ठित ब्रजभाषा के लिखने का व्रत लेकर भी बिहारी ने समसामयिक प्रादेशिक तथा राजकीय भाषाओ के प्रति पर्याप्त उदारता दिखलाई है। कोई इसे दोष कह सकता है किन्तु मै तो इसे बिहारी की उदारता तथा बहुभाषा ज्ञान ही कहूँगा।

मुहावरों का प्रयोग

शुद्ध साहित्यिक होने के साथ बिहारी की भाषा चलती हुई तथा प्रवाहपूर्ण भी है। इसमे लोकोक्तियो और मुहावरो का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है। कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते है।

हरि कंजनु तुमसो यहै विनती बार हजार।
जिहि तिहि भाँति डर्‌यौ रहौं पर्‌यौ रहौं दरबार।

इसमे 'डर्‌यो रहौ' और 'पर्‌यो रहौ' मुहावरे हैं।

इसी प्रकार —

(१) लाल अलौकिक लरिकई लखि लखि सखी सिहाति।
आजु काल्हि में देखियतु उप उकसोही भांति॥

(२) कहि पठई मनभावती पिय आवन की बात।
फूली अंगन में फिरै आंगु न आंग समात॥

(३) तुरत सुरत कैसे दुरत मुरत नैन जिरि नीठि।
डौंडी दे गुन रावरे कहति कनौडी दीठि॥

(४) फिरतु जु भटकत कटनि बिनु साई सुसरसु न खियाल।
अनत अनत नित नित हितनु चित सकुचत कत लाल॥

(५) छवे छिगुनी पहुँच्यौ गिलत अति दीनता दिखाई।
बलि बावन को ब्योंतु सुनि को बलि तुम्हैं पत्याइ॥

इसी प्रकार गले पडना, पीठ पकड कर रहना इत्यादि मुहावरे भी स्थान-स्थान पाये जाते हैं, जिससे भाषा में प्रसाद गुण के साथ-साथ सजीवता भी आ गई है।

भाषा की रमणीयता

अभिव्यंजना में भाषा का सर्वोपरि महत्व है। भाव कितना ही उच्चकोटि का तथा हृदयस्पर्शी हो, कल्पना कितनी उच्चकोटि की हो किन्तु यदि तदनुकूल भाषा में उसको अभिव्यक्त नही किया जाता तो उच्चकोटि का भाव भी नीरस जंचता है और कवि की उक्ति कभी भी हृदयहारिणी नही हो सकती। आचार्यों ने शब्द संगठन को भी अभिव्यंजक माना है। इस सघटना के आश्रित गुण होते हैं जोकि भावो को अभिव्यक्त किया करते है। भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि उस में हृदय की प्रतिध्वनि सुनाई दे। यही भाषा की रमणीयता कविता में प्राण-प्रतिष्ठा करने वाली होती है।

आचार्यों ने कविता के अनुकूल तीन प्रकार की चित्तवृत्तियाँ मानी हैं —किसी विशेष प्रकार के शब्दो को सुनकर हमारे हृदय पिघलने लगते हैं। इसे आचार्यों ने द्रवणशील आह्लाद या द्रुति कहा है और इस प्रकार की आह्लादजनक रचना को माधुर्य गुण के नाम से अभिहित किया है। इसी प्रकार कभी किसी परिस्थिति या शब्दो के प्रभाव से हमारे हृदय भभक उठते हैं और हमारे अन्दर उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार उत्तेजित अवस्था को आचार्यों ने दीप्ति कह कर पुकारा है। दीप्तिजनक गुण को ओज कहा जाता है। प्रथम गुण में चित्त विकसित तथा प्रफुल्लित हो जाता है और दूसरे गुण में चित्त विक्षिप्त हो जाता है। आचार्यों ने इन दोनों गुणों के अतिरिक्त रचना का एक और गुण माना है और वह है प्रसाद गुण। जिस प्रकार शुष्क ईन्धन को अग्नि एक दम व्याप्त कर लेती है उसी प्रकार जो रचना हृदय पर एक दम प्रभाव जमा देती है वही रचना प्रशस्त मानी जा सकती है। चाहे माधुर्यमयी रचना हो, चाहे ओजस्विनी हो उसमें श्रवणमात्र से अर्थ समर्पकता का गुण अवश्य होना चाहिए अन्यथा वह सहृदयों में कभी प्रतिष्ठित नही हो सकती। इस शीघ्र अर्थ समर्पकत्व के गुण को आचार्यों ने प्रसाद गुण को सज्ञा प्रदान की है। यदि माधुर्य में चित्त विकसित तथा द्रवित होता है और ओजस्विनी रचना में चित्त प्रज्वलित होता है तो प्रसाद गुण में चित्त में व्यापनधर्मिता विद्यमान होती है।

अनेक आचार्यों ने गुण की वर्ण-धर्मिता का प्रतिपादन किया है। किन्तु काव्यप्रकाशकार इस मत से सहमत नही। उनका कहना है कि जिस प्रकार शूरता इत्यादि आत्मा के ही धर्म होते हैं, किन्तु कुछ लोग भ्रमवश आकार या शरीर को ही शूर कह दिया करते हैं, उसी प्रकार गुण रस के प्रत्यक्ष उपकारक होने के कारण आत्मस्थानीय रस के ही प्रत्यक्ष धर्म होते हैं, वर्ण केवल उनकी अभिव्यक्ति में निमित्त हो जाते हैं। इसके प्रतिकूल शब्दालकार शब्द-धर्म ही होते हैं और शब्द का उपकार करते हुए रस का उपकार किया करते है। यही इन दोनों में भेद है। जहां रस न हो वहाँ ये गुण तथा अलकार उक्ति-वैचित्र्यमात्र में पर्यवसायी होते हैं।

आचार्यों ने रस के उपकार करने में भी गुणों की व्यवस्था की है। पण्डितराज ने इस विषय में अनेक मतों का उल्लेख किया है। कुछ लोग कहते हैं, जितनी मधुरता शृंगार में होती है उससे अधिक करुणा में, उससे अधिक विप्रलम्भ में और उससे भी अधिक शान्तरस में मधुरता होती है। क्योंकि ये रस उत्तरोत्तर अधिक-अधिक चित्त वृत्ति को विकसित किया करते है। दूसरे लोग कहते है कि संयोग शृंगार की अपेक्षा करुण तथा शान्त रसो में अधिक मधुरता होती है, उनसे भी अधिक विप्रलम्भ में होती है। तीसरे लोगो का कहना है कि संयोग शृंगार से करुण, विप्रलम्भ और शान्त में अधिक मधुरता होती है किन्तु उनमें परस्पर तारतम्य नहीं होता। पण्डितराज का कहना है इनमें प्रथम तथा तृतीय मत समीचीन जान पड़ते हैं क्योंकि उनके 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' यह सूत्र अनुकूल पड़ता है।

माधुर्यादि वर्ण-धर्म चाहे न हो किन्तु वर्णों से माधुर्यादि की अभिव्यक्ति अवश्य होती है। इसीलिये काव्यप्रकाशकार ने 'न तु वर्णाना' लिखकर भी माधुर्यादि में प्रयोज्य वर्णों की व्यवस्था की है। काव्यप्रकाशकार ने माधुर्य के विषय में लिखा है.—

मूर्धिन वर्गान्त्यगा स्पर्शाः अटवर्गा रणौ लघू ।।
अवृत्तिमंध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।।

अर्थात् टवर्ग को छोडकर शेष स्पर्श वर्णों के मस्तक पर बिन्दी हो, लघु र तथा ण हो और समास या तो बिल्कुल न हो या अल्प समास हो और संघटना मधुर हो उस गुण को माधुर्य कहते है।

बिहारी ने मुख्यरूप से शृंगार रस का ही उपादान किया है। अतएव इनकी रचना भी माधुर्य गुण से परिपूर्ण है। माधुर्य गुण के लिये तीन तीन अक्षरो के शब्द अधिक अच्छे माने जाते है। बिहारी की भाषा प्राय सर्वत्र माधुर्य के अनुकूल है। शब्द-योजना में बिहारी ने विशेष रूप से शास्त्रीय परम्परा का ध्यान रक्खा है। किन्तु इस प्रकार अवहित होकर काव्य रचना करने में एक बहुत बड़ा कमी आ जाने का भय रहता है कि कही शब्दो के फेर में पड़कर कवि अर्थ को न बिगाड़ ले। कवि की सबसे बड़ी कुशलता इसी बात में है कि शब्द-योजना के प्रति जागरूक रहते हुए भी अर्थ तथा भाव की अभिव्यजना में कमी न आने पावे और शब्द-सौन्दर्य इतना भी न बढ जावे कि पाठक का ध्यान अर्थ-सौन्दर्य की ओर से हटकर शब्द-सौन्दर्य पर ही केन्द्रित होकर रह जावे। बिहारी की इस प्रकार की कमी प्रायः कही नही आने पाई है। निम्नलिखित दोहा लीजिये .—

रससिंगार-मंजनु किए, कंजनु भजनु दैन।
अंजनु रजनु हूँ बिना खजनु गंजनु नैन ।।

यहाँ पर प्रत्येक शब्द पृथक् है। माधुर्य का सर्वाधिक उपजीवक 'न' अपनी छटा दिखला रहा है। र वर्ण तीन बार आया है। एक बार तो अनुनासिक से युक्त है ही, शेष दो बार भी ह्रस्व होने के कारण माधुर्यानुगुण ही है। साथ ही नेत्रो का

सौन्दर्य-वर्णन भी माधुर्य से अभिभूत नही होता। दूसरा उदाहरण लीजिये :—

अरुन-बरन तरुनी-चरन अगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरँगु रँगु सी मनौ चपि विछियनु कैं भार॥

यहाँ पर समास का अभाव और तीन-तीन वर्णों के शब्दमाधुर्यानुगुण शब्दों का उपादान पैरो की कोमलता तथा लालिमा को प्रत्यक्ष रूप में सामने उपस्थित कर देता है। बिहारी एक से वर्णों का प्रयोग करने में सिद्धहस्त है। दो-एक उदाहरण लीजिये :—

(१) औरै ओप कनीनिकनु गनी घनी-सिरताज।
मनी धँनी के नेह की बनीं छनीं पट लाज॥
(२ कज नयनि मंजनु किए, बैठी व्योरति बार।
कच अंगुरिनु बिच दीठि करि चितवति नंदकुमार॥
(३) झीनैं पटमैं झुलुमुली झलकति ओप अपार।
सुरतरु की मनु सिन्धु मैं लसति सपल्लव डार॥

पण्डितराज ने माधुर्य गुण के उपयुक्त भाव के लिये वर्ण-सयोजना के कुछ नियम बनाये है। पण्डितराज ने लिखा है कि जिस रचना में टवर्ग को छोड़कर शेष वर्गों के प्रथम-तृतीय वर्ण, शर् तथा अन्तःस्थ सम्मिलित हो, अनुस्वार और पर-सवर्णों का निकट निकट प्रयोग किया गया हो, जिसमें शुद्ध अनुनासिक वर्ण शोभित हो रहे हों, जिसमें निषिद्ध वर्ण सम्मिलित न हो, सयुक्त वर्णों का प्रयोग भी न किया गया हो, जिसमें समास या तो बिल्कुल न हो या अत्यल्प हो, इस प्रकार की रचना माधुर्य की अभिव्यजक होती है। वर्ग के द्वितीय-चतुर्थ वर्ण माधुर्य गुण के अनुकूल नही पडते और यदि दूर दूर सन्निविष्ट किये गये हों तो प्रतिकूल भी नही पड़ते। यदि अत्यन्त निकट-निकट उनका प्रयोग किया गया हो तो प्रतिकूल हो जाते है। इसके अतिरिक्त पण्डितराज ने उन वर्णों को भी गिनाया है जिनसे माधुर्य गुण अपहृत हो जाता है। पण्डितराज ने लिखा है कि निषिद्ध वर्ण दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते है, एक तो सामान्य रूप में निषिद्ध और दूसरे विशिष्ट गुण के अनुसार निषिद्ध। सामान्य रूप से निषिद्ध वर्णों के विषय में पण्डितराज ने लिखा है कि यदि एक ही वर्ण एक ही पद में बिना किसी व्यवधान के दो बार आता है तो वह अश्रव्य हो जाता है क्योकि जिस करण तथा प्रयत्न से एक वर्ण का उच्चारण किया जाता है उसी करण तथा प्रयत्न से उसी वर्ण का पुनः उच्चारण करने में कुछ अटकाहट का अनुभव अवश्य होता है। यदि इस प्रकार के वर्ण अधिक बार प्रयुक्त होते है तो और अधिक अश्रव्यता आ जाती है। भिन्नपदगत भी यदि एक ही वर्ण दो बार आता है तो वह अश्रव्य ही होता है और यदि अधिक बार आता है तो और भी अधिक अश्रव्य होता है। इसी प्रकार स्ववर्ग के ही किसी समान वर्ण का एकपदगत या भिन्न पदगत होना अश्रव्य हो जाता है और अधिक बार प्रयोग हो तो और अधिक अश्रव्य हो जाता है। इन नियमो के कुछ अपवाद भी हैं। पंचम वर्ण मधुरतर

होता है। अतएव उसका दो बार अनन्तर प्रयोग तो निषिद्ध होता है किन्तु अपने वर्ग के साथ उसका प्रयोग निषिद्ध नहीं होता। दूसरी बात यह है कि यदि इन वर्णों के बीच में गुरु मात्रा विद्यमान हो तो अश्रव्यता जाती रहती है। 'त्र' इत्यादि का संयोग अश्रव्य होता है और सयुक्त वर्ण तो प्रायः सभी अश्रव्य होते हैं किन्तु परसवर्ण द्वारा जो अनुनासिक वर्ण जुडता है उसमें अश्रव्यता नही आती। इन दोषो से काव्य पगुवत् हो जाता है। अतएव इन दोषो को सामान्यतया काव्यमात्र में छोड़ देना चाहिये। इनके अतिरिक्त पण्डितराज ने विशेष रूप से मधुर रस में वर्जनीय वर्णों को भी गिनाया है। मधुर रस में दीर्घ समास तो सामान्यतया वर्जित है ही। इसके अतिरिक्त पचम वर्णों को छोड़कर अन्य स्पर्श वर्णो का सयोग, तथा 'र' और 'ह' में किसी एक का सयोग बार बार प्रयुक्त नही होना चाहिये। पचम-भिन्न दो सवर्ण स्पर्शों का संयोग तथा शर् को को छोड़कर अन्य महाप्राण वर्णों का सयोग यदि एक बार भी प्रयुक्त किया जावे तो अश्रव्य हो जाता है।

यदि उपर्युक्त दृष्टिकोण से विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि बिहारी-सतसई का प्रत्येक दोहा पण्डितराज की माधुर्य की परिभाषा से नितान्त आबद्ध है। पूरी सतसई पढने पर उक्त नियमों के केवल दो ही चार अतिचार मिलते है। बिहारी सतसई का कोई भी दोहा यदि उक्त कसौटी पर कसा जावे तो पूर्ण रूप में खरा उतरेगा। जो दो चार अतिचार प्राप्त भी होते हैं वे भी इतने अधिक अश्रव्य नही है। 'न' या 'ब' का स्वानन्तर्य अश्रव्य माना गया है और बिहारी सतसई में वह दो-एक बार पाया भी जाता है तथापि उसकी अश्रव्यता उस समय और अधिक बढ जाती है जब तीन-चार बार निरन्तर उसका प्रयोग हो। ऐसा बिहारी सतसई में कही नही मिलता। सयुक्त वर्ण बहुत ही कम प्रयुक्त किये गये हैं और जहाँ जहाँ सयोग है भी वहाँ भी निषिद्ध सयोग नहीं हैं। 'जोवन नृपति प्रवीन' में 'न' का स्वानन्तर्य अश्रव्य अवश्य है। किन्तु 'न' का स्वानन्तर्य होने के कारण उसमें वैसी अश्रव्यता नही आने पाई है। इसी प्रकार 'प्र' संयुक्त वर्ण अवश्य है, किन्तु पण्डितराज के अनुसार दीर्घ के बाद सयुक्त वर्ण अश्रव्य होता है ह्रस्व के बाद नही। बिहारी ने सम्भवत. कही भी दो निरनुनासिक स्पर्शों का सयोग नही किया है। यदि कही सयोग पाया भी जाता है तो ऊष्म और अन्त स्थो का सयोग उनमें प्रायः रहता है। श्रुति में अन्तस्थ और ऊष्म का सयोग है और 'ज्यों ज्यो मै स्पर्श तथा अन्तस्थ का संयोग अनुस्वार के व्यवधान में प्रयुक्त हुआ है। 'हूठ्यो' में भी स्पर्श का अन्तस्थ से सयोग हुआ है। ह का संयोग सर्वथा निषिद्ध है। उसका प्रयोग बिहारी ने केवल रह्यो और लह्यो मे किया है तथा तर्यौना में र् का संयोग है, किन्तु एक तो इनका संयोग अन्तस्थो से है जो इतना अश्रव्य नही होता, दूसरे जिस दोहे में इनका प्रयोग किया गया है वह दोहा सूक्ति परक है, शृंगार रस का दोहा नही है। अतएव माधुर्य गुण के लिये अभीष्ट नियम वहाँ पर लागू भी नही होते। इसी प्रकार 'स्याम' और ह्वै है इत्यादि सयोगों के विषय में भी समझना चाहिये। 'चित्र' में 'त्र' का प्रयोग

किया गया है किन्तु 'त्र' का अन्य वर्णों से संयोग निषिद्ध है। इस प्रकार बिहारी की भाषा पण्डितराज के द्वारा निर्दिष्ट किये हुए नियमो में बहुत कुछ बधी हुई है और माधुर्य गुण के सर्वथा अनुकूल है। इस प्रकार की माधुर्य-गुणमयी भाषा शृंगार रस की अभिव्यंजना के लिये सर्वथा उपयुक्त है। यही कारण है कि हम जो कहते है कि बिहारी की भाषा में बिहारीपन छिपा हुआ है, उसका यही रहस्य है।

शब्दालंकार

आचार्यों ने शब्दालकार के प्रयोग में विशेष सावधानी बरतने का निदश किया है। मधुर वर्णों का अनुप्रास शृंगार रस का उपकारक होता है, किन्तु निरतर आने वाला अनुप्रास शृंगार रस का उपघातक हो जाता है। अतएव अनुप्रास के प्रयोग की मात्रा उचित ही होनी चाहिए

आनन्दवर्धन ने कहा है —

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥

जहाँ पर वाच्य वाचक के सहकार से शृंगार रस ध्वनि काव्य की आत्मा के रूप में प्रकाशित हो रहा हो वहाँ यमक, शब्द श्लेष इत्यादि का निबन्धन सर्वथा रसोपघातक होता है। अतएव समर्थ होते हुए भी कवि उसके निबन्ध में प्रमाद कर ही जाता है। यह बात विप्रलम्भ शृंगार में और अधिक ध्यान रखनी चाहिए। बिहारी की शब्दालंकार-योजना की यह विशेषता है कि कही भी अलकार के कारण रसभग नहीं हो पाया है। अनुप्रास के कतिपय उदाहरण देखिए.—

नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली, आली, अनत, आए बनमाली न ॥

यहाँ पर लाली, चाली काली, पाली, आली, माली इन ६ शब्दो का एक सा प्रयोग किया गया है किन्तु उससे नायिका की विरह-व्यथा की विवृति में कोई बाधा नहीं पड़ती। इसी प्रकार—

चमक, तमक, हांसी, ससक, मसक, झपट लपटानि।
ये जिहिं रति, सो रति मुकुति, और मुकुति अति हानि ॥

यहाँ पर अनुप्रास के प्रशस्त प्रयोग से रति की विभिन्न दशाओ का चित्रण रति की विशेषता का और अधिक व्यजक हो जाता है। इसी प्रकार—

(१) **मुहुँ धोवति, एड़ी घसति, हँसति, अनगवति, तीर।**
धसति न इन्दीवर नयनि कालिन्दी के नीर ॥

(२) **सहज सचिक्कन, स्यामरुचि, सुचि, सुगन्ध सुकुमार।**
गनतु न मनु पथ, अपथ, लखि विथुरे सुथरे बार ॥

बिहारी के अनुप्रासों मे एक विशेषता यह भी है कि इन्होंने सर्वत्र पतत्प्रकर्षता को बचाने की चेष्टा की है। यदि अनुप्रास प्रथम पाद से चला है तो उसी रूप में अन्त तक पहुँचा दिया गया है। यदि कहीं व्यवधान भी हो गया है तो भी चतुर्थ पाद में

अनुप्रास पुनः आ ही जाता है। अधिकतर बिहारी के अनुप्रास उत्तरदल में आते हैं और इस प्रकार अपना अन्तिम प्रभाव सुन्दरता के साथ छोड़ जाते हैं। कहीं-कहीं इन्होने महाप्राण वर्णों का भी अच्छा अनुप्रास प्रयुक्त किया है. —

सटपटाति सैं ससिमुखी मुख घूँघट पटु ढांकि।
पावक-झर सी झमकि कै गई झरोखा झाँकि॥

इसमें प्रथम पाद सदोष है। एक तो मुख शब्द पुनरुक्त है, दूसरे स का आनन्तर्य भी नियम विरुद्ध है। किन्तु उत्तरार्ध में झ का अनुप्रास सुन्दर बन पडा है। यद्यपि महाप्राण वर्णों का अनुप्रास भी निषिद्ध ही माना जाता है तथापि बिहारी ने बड़ी ही कुशलता के साथ दो-दो वर्णों के व्यवधान से झ को रखा है। इसी प्रकार—

पलनु प्रगटि, वरुनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु छनछनाइ छिपी जात॥

यहाँ पर छ का अनुप्रास भी व्यवहित रूप में ही आया है। केवल छनछनाइ में छ दो बार एक वर्ण के व्यवधान में आ गया है किन्तु न से चारो ओर से घिरे होने के कारण अश्रव्य नही हुआ है। 'छ' के अनुप्रास का दूसरा उदाहरण:—

डर न टरै, नींद न परै, हरै न काल-बिपाकु।
छिनकु छाकि उछकै न फिरि खरौ विषमु छवि छाकु॥

इस प्रकार बिहारी ने अनुप्रास का स्वच्छन्द प्रयोग किया है। किन्तु निर्वाह भी इस रूप में कर दिया है कि न अश्रव्यता आने पाई है और न रसोपघात ही हुआ है।

बिहारी ने यमक का प्रयोग भी पर्याप्त रूप में किया है। किन्तु कहीं प्रमाद दिखलाई नहीं देता। काव्यप्रकाशकार ने पाद-वृत्ति और पादांश-वृत्ति के द्वारा उसके अनेक भेद माने हैं। बिहारी ने भी अनेक रूपों में यमक का प्रयोग किया है। कभी-कभी तत्काल आवृत्ति होती है, जैसे:—

विधि, विधि कौन करै, टरै नहीं परैं हूँ पानु॥

यहाँ पर प्रथम 'विधि' शब्द का अर्थ दैव है और द्वितीय विधि शब्द का अर्थ उपाय है। इस यमक की तृतीय पाद में आने वाले 'चितै, कितै' के अनुप्रास से संसृष्टि होती है। इसी प्रकार:—

'कनकु कनक तैं सौंगुनौ मादकता अधिकाइ'

में प्रथम कनक शब्द स्वर्ण का वाचक है और द्वितीय कनक शब्द धतूरे का वाचक है। कहीं-कहीं व्यवधान से भी यमक होता है :—

वरजीते सरमैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं हरि नीके ए नैन॥

यहाँ पर प्रथम पाद का मैन दूसरे पाद में दिखलाई देता है, अतएव यहाँ पर मुख नामक यमक है। द्वितीय दल में तृतीय पाद के नैन शब्द को चतुर्थ पाद में

आवृत्ति होती है, अतएव यहाँ पर पुच्छ नामक यमक है। दोनों के संयोग से युग्मक नाम का यमक बन गया है।

तोपर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

यहाँ पर प्रथम पाद का उरबसी शब्द तृतीय पाद में आवृत्त होकर सदेश नामक यमक को बनाता है और चतुर्थ पाद में आवृत्त होकर आवृत्ति नामक यमक को बनाता है। यद्यपि इस दोहे में तीन पादो में यमक के होने से दोष विद्यमान है तथापि दो प्रकार के यमकों की एक ही शब्द में ससृष्टि प्रशस्त है।

बिनती रति विपरीत की करी परसि पिय पाइ।
हंसी, अनबोलैं ही दियौ उतरु दियौ बताइ॥

यहाँ पर 'दियौ' में भी पुच्छ नामक यमक है:—

जब जब वे सुधि कीजियै तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहैं आंखैं लगति नाँहि॥

यहाँ यमक की विरोधाभास से अच्छी संसृष्टि है। 'आँखि' शब्द का तीन बार प्रयोग हुआ है। बिहारी के अधिक यमक तृतीय तथा चतुर्थ पाद गत ही हैं। उदाहरण:—

केसरि कै सरि क्यौं सकै, चपकु कितकु अनूपु।
गात रूपु लखि जातु दुरि जातरूप कौ रूपु॥

यहाँ पर रूप शब्द में यमक और लाटानुप्रास की संसृष्टि है।

लाज गहौ, बेकाज कत घेरि रहे घर जाँहि।
गो-रसु चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाँहि॥

यहाँ 'गोरसु' में भी यमक है और 'चाहत' में भी यमक है। प्रथम गोरसु का अर्थ इन्दिय रस है और द्वितीय गोरस का अर्थ दूध-दही इत्यादि है। इसी प्रकार प्रथम 'चाहत' का अर्थ देखना या तलाश करना है और दूसरे 'चाहत' का अर्थ इच्छा करना है।

कौंहरु सी एड़ीनु की लाली देखि सुभाइ।
पाइ महावरु देइ को आपु भई बे-पाइ॥

यहाँ पर 'पाइ' शब्द में यमक है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

यमक के अतिरिक्त बिहारी ने लाटानुप्रास का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। निम्नलिखित दोहों में लाटानुप्रास पाया जाता है :—

चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति और मुकति अति हानि॥

यहाँ पर रति तथा मुकुति शब्दों के प्रयोग में केवल तात्पर्य का ही भेद है। इसी प्रकार :—

(१) छिनकु उघारति, छिनु छुवति, राखति छिनकु छिपाइ।
सबु दिन पिय खंडित अधर दरपन देखत जाइ॥

(२) रूप-सुधा-आसव छक्यौ, आसव पियत बनै न ।
(३) कहूँ दीठि लागी लगी कै काहू की दीठि ।
(४) पतिनु राखि चादरि चुरी तैं राखी जयसाहि ।।
(५) फिरै दीठि जुरि दीठि सौं सबकी दीठि बचाइ ।

बिहारी ने श्लिष्ट शब्दो का प्रयोग भी स्वाभाविक तथा सुन्दर किया है—'तौ बाँधिय अपने गुननु' में 'गुननु' का श्लेष बहुत ही स्वाभाविक है। इसी प्रकार 'नेह भरे हिय राखिये' में नेह का श्लेष स्वाभाविक रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। निम्नलिखित दोहे में श्लेष कुछ क्लिष्ट हो गया है :—

अजौ तर्यौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक अंग ।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु कैं संग ।।

सब बातो पर विचार करते हुए बिहारी की काव्य-भाषा परिमार्जित, शुद्ध तथा रमणीय है, इसमें व्यजना की पर्याप्त क्षमता है और प्रसाद गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। कहीं-कहीं बिहारी की भाषा सदोष भी हो गई है, जिस पर दोष प्रकरण में विचार किया जावेगा, तथापि बिहारी शुद्ध तथा साहित्यिक ब्रजभाषा लिखने में पूर्ण रूप से कृतकार्य हुए हैं, इसमें सन्देह नही।

— — —

काव्य के उपादान

आचार्यों ने काव्य के तीन उपादान माने हैं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। प्रतिभा कवित्व को उत्पन्न करने वाला बीज रूप में स्थित एक सस्कार है। (देवाराधनादि से भी एक प्रकार के अदृष्ट की उत्पत्ति होती है, यही सस्कार शक्ति और प्रतिभा के नाम से अभिहित किया जाता है।) इस कवित्व शक्ति के अभाव में प्रथम तो काव्य का उद्भव और विकास ही सम्भव नही और यदि सम्भव भी हो तो भी इतना बुरा बनेगा कि सहृदय लोगो के समक्ष सर्वथा उपहास के योग्य ही होगा। अतएव साधारणतया काव्य-रचना के लिए और विशेष रूप से उत्कृष्ट काव्य रचना के लिए इस कवित्व-शक्ति का होना अनिवार्य है।

काव्य का दूसरा उपादान है निपुणता जो कि पदार्थों के अवहित होकर अध्ययन करने से प्राप्त होती है। इस निपुणता को प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के लौकिक पदार्थों के अध्ययन करने की आवश्यकता होती है, चाहे वे जड़ हो या चेतन। इसी प्रकार शास्त्रों के अध्ययन की भी आवश्यकता है—जिस में व्याकरण, नामार्थ-कोश, चौसठ कला, रामायण, महाभारत इत्यादि ग्रथ अन्तर्भूत हो जाते है। चतुर्वर्ग का ज्ञान होना भी आवश्यक है जिसमें निम्नलिखित विषय आते है.—

(१) धर्म शास्त्र जिस के अन्तर्गत जैमिनि प्रणीत पूर्वमीमासा और मनु, याज्ञवल्क्य प्रणीत स्मृति ग्रथ आ जाते है।

२—अर्थशास्त्र—जैसे गर्ग, भार्गव और भरत इत्यादि के रचे हुए नीतिशास्त्र के ग्रंथ।

३—काम शास्त्र जैसे—वात्स्यायन मुनि प्रणीत कामसूत्र इत्यादि।

४—मोक्ष शास्त्र—जैसे व्यास, कपिल, कणाद रचित वेदात, साख्य, न्याय इत्यादि दर्शन। कवि को गज विज्ञान, अश्व विज्ञान, अस्त्र विज्ञान, ज्यौतिष, वैद्यक, गणित इत्यादि शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उसे अलकारशास्त्र के लक्ष्य-लक्षण ग्रथों का जानना अनिवार्य होता है और साथ ही वाल्मीकि. कालिदास प्रभृति महाकवियो के लिखे हुए महाकाव्यों का ज्ञान भी आवश्यक होता है। इस प्रकार इन सब लोक-शास्त्र और काव्यो के सतत परिशीलन से जो योग्यता उत्पन्न होती है, वही काव्य-निपुणता के नाम से अभिहित की जाती है और वह काव्य क्रिया में कारण होती है।

जो लोग काव्य-रचना करना जानते हैं अथवा जिन में काव्य के भले-बुरे का निर्णय करने की विचार-शक्ति विद्यमान है उनके उपदेश से काव्य-रचना करने में और कविता में शब्दो के संयोजन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है तथा बार-बार पुरानी कृति को हटा कर उसके स्थान में नवीन रचना करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि कुछ आचार्य निपुणता की अपेक्षा प्रतिभा को ही महत्त्व देते हैं। इनके मत में जिन लोगो में कविता करने की शक्ति है, उनमें यदि

निपुणता न भी हो तब भी शक्ति के बल पर वे किसी विषय का इतना सुन्दर प्रतिपादन कर सकते हैं कि सुनने और पढने वाले चमत्कृत हो जाते हैं। इस लिये कहा गया है :—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवावभासते ॥

"व्युत्पत्ति की कमीसे जो दोष उत्पन्न होता है वह शक्ति से आवृत हो जाता है किन्तु प्रतिभा के अभाव का दोष तत्काल व्यक्त हो जाता है।" दूसरे लोगों का कहना है कि कविता में व्युत्पत्ति प्रधान होती है और व्युत्पत्ति के द्वारा अशक्ति का दोष आवृत हो जाता है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास तीनों के संयोग में ही काव्यत्व का प्रशस्त प्रस्फुरण मानते हैं। जब तक कवि में तीनों तत्त्व विद्यमान नही होते तब तक अनिन्दनीय काव्य बन ही नही सकता। इसी तत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए काव्यप्रकाशकार ने हेतु शब्द में एकवचन का प्रयोग किया है जिसका आशय यह है कि तीनों तत्त्वों को मिलाकर काव्य की हेतुता सिद्ध होती है तथा एक के अभाव में भी प्रशस्त काव्य नहीं बन सकता।

बिहारी की प्रतिभा और अभ्यास

प्रतिभा नये-नये अर्थों के स्फुरण की शक्ति को कहते हैं। इससे एक ओर वर्ण्य विषय के अनुकूल शब्द योजना में प्रवृत्ति होती है, दूसरी ओर अर्थ सम्पादन की दिशा में चमत्कार के आधान में भी शक्ति आती है, इसी प्रकार अलंकार योजना की विशेषता भी प्रतिभा के बल पर ही उत्पन्न होती है। प्रतिभा का सामान्य अर्थ यही है कि जो शक्ति हृदय में नवीन तत्वों का प्रतिभास करने या उद्भावना करने में समर्थ होती है उसे प्रतिभा कहते हैं। यह शक्ति बीज रूप में प्रायः सबके अन्दर विद्यमान होती है, किन्तु इसमें विशेषता का आधान अभ्यास के द्वारा हुआ करता है। अभ्यास से नवीन स्फुटित हुए अर्थों के अभिव्यक्त करने की शक्ति उत्पन्न होती है जिससे कवि अन्तस्तल में उद्भूत हुए आशय को सहृदयों में संक्रान्त करने में समर्थ हुआ करता है।

बिहारी एक प्रतिभाशाली कवि थे और जैसा कि इनके जीवन चरित्र से अवगत होता है स्वामी नरहरिदास के आश्रय में तथा इसके बाद भी ये निरन्तर कविता का अभ्यास करते रहते थे जिससे इनकी कविता लोकोत्तर चमत्कारकारिणी तथा सरसतापूर्ण बन गई। महाराज जयसिंह अपनी अविकसित-यौवना रानी के प्रेम-पाश में फंस गए—उनकी उस मोह-निद्रा को बिहारी के एक ही प्रतिभा-स्फुरण ने तोड़ दिया था, यह बिहारी के प्रतिभाशाली होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। शिवा जी ने जयसिंह को बहुत बड़ा पत्र लिखा था जिसमें मुगलों के प्रति उनके अनुचित पक्षपात की बात कही गई थी। उस पत्र का समस्त सार बिहारी ने एक दोहे में

रख दिया है और साथ में चमत्कार की योजना भी बड़े ही समीचीन रूप में कर दी गई है। सबसे बड़ी बात यह है कि बिहारी जयसिंह के दरबार में ही रहते थे। अतएव उनके लिए यह अनिवार्य था कि वे राजा के प्रति पूर्ण शालीनता का निर्वाह करते। बिहारी के दोहे में सौहार्द के साथ राजा को प्रबोध भी दिया गया है और शालीनता की रक्षा भी की गई है तथा नम्र और कोमल शब्दों मे मुगलों के प्रति महाराज जयसिंह के अनुचित पक्षपात की गर्हणा भी की गई है॥ दोहा निम्न-लिखित है—

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा देखि, विहग विचारि।
बाज परायें पानि परि तूँ पछीनु न मारि॥

यहाँ पर बाज के द्वारा ही अपने ही वर्ग के पक्षियों को दूसरों के लिए मारने का सादृश्य जयसिंह के द्वारा मुगलो के लिए हिन्दुओ को मारने से स्थापित किया गया है। इस प्रकार के सादृश्य की स्थापना बिहारी की लोकोत्तर प्रतिभा की परिचायिका है।

प्रायः सभी लोग जानते हैं कि दाहिनी ओर बिन्दु रख देने से दसगुना मूल्य बढ़ जाता है अथवा टेढी बकारी लगा देने से सामान्य अक रुपये का अर्थ देने लगता है। किन्तु नायिका के मस्तक में बिन्दी से उसके अनन्त मूल्य का बढ जाना तथा टेढी लट के मुख पर आ जाने से उसका बहुमूल्य हो जाना हमारे बिहारी की प्रतिभा से ही ज्ञात होता है। हम सब जानते है कि जब दो व्यक्तियो में प्रेम उत्पन्न हो जाता है तब कुटुम्ब की परवाह नही की जाती तथा दुष्ट लोग दूसरे के प्रेम को देखकर जलने लगते है। हम यह भी जानते है कि जब कोई डोरी उलझ जाती है तब वही टूटती है और वही जोडी जाती है तथा उसी में गाँठ पडती है। सामान्य व्यक्ति दोनो तथ्यों में सादृश्य स्थापित नही कर पाता। यह कवि की प्रतिभा का ही प्रसाद है कि दोनों तथ्यो को मिलाकर एक अभूतपूर्व असगति अलंकार की सर्जना कर दी गई है :—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर- चित प्रीति।
परति गांठि दुरजन हियैं दई नई यह रीति॥

लोक में जो रस्सी उलझती है वही टूटती है, वही जोडी जाती है और उसी में गांठ भी पडती है। किन्तु प्रेम के क्षेत्र में नायक और नायिका के नेत्र उलझते है, कुटुम्ब टूटता है, दोनो के चित्त में प्रेम जुडता है और दुष्टों के हृदय में गांठ पड़ जाती है। कितना वैलक्षण्य है ? यह विलक्षणता कवि प्रतिभा से ही अवगत हो सकती है।

नेत्रो को बाण कहने की परम्परा है किन्तु बिहारी ने अपनी प्रतिभा के बल पर उसमें चार चाँद लगा दिये हैं :—

तिय कित कमनैती पढ़ी बिनु जिहि भौंह कमान।
चलु चित बेझैं चुकति नहिं बंक बिलोकनि बान॥

बिहारी की नायिका की धनुर्विद्या सामान्य नहीं है। सामान्य धनुर्धर तब तक बाण नहीं छोड सकता जब तक उसके धनुष में डोरी न हो। बिहारी की नायिका की भौह ही कमान है किन्तु उसमें डोरी है ही नही, फिर भी बाण छूटता है। सामान्य धनुर्धर स्थिर लक्ष्य को बेधते है। यदि लक्ष्य थोड़ा बहुत हिल रहा हो तो उसको वेध देना धनुर्धर के कौशल की पराकाष्ठा है। बिहारी की नायिका का लक्ष्य चंचल मन है जिसकी तुलना विश्व के किसी चचल पदार्थ से नही हो सकती। यदि बाण जरा भी टेढा हो तो लक्ष्य नहीं वेध सकता किन्तु बिहारी की नायिका की तिरछी चितवन ही बाण है जो सर्वदा टेढा ही है। फिर भी लक्ष्य वेध होता है। बिना डोरी की कमान, टेढा बाण और वेध्य लक्ष्य ससार का सर्वाधिक चंचल पदार्थ, फिर भी लक्ष्य-वेध होता है और सबसे बडे आश्चर्य की बात यह है कि अन्य धनुर्धर तो लक्ष्य-वेध में कभी-कभी चूक भी जाते है किन्तु बिहारी की नायिका कभी चूकती ही नही, लक्ष्य-वेध अवश्य कर देती है। ऐसा धनुर्धर कवि-प्रतिभा में ही सम्भव है।[1] बिहारी ने एक नही, सैकड़ो उच्च कोटि के सादृश्य-विधान किये हैं, इनका एक भी दोहा चमत्कार से रहित नही है। इससे बिहारी की उच्च कोटि की प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है।[2]

एक से अनेक शब्दो का एक साथ रखना भी कवि-प्रतिभा का परिचायक है। सामान्य व्यक्ति कठिनता से एक आध अप्रस्तुत का योग प्रस्तुत के साथ कर सकता है जबकि कवि अपनी प्रतिभा के बल पर अनेक शब्दो को अनायास रखता जाता है और उस प्रसंग में वे सभी शब्द सगत हो जाते है। सरल स्वभाव की नायिका अधिक अच्छी नहीं लगती। नायिका का इठलाना और कुटिलता धारण करना ही उसकी सुन्दरता का कारण होता है। इसके सादृश्य-विधान के लिए बिहारी ने अनेक शब्दों का सुन्दरता के साथ उपादान किया है :—

गढ रचना, वरुनी अलक, चितवन भौंह कमान।
आधु बंकईहीं चढ़ै, तरुनि, तुरंगम तान॥[3]

इसी प्रकार कलाओं में पूर्ण आनन्द लेना ही जीवन की सार्थकता है इसका वर्णन करने में कवि ने प्रस्तुतो की योजना सुन्दरता के साथ की है :—

तन्त्री नाद, कवित्त रस, सरस राग रति रग।
अन बूड़े, बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग॥

रति काल की क्रियाओं का सघात भी दर्शनीय है :—

चमक, तमक, हांसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि।
ए जिहिं रति, सौं रति मुकति और मुकति अति हानि॥

इसी प्रकार देखा-देखी के अवसर की अनेक क्रियायें भी देखिए :—

कहत, नटत, रीझत, खिजत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं नैननु हीं सब बात॥

भावनाओं का संघात भी अनुपम है :—

बालमु बारैं सोति कैं सुनि पर नारि विहार।
भौं रसु, अनरसु, रिस, श्लो, राझ, खीझ इक बार ।।

बिहारी की अभिव्यक्ति तथा अलकार योजना भी इनकी प्रतिभा की पूर्ण परिचायिका है। कही-कही एक ही दोहे में अनेक अभिव्यक्तियों के दर्शन होते है और कही एक ही दोहे में अनेक अलकारो की पिटारी सी सजा दी गई है। इस पर भी विशेषता यह है कि अलकारों के बाहुल्य के कारण कहीं भी रस-भंग नहीं होने पाया है और न अलंकार इतने प्रधान ही बन गये हैं कि उनसे रसास्वादन आच्छादित हो जाता। इस दिशा में एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। सर्वप्रथम बिहारी का मंगलाचरण वाला दोहा लीजिए :—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की छाया परें श्याम हरित दुति होइ ।।

इस दोहे में रस, वस्तु और अलकार तीनो प्रकार की ध्वनियो का एक समूह सा लगा हुआ है। सक्षेप में इसके व्यग्यार्थो की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है :—

(१) शृंगार रस ध्वनि:—राधा आलबन, शरीर सौन्दर्य-उद्दीपन, मुख विकास, रोमांच इत्यादि अनुभाव, हर्ष, विस्मय, उत्साह, औत्सुक्य इत्यादि संचारी भाव इनसे पुष्ट होकर कृष्णात्मक रति ने शृंगार रस रूप धारण किया है।

(२) वीर रस ध्वनि :—पाप आलंबन, उसकी उत्कटता उद्दीपन, शरीर की चमक इत्यादि अनुभाव, हर्ष, गर्व, अमर्ष इत्यादि संचारी भाव, इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी भाव ने वीर रस का रूप धारण किया है। इसी के साथ राधा की दानवीरता, धर्मवीरता और दयावीरता की भी ध्वनि मिलती है।

(३) वस्तु ध्वनि —दोहे से निम्नलिखित वस्तु-ध्वनियाँ निकलती हैं :—

(क) राधा का ध्यान ऐहलौकिक तथा पारलोकिक दोनों प्रकार के कल्याण का साधक है।

(ख) काव्य का परिशीलन ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के कल्याणो का विधायक है। अतएव यही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।

(ग) इस ग्रन्थ में राधाकृष्ण की प्रेम लीला को लेकर रचना की गई है जो जयदेव, विद्यापति, सूरदास, चण्डीदास इत्यादि की परम्परा में आती है।

(घ) राधाकृष्ण की प्रेम लीला का व्यंजना व्यापार से कीर्तन ग्रन्थ का विषय है, राधाकृष्ण की प्रेम लीला और साहित्य शास्त्र का अनुसरण ग्रन्थ से सम्बद्ध हैं, भक्तगण अधिकारी है जो पाप से निर्मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं और लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण ग्रन्थ के प्रयोजन है।

(ङ) राधा को पापों के निराकरण के लिए व्यतिरिक्त करण की अपेक्षा नहीं है। उनका ध्यान ही भक्तों के पापो को समूल नष्ट कर उन्हे लौकिक कल्याण भी प्रदान करता है और उनको मोक्ष प्रदान करने में भी कारण बनता है।

(च) 'श्यामु' शब्द काकु से कृष्ण की लोकोत्तर महत्ता और अलौकिक प्रभावशालिता का व्यंजक है। वे कृष्ण भी जिनके आते ही हरे-भरे और प्रसन्न-चित्त हो जाते हैं उन राधा के प्रभाव और ऐश्वर्य के विषय में कुछ कहना व्यर्थ है। इस प्रकार यहाँ पर राधा की शक्ति और प्रभाव की अधिकता ध्वनित होती है।

(छ) राधा के अभूतपूर्व सौन्दर्य की भी व्यजना होती है जिसमें कृष्ण के स्वरूप को परिवर्तित कर देने की शक्ति है।

४. **अलंकार ध्वनि** :—राधा का वर्ण उज्ज्वल रत्न के समान है जो कि कृष्ण के रूप को परिवर्तित कर देता है। (कुछ रत्न इस प्रकार के होते है कि दूध में डाल दिये जावे तो दूध का वर्ण नीला पीला इत्यादि मालूम पड़ने लगता है।) इस प्रकार यहाँ पर उपमा अलंकार ध्वनि है। इसी प्रकार यहां पर रूपक, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और अपन्हुति की भी व्यंजना हो सकती है। राधा का वर्ण कृष्ण के वर्ण का परिवर्तक हो जाता है किन्तु स्वयं उससे परिवर्तित नही होता। अत: राधा का वर्ण अधिक उज्ज्वल है, इस प्रकार यहाँ पर व्यतिरेकालकार ध्वनि है। वर्ण परिवर्तन का सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध का वर्णन किया गया है—इस प्रकार यहाँ पर सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार भी हो सकता है, राधा के वर्ण की व्यजित सुन्दरता कृष्ण के हरित द्युति हो जाने में हेतु है। अतएव यहाँ पर काव्यलिग अलकार ध्वनित होता है। इन अलंकारों का यहाँ पर एकाश्रयानुप्रवेश संकर है।

५. **गुणीभूत व्यंग्य** यहां पर कवि की राधाविषयक रति अंगी है जो कि भाव-ध्वनि के क्षेत्र मे आती है। उसका अंग है कृष्ण की राधा विषयक रति तथा राधा का पापविषयक उत्साह। इस प्रकार यहा पर अपरांगगुणीभूत व्यंग्य है। 'श्याम' में वाच्य सिद्ध्यंग गुणीभूत व्यग्य तथा काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य भी होता हैं। इस प्रकार इस दोहे मे सभी प्रकार की (रस, वस्तु और अलंकार) ध्वनिया विद्यमान हैं। एक और दोहा देखिये :—

अरी, खरी सटपट परी विधु आधैं मग हेरि।
संग लगैं मधुपनु लई धपु भागनु गली अँधेरि॥

वाच्य सामर्थ्य से व्यक्त होता है कि कृष्ण पक्ष में नायिका ने अभिसार किया है। जिस समय उसने अभिसार आरम्भ किया उस समय अंधकार फैला हुआ था। अतएव उसने कृष्ण वस्त्र धारण कर रखे थे। कृष्णाभिसारिका होने के साथ-साथ यह भी व्यक्त होता है कि नायिका परकीया है। अन्यथा चन्द्रोदय से घबराने की आवश्यकता ही क्या थी? भौंरे साथ में लगे हुए थे इससे नायिका के शरीर की सुगन्ध व्यक्त होती है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि नायिका पद्मिनी है। इस

दोहे में बड़े ही कौशल के साथ नायिका के शरीर-सौन्दर्य का चित्रण किया गया है। नायिका के शरीर से सुगन्धि तो आ ही रही थी। चन्द्रोदय से जब उसका मालती के समान दर्शनीय मुख भी दिखलाई पड़ने लगा तब भौरो के झुंड के झुंड आ गये और उन्होंने गली में ऐसा अन्धकार फैलाया कि नायिका सामान्य दर्शकों की दृष्टि से ओझल हो गई।

यहाँ रस का परिपाक भी अच्छा हुआ है। पद्मिनी नागरी परकीया नायिका आलम्बन है। भ्रमर गुंजार, अंधकार इत्यादि उद्दीपन हैं। अभिसार अनुभाव है। सटपटाने में शंका, त्रास इत्यादि सचारी भाव हैं। और रति स्थायी भाव है। आलम्बनादि से पुष्ट रति स्थायी भाव ने शृंगार रस का रूप धारण किया है। दोहा उत्तम या उत्तमोत्तम काव्य की सीमा में आता है। क्योंकि इससे व्यंजना वृत्ति के आधार पर नायिका का पद्मिनीत्व, परकीयात्व तथा कृष्णाभिसारिकात्व अवगत होता है और अभिव्यक्त रति ही प्रधान होकर आस्वादन में निमित्त है। इस दोहे में निम्नलिखित अलकार अभिव्यक्त रतिभाव को पुष्ट करते हैं :...

(१) अरी और परी में 'अरी' का स्वरूप तथा क्रम दोनों प्रकार से साम्य है। अतएव यहाँ पर छेकानुप्रास अलकार है।

(२) 'सट-पट' में अट साम्य भी दोनो रूपो में है। अतएव यहाँ पर भी छेकानुप्रास ही है।

(३) 'बिधु' तथा 'आधे' में केवल एक प्रकार से (स्वरूप से हो) साम्य है। अतएव यहाँ पर वृत्त्यनुप्रास है।

(४) संग तथा लगे में भी वृत्त्यनुप्रास है।

(५) 'भागनु' तथा 'गली' में वृत्त्यनुप्रास ही है।

इन अलंकारों की परस्पर तथा निम्नलिखित अर्थालंकारों के साथ ससृष्टि है।

(६) यहाँ पर प्रथम प्रहर्षण अलंकार है क्योकि बिना ही प्रयत्न के नायिका का अभीष्ट सिद्ध हो गया है।

(७) यहाँ पर चन्द्रोदय रूप प्रतिबन्धक के होते हुए भी कार्य हो गया है। अतएव तृतीय विभावनालंकार है।

(८) भौंरों द्वारा गली में अन्धकार किये जाने का सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध का वर्णन किया गया है, अतएव यहाँ पर सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है।

(९) भौरों के आजाने से छिपने का कार्य सुकर हो गया है, अतएव यहाँ पर समाधि अलकार है।

(१०) नायिका अन्धकार में अभिसार कर रही थी। यह पूर्व स्थिति थी। चन्द्रोदय से इसमें परिवर्तन उपस्थित हुआ और अन्धकार नष्ट हो गया। पुनः भ्रमरों के आजाने से अन्धकार पूर्व रूप मे आ गया। इस प्रकार यहाँ पर पूर्वरूप अलंकार है।

(११) चन्द्र के दोष से अभिसार के व्याघात रूपी दोष के उत्पन्न हो जाने की आशंका थी किन्तु वह दोष भ्रमरो के आ जाने से नही लगा, अतएव यहाँ पर अवज्ञा अलंकार है। श्री लोकनाथ द्विवेदी ने 'बिहारी दर्शन' नामक पुस्तक में मिश्रबन्धुओं द्वारा निर्दिष्ट अवज्ञालकार का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'चन्द्र के उदय होने से दोष तो उत्पन्न ही हो गया इसी लिए 'खरी सटपट परी' लिखा गया है।' किन्तु यह सटपटाहट क्षणिक थी और अभिसार का व्याघात केवल सम्भावित हुआ था। अभिसार व्याहत नही हुआ। भौरो के गली को अवरुद्धकर लेने से दोष का निराकरण तो तत्काल हो ही गया, अतएव यहाँ पर अवज्ञालकार मानना उचित ही है।

श्री लोकनाथ जी द्विवेदी ने यहाँ पर प्रथम व्याघात अलकार माना है। प्रथम व्याघात अलकार ऐसे स्थानो पर हुआ करता है जहाँ पर अन्यथा कार्य सम्पादन करने वाली वस्तु से ही उसके प्रतिकूल कार्य करा लिया जावे। यहाँ पर चन्द्रमा से अभिसार व्याघात रूप दोष उत्पन्न होने वाला था, उसके प्रतिकूल कार्य भौरों द्वारा सम्पन्न हुआ है, अतएव यहाँ पर व्याघात अलकार नही माना जा सकता।

आशय यह है कि बिहारी एक प्रतिभाशाली कवि थे। अभिव्यजना, रस-निष्पत्ति, अप्रस्तुत विधान, अलकार योजना, व्यजक रूप में भाषा का प्रयोग इत्यादि प्रत्येक क्षेत्र मे इनकी प्रतिभा के दर्शन होते है। प्रत्येक दोहे मे नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा के प्रसार के ही कारण ऐसी रमणीयता उत्पन्न हो गई है जिसका न तो अतिक्रमण ही किया जा सकता है और न अनुकरण ही किया जा सकता है। प्रतिभा के कारण ही बिहारी के दोहो में एक ऐसी नवीनता आ गई है कि ये दोहे अपनी कलात्मकता के कारण किसी भी कविता में मिल नही सकते और दोहे का बिहारीपन अलग से ही प्रतिभासित होने लगता है। किसी उच्चकोटि के दोहे को देखकर लोग सहसा कहने लगते है, अमुक दोहा बिहारी-कृत जान पडता है। यह सब भगवती प्रतिभा देवी ही की कृपा है। श्री अभिनव गुप्त पादाचार्य ने लिखा है :—

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां,
जगद् भावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्या प्रसर सुभग भासयति तत्।
सरस्वत्यास्तत्त्वं कवि-सहृदयाख्य विजयते॥

ससार के सारे पदार्थों का निर्माण कारणापेक्षी होता है। बिना उपादान कारण के किसी वस्तु का निर्माण नही हो सकता। किन्तु सरस्वती का तत्त्व (प्रतिभा) ही वहवस्तु है जो बिना ही कारण की अपेक्षा के अपूर्व वस्तु को विस्तारित कर देता है। यो तो संसार पाषाणवत् नीरस है, किन्तु उसमें सरसता का आधान कर सारमय बना देना भगवती प्रतिभा का ही कार्य है। जो प्रतिभा उपाख्या अर्थात् वाणी के प्रसार से संसार को सुन्दरतम रूप में व्यक्त किया करती है और तुच्छ

से तुच्छ तथा असुन्दर से असुन्दर वस्तु को भी प्रकाशित कर देती है, वही कल्याण कारिणी प्रतिभा सर्वोपरि वर्तमान है।

बिहारी की निपुणता

कवि की वाणी चारों ओर को स्फुरित होती है। उसे अप्रस्तुत योजना के लिए शास्त्र और लोक दोनो ओर को हाथ फैलाना पडता है। मुक्तक काव्य में तो निपुणता और अधिक अपेक्षित होती है। कारण यह है कि प्रबन्ध काव्य में कथा का आश्रय लेकर कवि बढता चला जाता है। प्रस्तुत उसके सामने सर्वदा सन्निहित रहता है। उसे व्युत्पत्ति की आवश्यकता कथासूत्र-गुम्फन और अप्रस्तुत-विधान में ही पड़ती है। इसके प्रतिकूल मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति ही व्युत्पत्ति के आधार पर होती है। जो कवि जितना व्युत्पन्न होगा उतने ही अर्थ उसके सामने स्फुरित होगे और उतना ही कौशल वह अपनी रचना में दिखला सकेगा।'

राजशेखर ने काव्य मीमासा मे लिखा है कि आचार्यों का मत है कि 'बहुज्ञता को व्युत्पत्ति कहते है किन्तु मेरा मत है कि उचित-अनुचित विवेक को व्युत्पत्ति कहते है।' इसका आशय यह है कि कवि को अनेक शास्त्रो का ज्ञान केवल इसीलिये होना चाहिये कि वह कही रसचर्वणा के प्रतिकूल कोई अनुचित बात न कह जाये। कवि के लिये अनेक शास्त्रों का सामान्य अथवा ऊपरी ज्ञान अपेक्षित होता है। उसे सभी शास्त्रो में प्रगाढ़ पाण्डित्य प्राप्त करना अपेक्षित नही होता है और न काव्य में प्रगाढ पाण्डित्य प्रदर्शन समीचीन ही होता है। कवि को किसी भी शास्त्र की ऐसी ही छोटी-मोटी बातों का अपने काव्य में समावेश करना पड़ता है, जिनको सर्वसाधारण पाठक अनायास ही समझ जाये। प्रत्येक शास्त्र की साधारण सी बाते लोक में प्रचलित रहती हैं। अनेक शास्त्रो के ऊपरी विचारो से सभी लोग परिचित रहते हैं और कवि को भी उनका उसी रूप में ज्ञान रहता है। जब कवि अपनी प्रतिभा के बल पर अपने उस ज्ञान से चमत्कारोत्पादक तथ्यों को ढूढ निकालता है तब कविता में विशेषता का आधान हो जाता है। कवि सुपरिचित तत्वों से अपरिचित भाव या आशय निकालता है जिससे परिशीलन करने वाले चमत्कृत हो जाते हैं। उदाहरण के लिए प्रायः प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि दाहिनी ओर बिन्दी लगा देने से दस गुना मूल्य बढ जाता है। बिहारी ने अपने इसी ज्ञान का उपयोग कर स्त्री के मस्तक में बिन्दी से असंख्य गुने मूल्य के बढने की सुन्दर कल्पना की है।

उचित-अनुचित के विवेक के लिये कवि को काव्य-शास्त्र का ज्ञान तो होना ही चाहिये, दूसरे शास्त्रों की छोटी-मोटी बातें भी उसे अवगत रहनी चाहिये। साथ ही संसार में भी उसे आंख खोलकर चलना चाहिए और लोकवृत्त का भी उसे जितना अधिक हो सके ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि व्युत्पत्ति की कमी भी रसोपघातक होती है और यदि कवि पूर्ण विवेक से काम न ले तो व्युत्पत्ति की अधिकता भी काव्य

का बिगाड़ने वाली ही होती है। व्युत्पत्ति की कमी में तो कोई भी भाव शीघ्र स्फुरित ही नहीं होता और यदि स्फुरित होता भी है तो भी वर्णन वस्तुस्थिति के प्रतिकूल पड़कर काव्य को बिगाड देता है। इसी प्रकार व्युत्पत्ति की अधिकता के कारण यदि कवि किसी गहन सिद्धान्त को लेकर बैठ जाता है और उसका गम्भीर विवेचन करने लगता है तो वह काव्य की वास्तविक सीमा से कहीं दूर जा पडता है और उसका काव्य उपादेय नहीं बन पाता। प्राय. कवियों में यह दोष आ गया है। थोथे पाण्डित्य प्रदर्शन के लोभ को ये कवि संवृत नहीं कर सके हैं और इस प्रकार उनके काव्य काव्यत्व की सीमा से पर्याप्त रूप में च्युत हो गये हैं।

बिहारी के बहुत से आलोचक बिहारी के किसी दोहे मे किसी शास्त्र की थोडी सी छाप देखकर उन्हे उस शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित कहने लगते हैं। टेढी बकारी को लगाकर रुपया लिखा जाता है या बिन्दी लगाने से दसगुना मूल्य बढ जाता है, केवल इतना सा ज्ञान बिहारी को महान् गणितज्ञ सिद्ध नहीं कर सकता। इसी प्रकार नाडी देखकर रोग का निश्चय किया जाता है या सुदर्शन चूर्ण से विषम ज्वर दूर हो जाता है, इतना ज्ञान बिहारी को धन्वन्तरि सिद्ध नहीं कर सकता। गणित का इतना ज्ञान तो छोटी कक्षा में पढने वाले साधारण छात्र को भी होता है और वैद्यक का इतना ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को होता है। काव्य में भी इससे अधिक ज्ञान का प्रदर्शन अपेक्षित नहीं होता। यदि कोई कवि काव्य में ट्रिग्नोमेटरी के गहन तथा दुरूह सिद्धान्तों की व्याख्या करने लगे अथवा स्टेटिक्स, डिनेमिक्स के गोरखधधे में पड़ जावे तो वह काव्यत्व की सीमा से अवश्य गिर जावेगा। हाँ, इससे इतना सिद्ध अवश्य होता है कि कवि को अनेक विषयो में रुचि थी और कवि सांसारिक ज्ञान में भी निष्णात था। देखा यह जाता है कि कवि की रुचि किन विषयो तक सीमित रहती है। यदि कवि की वाणी में किसी शास्त्रीय तथ्य का प्रस्फुटन हुआ है तो उससे इतना तो सिद्ध ही है कि कवि उन विषयो में रुचि लेता था। साथ ही यह भी देखना पड़ता है कि क्या कवि ने किसी शास्त्रीय सिद्धान्त के प्रस्फुटन में कोई बड़ी भूल तो नहीं कर दी है। इसी लिए राजशेखर ने बहुज्ञता के स्थान पर उचितानुचित विवेक को व्युत्पत्ति या निपुणता कहा है। जब हम बिहारी की अनेक शास्त्रो की निपुणता की बात करते है तब हमारा आशय यही होता है कि बिहारी को अनेक विषयो में रुचि थी। वे लोकवृत्त को ठीक रूप में समझने में सचेष्ट थे। उन्होने अपने काव्य वस्तु का उपादान विभिन्न शास्त्रीय सिद्धान्तो और लोकगत तथ्यो से किया है तथा उनकी रचना में कोई ऐसी सिद्धान्त सम्बन्धिनी भूल नहीं है जिससे उनका काव्य बिगड़ गया हो। काव्य में सामान्य सिद्धान्तो का समावेश करना और शास्त्रो के गहन विचारो में न उलझना अपने में स्वय एक सफलता है जिसके लिए बिहारी की प्रशंसा की जानी चाहिए। यहां पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि बिहारी ने ज्योतिष तथा वैद्यक के दो-चार विशिष्ट सिद्धान्तो का भी अपने काव्य में समावेश किया है जो सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं है। किन्तु ऐसे स्थानो पर कवि ने सर्वत्र

प्रसादगुण का निर्वाह किया है और कहीं भी सिद्धान्तों की गहनता के कारण काव्य को बिगड़ने नहीं दिया। अगले पृष्ठों में इस बात का विवेचन किया जावेगा कि बिहारी की कविता में किन शास्त्रों की छाप है तथा बिहारी ने अपनी कविता में किस सीमा तक लौकिक ज्ञान का उपयोग किया है।

हम बिहारी के ज्ञान को तीन रूपो में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) शास्त्रों का ज्ञान, (२) इतिवृत्त का ज्ञान और (३) लोक-वृत्त का ज्ञान।

शास्त्र-ज्ञान के अन्दर बिहारी ज्योतिष में विशेष निष्णात प्रतीत होते हैं। इन्होंने ज्योतिष के गहन सिद्धान्तो का प्रश्रय अपनी कविता में लिया है। ये सिद्धात ऐसे नही हैं जिनको सर्वसाधारण में प्रचलित कहा जा सके। सम्भवत. बिहारी ने ज्योतिष का अच्छा अध्ययन किया था अथवा ज्योतिषियो के निकट सम्पर्क में रहे थे। जातक संग्रह के राजयोग प्रकरण में लिखा है कि यदि शनैश्चर तुला, धनु या मीन में हो अथवा लग्न में पडा हो तो वह स्वयं राजा होता है तथा राजवश का करने वाला होता है। ज्योतिष के इस सिद्धान्त को लेकर बिहारी ने निम्नलिखित दोहा लिखा है :—

सनि-कज्जल चख झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यौ न नृपति ह्वै भोगबै लहि सुदेसु सबु देहु॥

नेत्र रूपी मीन की लगन (लग्न तथा लगालगी) में स्नेह रूपी बालक का जन्म हुआ है। अतएव यह स्नेहरूपी बालक सारे शरीर रूपी देश पर शासन कर रहा है। इसी प्रकार एक दूसरा सिद्धान्त है कि यदि मंगल, चन्द्रमा और बृहस्पति, एक ही नाडी के चारों नक्षत्रों में से किसी एक पर पड़े हों तो इतनी वर्षा होती है कि संसार जलमय हो जाता है। निम्नलिखित दोहे में मस्तक पर लगी लाल बिन्दी को मंगल माना गया है, मुख को चन्द्रमा माना गया है और केसर के पीले तिलक को बृहस्पति माना गया है। इसी में तीनों एक ही नारी (नाड़ी या स्त्री) में विराजमान हैं अतएव नेत्ररूपी संसार रसमय, प्रेममय या जलमय हो गया है :—

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगतु॥

इसी प्रकार एक और सिद्धान्त है कि यदि चन्द्र के अन्दर कोई सौम्य ग्रह पड़ा हो और वह केन्द्र में, ११वे स्थान पर अथवा त्रिकोण में विद्यमान हो तो धनागम, राजमान, सतान, प्राप्ति इत्यादि अनेक सुख प्राप्त होते है। इस सिद्धान्त की छाया निम्नलिखित दोहे पर पडी है :—

तिथ-मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढ़ै बिनोदु।
सुत सनेह मानौ लियौ बिधु पूरन बुधु गोदु॥

यहाँ पर स्त्री के मुख मे हीरा जडी बेंदी को चन्द्र के अन्दर बुध का योग माना गया है। स्त्री का स्थान सप्तम है। अतएव यह संख्या केन्द्रगत हो गई है। सखी का

अभिप्राय यह है कि यह समय अनेक सुख, पुत्र, वित्तादि की प्राप्ति के लिये उपयुक्त है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में कवि ने मंगल के अन्दर चन्द्र की अन्तर्दशा पर ध्यान दिलाया है जो कि दार-पुत्रादि अनेक सौख्यों का देने वाला होता है :—

भाल लाल बेंदी, ललन आखत रहे विराजि।
इन्दु कला कुज में बसी मनौ राहु-भय भाजि॥

लाल बिन्दी रूप मंगल में अक्षत रूप चन्द्रमा विराजमान है जो कि स्त्रीरूप सप्तम स्थान केन्द्र में पड़ा हुआ है, अतएव अनेक सुखों का देने वाला है।

निम्नलिखित दोहे में संक्रान्ति का सुन्दर वर्णन किया गया है : —

तिय-तिथि तरुन-किसोर-वय पुण्यकाल-सम दोनु।
काहू पुन्यनु पाइयतु बैस सन्धि-संक्रोनु॥

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में कवि ने किसी तिथि की हानि होने का अच्छा वर्णन किया है :—

गनती गनिवे तैं रहे छत हूँ अछत-समान।
अलि अब ए तिथि औम लौं परे रहौ तन प्रान॥

जिस तिथि में प्रातःकाल सूर्य का उदय होता है वही तिथि दिन भर मानी जाती है। कभी कभी ऐसा हो जाता है कि सूर्योदय काल में जो तिथि होती है वह केवल चार-छः पल बाद बदल जाती है और दूसरे दिन प्रात.काल सूर्योदय के पहले समाप्त हो जाती है। वह तिथि यद्यपि विद्यमान रहती है तथापि न विद्यमान रहने के समान मानी जाती है। यहाँ पर इसी की उपमा दी गई है।

बिहारी ने आयुर्वेद के चलते हुए सिद्धान्तों का वर्णन किया है। निम्नलिखित दोहे में विषम ज्वर के सुदर्शन चूर्ण द्वारा होने की बात कही गई है :—

यह विनसतु नगु राखि कै जगत बड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइयैं आइ सुदरसनु देहु॥

निम्नलिखित दोहे में ज्वर की तीव्रता और उसका रस से दूर होना बतलाया गया है :—

हरि हरि बरि बरि उठति है करि करि थकी उपाइ।
वाको जुरु, वलि बैद, जौ तो रस जाइ, तु जाइ॥

निम्नलिखित दोहे में पारे से नपुंसकता दूर होने की ओर सकेत किया गया है :—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद- बधू हँसि भेद सौं रही नाह मुँह चाहि॥

निम्नलिखित दोहे में नाड़ी ज्ञान, निदान इत्यादि की छाया पाई जाती है :—

मैं लखि नारी-ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह।
वहई रोग-निदानु वहै बैदु औषधि वहै॥

निम्नलिखित दोहे में पीनस रोग का लक्षण बतलाया गया है :—

सीतल तरु सुवास कौ घटै न महिमा मूरु।
पीनसवारै जो तज्यौ सोरा जानि कपूरु ।।

उपर्युक्त दोहों में वैद्यक के किसी गहन सिद्धान्त का वर्णन नहीं किया गया है। केवल सर्व-जन-सवेद्य तत्वों का ही उपादान हुआ है। किन्तु एक दोहे में एक ऐसे सिद्धान्त का उपादान किया गया है जो सर्वजन-संवेद्य नहीं कहा जा सकता। आयुर्वेद में शरीर-शोधन के लिये पंचकर्म किये जाते हैं जिनमें स्नेहन भी एक है। इसमें रोगी को स्नेह पान कराया जाता है। यदि स्नेहन क्रिया बिगड़ जाती है तो रोगी का पेट पानी से भर जाता है और प्यास शान्त नहीं होती। धीरे-धीरे रोगी प्यास में ही मर जाता है। इस तथ्य की छाया निम्नलिखित दोहे में विद्यमान है :—

नेहु न, नैननु, कौं कछू उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नित प्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाइ ।।

बिहारी के दोहो में कहीं-कही दार्शनिक विषयों की भी छाया पाई जाती है। कुछ तो साधारण विषय हैं और कुछ दोहों में विशेषता भी है।' निम्नलिखित दोहे में प्रमाणवाद का उल्लेख किया गया है जो कि सर्वजन-संवेद्य नहीं कहा जा सकता :—

बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति किऐं नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाइ ।।

किसी-किसी दोहे में परमात्मा की व्यापकता इत्यादि सर्वजन-सवेद्य सुलभ सिद्धान्तों की छाया भी पाई जाती है :—

भगवान् की व्यापकता में—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ
एकै रूपु अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ।

एक तत्व की ही प्रधानता :—

अपनैं अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ एकै नन्दकिसोरु ।।

योग तथा अद्वैतवाद—

जोग जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता काननु सेवत नैन ।।

प्रत्यक्ष के बाधक—

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै आँखि न देखी जाहिं ।।

व्यापकता तथा रहस्यमयता—

मोहन-मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोइ।
बसतु सु चित-अन्तर तऊ प्रतिबिम्बितु जग होइ ।।

राजधर्म प्रकरण में राज्य के सात अंग माने जाते हैं--स्वामी, अमात्य, सुहृत् कोष राष्ट्र, दुर्ग और बल। बिहारी ने एक दोहे में शरीर के अंगो की तुलना राज्य के अगो से की है :—

अपने अंग के जानि कै जोबन-नृपति प्रवीन।
स्तन, मन, नैन, नितम्ब कौ बड़ौ इजाफा कीन॥

इसी प्रकार ६ उपाय माने जाते हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव। एक दोहे में बिहारी ने इन उपायों की ओर सकेत किया है :—

क्योंहूँ सहबात न लगे, थाके भेद उपाइ।
हठ दृढ़ गढ़ गढवै सु चलि लीजै सुरंग लगाइ॥

नायक और नायिका का विग्रह तो चल ही रहा है, सन्धि के सारे उपाय व्यर्थ हो गये है भेद के उपाय-जिनमें द्वैधीभाव तथा सश्रय आ जाते है-थक चुके हैं; नायिका हठ रूप दृढ गढ में सुरक्षित है यही उपाय आसन के नाम से अभिहित किया जाता है। अब उस पर विजय प्राप्त करने का यही उपाय रह गया है कि यान कर प्रेमरूपी सुरंग लगाकर उस पर अधिकार कर लिया जावे। इस प्रकार एक ही दोहे में बिहारी ने सभी उपायो का निर्देश कर दिया है।

ऊपर राजनीतिज्ञता के उदाहरण दिये गये है। इसके अतिरिक्त कतिपय दोहो में इनके युद्ध-विद्या-सम्बन्धी ज्ञान का भी पता लगता है। युद्ध के लिये जब सेनाये प्रस्थान करती है तब उसके आगे चलने के लिये सेना की छोटी टुकड़ी भेजी जाती है जिससे मुख्य सेना सुरक्षित रहे और उस सेना की आड़ से शत्रु पर प्रहार करे। सेना के इस भाग को हरौल कहते है। जब शत्रु-पक्ष की मुख्य सेनायें सबल होती हैं तब हरौल की उपेक्षा कर तत्काल मुख्य सेना पर जा पहुँचती है। बिहारी ने घूंघट के पतले परदे को हरौल माना है और नायक-नायिका के नेत्रो को मुख्य सेना। जिस प्रकार मुख्य सेना हरौल का अतिक्रमण कर शत्रु की मुख्य सेना पर जा टूटती है उसी प्रकार घूघट पट का अतिक्रमण कर दोनो के नेत्र जा मिले :—

जुरे दुहुनु के दृग भमकि रुके, न झीनैं चीर।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं परे गोल पर भीर॥

एक दूसरे और दोहे से भी बिहारी की युद्ध विद्या का ज्ञान प्रकट होता है:—

लखि दौरत प्रिय-कर कटकु बास-छुड़ावन-काज।
वरुनी-वन गाढैं दृगनु रही गुढ़ौ करि लाज॥

जिस प्रकार जब शत्रु सेना आवास छुड़ाने का आक्रमण कर रही हो तब कोई दुर्बल प्रतिपक्षी वन में बने हुए अपने किसी निवास स्थान में छिपा रहता है उसी प्रकार जब प्रियतम का हाथ रूपी सैन्यदल नायिका के वास (वस्त्र) को छुड़ाने के लिये दौड़ने लगा तब नायिका की लज्जा वरुणी रूपी जंगल में नेत्र रूपी गुप्त आवास स्थान में छिप रही।

एक-दो दोहो में बिहारी के वैज्ञानिक ज्ञान की भी छाया पायी जाती है। जब किसी औषधि का अर्क खीचना होता है तब उसे पहले पानी में डुबा देते है फिर किसी बर्तन में भरकर उसे आग पर चढा देते हैं और नीलाभ यन्त्र से उसका सम्बन्ध एक दूसरे बर्तन से कर देते हैं। औषधि पात्र का जल औषधि का सार लेकर भाप बनकर उड़ता है और नीलाभ यन्त्र के द्वारा दूसरे बर्तन में पहुँचकर पानी बन कर टपक जाता है। बिहारी ने इसी क्रिया का उपादान आँसुओं के वर्णन के प्रसंग में किया है :—

तच्यौ आँच अब विरह की, रह्यौ प्रेम-रस भीजि।
नैननु कैं मग जलु बहे हियौ पसीजि पसीजि॥

हृदय प्रेम रस में भीगा हुआ है और वियोगाग्नि से सन्तप्त किया गया है। इस प्रकार हृदय नेत्रो के मार्ग से पसीज पसीज कर पानी के रूप में बहता है।

दो-एक दोहों से रगो के संमिश्रण के भी ज्ञान का पता चलता है। प्रथम दोहे में ही पीले और नीले रंग को मिलाकर हरे रग बन जाने की बात कही गई है। एक दूसरे दोहे में धूप-छाँह का वर्णन है :—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहूनु मिलि दिपति ताफता-रंग॥

दो दोहों में गणित के ज्ञान की छाया पाई जाती है। एक दोहे में बिन्दु से दस गुने अर्क हो जाने की बात कही गई है और दूसरे दोहे से टेढी बकारी लगाने से दाम का रुपया हो जाने की ओर सकेत किया गया है। दो एक दोहों पर बिहारी के कर्मकाण्डविषयक ज्ञान की भी छाप पाई जाती है। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में यज्ञ की ओर सकेत किया है :—

होमति सुखु, करि कामना तुमहिं मिलन की, लाल।
ज्वालमुखी सी जरति लखि लगनि-अगन की ज्वाल॥

इसी प्रकार एक दूसरे दोहे में पाणिग्रहण संस्कार की भी छाया अधिगत होती है —

स्वेद सलिलु, रोमांच कुसु गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ संग हाथ कैं हथलैवै ही हाथ॥

कामशास्त्र का ज्ञान भी शास्त्रीय ज्ञान में ही आता है। बिहारी का दन्त-क्षत नख-क्षत, विपरीत रति इत्यादि का वर्णन कामशास्त्रीय ज्ञान के अन्दर सन्निविष्ट हो जाता है। निम्नलिखित दोहे मे कामशास्त्र सम्बन्धी अनेक आसनों की छाया लक्षित होती है :—

पलनु पीक अंजनु अधर, धरे महावरु भाल।
आज मिले सुभली करी भले बने हौ लाल॥

इसी प्रकार प्रेम-प्रदर्शन की अनेक चेष्टायें भी कामशास्त्रीय पद्धति पर वर्णित

की गई हैं और इनसे बिहारी का कामसूत्रो का अध्ययन प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त कतिपय दोहों से प्रतीत होता है कि बिहारी अश्वशास्त्र तथा रत्न-परीक्षा इत्यादि विषयों में भी रुचि रखते थे। इन दोहो से यह तो सिद्ध नहीं होता कि बिहारी इन विषयों में पूर्ण निष्णात थे और उन्होने इन विषयों का गम्भीर अध्ययन किया था किन्तु इनसे इतना अवश्य सिद्ध होता है कि बिहारी की रुचि अनेक शास्त्रों में थी और अध्ययनशीलता जोकि कवि का एक अपेक्षित गुण है इनमें विद्यमान था। साथ ही कवि ने किसी भी दोहे मे किसी ऐसे गम्भीर सिद्धान्त के विश्लेषण करने की चेष्टा नही की जिससे अर्थबोध मे दुरूहता उत्पन्न होती और रसास्वादन व्याहत हो जाता।

उपर्युक्त शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त बिहारी को अपने समय की राजनैतिक स्थिति काभी पर्याप्त ज्ञान था और उस विषय में उनका अपना दृष्टिकोण भी था। साथ ही इन्होने अपने समय की सामाजिक स्थिति को गम्भीरतापूर्वक देखा था और उसका प्रतिफलन इनके काव्य में पर्याप्त मात्रा में हुआ। ये भक्ति-सम्प्रदाय से भी परिचित थे और लोक-वृत्त तथा सदाचार के विषय में इनकी अपनी धारणायें थीं, अपनी मान्यतायें थीं और लोकवृत्त के सुधार का इन्होने एक सुन्दर उपदेश दिया है। इन सब बातों का दिग्दर्शन यथास्थान कराया जा चुका है।

बिहारी का ऐतिह्य ज्ञान

ऐतिह्य ज्ञान को हम तीन भागो में विभक्त कर सकते है :—

(१) महाभारत का ज्ञान (२) रामायण का ज्ञान और(३) पौराणिक-कथाओं का ज्ञान। राजशेखर तथा क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थों में इस प्रकार के ऐतिह्य-ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया है। बिहारी के कतिपय दोहों में तीनों प्रकार की ज्ञान की छाया पायी जाती है। भगवान् कृष्ण के जीवन की अनेक घटनाओं से ये परिचित थे और इन्होने अपने काव्य में कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख कर दिया है जिसका यथास्थान विवेचन किया जा चुका है। द्रौपदी का चीर हरण महाभारत की प्रसिद्ध कथा है। बिहारी ने अवधि को दुःशासन माना है और विरह को द्रौपदी का चीर। कोई नायिका सखी से कह रही है कि अवधि रूपी वीर दुश्शासन विरह रूपी द्रौपदी के चीर को खीचता जा रहा है उसे अन्त नही मिलता।

रह्यौ अैंचि, अंतु न लहै अवधि-दुसासनु बीरु।
आली, बढ़तु विरह ज्यौं पाँचाली कौ चीरु॥

महाभारत की एक दूसरी कथा है कि दुर्योधन जल-स्तम्भन की विद्या जानता था। अन्त में जब उसके वर्ग के सभी वीर मारे गये तब वह जल में जाकर छिपा था। इस कथा की निम्नलिखित दोहे में छाया विद्यमान है —

विरह-बिथा-जल-परस बिनु बसियतु मो-मन-लाल।
कछु जानत जल-थम्भ विधि दुर्योधन कौ, लाल॥

दुर्योधन जल में बैठा था किन्तु जल-स्तम्भ की विद्या के प्रभाव से स्पर्श जल से नही होता था। इसी प्रकार नायक-नायिका के हृदय में विरहरूपी दुर्योधन निवास करता है किन्तु आश्चर्य है कि उसका स्पर्श किसी तरह का नही होता। इसी प्रकार दुर्योधन को वरदान था कि जब उसे हर्ष और शोक समान मात्रा में होगा तभी उसकी मृत्यु होगी। अश्वत्थामा ने जब उसके वंश के अन्तिम बीज पाण्डवो के पांच पुत्रों के सर काट लिये तब उसे हर्ष और शोक समान मात्रा में हुआ था। इसका वर्णन निम्नलिखित दोहे में किया गया है :—

पिय-बिछुरन कौ दुसहु दुखु हरषु जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियति तजत प्रान इहि बार॥

दो-एक दोहों में रामायण के ज्ञान की भी छाया पायी जाती है। कहा जाता है कि जब हनुमान् जी समुद्र कूद रहे थे तब समुद्र में रहने वाली राक्षसी ने हनुमान् की छाया पकड़ ली जिससे हनुमान् रुक गये और उसको मार करके ही पार जा सके। तुलसी ने इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया है।

निशिचरि एक सिन्धु मँह रहई, करि माया नभ के खग गहई।
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं, जल विलोकि तिनकी परछाहीं॥
गहै छांह सक सो न उड़ाई, एहि विधि सदा गगन चर खाई।
ताहि मारि मारुत सुत वीरा, वारिधि पार गएउ मति धीरा॥

बिहारी ने संसार-सागर को पार करने में स्त्री को छाया-ग्राहिणी राक्षसी माना है जिसके कारण सरलतापूर्वक कोई भी भवसागर के पार नही जा सकता :—

या भव-पारावार कौं उलंघि पार को जाइ।
तिय-छवि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहीं आइ॥

एक दोहे में सीता की अग्नि परीक्षा की भी छाया पायी जाती है :—

बसि सकोच-दसबदन-बस, साँचु दिखावति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहिं लगनि-अगनि की ज्वाल॥

निम्नलिखित दोहे में जटायु के उद्धार का वर्णन किया गया है :—

कौन भांति रहिहै विरदु अब देखिबी, मुरारि।
बीधे मोसैं आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥

रामायण महाभारत के अतिरिक्त दूसरी पौराणिक गाथाओं का भी समावेश बिहारी सतसई में पर्याप्त रूप में पाया जाता है। वैसे तो महाभारत सभी पौराणिक कथाओं का भण्डार है और दावा किया जाता है कि जो कुछ महाभारत में है वही अन्यत्र है, जो महाभारत में नहीं है वह अन्यत्र नहीं है। किन्तु आचार्यों के रामायण, महाभारत और पुराण तीनों को पृथक्-पृथक गिनने से अवगत होता है कि रामायण और महाभारत की मुख्य कथाओं से आचार्यों का मन्तव्य है, जो पौराणिक अन्तःकथायें आती हैं उनका ग्रहण पौराणिक कथाओं में ही होता है

मदन-दहन की एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। इसकी छाया निम्नलिखित दोहे में पाई जाती है।

मोर-मुकुट की चंद्रिकनु यौं राजत नंदनंद।
मनु ससिसेखर की अकस किय सेखर सत चंद॥

इसी प्रकार वामनावतार की कथा भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसकी भी छाया बिहारी के दोहो में पाई जाती है :—

छै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ।
बलि बावन कौ ब्यौंतु सुनि को, बलि तुम्हैं पत्याइ॥

गज-ग्राह की दूसरी कथा है। बिहारी ने इसकी ओर भी एक दोहे में सकेत किया है :—

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु बारक बारनु तारि।

एक दोहे में शकर जी के मस्तक पर चन्द्र और विष्णु भगवान् के वक्षःस्थल पर लक्ष्मी जी के निवास की पौराणिक कल्पना का भी सुन्दरता के साथ उपादान किया गया है :—

प्रानप्रिया हिय में बसै, नखरेखा ससि भाल।
भलौ दिखायौ आइ यह हरि-हर-रूप, रसाल।

पुराणों में चन्द्र से बुध की उत्पत्ति मानी गई है। बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में इस पौराणिक कथा के आधार पर सुन्दर कल्पना की है :—

तिय मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढ़ै विनोद।
सुत-सनेह मानौ लियौ बिधु पूरन बुधु गोद॥

इस प्रकार महाभारत, रामायण और पुराणों की कथाओं की छाप अनेक स्थानों पर बिहारी सतसई में पाई जाती है। यद्यपि ऐसे दोहों की संख्या कम है, अधिकतर कृष्ण-काव्य से सम्बद्ध दोहे ही अधिक है तथापि अन्य विषयो और शास्त्रो की भाँति इन ग्रंथों का भी प्रतिनिधित्व बिहारी सतसई में पाया अवश्य जाता है।

कवि को शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त लोक का भी ज्ञान होना चाहिये। बिहारी सतसई को देखने से अवगत होता है कि इन्हे अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद का भी ज्ञान था। कतिपय आमोद-प्रमोदों की छाया देखिये :—

(१) नट का खेल :—

फूले फदकत लै फरी पल, कटाच्छ-करबार।
करत बचावत बिय-नयन-पाइक घाइ हजार।

(२) नृत्य—

सब अंग करि राखी सुघर नाइक नेह सिखाइ।
रसज्ञुत लेति अनंत गति पुतरी पातुर-राइ।

३ —गान विद्या—

सुरति न तालन तान की, उठ्यो न सुरु ठहराइ ।
ए री रागु बिगारि गौ बैरी बोलु सुनाइ ।।

४—पतगबाजी—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन बिस्तारन काल ।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चँग रग भूपाल ।।

५—चोर मिहीचनी का खेल—

दोऊ चोरमिहीचनी खेल न खेलि अघात ।
दुरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियै लपटात ।।

६—लट्टू नचाना —

झटकि चढ़ति उतरति अटा, नैंक न थाकति देह ।
भई रहति नट कौ बटा अटकी नागर नेह ।।

७—चौगान का खेल —यह घोड़ों पर चढ़ कर पोलो के समान खेला जाता है :—

सरस सुमिल चित-तुरंग की करि करि अमित उठान ।
गोइ निबाहैं जीतियै खेलि प्रेम चौगान ।।

८—मृगया—

खैरि पनिच भृकुटी धनुषु बधिक समरु, तजि कानि ।
हनतु तरुन-मृग, तिलक सर सुरक-भाल भरि तानि ।।
खेलन सिखए, अलि भलैं चतुर अहेरी मार ।
कानन चारी नैन मृग नागर नरनु शिकार ।।

बिहारी कृषि के कार्यों को भी बहुत ध्यान से देखते थे । निम्नलिखित दोहा इसका उदाहरण है .—

सनु सूक्यौ बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि ।
हरी हरी अरहरि अजैं धरि धरहरि जिय नारि ।।

बिहारी ने इस दोहे में समाप्त होने वाली फसलों का क्रमश: उपादान किया है । पहले तो सन काटा जाता है । उसके बाद कपास का नम्बर आता है, फिर ईख समाप्त होती है और उसके बाद अरहर काटी जाती है । कपास जब तैयार हो जाती है तब उसकी डोडियो को चुन लिया जाता है । इसका भी बिहारी के निम्नलिखित दोहे में प्रभाव पाया जाता है :—

फिरि फिरि बिलखी ह्वै लखनि, फिरि फिरि लेति उसासु ।
साईं ! सिर-कच सेत लौं बीत्यौ चुननि कपासु ।।

बिहारी को प्रकृति का ज्ञान पुस्तकीय तो था ही साथ ही ये प्रत्यक्ष रूप में भी प्रकृति के रहस्यो को देखने और समझने की चेष्टा किया करते थे । इनके

कई-एक दोहों में प्रकृति पर्यवेक्षण की छाया पाई जाती है। इनके कई-एक दोहों से ज्ञात होता है कि इन्हें पुष्पो का अच्छा ज्ञान था। निम्नलिखित दोहे में इन्होने कई पुष्प गिनाये हैं :—

कत लपटइयतु मो गरैं सो न जु ही निसि सेन।
जा चम्पक बरनी किए गुल्लाला रंग नैन॥

इस दोहे में कई पुष्पों के नाम आ गये हैं। दो एक शब्दों को छोड़ कर यह दोहा पुष्पों के नामों से ही बना है। लपटह्या (इश्क पेच, मोगरा (एक प्रकार का बेला) सोन जुही, निशि शयन (कमल), चंपक, वरणी (पणी) गुल्लाला, नैन (पचनैना) ये पुष्पों के नाम अर्थ मे उपकारक नहीं होते। तथापि इनसे कवि का पुष्पों का ज्ञान अवश्य प्रकट होता है। यह एक प्रकार का मुद्रालंकार है। इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में भी दो पुष्पो के नाम लिये गए है·

सोनजुही सी जगमगति अँग अँग जीवन जोति।
सुरंग, कुसुंभी कंचुकी दुरंग देह दुति होति॥

इस दोहे में सोनजुही और कुसुंभ का पुष्प इन दोनों का उल्लेख किया गया है। भौंरा आक के फूल पर नहीं बैठता। इस तथ्य की ओर भी बिहारी ने संकेत किया है :—

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक कली न रली करै, अली अली जिय जानि॥

इसी प्रकार भौरा चपा के फूल पर नही बैठता, इस ओर भी बिहारी ने संकेत किया है :—

जटित नीलमनि जगमगति सींक सुहाई नाक।
मनौं चम्पक कली, बसि रस लेत निसाक॥

निम्नलिखित दोहे में भी दो-एक पुष्पो की उपमा दी गई है :—

केसरि के सरि क्यौं सकै चपक कितकु अनूप।
गात रूपु लखि जातु दुरि जातरूप को रूप॥

निम्नलिखित दोहे से प्रकट होता है कि बिहारी की रुचि बागवानी की ओर भी थी :—

लग्यौ सुमन ह्वै है सफलु, आतप रोसु निवारि।
बारी बारी आपनी सींचि सुहृदता बारि॥

वसन्त में पतझड़ होने के बाद वृक्षों में हरियाली आती है किन्तु वर्षाकाल में स्वयं ही वृक्षों की हरीतिमा बढ़ जाती है। इस तथ्य को ओर बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में संकेत किया है :—

नहिं पावसु ऋतुराज यह, तजि तरुवर चित भूल।
अपतु भए बिनु पाइ है क्यौं नव दल, फल, फूल॥

इसके अतिरिक्त बिहारी ने कतिपय पौधों की विशेषताओं की ओर भी ध्यान दिया था। सेहुंड में यह विशेषता होती है कि उसके दूध से किसी कागज पर पत्र लिख दिया जावे तो सूख जाने के बाद वे अक्षर दिखलाई नहीं देते। यदि वह कागज कहीं भेज दिया जावे तो कोई उसे कोरा कागज समझ कर फेंक देगा, किन्तु यदि उसी कागज को कुछ आँच दिखला दी जावे तो वे समस्त अक्षर उभर आते हैं। बिहारी ने इस तथ्य को बड़ी ही निपुणता के साथ रक्खा है। हृदय एक कागज है जिस पर सेंहुड के दूध से लिखे हुए अक्षरों की भान्ति प्रेम विद्यमान है और लक्षित नही किया जा सकता। विरह में तचकर वही हृदय रूपी पत्र प्रेम रूपी सेहुंड के अंकों को प्रकट करने लगता है :—

छतौ नेहु काजर हियैं, भई लखाइ न टाँकु।
बिरह तचैं उघर्‌यौ सुअब सेंहुड कैसो आँकु॥

उसी प्रकार सूरण का शाक यदि कच्चा रह जाता है तो मुख में किनकिनाहट पैदा किया करता है। इस तथ्य के द्वारा बिहारी ने सर्वगुणसपन्न नायक की कच्चाई से दुःख होने की बात कही है :—

ललन सलोने अरु रहे अति सनेह सौं पागि।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँहु लागि॥

बिहारी ने जंगली जानवरो के स्वभाव का भी थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किया था। चीता के शिकार के विषय में प्रसिद्ध है कि वह शाम को पेड़ पर चढ कर छिपकर बैठ जाता है। जब रात में कोई हरिण उस वृक्ष के नीचे आता है तब वह उस पर ऊपर से टूट पड़ता है। बिहारी ने इस तथ्य के द्वारा घूंघट की ओट से नायिका के कटाक्षों के प्रभाव का वर्णन किया है।

डारी सारी नील की ओट अचूक चुकै न।
मो मन-मृगु करबर गहैं अहे अहेरी नैन॥

आचार्यों का मत है कि कवि को देश-विदेश की विशेषताओं का भी ज्ञान होना चाहिए। यद्यपि बिहारी की रचना में विशेष रूप से देश-भेद का वर्णन नहीं पाया जाता तथापि उन्होने मारवाड़ का वर्णन दो दोहों में किया है। जिससे इस प्रकार का भी प्रतिनिधित्व हो जाता है :—

विषम बृषादित की तृषा जिये मतीरनु सोधि।
अमित, अपार, अगाध-जलु मारौ मूड पयोधि॥
प्यासे दुपहर जेठ के फिरे सबै जल सोधि।
मरुधर पाइ मतीरहूँ मारू कहत पयोधि॥

बिहारी ने अपने समय के अन्धविश्वासो का भी पर्याप्त वर्णन किया है। किसी की चोरी खोलने के लिए पानी से भरी कटोरी चलाई जाती थी। वह कटोरी जिस के सामने रुक जाती थी वही वास्तविक चोर माना जाता था। बिहारी ने इसकी उपमा नायिका के नेत्रों के लिए प्रयुक्त की है:—

सब ही त्यौं समुहाति छिनु, चलति सबन दे पीठि।
वाही त्यौं ठहराति यह, कवितनवी लौं, दीठि॥

यमक इत्यादि के सयोग से मोहन तथा वशीकरण की क्रियाये की जाती थी। यदि ये उलटी पड़ जाती थी तो इनका प्रभाव प्रयोक्ता पर ही पड़ता था। बिहारी ने इस क्रिया का सुन्दरता के साथ वर्णन किया है:—

साजे मोहन मोह कौं, मोहीं, करत कुचैन।
कहा करौं, उलटे परे, टोने लोने नैन॥

उस समय कुछ ऐसे तान्त्रिक लोग भी थे जो स्त्री-पुरुषों का अपहरण किया करते थे। ये कभी तो अभिमन्त्रित गुड की डली का स्पर्श करा देते थे, जिससे प्रयोज्य व्यक्ति स्वयं ही पीछे-पीछे चल देता था और कभी कुछ चूर्ण छिडक देते थे और इस प्रकार किसी भी व्यक्ति को ठग लेते थे। इन दोनों तथ्यों का उपादान बिहारी ने क्रमशः सर्वांग-सौन्दर्य तथा नख सौन्दर्य के वर्णन के लिये किया है:—

मोहूँ लौं तजि मौहु, दृग चले लागि उहिं गैल।
छिनकु छ्वाइ छवि-गुर डरी छले छबीलैं छैल॥
नख रुचि-चूरनु डारि कै, ठगि, लगाई निज साथ।
रह्यौ राखि हठि लै गए हथाहथी मनु हाथ॥

एक सामान्य अन्धविश्वास था कि कभी-कभी तेल इत्यादि के रहने पर भी दीपक की लौ मन्द पड़ने लगती है। उस समय समझा जाता है कि दीपक किसी पाहुने के आगमन की सूचना दे रहा है। वहाँ बैठे हुए लोग एक-एक विदेशी प्रेमी का नाम लेते हैं और जिसके नाम लेने पर दीपक भभक कर जल उठता है लोग समझते है कि वही व्यक्ति आने वाला है। बिहारी ने अप्रस्तुत योजना के निमित्त इस अन्ध-विश्वास का उपादान नायिका की कृशता और नायक का नाम सुनकर एकदम भभक उठने के लिये किया है:—

नैंक न जानी परति, यौं पर्यौ बिरह तनु छामु।
उठति दियै लौं नौंदि, हरि, लियैं तिहारौ नामु॥

एक दोहे में बिहारी ने मुसलमानो के मलिग नामक संन्यासियों का भी अप्रस्तुत योजना के लिए उपादान किया है। ये संयासी औघड़ों और अलखियो की भांति कौडो की लडी और लोहे की साँकलो से अपने को कसे रहते हैं और किसी एकान्त स्थान में मौनावलम्बन किये ईश्वर के ध्यान में निमग्न पड़े रहते है। बिहारी ने विरहिणी की आँखों के लिए इनकी उपमा का प्रयोग किया है:—

कौड़ा आँसू बूंद कसि साँकर बरुणी सजल
कीन्हें बदननि मूंद दृग मलंग डारे रहत॥

एक दोहे से बिहारी की वास्तु-कला विषयक रुचि भी प्रकट होती है :—

कालबूत दूती बिना जुरै न और उपाइ।
फिरि ताकैं टारैं बनैं पाकैं प्रेम-लदाइ॥

ऊपर बिहारी का अनेक शास्त्र, पुराण, इतिहास तथा लोक का ज्ञान दिखलाया गया है। इससे यह तो सिद्ध नही होता कि बिहारी अनेक शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे, वे बहुत उच्च कोटि के गणितज्ञ तथा वैज्ञानिक थे, उन्होने समस्त पुराणों, दर्शनों और इतिहास-कथाओ का पूर्ण रूप में परिशीलन किया था तथा अपने समय के वे इन विषयो के अधिकारी विद्वान् माने जाते थे। कोई भी विचारशील व्यक्ति काम-देव के लिये वधिक की उपमा देखकर यह नही कह सकता कि बिहारी हत्यारे थे और वधिक का काम किया करते थे। शिकार का वर्णन देख कर यह भी सिद्ध नही होता कि बिहारी राजा जयसिह के साथ शिकार खेलने जाया करते थे। किन्तु इतना अवश्य सिद्ध होता है कि बिहारी की रुचि बहुमुखी थी। वे अनेक शास्त्रो की मोटी-मोटी बातो को अपने काव्य में कही अप्रस्तुत-योजना के लिए और कही वर्ण्य विषय के रूप में प्रयुक्त किया करते थे। जहाँ कही भी वे जाते थे अथवा जिस प्रकार वे लोगो से मिलते थे उनके क्रिया-कलापो के रहस्य को समझने की चेष्टा किया करते थे और उनमें रुचि लेते थे। उनकी काव्य-साधना एकान्तनिष्ठ नही थी, केवल पुस्तकीय ज्ञान ही उनका प्रेरक नही था, अपितु वे अपने समय की रीति-नीति, आचार-व्यवहार, धर्म, दर्शन, इत्यादि में तो रुचि लेते ही थे, साथ ही लौकिक ज्ञान से भी प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करना चाहते थे। यही कारण है कि जहा उनके काव्य में अनेक शास्त्रों की छाप पाई जाती है, वहाँ उनका लोक-ज्ञान भी पर्याप्त रूप में बढा-चढा है। उन्हे शहरी जीवन का तो प्रत्यक्ष अनुभव था ही, ग्रामीण जनता की आन्तरिक स्थिति को उन्होने पर्याप्त रूप में समझा था। जहाँ वे अद्वैत वेदान्त जैसे उच्च कोटि के दार्शनिक विषयों में रुचि रखते थे वहाँ अत्यन्त निम्न कोटि के अन्धविश्वासो का भी उन्हें पूरा ज्ञान था। पशु-पक्षियों की चेष्टाओं को भी उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में जानने की चेष्टा की थी और बच्चों से लेकर बड़े बूढ़ों तक के आमोद प्रमोदों को उन्होने समझने की चेष्टा की थी। इस प्रकार उच्च कोटि के कवि बनने के लिए जिस निपुणता की आवश्यकता होती है वह उन्होने पुस्तकों से भी प्राप्त करने की चेष्टा की थी और प्रत्यक्ष अनुभव से भी उसे प्राप्त किया था। प्राय: उन्हीं अप्रस्तुतों का स्फुरण हुआ करता है जिनमें कवि रुचि रखता है। इस प्रकार प्रकाण्ड पाण्डित्य न सही किन्तु बिहारी की इन विषयों में रुचि अवश्य सिद्ध होती है इसमें सन्देह नही।

बिहारी के उपजीवक

कवि को शास्त्रीय तथा लोकवृत्त के ज्ञान के अतिरिक्त प्राचीन कवियों के काव्यों का परिशीलन भी आवश्यक होता है। श्री अभिनव गुप्तपदाचार्य ने लोचन (उद्योत ४) में लिखा है कि वर्णनीय वस्तु के स्फुरण की प्रज्ञा को ही प्रतिभा के नाम से अभिहित किया जाता है। वर्णनीय विषय सीमित होते हैं। उन सबका संस्पर्श किसी न किसी रूप में आदि कवि वाल्मीकि ने ही कर लिया था। अतएव समस्त

कवियों की प्रतिभा का स्फुरण उसी प्रकार का या उसी जाति का होगा और काव्य भी उसी प्रकार बनेगा। इस प्रकार धीरे-धीरे कवि शब्द का प्रयोग ही नष्ट हो जावेगा। किन्तु नवीनता उक्ति-वैचित्र्य में होती है। पुराना ही अर्थ लेकर नवीन युक्ति तथा चमत्कार के साथ उसका अभिधान कर देना काव्य में नवीनता का संचारक होता है। इसीलिए ध्वनिकार ने लिखा है:—

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यंग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥
अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि॥

(गुणीभूत व्यंग्य के साथ ध्वनि का जो मार्ग दिखलाया गया है उससे कवियों का प्रतिभागुण अनन्तता को प्राप्त हो जाता है। जो प्रकार ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के बतलाये गए है उनमें एक भी प्रकार से विभूषित होकर पूर्व अर्थ से अन्वित हुई भी वाणी नवीनता को धारण कर लेती है।)

इसके बाद ध्वनिकार कहते है:—

दृष्टपूर्वा अपि त्वर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।

(प्राचीन कवियो ने जो अर्थ लिख भी दिये हैं उन्ही अर्थों में जब नवीन रूप में रस का परिग्रह किया जाता है तब सभी अर्थ उसी प्रकार नवीन प्रतीत होने लगते हैं जैसे मधुमास में वृक्ष नवीन मालूम पड़ते हैं।)

आशय यह है कि कवि अधिकतर पुराने अर्थों को ही नवीन भंगिमा के साथ कहता है। नवीनता अर्थ में नही अपितु उक्ति-वैचित्र्य तथा चमत्कार में होती है और रस का संचार अन्य रूप में कर दिया जाता है जिससे रचना नवीन न होते हुए भी नवीन सी प्रतीत होने लगती है। अतएव अच्छा कवि वही हो सकता है जो काव्यशास्त्र तथा शब्दशास्त्र के अतिरिक्त जहाँ दूसरे शास्त्रो का चलता हुआ ज्ञान प्राप्त करे वहाँ प्राचीन कवियो की रचनाओं को भी गहराई के साथ पढ़े और उनसे अर्थों के उपादान की चेष्टा करे। पुराने अर्थ में नवीन चमत्कार का संचार ही काव्य की मौलिकता है। काव्य में अर्थापहरण निन्द्य नही माना जाता और न अपहरण का दोष ही कवियो को लगता है। किन्तु उसमें रमणीयता का आधिक्य अवश्य होना चाहिये। कहा जाता है कि काव्य-जगत् में दूसरे के भवन से ईंट निकाल लाना चोरी नही माना जाता। चोरी तब होती है जब उस ईंट को अपने भवन में अधिक सुन्दरता से अथवा उतनी ही सुन्दरता से सजाया न जा सके। जब कवि जिस अर्थ का उपादान करता है उतनी ही सुन्दरता के साथ उसे अपने काव्य में सजा न सके तभी कवि अर्थापहरण का दोषी माना जाता है।

क्षेमेन्द्र तथा राजशेखर ने अर्थापहरण के उपायो का भी निरूपण किया

है। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि कवि कहीं एक शब्द का उपादान करता है, कही वाक्य का उपादान करता है, कही केवल पद्य की छाया ही लेता है और कहीं सभी तत्वों का उपादान करता है। राजशेखर ने काव्य मीमासा के १२ व अध्याय में अर्थाहरण के प्रकारों का उल्लेख किया है। उन्होने अर्थाहरण की दृष्टि से काव्य को तीन भागों में विभाजित किया है—अन्ययोनि, निह्नवयोनि और अयोनि। अन्ययोनि के भी दो भाग किये गए हैं—प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्य-प्रख्य। इसी प्रकार निह्नव-योनि को भी दो भागो में विभाजित किया जाता है, तुल्य-देहि तुल्य और परपुर-प्रवेश सदृश। अयोनि केवल एक प्रकार का ही होता है। इस प्रकार अर्थाहरण की दृष्टि से काव्य के पाँच भेद होते हैं। प्रतिबिम्ब-कल्प काव्य वह होता है जिसमें किसी कवि के कहे हुए समस्त अर्थ को लेकर दूसरा वाक्य बनाया जावे किन्तु उसमें तात्विक भेद न हो। जहाँ पर वाक्यार्थ का इतना संस्कार कर दिया जावे कि वस्तु भिन्न के समान प्रतीत होने लगे उस अर्थाहरण को आलेख्य-प्रख्य कहते हैं। जिस काव्य में पुराने अर्थ से मूल की तो एकता हो किन्तु परिकर बन्ध सर्वथा भिन्न हो—उस शब्द को परपुर-प्रवेश सदृश कहते है। तुल्यदेहितुल्य काव्य वह होता है जिसमें विषय का भेद होते हुए भी अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद बुद्धि उत्पन्न हो। अयोनि काव्य कवि की मौलिक उद्भावना को कहते हैं। इस प्रकार के अर्थाहरण दूषित नही माने जाते। इसी उक्ति-वैचित्र्य में नवीनता अगीकार करने केकारण संसार में सभ्यता के अरुणोदय काल से लेकर कवि निरन्तर कविता करते चले आये तथापि वाणी का प्रवाह समाप्त नही हुआ।

बिहारी उन कवियो में से हैं जिनमें प्रतिभा के साथ निपुणता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान होती है। पिछले अध्यायों में दिखलाया जा चुका है कि इन्होंने काव्य-जगत् के मूल प्रवृत्ति-निमित्तों को अनेक दृष्टियों से समझने की चेष्टा की थी और उन सबका प्रतिफलन इनके काव्य में पाया जाता है। इनकी सतसई को देखने से ज्ञात होता है कि ये संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं से परिचित थे, इन्होंने तीनों भाषाओ के काव्यो का पूरी तन्मयता के साथ अध्ययन किया था और उनके अर्थों को अपने काव्य मे स्थान दिया था। अनेक विद्वानों ने बिहारी के काव्य का अन्य कवियों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि ये तुलनाये निष्पक्ष नही हुई है। किसी ने बिहारी की उन्ही उक्तियों को अन्य कवियों की उक्तियो से अधिक अच्छा ही सिद्ध किया है और दूसरों ने बिहारी को सर्वत्र गिराने की ही चेष्टा की है। इसमें सन्देह नही कि इस प्रकार की तुलना न तो समीचीन ही कही जा सकती है और न उपादेय ही। इस प्रकार की तुलना राग-द्वेष से रहित भी नहीं हो सकती। एक एंजिन दूसरे से अच्छा या बुरा कहा जा सकता है किन्तु आम की खटास या मिर्चों की कडुआहट गन्ने की मधुरता से अच्छी या बुरी नही कही जा सकती। रस के क्षेत्र में इस प्रकार की तुलना उचित नही होती। अतएव प्रस्तुत प्रकरण में केवल यह दिखलाने की चेष्टा की

जावेगी कि बिहारी के काव्य में किन काव्यों का प्रभाव पड़ा है। यदि बिहारी के काव्य मे किसी स्थान पर कोई विशेष नवीनता होगी तो उसका भी यथास्थान निर्देश कर दिया जावेगा। किन्तु उसका मन्तव्य तुलना नहीं है।

यदि गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जावे तो बिहारी का प्रत्येक दोहा किसी न किसी प्राचीन कविता पर आधारित है। किन्तु यहाँ पर केवल कुछ उदाहरण देकर ही सन्तोष किया जावेगा।

हाल और बिहारी

बिहारी ने अपनी सतसई की रचना हाल के आदर्श पर ही की है और हाल ही मुक्तक काव्य के क्षेत्र मे आदर्श रहे है।[1] बिहारी ने सामान्य रूप से आदर्श अपनाने के अतिरिक्त उनके कतिपय पद्यो की छाया पर भी दोहे लिखे हैं। इस विषय में निम्नलिखित उदाहरण दिये जा सकते है :—

(१) अण्णाणं विहोन्ति मुहे पम्हलधवलाइ दीहकसणाइ।
त अणाइं सुन्दरीणं तह विहु दट्ठुण जाणन्ति ।। (गाथा)

बिहारी ने इस दोहे की छाया पर निम्नलिखित दोहा लिखा है :—

अनियारे, दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान ।।

बिहारी के दोहे मे गाथा की अपेक्षा 'औरे कछू' की सम्बन्धातिशयोक्ति तथा 'जिहि बस होत सुजान' से व्यक्त होने वाली चितवन की प्रभावशालिता विशिष्ट है। पद के पूर्वार्ध में वक्रता के अन्तर्गत सवृति वक्रता भी अपना नया चमत्कार स्थापित किये हुए है।

(२) फुरिए वामच्छि तुए एहिइ सो पिओज्ज ता सुइरम्।
संमीलिय दहिणाअं तुइ अवि एहं पलोइस्सम् ।। २१३ ।।

इस गाथा में वामनेत्र के स्फुरण का फल यदि प्रियतम का मिलना हो तो दाहिना नेत्र बंद कर केवल बाये से ही देखने की बात कही गई है। बिहारी ने इसी की छाया लेकर निम्नलिखित दोहा लिखा है :—

बाम बाँह फरकति, मिलैं जौ हरि जीवन मूरि।
तौ तोहीं सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि ।।

गाथा में एक आँख मीच कर देखना कुछ अशिष्टता भी है तथा एक आँख से देखना अशकुन भी माना जाता है। बिहारी ने बाहु-स्फुरण में उसे परिवर्तन कर उस दोष को दूर कर दिया है।

(३) असरिसचित्ते दिहरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएछ तणुआअए सोल्ला ।। १।५६

अर्थात् प्रियतम विषम शील वाला है और देवर का चित्त असदृश है। स्नुषा कुटुम्ब विघटन के भय से कहती नही है, कृश होती चली जाती है। इस पर बिहारी का दोहा :—

कहति न देवर की कुबत कुल-तिय कलह डराति ।
पंजर गत मंजार-ढिग सुक ज्यौं सूकति जाति ।।

दोहे में प्रियतम की विषमशीलता व्यग्य है और गाथा में वाच्य है। दोह में अप्रस्तुत योजना अतिरिक्त है। इसी आशय की एक गाथा और प्राप्त होती है जिस में नायिका देवर को स्वयं उपदेश देती है—

दिअरस्य असुद्धमणस्य कुल वहू णिअअकुड्डलिहिआइं ।
दिअहं कहेइ रामाणुलग्गसोमित्तिचारिआइं ।।

अर्थात् कुलवधू अशुद्ध मन वाले देवर के सामने अपने भवन के कुड्य पर लिखे हुए राम का अनुसरण करने वाले लक्ष्मण के चरित्रो को दिन भर कहती रहती है क्योंकि रात में अशुद्ध मन होने के कारण उतना प्रभाव नही पड़ सकता।

(४) अवलम्बिअमाणपरम्मुहीए एन्तस्य माणिणि पिअस्य ।
पुट्ठपुलउग्गमो तुह कहेइ संमुहठिअं हिअअं ।। १।८७

अर्थात् तुम्हारे सामने प्रियतम आ रहा है और तुम स्वयं मान का अवलम्बन कर पराङ्मुखी हो रही हो। किन्तु तुम्हारी पीठ पर जो पुलकोद्गम हो रहा है वह बतला रहा है कि तुम प्रियतम के अनुकूल ही हो। इस पद्य की छाया विहारी के निम्नलिखित दोहे में पाई जाती है :—

रहि मुँहु फेरि कि हेरि इत, हित-समुहौ चितु, नारि ।
डीठि परस उठि पीठि के पुलके कहैं पुकारि ।।

गाथा और दोहे का भाव प्रायः एक ही है।

(५) अव्वोदुक्करआरअ पुणोवि तान्तिं करेसि गमनस्य ।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरगिणो चिउरा ।।

अर्थात् हे दुष्कर कारकआजभी वेणी के तरंगित केश सरल नहीं हो सके है, फिर भी तुम गमन की चिन्ता करने लगे हो। इस आशय को लेकर बिहारी ने लिखा है :—

अजौं न आए सहज रग बिरह-दूबरैं गात ।
अब ही कहा चलाइयति, ललन, चलन की बात ।।

यहाँ पर वेणी के तरंगित केशो के सरल न होने के स्थान पर बिहारी ने 'विरह दूबरे गात सहज रंग न आए' कहकर एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। गाथा सप्तशती के टीकाकार श्री मथुरान थ जी शास्त्री ने प्रस्तुत गाथा की पाद-टिप्पणी में लिखा है कि तरंगित केश प्रसाधन इत्यादि के द्वारा शीघ्र सरल हो जाते हैं किन्तु शरीर की दुर्बलता शीघ्र दूर नही होती। अतएव गाथा के नायक का शीघ्र ही जाने के लिये उद्यत होना उसके हृदय की कठोरता को अधिक सिद्ध करता है। इस प्रकार गाथा दोहे की अपेक्षा अधिक सुन्दर है। किन्तु यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि गाथा और दोहा दोनों का प्रतिपाद्य नायक की कठोर-हृदयता नहीं

अपितु नायिका की उत्कंठा है। गाथा से सिद्ध है कि नायक प्रवास से लौट कर आया है और शीघ्र ही जाने के लिये उद्यत हो गया है। अतएव नायिका का निषेध उचित ही है। यदि दो-चार दिन भी हो गये होते और प्रसाधनादि से केश भी ठीक कर लिये होते तो भी यदि नायक प्रस्थान के लिये उद्यत होता तो नायिका को आपत्ति नही हो सकती थी। इसके प्रतिकूल दोहे का नायक लौटकर कुछ समय तक रह लिया है। फिर भी नायिका तृप्त नहीं हुई है वह उसे छोड़ना ही नही चाहती। इस प्रकार दोहे में औत्सुक्य का आधिक्य अवश्य अभिव्यक्त होता है। श्री शास्त्री जी ने दुष्कर कारक और ललन इन सम्बोधनो के अन्तर पर भी ध्यान दिया है। शास्त्री जी का कहना है कि नायक की कठोरहृदयता को सिद्ध करने के लिये गाथाकार का सम्बोधन अच्छा है। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि नायक की कठोर हृदयता की अपेक्षा नायिका की विरह-व्यथा की तीव्रता अधिक अपेक्षणीय है। नायिका अपनी वेदना का वर्णन कर नायक के हृदय में कोमलता उत्पन्न करना चाहती है। 'ललन' इस सम्बोधन से व्यक्त होता है कि मेरा आनन्द तुम्हारे ही हाथों में है। पहले की कृशता अभी बनी हुई है, यदि पुनः तुम्हारे वियोग का दुःख मुझे सहना पड़ा तो मेरे सारे आनन्द समाप्त हो जावेंगे और पहले तो मैं केवल कृश ही हो गई थी जीवन बचा रहा था किन्तु अबकी बार सम्भवतः जीवन भी शेष नही रहेगा। इस प्रकार 'ललन' सम्बोधन से नायिका की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति अधिक होती है। श्री शास्त्री जी ने लिखा है कि गाथा में 'चिन्ता करने की बात ९ ही गई है और दोहा में बात चलाना' लिखा है। चिन्ता से ही नायिका का व्यथित हो जाना अधिक समीचीन है, किन्तु यहा पर ध्यान देने वाली बात यह है कि नायक जाने के लिये चिन्तित रहता है अतएव सुरत इत्यादि में उसका मन नहीं लगता है। इस कारण नायिका का व्यथित हो जाना स्वाभाविक हो है। इसके प्रतिकूल दोहे में कहा गया है कि 'जाने की बात चलाई जाती है।' अभी केवल बात ही उठी है। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर कर्मवाच्य क्रिया का प्रयोग हुआ है। अतएव यह सिद्ध नही होता कि बात किसने की है। सम्भव है नायक ने बात न की हो घर के बड़े बूढ़ों ने या पास पड़ौस वालों ने बात की हो कि अमुक सज्जन को एक बार फिर वहाँ हो आना चाहिये। केवल इसी बात को सुनकर नायिका इतनी व्यथित हो गई हो। इस प्रकार गाथा के भाव को लेकर बिहारी ने एक नवीनता अवश्य उत्पन्न की है, इसमें संदेह नही।

(६) जाव ण कोसविकासं पावइ इसीस मालईकलिआ।
मअरन्द पानलोहिल्ल भमर ताबच्चिय मलेसि ।। ५।४४

अर्थात् हे मकरन्द-पान लोलुप भ्रमर जब तक मालती की कली कुछ कोष विकास को नही प्राप्त हो जाती तब तक तुम उसका मर्दन क्यो कर रहे हो ? इसी गाथा का आशय लेकर आर्याकार गोवर्धन ने लिखा था :—

पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ।।

इसी भाव को लेकर बिहारी ने लिखा है :—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल ।
अली, कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल ।।

गाथा के भाव में विषयासक्त मित्र के प्रति भावी अनर्थ की आशंका के कारण व्याकुलता, एकान्त हितैषिता तथा परिणामदर्शिता के सुहृज्जनोचित भावो का समावेश कर एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर दिया गया है।

हल्लफलद्दाणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणम् ।
अज्जाए मज्जणाणाभरेण कहिअं व सोहग्गम् ।। १—७६

अर्थात् उत्सव के दिन सोत्साह स्नान तथा प्रस्थान किये हुए सपत्नी वर्ग के बीच में आर्या (नायिका) ने स्नान के प्रति अनादर द्वारा अपना सौभाग्य प्रकट किया। इस गाथा का भाव लेकर बिहारी ने लिखा है :—

तीज परब सौतिनु सजे भूषनु बसन सरीर ।
सबै मरगजे-मुँह करीं इहीं मरगजैं चीर ।।

गाथा की अपेक्षा बिहारी के भाव में यह विशेषता है कि गाथा में स्नान के अनादर के द्वारा सौभाग्य के स्थापन की बात कही गई है जो कि स्वयं असौभाग्य का लक्षण है। उसके स्थान पर बिहारी ने मरगजे चीर को रखकर नायिका के सौभाग्य गर्व की व्यंजना की है। इसके अतिरिक्त मरगजे का शब्दालंकार भी सुन्दर है।

(८) सहइ सहइ त्तितहतेण रामिआ सुरअदुव्वि अद्धेण ।
पम्माअसिरीसाइं व जह से जाआइं अंगाइं ।। १।५५

अर्थात् धीरे धीरे एक एक प्रकार को सहा सहा कर नायक ने इस प्रकार रमण किया कि नायिका के अंग अम्लान शिरीष पुष्पवत् कुम्हला गये। इसी आशय को लेकर केशव ने निम्नलिखित पद्य लिखा था :—

सुखदै सखीन बीच दैके सौहें खायकै,
खवाय कछु खाय वसु की ही बरबस है।
कोमल मृणालिका सी मल्लिका सी मालिका सी,
बालिका जु डारि भींडि मानुस कै पसु है ।।
जाने ना विभात भयौ केशव सुनै को बात,
देखो आनि गात जात भयो कैधों असु है ।।
चित्र सी जु राखि वह चित्रिणी विचित्र गति,
देखौ धौं न ये रसिक यामें कौन रसु है ।।

बिहारी ने इसी भाव को लेकर लिखा है :—

यौं दलिमलियतु, निरदई, दई, कुसुम सौ गातु।
करु धरि देखौ, धरधरा उर कौ अजौं न जातु ॥

गाथा में नायिका के अंगों के शिरीष पुष्पवत् कुम्हला जाने की बात कही ई थी। केशव ने नायक में विशेष छल कपट की व्यंजना की और सखियों के उपा-म्भ में कुछ ग्राम्य दोष भी आ गया। बिहारी के दोहे में शरीर के लिये पुष्प की पमा प्रस्तुत प्रकरण के अत्यन्त उपयुक्त है। दलिमलियतु की कर्मवाच्यता ग्राम्यत्व ा निराकरण करने वाली है तथा हृदय पर हाथ रखने की प्रेरणा कौतुक से ाली नहीं। बिहारी के दोहे मे सखियों के उपालम्भ में नायिका के सौभाग्य के ारण सखियों के हर्ष की व्यंजना होती है।

अमरुक और बिहारी

दूसरे जिस कवि से बिहारी ने अर्थों का उपादान किया है वह है अमरुक। मरुक के पद्यों के विषय में प्रसिद्ध है कि इनका एक-एक पद्य सौ-सौ प्रबन्धों के मान महत्वपूर्ण है। बिहारी ने पूर्ण सफलता से अमरुक के पद्यों की छाया अपने ोहों में अपनायी है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अमरुक ने अधिकतर बड़े पद्य ो लिखे हैं। इन बड़े-बड़े छन्दों का पूरा भाव दोहा जैसे छोटे छन्द में सन्निविष्ट कर ना बिहारी की अपनी विशेषता है। कतिपय उदाहरण लीजिये —

(१) शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चित्क्षणात्,
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

अमरुक का यह पद्य अत्यन्त प्रसिद्ध है और काव्यशास्त्र में संयोग शृंगार ; उदाहरण के रूप में इसे प्राय उद्धृत किया जाता है। इस दोहे का आशय लेकर ाहारी ने निम्नलिखित दोहा लिखा है —

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गर गह्यौ, रही गरैं लपटाइ ॥

बिहारी ने उपर्युक्त पद्य के आशय का अपने छोटे से दोहे में कितना सुन्दर र्वाह किया है इसमें सहृदय ही प्रमाण है। बाला चिर चुम्बिता' नायक की क्रिया ा परिचायक है तथा 'रही गरैं लपटाइ' नायिका की क्रिया की व्यंजना करता है। ायक की अपेक्षा नायिका की क्रिया में चमत्कार की विशेषता तथा रमणीयता का ाधिक्य अवश्य है। इस प्रकार अमरुक के पद्य का आशय लेकर भी बिहारी ने समें एक नवीनता का संचार कर दिया है।

(२) मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते,
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरीकुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीताननां,
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥

इस पद्य की छाया बिहारी के निम्नलिखित दोहे में पाई जाती है:—

सखी सिखावति मान विधि सैननि बरजति बाल।
हरुये कहु मो मन बसत सदा बिहारी लाल॥

बिहारी ने पूरे पद्य का भाव तो कतिपय शब्दों में आत्मसात् कर ही दिया है, दो-एक और नवीनताये दोहे में आ गई हैं। अमरुक की नायिका सखी को सब कुछ कह जाने का अवसर देती है और जब सखी पूरी दो पक्तियाँ कह जाती है तभी वह उसका निषेध करती है। किन्तु बिहारी की नायिका प्रारम्भ से ही सखी को रोक देती है। दूसरी बात यह है कि अमरुक की नायिका शब्दो के द्वारा मना करती है जिनको हृदयस्थित प्रियतम भी सुन ही सकते हैं अतएव मना करने के कारण में सच्चाई नही आ पाती। इसके प्रतिकूल बिहारी की नायिका इशारों से मना करती है जिससे प्रियतम का हृदय-स्थित होना प्रमाणित हो जाता है। बिहारी की नायिका के हृदय में नायक सर्वदा विराजमान रहता है जो बात अमरुक की नायिका के विषय में नही पाई जाती। अमरुक की नायिका के हृदय में 'प्राणेश्वर' इस समय विद्यमान है। सदा रहते हैं या नही ईश्वर जाने। बिहारी के दोहे का 'बिहारीलाल' शब्द भी व्यंजक है—जो नायक स्वयं बिहार करने में पटु है और इसी कारण-हृदय-सम्राट् बन गया है उसमे मान करने की ताव नायिका में कैसे हो सकती है। इस प्रकार अमरुक के भाव को लेकर बिहारी ने उसमें नया चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

(३) त्वं मुग्धाक्षि विनैव कंचुकिकया धत्से मनोहारिणीम्,
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि॥
× × × ×
निर्यात शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः॥

इस पद्य की छाया पर बिहारी ने लिखा है:—

पति रति की बतियां कहीं सखी लखी मुसकाइ।
कै कै सबै टलाटली अली चली सुखु पाइ॥

पद्य में पति सारी बाते कह जाता है वह सखियों के सामने ही नायिका के वक्षस्थल को अनावृत भी करना चाहता है। यह बेहयाई है। इसके प्रतिकूल दोहे में पति संकेतमात्र करता है। दूसरी बात यह है कि दोहे में नायिका अपनी अन्तरङ्गिणी सखी से अभिप्राय गर्भित मुस्कराहट के द्वारा चले जाने का संकेत करती है। इससे नायिका की सुरतविषयक उत्कण्ठा भी अभिव्यक्त होती है। ये बातें अमरुक के पद्य में नहीं आ पाई हैं। दोहे में सखियों के लिए 'सुख पाइ' विशेषण दे कर कवियों ने सखियों की सहृदयता और नायिका के प्रति अनुराग भी अभिव्यक्त कर दिया है जो कि अमरुक के पद्य में नही आया था। यही बिहारी की मौलिकता है।

(४) भ्रूभंगे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते,
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धानन जायते।

कार्कश्यं गमितेपि चेतसि तनूरोमाञ्चमालम्बते,
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथ मानस्य तस्मिञ्जने ।।

इस पद्य की छाया पर बिहारी का निम्नलिखित दोहा पाया जाता है:—

सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिन मनु नीठि ।
कहा करौं, ह्वै जाति हरि हेरे हँसौंही दीठि ।।

अमरुक के पद्य की प्रथम पंक्ति का भाव 'सतर भौंह' में आ गया है, द्वितीय त का भाव 'रूखे वचन' में आ गया है, तृतीय पंक्ति का भाव 'करति कठिन मनु ठे' में आ गया है, चतुर्थ पंक्ति का भाव 'कहा करों' और 'हेरि' में आ जाता है। रुक ने प्रत्येक चेष्टा पर प्रेम की विजय दिखलाई है जो कि दोहे में नहीं पाई ती, यह दोहे की कमी है।

गोवर्धनाचार्य और बिहारी

बिहारी ने गोवर्धनाचार्य की बहुत सी आर्याओं का भाव अपने दोहों में अप- ा है। नीचे कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं:—

(१) गोवर्धन—शंकरशिरसि निवेशितपदेति मा गर्वमुद्वहेन्दुकले !
फलमेतस्य भविष्यति चण्डीचरणरेणुसृजा ।।

बिहारी—मोरचन्द्रिका स्याम सिर चढ़ि कत करति गुमानु ।
लखिबी पाइनु पर लुठति, सुनियत, राधा मानु ।।

(२) गोवर्धन—प्रथयसि किमेतदधुना चातुर्यं ते वृथा गुणैर्निखलम् ।
कथयति वलिता माला गुणगठिता बहुसा कलिता ।।

बिहारी—कत बेकाज चलाइयति चतुराई की चाल ।
कहे देत यह रावरे सब गुण निरगुन माल ।।

(३) गोवर्धन—प्रिय-विरह-निस्सहाया सहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभिः ।
रक्ष्यन्ते हरिणाक्ष्याः प्राणा गृहभंगभीताभिः ।

बिहारी—पिय प्राननु की पाहरु, करति जतन अति आपु ।
जाकी दुसह दसा पर्यौ सौतिनहूँ संतापु ।।

बिहारी के दोहे से सपत्नियो का नायिका के विरहजन्य दुःख से जो सन्ताप ा जो प्रयत्न अवगत होता है वह आर्या से नही होता।

(४) गोवर्धन—अलुलितसकलविभूषां प्रातर्बालां विलोक्य मुदितं प्राक् ।
प्रियशिरसि वीक्ष्य यावकमथ निश्वसितं सपत्नीभिः ।।

बिहारी—बिथुर्यौ जावकु सौति-पग निरखि हँसी गहि गांसु ।
सलज हँसौंही लखि लियौ आधी हँसी उसाँसु ।।

आधी हँसी में गहरी श्वास के द्वारा भाव शाति और भावोदय की जितनी र व्यंजना दोहे में होती है वह बात आर्या में विद्यमान नही है, आर्या से अभि- त होता है कि नायिका का विश्रम्भ विहार नहीं होता था जबकि दोहे के 'सलज

हंसौही' शब्द में ही रात्रि का सारा क्रिया कलाप भर दिया गया है। साथ ही नायिका की हर्षोत्फुल्लता, उत्कण्ठा, भविष्य का उत्साह इत्यादि भी अभिव्यक्त होते हैं और साथ ही नायक का नायिका के प्रति प्रेमाधिक्य तथा कल्प सात्विक की भी अभिव्यक्ति होती है। यह रमणीयता आर्या में सर्वथा दुर्लभ है।

(५) गोवर्धन —उषसि विपरिणमन्त्या मुक्तादामोपवीततां नीतम्।
पुरुषायितवैदग्ध्यं व्रीडावति कैर्न विदितं ते॥
बिहारी—मेरे बूझत बात तू कत बहरावति बाल।
जग जानी विपरीत रति लखि बिन्दुली पिय भाल॥

मुक्तादाम का उपवीत के रूप स्थापित करना और फिर सखियों के सामने उसे ठीक करना नायिका के फूहडपन को प्रकट करता है। प्रियतम के मस्तक में बेंदी का होना अधिक चमत्कारोत्पादक है। यशवन्तयशोभूषण में बिल्कुल बिहारी जैसा भाव ही दृष्टिगत होता है :—

पृष्टे मया किमु त्वं गोपायसि प्रियस्य भालगतम्।
बिन्दुं विलोक्य विश्वै विपरीता ते रतिस्तु सं विदिता॥

इस पद्य का बन्ध शैथिल्य तथा अर्धान्तरैकपदता इत्यादि दोषों के कारण भावाभिव्यक्ति कुण्ठित हो गई है। दोहे की अभिव्यक्ति निर्दुष्ट तथा स्पष्ट है।

(६) गोवर्धन —चिकुरविसारणनतकण्ठी विमुखवृत्तिरपि बाला।
त्वामियमंगुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति॥
बिहारी—कंज नयनि मंजनु किये, बैठी व्यौरति बार।
कच अँगुरी बिच दीठि दै, चितवत नन्दकुमार॥

भाव प्रायः एक सा ही है।

(७) गोवर्धन—एकैकशो युवजनं विलंघमानाङ्गनिकरमिव तरला।
विश्राम्यति सुभग त्वामंगुलिरासाद्य मेरुमिव॥
बिहारी—सब ही त्यौं समुहाति छमु, चलति सबनु दै पीठि।
वाही त्यौं ठहराति यह, कविलनवी लौं, दीठि॥

बिहारी के दोहे में कविलनवी की उपमा से नायक के चित्त चोर होने की जो व्यंजना निकलती है वह आर्या में नहीं पाई जाती।

(८) गोवर्धन—अन्योन्यमनुस्रोतसमन्यदथान्यत्तटास्तटं भजतोः।
उदितेऽर्केऽपि न माघस्नानं समाप्यते यूनोः॥
बिहारी—चितवत, जितवत हिय हियैं, कियैं तिरीछे नैन।
भीजैं तन दोऊ कँपैं क्यौं हूँ निवरैं न॥

आर्या में स्नान समाप्त न होने की बात कही गई है और दोहा में जप समाप्त नहीं होता यह कहा गया है। स्नान काल की अपेक्षा जपकाल में एक दूसरे की देखादेखी का अधिक अवसर रहता है।

(९) गोवर्धन —त्वयि सर्पति पथि दृष्टिः सुन्दरभृतिविवरनिर्गता तस्याः ।
दरतरलभिन्नशैवलजाला शफरीव विस्फुरति ।।

बिहारी—देखत कछु कौतिगु इतै, देखौ नैकु निहारि ।
कब की इकटक डटि रही टटिया अंगुरिन फारि ।।

आर्या के समान बिहारी ने सफरी की अप्रस्तुत योजना नही की है फिर भी बिहारी में स्वाभाविक उक्ति का चमत्कार विद्यमान है ।

(१०) गोवर्धन—दृष्टमदृष्टप्रायं दयित कृत्वा प्रकाशितस्तपया ।
हृदयं करेण ताडितमथ मिथ्या व्यजितत्रपया ।।

बिहारी—देख्यौ अनदेख्यौ कियौं, अगु अंगु सबै दिखाइ ।
पैठति सी तन मैं सकुचि बैठी चितै लजाइ ।।

आर्या में हाथ से हृदय को ताडित करने की बात कही गई है किन्तु बिहारी ने 'पैठति सी तन में सकुचि' कर लिया है । यह भाव आर्या की अपेक्षा अधिक सुन्दर है और नायिका के लज्जाभाव को अधिक व्यक्त करता है ।

(११) गोवर्धन—आयासः परहिंसा वैतसिक सारमेय तव सारः ।
स्वामपसार्य विभाज्यः कुरंग एषोऽधुनैवान्यैः ।।

बिहारी—स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु व्यथा, देखि, विहंग विचारि ।
बाज परायैं पानि परि तूँ पंछीनु न मारि ।।

कुत्ते की उपमा की अपेक्षा बाज की उपमा में यह विशेषता है कि बाज भी पक्षी है और अपने ही वर्ग के पक्षियों को केवल दूसरो के लिए मारता है । इसी-लिए बाज को विहंग शब्द से सम्बोधित किया गया है । 'स्वारथ सुकृत न' से व्यंग्यार्थ में एक शक्ति आ जाती है और 'पराये पानि परि' से जयसिंह का मुगलों के प्रति पक्षपात व्यक्त हो जाता है ।

(१२) गोवर्धन—निहितार्धलोचनायास्त्वं तस्या हरसि हृदयपर्यन्तम् ।
न सुभग समुचितमीदृशमंगुलिदाने भुजं गिलसि ।।

बिहारी—छैबै छिगुनी पहुँचौ गिलत अति दीनता दिखाइ ।
बलि वावन कौ ब्यौंतु सुनि को, बलि तुम्है पत्याइ ।।

बिहारी के दोहे में 'बलि वावन को ब्यौतु सुनि' विशेष है ।

(१३) गोवर्धन—सुभग विजनविचालनशिथिलभुजाभूद् वयस्यापि ।
उद्वर्तनं न सख्या समाप्यते किंचिदपगच्छ ।।

बिहारी—नैंकु उतै उठि, बैठिये कहा ग्हे गहि गेहु ।
छुटी जाति नह दी छिनकु मेहदी सूकन देहु ।।

उद्वर्तन के स्थान पर मेंहदी सूखने की बात कही गई है ।

(१४) गोवर्धन—भ्रामं भ्रामं स्थितया स्नेहे तव पयसि तत्र तत्रैव ।
आवर्तपतितनौकायितमनया विनयमपनीय ।।

बिहारी—फिरि फिरि चितु उत हीं रहतु, टूटी लाज की लाव।
अंग अंग छवि झौंर में भयौ भौंर को नाव॥

आर्या में नायिका स्वयं नौका है और दोहा में चित्त को नौका बनाया गया है। आर्या में विनय छोड़ने की बात कही गई है और दोहा में लज्जा छोड़ने की बात है। दोहा में लज्जा को पतवार की उपमा दी गई है जो आर्या में नहीं है।

(१५) गोवर्धन—अतिवत्सला सुशीला सेवाचतुरा मनोनुकूला च।
अजनि विनीता गृहिणी, सपदि सपत्नीस्तनोद्भेदे॥

बिहारी—निरखि नवोढा नारि तन छुटत लरिकई लेस।
भौ प्यारौ पीतमु तियनु, मनहुँ चलत परदेस॥

(१६) गोवर्धन—पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि॥

बिहारी—नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल।
अली, कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल॥

संस्कृत के अन्य कवि तथा बिहारी

(१) आदि कवि वाल्मीकि ने वर्षा-वर्णन में निम्नलिखित श्लोक लिखा है :—

निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पंकजैः।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः॥

बिहारी ने इसी की छाया लेकर निम्नलिखित दोहा लिखा है :—

पावस-घन अँधियार महि रह्यौ भेदु नहिं आनु।
राति द्यौस जान्यौ परतु लखि चकई चकवानु॥

श्लोक में वर्षा काल के संध्या समय का सजीव तथा सच्चा चित्रण किया गया है। बिहारी ने उसके स्थान पर चक्रवाकों द्वारा निर्णय होने की बात कही है। इस विषय में काव्य-मर्मज्ञों में पर्याप्त विवाद उठाया गया। चक्रवाक वर्षा काल में होते हों या न होते हों, बिहारी ने वाल्मीकि जी के भाव का पूरा निर्वाह नहीं कर पाया इसमें सन्देह नहीं।

(२) कालिदास—स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः,
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिता.।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे,
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥

बिहारी—पलनु प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु छनछनाइ छिपि जात॥

कालिदास के पद्य में नेत्र-लोमो की श्लक्ष्णता और घनत्व, अधरों की कोमलता, स्तनों का विस्तार और काठिन्य, वलियो की सत्ता और नाभि का गाम्भीर्य व्यक्त होता है जोकि दोहे में नही आ सका है। दोहे में सन्तापाधिक्य की व्यंजना हुई है जोकि श्लोक में नही है। सन्तापाधिक्य की अभिव्यक्ति का श्लोक में प्रकरण भी नही है।

(३) माघ—महा महानील शिलारुचः पुरो,
निषेदिवान् कंसकृषः सविष्टरे।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकै —
रचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम्॥

बिहारी—सोहत ओढ़ैं पीतु पटु, स्यामु सलौने गात॥
मनौ नीलमनि सैल पर, आतपु पर्‌यौ प्रभात।

(३) श्री हर्ष—या सोमसिद्धान्तमया नवेव,
शून्यात्मतावादमयोदरे वा।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव,
साकारता सिद्धिमयाखिलेव॥

बिहारी—बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति कियैं नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाइ॥

श्लोक की दूसरी पंक्ति का विस्तार ही दोहा है"। इस दोहे पर निम्नलिखित श्लोक की भी छाया पाई जाती है :—

अनन्तैर्वादीन्दैरगणितमहायुक्तिनिवहैः,
निरस्ता विस्तारं क्वचिदकलयन्ती तनुमपि।
असख्यातिव्याख्याधिकचतुरिमाख्यातमहिमा,
वलग्ने लग्नेयं सुगतमनु सिद्धान्तसरणिम्॥

बिहारी ने कतिपय ऐसे पद्यों की छाया पर भी दोहे लिखे हैं जो संस्कृत के विद्वानों में प्रसिद्ध तो हैं किन्तु उनके लेखक का पता नहीं है। उनमें से कुछ तो संग्रह-ग्रन्थों में पाये जाते हैं। कुछ लक्षण-ग्रन्थों में उदाहरणों के रूप में दिए गये हैं तथा कुछ श्रुति परम्परा से ही प्राप्त हुए हैं, कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं :—

(४) घनतरघनमेदच्छादिते सर्वलोके,
सवितुरथ हिमांशोः संकथैव व्यरंसीत्।
विरहमनुभवन्तीसंगमञ्चापि भर्त्रा,
रजनिदिवसभेदं चक्रवाकी शशास॥

यह पद्य सुभाषित रत्न भाण्डागार में आया है।

इस पद्य को लेकर बिहारी का वर्षा वर्णन वाला वह दोहा बनाया गया है

जिसमें चक्रवाकों के जोड़े से रात और दिन के निर्णय करने की बात कही गई है।

(५) आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥

बिहारी—अपनैं अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ एकै नन्दकिसोरु॥

एक दूसरे कवि ने भी कहा है:—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(६) समुल्लसत्पंकजलोचनेन विनोदयन्ती तरुणानशेषान्।
शुक्लाम्बरा गुप्तपयोधरश्रीः शरन्नवोढेव समाजगाम॥

बिहारी—अरुन सरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन, मुख चंद।
समै आइ सुन्दरि सरद काहि न करति अनंद॥

बिहारी के छोटे से दोहे में शरद् का पूर्ण चित्रण मिलता है और रूपक भी सांग हो गया है साथ ही शरद् तथा नवोढा की प्रभावशालिता तथा आनन्ददायकता भी दिखला दी गई है। ये बातें श्लोक में नहीं मिलतीं। अम्बर और पयोधर में श्लेष की सुन्दरता संस्कृत पद्य में विद्यमान है जिसकी दोहे में कमी है।

(७) संस्कृत के एक पद्य में कहा गया है:—

अंगानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः।

इसी का आशय लेकर बिहारी ने लिखा है:—

नव नागरितन-मुलुकु लहि जोबन-आमिर जौर।
घटि बढ़ि तैं बढ़ि घटि रकम करीं और की और॥

बिहारी ने अत्याचारी अधिकारी की उपमा जोड़ दी है जोकि श्लोक में नहीं है।

(८) काव्यप्रकाशकार के उदाहरणों में निम्नलिखित श्लोक पाया जाता है:—

आर्द्रार्द्रं करजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्दत्तम्।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते॥

बिहारी ने इसी का भाव लेकर लिखा है:—

बाल कहा लाली भई लोइनु-कोइनु माँह।
लाल, तुम्हारे दृगनु की परी दृगनु मैं छाँह॥

श्लोक में अपन्हुति वाच्य है और दोहे में व्यंग्य है।

(९) इह स्फुट तिष्ठति नाथ कण्टकः शनैः शनैः कर्ष नखाग्रलीलया।
इति च्छलात्काचिदलग्नकण्टकं पदं तदुत्संगतले न्यवेशयत्॥

बिहारी—इहिं काँटैं मो पाइ गढि लीनी मरति जिवाइ ।
प्रीति जनावति भीति सौं मति जु काढ्यो आइ ।।

(१) किं त्वं निगूहसे दूति स्तनौ वक्त्रम् च पाणिना ।
खण्डिता एव शोभन्ते शूराधरपयोधराः ।।

बिहारी—पट के ढिग कत ढाँकियति, सोभित, सुभग सुबेष ।
हद रदछद छबि देति यह सद रद-छद की रेख ।।

श्लोक में दूती के प्रति नायिका की उक्ति है किन्तु दोहे में नायक के प्रति नायिका की उपालम्भोक्ति है ।

(११) सुवर्णं बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथं मद ।
नामसाम्यादहो यस्य धत्तूरोऽपि मदप्रदः ।।

इस श्लोक को लेकर बिहारी ने लिखा है :—

कनकु कनक तैं सोगुनौ मादकता अधिकाइ ।
उहिं खायें बौराइ जग, इहिं पायें बौराइ ।।

बिहारी का कनक शब्द अधिक चमत्कार पूर्ण है ।

(१२) मुग्धे धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकै ।।

श्लोक के इस सीधे तथा सरल भाव को लेकर बिहारी ने अधिक कलापूर्ण तथा चमत्कार पूर्ण दोहा लिखा है :—

तिय, कित कमनैती पढी, बिनु जिहि भौंह कमान ।
चलचित बेझैं चुकति नहिं बंकबिलोकनि बान ।।

श्लोक में केवल गुण शब्द का श्लेष ही चमत्कार पूर्ण है किन्तु दोहे में व्यतिरेक दर्शनीय है । बिहारी का यह दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है तथा सर्वोत्तम दोहों में से एक है ।

(१३) संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि ता मदिरेक्षणाः ।।

बिहारी—या भव-पारावार कौं उलँघि पार को जाइ ।
तिय-छबि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहिं आइ ।।

बिहारी ने श्लोक के भाव में ही छायाग्राहिणी की उपमा का बहुत ही सुन्दरता के साथ समावेश किया है । साथ ही स्त्री सौन्दर्य की अवहेलना कर मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होने का उपदेश भी बहुत ही सुन्दर है ।

(१४) बिहारी ने केश वर्णन में दो दोहे लिखे हैं :—

कच समेटि कर भुज उलटि खयें सीस पटु टारि ।
काकौ मनु बाँधे न यह जूरा बांधनि-हारि ।।
छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे, सुकुमार ।
मनु बाँधत वेनी-बँधे नीलछबीले बार ।।

इन दोनों दोहों पर निम्नलिखित पद्यों की छाया पाई जाती है :—

जानुभ्यामुपविश्य पीठनिहितश्रोणीभरा प्रोन्नम—
द्दोर्वल्ली नमदुन्नमत्कुचतटी दीप्यद् दृगन्ताञ्चला ।।
पाणिभ्यामवधूय ककणझणत्कारावतारोत्तरं,
बाला नंक्षति किं निजालकभरं किंवा मदीयं मनः ।।
... .

कमलाक्षि क्षणं विलम्ब्यतां कमनीये कचभारबन्धने ।
दृढलग्नमिदं दृशोर्युग शनकैरद्य समुद्धराम्यहम् ।।

संस्कृत पद्यो में जितना सुन्दर चित्रण बन पडा है वह बात दोहों में नही आ पाई । दोहे के छोटे से कलेवर में पूर्ण चित्रण का अवसर ही नहीं था ।

(१५) धत्ते चक्षुर्मुकुलिनि रणत्कोकिले बालचूते,
मध्ये गात्र क्षिपति वकुलामोदगर्भा शुभापः ।।
दावप्रख्यं सरसविसिनीपत्रमन्तर्विधत्ते,
ताम्यन्मूर्ति. श्रयति बहुशो मृत्यवे चन्द्रपादान् ।।

बिहारी—मरिबे को साहसु ककै बढ़ै बिरह की पीर ।
दौरति ह्वै समुही ससी, सरसिज, सुरभि-समीर ।।

हिन्दी के पूर्ववर्ती कवि और बिहारी

बिहारी ने अपनी रचना में हिन्दी के पुराने प्रतिष्ठित कवियों का भी पर्याप्त आश्रय लिया है । नीचे कतिपय कवियों की उपजीव्यता का परिचय दिया जाता है :—

(१) विद्यापति—जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तरपित भेल ।
बिहारी— त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाइ ।
सगुन सलौने रूप की जु न चख-तृषा बुझाइ ।।

यहाँ पर सलोने रूप के पान से तृष्णा के बढ़ने की कल्पना सुन्दर है ।

(२) विद्यापति—निरजन उरज हेरइ कत बेरि ।
हँसइ से अपन पयोधर हेरि ।।
बिहारी—भावकु उभरौहौं भयौ कछुकु पर्‌यौ भरुआइ ।
सीप हरा कैं मिस हियौ निसि दिन हेरत जाइ ।।

एकान्त में स्तनोद्भेद देखने की अपेक्षा "सीपहरा कै मिस" देखने मे चमत्कार की अधिकता है । विद्यापति के 'उरज' और 'पयोधर' दोनो शब्दो की अपेक्षा बिहारी का हियौ शब्द विच्छित्ति-विशेष का पोषक है और 'निसि-दिन' शब्द से उत्कण्ठा का आधिक्य प्रकट होता है ।

(३) विद्यापति—मदन क भाव पहिल परचार ।
भिन जन देल भिन्न अधिकार ।।

कटिक गौरव पाओव नितम्ब ।
एकक खीन अओक अवलम्ब ।।

बिहारी—अपनैं अंग के जानि कै जोबन-नृपति प्रवीन ।
स्तन मन नैन नितंब कौ बड़ौ इजाफा कीन ।।

बिहारी की नायिका के अंगों में राज्याङ्गों की कल्पना, नृपति के लिए 'प्रवीन' जैसा साभिप्राय विशेषण तथा 'इजाफा' शब्द से अपने समय की अव्यवस्थित राजनीतिक दशा की ओर संकेत इत्यादि नवीन उद्भावनायें हैं जो उक्त गीति में नहीं पाई जाती।

(४) कबीर—प्रियतम को पतियां लिखूं जो कहूं होय बिदेस ।
तन में मन में नैन में ताको कहा संदेश ।।

बिहारी—सखी सिखावति मानु बिधि सैननि बरजति बाल ।
हरुए कहै, मो हिय मैं बसत बिहारी लाल ।।

(५) कबीर—प्रेम छिपाया ना छिपै जा घट परगट होय ।
जो पै मुख बोलत नहीं नैन देत हैं रोय ।।

बिहारी—प्रेमु अडोलु डुले नहीं, मुँह बोलैं अनखाइ ।
चित उनकी मूरति बसी, चितवनि माँहि लखाइ ।।

(६) नानक—नानक नन्हे ह्वै चलौ जैसी नान्हीं दूब ।
घास फूस जर जाइगो दूब रहैगी खूब ।।

बिहारी—नर की अरु नल-नीर की गति एकै करि जोइ ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतो ऊँचौ होइ ।।

(७) कबीर—मोकौ एता दीजियौं जामें कुटुम समाय ।
आपु न भूखा मैं रहूं साधु न भूखा जाय ।

बिहारी—तौ अनेक औगुन-भरिहिं चाहै माहि बचाइ ।
जो पति सपति हूँ बिना जदुपति राखे जाइ ।।

कबीर ने जो बात सामान्य तथ्य के रूप में प्रकट कर दी है उसी को बिहारी ने अधिक कलात्मक रूप में व्यक्त किया है।

(८) कबीर—माला फेरत जुग गया फिरा न मनका फेर ।
कर का मनका छांडि कै मन का मनका फेर ।

बिहारी—जपमाला, छापैं, तिलक सरै न एकौ कामु ।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै रामु ।।

(९) सूर—तजौ मन हरि विमुखन कौ संग ।
कहा होत पय पान कराये विस नहिं तजत भुजंग ।
कागहि कहा कपूर चुगाये स्वान न्हवाये गंग ।।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषण अंग ।।
सूरदास खल कारी कामरि चढ़त न दूजौ रंग ।।

बिहारी—संगति सुमति न पावहीं परै कुमति कैं धँध।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होइ सुगंध॥

(१०) सूर—आजु हौं एक एक करिं टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमही माधव अपुन भरोसे लरिहौं।
हौं तो पतित बहुत पीढिन कौ पतितै ह्वै निस्तरिहौ।
अब हौं उघटि नचन चाहत हौं तुम्हें विरद बिनु करिहौं।
कत अपनी परतीति नसावत हौं पायौ हरि हीरा।
सूर पतित तब ही लै उठिहै जब हसि देहौ बीरा॥

बिहारी—मोहि तुम्हैं बाढ़ि बहस, को जीतैं, जदुराज।
अपनैं अपनैं विरद की दुहूँ निबाहत लाज॥

दोनो कवियो का भाव एक ही है। सूर में दृढता के साथ आत्म-विश्वास की भावना अधिक है और बिहारी मे दृढता के साथ आत्म-निवेदन तथा दैन्य की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है।

(११) सूर - तुम कब मो सौ पतित उधार्‌यौ।
कहिं को प्रभु विरद बुलावत बिनु मसकत को तार्‌यौ।
गीध व्याध गज गौतम की तिय तिनकौ कहा निहोरौ।
गनिका तरी आपुनी करनी नाम भयो प्रभु तेरौ।
अजामील तो विप्र तुह्मारो हुतो पुरातन दास।
नैक चूक ते यह गति कीन्ही पुनि बैकुण्ठहिं वास।
पतित जानि तुम सब जन तारे रही न काहू खोट।
तो जानौं जौ मोहि तारिहौ सूर कूर कवि ढोट॥

बिहारी—बन्धु भये का दीन के, को तार्‌यौ, रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे विरद कहाइ॥

सूर ने जो बात विस्तृत पद मे कही है उसी को बिहारी ने समास शैली में दोहे में कह दिया है। सूर ने अभिधावृत्ति का अधिक आश्रय लिया है और बिहारी ने व्यजना वृत्ति अधिक अपनाई है।

(१२) तुलसी—तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तुहि पाँही। जानु प्रेम रस एतनेहि माही।

बिहारी - कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ मेरे हिय की बात॥

(१३) तुलसी - बारि मथे वरु होय घृत सिकता तैं वरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल॥

बिहारी - पतवारी माला पकरि, और न कछु उपाउ।
तरि ससार पयोधि कौं, हरि-नावैं करि नाउ॥

बिहारी—इहिं काँटैं मो पाइ गढि लीनी मरति जिवाइ।
प्रीति जनावति भीति सौं मति जु काढ्यो आइ॥

(१) किं त्वं निगूहसे दूति स्तनौ वक्त्रम् च पाणिना।
खण्डिता एव शोभन्ते शूराधरपयोधराः॥

बिहारी—पट के ढिग कत ढाँकियति, सोभित, सुभग सुबेष।
हद रदछद छबि देति यह सद रद-छद की रेख॥

श्लोक में दूती के प्रति नायिका की उक्ति है किन्तु दोहे में नायक के प्रति नायिका की उपालम्भोक्ति है।

(११) सुवर्णं बहु यस्यास्ति तस्य न स्यात्कथं मद।
नामसाम्यादहो यस्य धत्तूरोऽपि मदप्रदः॥

इस श्लोक को लेकर बिहारी ने लिखा है :—

कनकु कनक तैं सोगुनौ मादकता अधिकाइ।
उहिं खायें बौराइ जग, इहिं पायें बौराइ॥

बिहारी का कनक शब्द अधिक चमत्कार पूर्ण है।

(१२) मुग्धे धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकै॥

श्लोक के इस सीधे तथा सरल भाव को लेकर बिहारी ने अधिक कलापूर्ण तथा चमत्कार पूर्ण दोहा लिखा है :—

तिय, कित कमनैती पढी, बिनु जिहि भौंह कमान।
चलचित बेझैं चुकति नहिं बंकबिलोकनि बान॥

श्लोक में केवल गुण शब्द का श्लेष ही चमत्कार पूर्ण है किन्तु दोहे में व्यतिरेक दर्शनीय है। बिहारी का यह दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है तथा सर्वोत्तम दोहों में से एक है।

(१३) संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि ता मदिरेक्षणाः॥

बिहारी—या भव-पारावार कौं उलँघि पार को जाइ।
तिय-छबि-छायाग्राहिनी ग्रहै बीचहिं आइ॥

बिहारी ने श्लोक के भाव में ही छायाग्राहिणी की उपमा का बहुत ही सुन्दरता के साथ समावेश किया है। साथ ही स्त्री सौन्दर्य की अवहेलना कर मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होने का उपदेश भी बहुत ही सुन्दर है।

(१४) बिहारी ने केश वर्णन में दो दोहे लिखे हैं :—

कच समेटि कर भुज उलटि खयें सीस पटु टारि।
काकौ मनु बाँधे न यह जूरा बांधनि-हारि॥
छुटे छुटावत जगत तैं सटकारे, सुकुमार।
मन बाँधत वेनी-बँधे नीलछबीले बार॥

किधौं चन्द्र मण्डल में सोभित असुर गुरु,
किधौं गोद चंद्र जू के खेले सुत चद को।
बाढैं रूप, काम गुन दिन देनो होत किधौं,
चदफूल सूंघत है आनंद के कद को।
नाक नायिकानि हूतैं नीकौ नाक मोती नाक,
मानौ मन उरझि रह्यौ है नद नन्द को ॥

बिहारी—तिय मुख लखि हीरा-जरी बेंदी बढ़ैं विनोदु।
सुत-सनेह मानौ लियौ बिधु पूरन बुधु गोहु ॥

(२२) केशव—मेरो मुँह चूमे तेरी साध चूमिवे की,
चाहे ओस, औसु क्यों सिरात प्यास डाढे है।
छोटे कर मेरे कहा छुवाबति छबीली छाती,
छूवाइवौ जाके छूवाइवे के अभिलाषा बाढे है ॥
खेलन जो आई हौ तौ खेलो जैसे खेलियत,
कैसौ राय कोसौ तैं ये कौन खेल काढे है ॥
फूलि फूलि मेंटति है मोहि कहा मेरी भटू,
भेटे किन जाइ वैजु भेटिवे को ठाढे है ॥

बिहारी—बै ठाढे उमदाहु उत जलन बुझै बडवागि।
जाहीं सी लाग्यौ हियौ ताही के हिय लागि ॥

(२३) केशव—तैसीयै जागति जोति सीस सीस फूलनि की,
विलवत तिलक तरुनि तेरे भाल को ॥
तैसीयै दसन दुति दमकित केसौ दास,
तैसौई लसत लाल कंठ कंठमाल कौ ॥
तैसीयै चमक चारु चिबुक कपौलनि को,
तैसौ चमकत नाक मोतीचल चाल कौ ॥
हरैं हरैं हंसि नैंकि चतुर चपलनैनी,
चित चक चौंधे मेरे मदन गुपाल को ॥

बिहारी—नैंक ह सौंही बानि तजि, लख्यौं परतु मुंहु नीठि।
चौका-चमकनि- चौंध में परति चौंधि सौं डीठि ॥

(२४, केशव -अनगने औठ पाय रावरे गने न जांहि,
वेऊ आहि तपकि करैया अति मान की।
तुम जोई सोई कहौ वेऊ जोई सोई सुनै,
तुम जीभ पातरे वै पातरी हैं कान की।
कैसे केसौराय काहि वरजौं भटू काहि,
आपने संयाधौं कौन सुनत समान की।

वे ऊ वडवानल की ह्वै हैं सोई अबै वनि,
तुम वृषभान कै वै हैं बेटी वृषभान की।

बिहारी--चिर जीवौ जोरी, जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर।

(२५) सुन्दरदास—कहूँ वनमाल कहूँ गु जन की माल कहूँ,
सग सखा ग्वाल ऐसे हाल भूलि गये हैं।
कहूँ मोर चन्द्रिका कहूँ लकुट पीतपट,
मुरली मुकुट कहूँ न्यारे डारि दये हैं॥
कुंडल अडौल कहीं सुन्दर न बोले बोल,
लोचन अलोल मानौ कहूँ हरि लये हैं।
घूँघट की ओट ह्वै कै चितयौ किचौट करी,
लालन तौ लौट पौट तब ही ते भये हैं।

बिहारी—कहा लडैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु कहूं मुकुट बनमाल॥

(२६) सुन्दर—मानो भुजगिनि कंज चढी मुख ऊपर आपु रही अलकैं त्यौं,
कारी महा सटकारी है सुन्दर भीजि रही मिलि सौंथ नहीं सो।
लटकी लट वा लटकीली ते और गई बढि के छबि आननकी यौं
आंकु बढै दिए दूजी बिकारी के होत रुपैयन तैं मोहरैं ज्यौं।

बिहारी—कुटिल अलक छुटि परत मुख बढिगौ इतौ उदोतु।
वंक बकारी देत ज्यौं दामु रुपैया होतु॥

(२७) सुन्दर—काहे कौ दुरावति हे हमहूं भुरावति है,
कौन कहलावति है झूठी सौंहैं खाति है।
लियौ है चुराइ चित्त साहजहाँ दूलह को,
सुनौ यह बात सब नीके जानी जाति है॥
देखि तुहीं बैठ डीठ लालन को हेरि फेरि,
तियनि में तोहि परआई थिरथाति है॥
मन्त्र की कटोरी जैसे चलीचली डोलति है,
चोर की ही ठौर आइ भलै ठहराति है॥

बिहारी—सब ही तौं समुहाति छिनु, चलति सबनु दै पीठि।
वाही त्यौं ठहराति यह, कविलनवी लौं, दीठि॥

(२८) सेनापति—नैन नीर बरसत देखिवे को तरसत,
लागे काम सर सर सत पीर उर अति की।
पाये ना सदेसे ताते अधिक अदेसे बाढे,
सोचे सुकुमार पै न कहै मन गति की॥

ताही समै ओचक ही काहू आनि पाती दीन्ही,
देखत सेनापति पाइ प्रीति मति की ।
माथे लै चढ़ाई दोऊ दृगनि लगाई चूमि,
छाती लपटाइ राखी पाती प्रानपति की ।।
बिहारी—कर लै, चूमि, चढ़ाई सिर, उर लगाइ भुज भेंटि ।
लहि पाती पिय की लखति बाँचति धरति समेटि ।।

(२९) सेनापति—चंद की कला सी चपला सी तिय सेनापति,
बालम के उर बीज आनन्द के बोति है ।
जाके आगे कचन में रंचक न पैये दुति,
मानो मन मोती लाल माल आगे पोति है ।
देखी प्रीति गाढी तन सुख बाढी जोति,
जोवन की वाढी छिन छिन और होति है ।
झलकत गौरी देह वसन झीने में मानो,
फानूस के अन्दर दिपति दीप जोति है ।
बिहारी—बाल छबीली तियनु में बैठी आपु छिपाइ ।
अरगट हीं फानूस सी परगट होति लखाइ ।

(३०) रसखानि—कौन ठगौरी भरी हरि आजु बजाई है बांसुरिया रसभीनी ।
तान सुनी जिनही जितही तिनही तित लाज विदा करि दीनी ।
घूमी खरी खरी नन्द के बार नवीनी कहा अरु बात प्रवीनी ।
या व्रज मण्डल में रस खानि सु कौन भटू जु लटू नहिं कीनी ।।

विस्तार भय से प्रस्तुत प्रसग यही पर समाप्त किया जाता है। उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि बिहारी ने जहाँ अनेक शास्त्रों का चलता हुआ ज्ञान प्राप्त किया था वहाँ उन्होने अनेक काव्य-ग्रन्थो का भी मनन किया था। बिहारी में जहाँ एक ओर भारतीय मुक्तक परम्परा की अन्तरात्मा सन्निहित है और सभी प्रकार के भेदोपभेदों का इनकी रचना में दर्शन होता है वहा इन्होने अनेक पद्यो की छाया का भी आधार लेकर अपने दोहों की रचना की है। बिहारी के आदान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होने छायामात्र को ही अपनाया है। प्रतिभा के द्वारा सर्वत्र नवीनता उत्पन्न कर दी है। सम्भव है कही भाव-निर्वाह में कुछ न्यूनता आ गई हो किन्तु अधिकतर अपने पूर्ववर्ती कवियो की अपेक्षा नवीन चमत्कार उत्पन्न करने में इन्हें सफलता ही मिली है।

बिहारी के दोष

दोष रसापकर्षक होते हैं। जिस शब्द अथवा अर्थ से रसानुभूति में विच्छेद, व्याघात अथवा अपकर्षण उत्पन्न हो अथवा रस स्वयं ही अनौचित्य प्रवृत्त होने के कारण कालुष्य से युक्त हो जावे उसे दोष कहते हैं।/यहाँ पर रसानुभूति शब्द उप-

लक्षण है। चमत्कारानुभूति में भी इन्ही तत्वो के होने पर दोष कहा जाता है। मानव मनोवृत्ति सर्वदा सात्म्य से अनुरजित होती है। वह सात्म्य चाहे भाषा का हो, चाहे अर्थ का हो और चाहे रस का हो। मनोवृत्ति के लिये वही वस्तु सात्म्य होती है जिससे वह पूर्णतया परिचित हो चुका हो। जिस प्रकार के शब्द सर्वदा सुने जाते हैं अथवा शास्त्रकारों के प्रति पूर्ण निष्ठा होने के कारण जिस प्रकार के शब्दों को ग्रहण करने के लिए हमारा मन उद्यत रहता है उसके प्रतिकूल सभी शब्द दोष की सीमा में आते हैं। इसी प्रकार सामाजिक मर्यादाओ के अन्दर जीवन निर्वाह करते हुए हम जिस अर्थ को उचित समझने लगे है या हमारे अनुभव में जिन अर्थों को सम्भव का विशेषण प्राप्त हो चुका है उनसे भिन्न सभी प्रकार के अर्थ हमारी दृष्टि में दोष होते हैं। दोषों पर विचार करने में इस बात पर भी ध्यान रखना पड़ता है कि जिस समाज के सामने कवि अपनी कविता प्रस्तुत करने जा रहा है क्या वह कविता किसी ओर से मनोवृत्ति के सात्म्य से विपरीत तो नही है। यदि वह कविता किसी भी दिशा में मनोवृत्ति में सात्म्य उत्पन्न करने की दिशा में कुण्ठित हो जावेगी तो वह कविता रसानुभूतिक्षम होते हुए भी उतने अंश में सदोष कही जावेगी। दोषों पर विचार तीन दृष्टियों से किया जा सकता है—शब्द-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। शब्द-दोषों में वाक्य-दोष भी आ जाते है और अर्थ-दोषो में अलंकार दोषों का भी समावेश हो जाता है। अगले पृष्ठों मे इन्ही दृष्टियो से संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जायेगा।

यहाँ पर यह जान लेना भी आवश्यक है कि आलोचना-जगत् में बिहारी को लेकर जितनी खीचतान हुई है उतनी और किसी कवि को लेकर नही हुई। एक ओर उन लोगों का वर्ग था जो बिहारी की किसी भी छोटी से छोटी भूल को प्राप्त कर पुत्र जन्म का आनन्द प्राप्त करते थे और तुलसी की 'पुनि बन्दौ जस सेस सरोषा। सहस बदन बरणै पर दोषा॥' इस उक्ति के अनुसार भगवान् शेष की उपाधि धारण करते थे और दूसरी ओर वे लोग थे जो बिहारी की बडी-से-बडी भूल को भी स्वीकार न करने का व्रत ले चुके थे। आलोचना-जगत् के लिये यह परम्परा स्वस्थ कभी नही कही जा सकती। काव्य के उत्थान में आलोचक का एक महत्त्वपूर्ण भाग रहता है और उसे निष्पक्ष निर्णय देकर भावी काव्य परम्परा को प्रशस्त करने का उत्तरदायित्व वहन करना पड़ता है। तुलसी के शब्दो में 'जड़ चेतन गुण दोष मय विश्व कीन्ह करतार' अतएव एकाध दोष आजाने से किसी महान् कवि की महत्ता में न्यूनता नहीं आती। उस विषय में तो कालिदास के अनुसार कहा जा सकता है कि—गुणों के समूह में एक-दो दोष ऐसे ही छिप जाते हैं जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलंक छिप जाता है। बिहारी के दोषो के पक्ष-विपक्ष में जितना लिखा गया है यदि उस सबको उद्धृत कर विचार किया जावे तो एक पृथक् पुस्तक तैयार हो जावेगी। अतएव इस दिशा में यहां दिग्दर्शन मात्र किया जा रहा है।

बिहारी के शब्द-दोष

जैसा कि पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है, बिहारी ने ब्रजभाषा के सभी प्रचलित रूपो पर ध्यान देकर परिष्कृत भाषा लिखने की चेष्टा की थी। माधुर्य गुण के लिये उपयुक्त सभी नियमो पर उन्होने पूरा ध्यान रक्खा था। उनकी भाषा परिष्कृत होने के साथ ही कसी हुई भी है, व्यजना के अनुकूल शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनकी भाषा में सरलता तथा तत्काल अर्थ समर्पकत्व का गुण पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। इनके शब्द नाद-सात्म्य को दृष्टि में रखकर प्रयुक्त हुए है और दूरान्वय न होने के कारण अर्थाभिव्यक्ति में व्यवधायक नही होते। न इसमे न्यूनपदता है न निगूढार्थकता। बिहारी ने लम्बे-लम्बे प्रबन्धो को दोहा जैसे छोटे छन्द में सन्नहित करने की चेष्टा की थी। अतएव अधिकपदता या कथितपदता की तो सम्भावना ही नही हो सकती। फिर भी एक दो स्थानो पर भाषा दोष विद्यमान है जिसका परिचय नीचे दिया जा रहा है।

१—पण्डितराज के अनुसार यदि ह्रस्व मात्राओ के साथ एक ही वर्ण दो या अधिक वार अव्यवहित रूप में आता है तो वह माधुर्य गुण के प्रतिकूल होता है। बिहारी ने दो एक बार ऐसे प्रयोग किये है, जैसे भव बाधा, यौवन नृपति, अरुन निसि, तजत अठान न, चित्त तुरग, सिसिर ललन, ललकि इत्यादि। इस प्रकार के शब्दो के उपादान में दोष इसलिए होता है कि जिन करण तथा प्रयत्नो से एक वर्ण का उच्चारण किया जाता है उन्ही करण और प्रयत्नो की तत्काल आवृत्ति करने मे उच्चारण करने वालो को कुछ कष्ट का अनुभव होता है। बिहारी ने शब्दो के प्रयोग में इन नियमो का ध्यान पर्याप्त मात्रा में रक्खा है और बहुत प्रयत्न के बाद दो चार प्रयोग ही हाथ आते है। इस प्रकार के वर्णों का दो से अधिक बार प्रयोग तो नितान्त दूषित होता है जो बिहारी में सम्भवत. कही नही मिलेगा। पण्डितराज ने समानवर्गीय वर्णों का भी ह्रस्व के व्यवधान से प्रयोग माधुर्य रचना के प्रतिकूल माना है। बिहारी ने एक ही दो बार ऐसे प्रयोग किये है जैसे गौरज छाई, थाकति-देह, डीठि। पण्डितराज ने यह भी लिखा है कि प्रथम-द्वितीय तथा तृतीय-चतुर्थ वर्णों का एक साथ होना ही अधिक दूषित माना जाता है। प्रथम-तृतीय तथा द्वितीय-तृतीय वर्णों का यह सह प्रयोग उतना दूषित नही होता। बिहारी के उक्त उदाहरणो में प्रथम तृतीय अथवा द्वितीय-तृतीय का सयोग है जो कि बहुत बड़ा दोष नही कहा जा सकता। पण्डितराज ने इन दोषो को श्रुतिकटु के भेदो के रूप में माना है।

२—पण्डितराज ने शृगार रस में दीर्घ समास को वर्जनीय माना है। बिहारी ने एक-दो स्थानो पर दीर्घ समास का प्रयोग किया है किन्तु रचना सौन्दर्य के कारण इस प्रकार का प्रयोग न तो अश्रव्य ही हुआ है और न उसे दोष ही कहा

जा सकता है। उदाहरण के लिए 'रणित भृंग घण्टावली' 'भरित दान मधुनीर' में एक-एक पाद में प्रत्येक शब्द के साथ समास है किन्तु रूपक के अनुरोध से ऐसा किया गया है। 'विकसित नव मल्ली कुसुम निकसित परिमल पाइ' मे केवल पाइ शब्द को छोड़कर प्रथम दल भर में समास किया गया है। यह समास कुछ अश्रव्य अवश्य हो गया है किन्तु ऐसे भी उदाहरण एक दो ही मिलते है।

३—भय् घटित सयोग यदि ह्रस्वान्त हो तो अश्रव्य हो जाता है—जैसे स्तन, मन, नैन, नितम्ब। 'स्तन' शब्द का उच्चारण कुछ विचित्रता अवश्य उत्पन्न करता है और 'मन-नैन' में भी ह्रस्व व्यवहित नकार का दो बार आना तथा 'नैनन' में भी ह्रस्व घटित नकार दो बार आना अश्रव्य हो गया है। 'नैन' में दीर्घ व्यवहित होने के कारण यह दोष नही आ पाया है। सयुक्त वर्णों का प्रयोग न करना व्रजभाषा की ही विशेषता है। बिहारी ने इसे और अधिक बचाने की चेष्टा की है।

४—पण्डितराज ने लिखा है कि अनुप्रास का उतना ही प्रयोग करना चाहिये जितना व्यंग्य-चर्वणा के अनुकूल हो। यदि अनुप्रास का अधिक प्रयोग किया जाता है तो वह सहृदयों को अपनी ओर इतना अधिक आकृष्ट कर लेता है कि सहृदय रस पराङ्मुख हो जाते है। बिहारी ने अधिक अनुप्रास का प्रयोग नही किया है जो रस-चर्वणा में व्यवधायक हो। निम्नलिखित दोहे का शब्द चमत्कार अपनी ओर कुछ अधिक आकृष्ट करता है :—

गड़े गड़े छबि-छाके छकि, छिगुनी-छोर छुटैं न।
रहे सुरँग रँग रँगि रहीं नह दी मँहदी नैन॥

इसमें प्रथम दल का अनुप्रास रसास्वादन का उपघातक अवश्य हो गया है। इसी प्रकार का दूसरा चरण भी है। किन्तु ऐसे उदाहरण भी बिहारी की रचना में बहुत कम मिलते है।

५—बिहारी की भाषा में एक दोष यह निकाला गया है कि बिहारी ने व्रज-भाषा में बुन्देलखण्डी शब्दो का प्रयोग अधिक किया है। इस प्रकार इनकी भाषा प्रादेशिकता के दोष से दूषित है। पर कतिपय आचार्यो ने इसी आधार पर बुन्देलखण्ड तथा आचार्य केशव से इनका सम्बन्ध सिद्ध किया है। बिहारी ने बुन्देलखण्ड के कतिपय शब्दों का प्रयोग अवश्य किया है—जैसे लखिबी, रीझिबी, स्यो (यह शब्द बिहारी तथा केशव में साथ के अर्थ में बहुत आया है)। इसी प्रकार घैरु (बदनामी), कोद (ओर), चाला (द्विरागमन), गीधे, बीधे इत्यादि। किन्तु इस आधार पर न तो इनका सम्बन्ध बुन्देलखण्ड से ही सिद्ध किया जा सकता है और न प्रादेशिकता का दोष ही इनके प्रयोगों में आता है। बिहारी ने बुन्देलखण्ड के ही क्या अन्य भाषाओ के शब्द भी आवश्यकतानुसार अपनाये है। कीन, लीन, दीन इत्यादि अवधी भाषा के शब्दों का प्रयोग किया गया है और है के लिए अवधी का आहि भी मिलता है। इसी प्रकार लजियात का प्रयोग भी प्रादेशिक है। खडी बोली के भी दो एक प्रयोग

मिलते हैं जैसे "रहे बरोठे में मिलत", "नैकौ उहि न जुदी करी हरसि दु दी तुम लाल।" वास्तविकता यह है कि उस समय विभिन्न प्रादेशिक शब्दो का प्रयोग एक गुण माना जाता था। किसी आलोचक ने तुलसी और सूर को मुकवियो का सरदार इसी लिये कहा था कि इनके काव्यो में अनेक प्रकार की भाषा मिलती है। बिहारी की एक विशेषता यह भी रही है कि उन्होने प्रादेशिकभाषा के उन्ही शब्दो को ग्रहण किया है जिनका प्रायिक प्रयोग कवि जगत् में प्रतिष्ठित था। अतएव बिहारी पर प्रादेशिकता का दोष लागू नही होता।

६—बिहारी पर शब्दो के गढने का भी आरोप लगाया गया है और उदाहरण के रूप में छाकु और उडायकु शब्द प्रस्तुत किये गये है। रत्नाकर ने लिखा है कि छांकु का अनुस्वार यों ही जोड दिया गया है। छाक शब्द छकने की सज्ञा है और उसका उकारान्त रूप विशिष्ट कारक का रूप है जो कि कर्त्ता और कर्म में प्राचीन व्रजभाषा में प्रयुक्त होता था। उडायक शब्द को गढा हुआ बतलाने में सम्भवत: मिश्र-बन्धुओं का आशय यह है कि उडाना क्रिया से कर्त्रर्थक प्रत्यय अप्रयुक्तता दोष से दूषित है। कर्त्रर्थक ण्वुल् प्रत्यय से बनने वाली सज्ञाये यौगिक होती है और सामान्यतया जो धातुये प्रयुक्त होती हैं उनसे ण्वुल् प्रत्यय का प्रयोग भी असमीचीन नही माना जाता। हिन्दी धातुओं से संस्कृत प्रत्ययों के प्रयोग में गढन्त मालूम पड सकती है, किन्तु उड्डयन स्वय सस्कृत का ही शब्द है जिससे उड्डायक ण्वुलन्त शब्द बनता है जिसका बिगडा हुआ रूप उडायक है। अतएव इसमें गढन्त की कल्पना सर्वथा भ्रम है।

७—बिहारी में असमर्थ शब्दो के प्रयोग का भी आरोप लगाया गया है। मिश्र-बन्धुओ ने निम्नलिखित दो असमर्थ शब्दो का निर्देश किया है: —

(अ) 'दीजतु'—देती है या 'देगी' के स्थान पर इस शब्द का प्रयोग असमर्थ है। किन्तु बिहारी ने इसका कर्तृवाच्य वर्तमान या भविष्य काल का प्रयोग न कर कर्म-वाच्य क्रिया का प्रयोग किया है जो न तो असमर्थ है और न इसमें अधिक तोड़-मरोड ही है।

(आ) ज्यौ शब्द जीव के अर्थ में निरन्तर प्रयुक्त होता रहा है और कन्नौजी भाषा में अब भी प्रयुक्त होता है।

८—मिश्रबन्धुओ ने बिहारी पर शब्दो के अत्यधिक तोडने-मरोड़ने का भी आरोप लगाया है। व्रजभाषा के प्राय: सभी कवियों पर यह आरोप लगाया ज सकता है। व्रजभाषा में शब्दो के तोडने-मरोड़ने की परम्परा रही है। बिहारी ने उसी परम्परा को अपनाया है। यद्यपि यह तो नही कहा जा सकता कि बिहारी प किसी भी शब्द के अस्वाभाविक रूप में तोड़ने का आरोप लग ही नही सकता तथापि मिश्रबन्धुओ का आरोप अधिकतर असगत ही है। एक तो मिश्रबन्धुओ ने पाठ क विशेष अनुसन्धान नहीं किया। केवल प्रभुदयाल पाण्डेय के पाठ क

ही समीचीन मान लिया, दूसरे, शब्दों को आपने ठीक अर्थ में समझने की चेष्टा नहीं की इन्हीं कारणों से बहुत से शब्दों में तोड मरोड बतला दी गई। यदि व्रजभाषा के अन्य कवियों से तुलना की गई होती तो बहुत से दोषों का समाधान प्राप्त हो जाता। नीचे इस प्रकार के कतिपय शब्दो पर विचार किया जाता है :—

(अ) बिहारी ने 'स्मर' का 'समरु' बनाया है। व्रजभाषा में आरम्भिक अर्ध सकार को पूरा कर लेने की आम प्रथा है। जैसे स्नेह को सनेह। स्वय समर शब्द का प्रयोग सूर इत्यादि ने प्रायः किया है। अतएव यह मनमानी गढन्त नही कही जा सकती।

(आ) तुष्ट के स्थान पर तूठ्यो का प्रयोग प्रायः समस्त व्रजभाषा कवियों ने किया है।

(इ) 'मोख' मोक्ष का अपभ्रंश है। यह शब्द भी प्रायः व्रजभाषा काव्यो में प्रयुक्त होता है।

(ई) 'ठिक' शब्द 'ठीक' का बिगड़ा हुआ रूप है। इसमें कोई विशेष तोड़ मरोड़ नहीं है।

(उ) 'भावकु' 'शब्द का अर्थ है' भाव-मात्र' अर्थात् इतना स्वल्प कि जिसका उन्नयन केवल भावना से हो सकता है, जो प्रत्यक्ष का विषय हो ही नहीं सकता। इस प्रकार भावकु शब्द स्वल्पतम अर्थ का वाचक है और कामिनीमुख के सौन्दर्य के समान 'निपुर्ण' प्रत्यभिज्ञेय.' वाली विशेषता का परिचायक है। भाव शब्द से अल्प अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है और 'उ' विशिष्ट विभक्ति है। अतएव इसमें किसी प्रकार की तोड़-मरोड़ नही है।

(ऊ) दुसाल और नटसाल शब्दो में तोड़ मरोड मानी गई है। दुसार शब्द द्विसार से 'व' का सम्प्रसारण होकर बना है। बिहारी ने एक दूसरे दोहे में दुसार शब्द का भी प्रयोग किया है। इसमें कोई ऐसी तोड मरोड तो दिखाई नही देती। यही दशा नटसाल की भी है। यह शब्द नष्ट शल्य का रूपान्तर मात्र है। इसमें भी कोई ऐसी अस्वाभाविक तोड़-मरोड़ नही है जो व्रजभाषा के दूसरे कवियो में न दिखलाई देती हो।

(ए) चोरटी, गोरटी शब्दो में अस्वाभाविक तोड-मरोड मानी गई है। यह शब्द चोरी और गोरी शब्दो के बिगडे हुए रूप है। व्रजभाषा में जिन शब्दो के अन्त में रा या री होता है वहाँ रटो रटी क्रमशः हो जाता है जैसे छोरा-छोरटो, गोरी-गोरटी इत्यादि। यद्यपि ये इतने अधिक अास्वाभाविक तो नही हैं तथापि इन शब्दों का बिहारी के पहले के काव्य में अधिक प्रयोग नही पाया जाता। दूसरी बात यह है कि यहाँ पर इन शब्दों का प्रयोग हास्यपरक हो गया है और शृंगार रस का उपघात करता है। अतएव यह दोष अवश्य है।

(ऐ) कुकत में भी तोड़ मरोड़ मानी गई है। दोहा इस प्रकार है :—

नतरु कुकत इन बिय लगत उपजत विरह कृसानु।

पहले 'नतरुक' का नतरकु किया गया है और फिर इसको 'कत' में जोड़कर कुकत बनाया गया। इस प्रकार जैसे तैसे बिहारी पर दोषारोपण किया गया। वास्तविकता यह है कि नतरु शब्द 'नहीं तो' के अर्थ में प्रायः आता है। उसी में स्वार्थिक क प्रत्यय जोडकर 'नतरुक' बना है। इसमें कोई भी तोड मरोड नहीं है सीधा शब्द है।

(ओ) हई शब्द पर रत्नाकर की टिप्पणी देखिये—

यह शब्द संस्कृत हृति शब्द का अपभ्रंश रूप है। हृति का अर्थ विस्मय, भय, विवशता, निराशा इत्यादि होता है, यहाँ इसका अर्थ भय या विस्मय होता है। किसी किसी ने अरबी शब्द 'हयरत' का बिगड़ा हुआ रूप मानकर बिहारी पर शब्दो के मरोड़ने का थप्पा धरा है। पर हर्ष शब्द का प्रयोग बिहारी ने बिगाड़ कर नही किया है। यह शब्द अब भी भय के अर्थ में अवध प्रान्त में बोला जाता है जैसे 'उस खेत में बन्दरो की बड़ी हई है'।

(औ) 'डाढी' शब्द पर मिश्रबन्धुओ ने नवरत्न में आक्षेप किया है कि यह प्रान्तीय शब्द है और यह 'डाढी' (दौरहा आग) से निकला हुआ है। किन्तु इन्होने यह ध्यान नही दिया कि सूर, तुलसी, केशव, भूषण, मतिराम, देव इत्यादि हिन्दी के मर्मज्ञ कवियो ने इस शब्द का जले हुए के अर्थ में अनेकशः प्रयोग किया है। बिहारी ने भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। यह परिष्कृत व्रजभाषा का शब्द है न तो प्रान्तीय है और न बिगाड़ा हुआ है।

(अं) 'भयौ हरा-हर हारु' में हरहारु को हलाहल कहकर आक्षेप किया गया है। किन्तु हार को हलाहल की उपमा संगत हो ही नही सकती। यहाँ पर हार को हर-हार (सर्प) की उपमा दी गई है जो कि कवि परम्परानुकूल है। शब्द का पदच्छेद ठीक न समझ सकने के कारण ही यह दोष-दृष्टि उत्पन्न हुई।

(अः) बिहारी ने संसौ शब्द का प्रयोग श्वास के लिये किया है। बिहारी के प्रसिद्ध टीकाकार रत्नाकर ने इस शब्द का श्वास ही अर्थ किया है। श्वास के लिये संसौ अस्वाभाविक बिगाड़ है। कुछ लोग इसका समाधान यह कहकर देते हैं कि यहाँ पर संसौ' का अर्थ संशय है तथा यहाँ पर बिहारी ने कहा है कि-नित्य यही सशय बना रहता है कि वियोगिनी का जीव कैसे बचा हुआ है। यही अनुमान ठीक जान पड़ता है कि मृत्यु रूपी बाज विरहाग्नि की लपटो के डर से हसरूपों जीव पर झपट नही सकता, यदि यह अर्थ माना जावे तो जीव शब्द के अभाव में अनुक्तपदतादोष आ जाता है। रूपकातिशयोक्ति के उपक्रम में रूपक का लिखना स्वय एक दोष है। बिहारी ने मीचु सचानु 'विरह अगिनि लपटनु' में रूपक रक्खा ही है। यदि यह माना जावे कि हंसौ का प्रयोग जीव के अर्थ में भी प्राप्त होता है। अतएव यहाँ पर हंसौ का श्लेष से जीवरूपी हंस' अर्थ होगा तो भी यहा पर हसौ में 'औ' की मात्रा निरर्थक है। 'हंसौ' का अर्थ होगा हंस भी। प्रस्तुत प्रसंग में 'भी' का अर्थ सगत नहीं होता।

(क) मिश्रबन्धुओ ने 'वचैन बडी सबील हू चील घोसुआ मांसु' के सबील शब्द को युक्ति या मार्ग के अर्थ में मानकर प्रस्तुत प्रकरण में असगत बतलाया है। किन्तु हिन्दी शब्द सागर में सबील का एक और अर्थ दिया हुआ है--उपाय, तरकीब, यत्न। यहाँ पर उपाय के अर्थ में सबील शब्द का प्रयोग बडा ही स्वाभाविक हुआ है। 'अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी चील्ह के घोसले में माँस की धरोहर बचती नही।'

(ख) बिहारी ने प्रणिधा का विकृत रूप पनिहा लिखा है जो कि स्वाभाविक विकार है। किन्तु मिश्रबन्धुओ ने इसे बुन्देलखण्डी शब्द पनाही का विकृत रूप मानकर आक्षेप किया है।

(ग) बिहारी ने 'नीठि' तथा 'नीठि नीठि' इन दोनों शब्दों का प्रयोग बहुत ही स्वाभाविक किया है। हिन्दी शब्द-सागर में नीठि का अर्थ दिया हुआ है—अनिच्छा अथवा कठिनता से और 'नीठि नीठि' का अर्थ दिया हुआ है, 'किसी न किसी प्रकार।' इस प्रकार इन शब्दो पर आक्षेप करने का कोई अवसर ही नही।

(घ) 'चिलक' का प्रयोग चमक के अर्थ में किया गया है। मिश्रबन्धुओं ने लिखा है कि यह शब्द व्रज और बुन्देलखण्डी में चमक के अर्थ में बोला जाता है। किन्तु अपने प्रदेश में पीडा के अर्थ में आता है। इस शब्द के प्रयोग के कारण बिहारी पर प्रान्तीय शब्द के प्रयोग का आक्षेप किया गया है। किन्तु सतसई वस्तुतः व्रजभाषा में लिखी गई है। अतएव व्रजभाषा का शब्द किसी प्रकार भी असंगत नही कहा जा सकता।

(च) बिहारी ने बूढ शब्द का प्रयोग वीर बहूटी के अर्थ में किया है। हिन्दी शब्द-सागर में इस शब्द का यही अर्थ दिया हुआ है। हिन्दी के दूसरे कवियो ने भी इस प्रकार का प्रयोग किया है। अतएव यह शब्द सदोष नही माना जा सकता।

(छ) **नाँद उठना** - भभक उठने के अर्थ में आता है और इसी अर्थ में बिहारी ने इसका प्रयोग भी किया है। जिस अर्थ मे लोकोक्ति के रूप में इस शब्द का प्रयोग होता है उसी में बिहारीलाल जी ने भी किया है। लोकोक्ति के अनुरूप प्रयोग करने के कारण इसमे एक सुन्दरता है। मिश्रबन्धुओ ने नायिका का सम्बन्ध शब्द से जोडकर इसे अनुचित बतलाया है जो ठीक नही है।

(ज) 'वेपाइ' शब्द को बिगडा हुआ बतलाया गया है। किन्तु इस शब्द का अविवक्षित वाच्य ध्वनि के रूप में बहुत ही सुन्दर प्रयोग हुआ है।

(झ) 'चाड' शब्द चाट का अपभ्रंश है। जैसे शाटी का साडी, कटि का कडि इत्यादि।

(ट) खियाल शब्द खेल के लिये प्राय: आता है। अतएव इसमें कोई विशेष तोड़ मरोड नही है।

(ठ) गाँसु शब्द 'ग्रास' से बना है। इसमें कोई अस्वाभाविक तोड़-मरोड़ नहीं है।

इसी प्रकार असमर्थ, अप्रयुक्त, निहितार्थ तथा प्रादेशिक शब्दो की एक बड़ी-लम्बी सूची दी गई है। उनमें कुछ शब्द तो अवश्य अधिक बिगडे हुए प्रतीत होते हैं। कुछ प्रादेशिक भी है; किन्तु अधिकतर शब्दो पर आक्षेप भ्रमवश किया गया है। 'निज' का 'निय', नदी का 'नैं', धैर्य का धरहर, 'सेर के लिए' सैर इत्यादि दो-चार शब्द ऐसे अवश्य कहे जा सकते है जिनमे अस्वाभाविक बिगाड हो गया है और उनसे प्रकरण में ठीक अर्थ अभिव्यक्त नही होता। किन्तु अधिकतर शब्दो में बलात् दोष निकालने की चेष्टा की गई है। रोज पडना या दिन पडना स्वाभाविक प्रयोग है उसको रोजा मानकर आक्षेप किया गया है। भूलि का अर्थ भूल कर होता है जो कि बडा सुन्दर प्रयोग है। 'अरुण चरण दुति झूलि' मे चरण के झूलकर फूल के रूप में पड़ने में चरण न्यास के वैयात्य की अभिव्यजना होती है। किन्तु उसको झड़ने के अर्थ में मानकर आक्षेप किया गया है। लोपे का अर्थ लुप्त करना है किन्तु उस को पूजा का लोप परक मानकर आक्षेप किया गया है। 'लोपे कोपे इन्द्र लो, रोपे प्रलय अकाल' का अर्थ होगा—'प्रलय अकाल को स्थापित किए हुए इन्द्र जैसे शत्रु को भी लुप्त कर दिया।' 'चीकने' का स्नेहमय अर्थ होता है पुष्ट अर्थ नही। किसी पक्षी का दौड़ना नही हो सकता यह भी विचित्र सी बात है।' 'नीची यै नीची निपट दीठि कुही लौ दौरि' पर मिश्रबन्धुओ ने लिखा है कि बाज दौडता नही उडता है। दृष्टि ने बाज के समान दौडकर आक्रमण किया। यह इन लोगो के मत में ठीक नही है। दृष्टि ने बाज के समान उडकर आक्रमण किया यह कहा जाना चाहिए। सहृदय पाठक ही विचार करे कि बाज ने दौडकर पक्षी को झपट लिया इसमें अधिक शक्ति है या बाज ने उडकर पक्षी को झपट लिया इसमे अधिक शक्ति है? फिर उड़ना क्रिया का नेत्रो से क्या साधर्म्य होगा? 'साटि' सट्टा का विकृत रूप है। यदि साटना क्रिया भी मानी जावे तो भी इसका सर्वत्र बुरे अर्थ में ही प्रयोग नहीं होता। साट-गाठ का प्रयोग छल-कपट पूर्वक किसी को वश में करके उससे स्वार्थ साधन कर लेने का होता है। यहाँ पर नेत्रो की निन्दा ही वाच्य है और उन पर दलाली करने का आरोप लगाया गया है। अतएव यह शब्द सर्वथा उपयुक्त है। 'वारद' 'वार्द' का विकृत रूप है। 'वरि वरि' का अर्थ बकना किया गया है जो ठीक नही है। 'वरि वरि' का जल जल कर यह अर्थ ठीक है। 'हित' पति के अर्थ में असमर्थ अवश्य है किन्तु हितैषी के अर्थ में प्राय. प्रयुक्त होता है। 'कटनि' का प्रयोग आसक्ति के लिये असमर्थ बतलाया गया है किन्तु इस अर्थ में उसका प्रयोग लोक में प्रायः होता है—मै उस पर कटता हूँ। हाँ किसी अश मे ग्राम्य दोष कहा जा सकता है। किन्तु प्रयोग वैशिष्ट्य से ग्राम्यता नही आने पाई है। गहिली—ग्रहिल का नही किन्तु गैली का विकृत रूप है। 'गैली' शब्द का प्रयोग मूर्ख के अर्थ में प्रायः होता है।

बिहारी के शब्दो के प्रयोग पर निष्पक्ष विवेचन करने की आवश्यकता है।

मिश्र बन्धुओं द्वारा दी गई सूची में कुछ शब्द ऐसे भी हो सकते हैं जो बिहारी ने प्रमाद वश लिख दिए हों और उनमें त्रुटि आ गई हो। किन्तु इन महानुभावों ने दोषों के विवेचन में असूया से काम लिया है और समर्थकों ने अनुचित पक्षपात दिखलाया है। बिहारी की भाषा-परीक्षा पृथक् निबन्ध का विषय हो सकता है। अतएव यह विषय यहाँ पर छोडा जाता है।

वाक्य-दोष

रसानुगुण शब्दों तथा वर्णों का प्रयोग न होना प्रतिकूलवर्णता के नाम से अभिहित किया जाता है। बिहारी का निम्नलिखित दोहा इसका उदाहरण हो सकता है:—

ढरे ढार, तेहीं ढरत, दूजैं ढार ढरैं न।
क्यौं हूँ आनन आन सौं नैना लागत नैन॥

टवर्ग का अनुप्रास कठोर रसो के अनुकूल माना जाता है। यहाँ पर ढ का अनुप्रास शृगार रस में प्रयुक्त हुआ है जोकि रस के प्रतिकूल है किन्तु इसका प्रयोग प्रथम दल में किया गया है। द्वितीय दल में रसानुगुण वर्णों का उपादान हुआ है। अतएव इस दोष का बहुत कुछ परिमार्जन हो गया है।

बिहारी ने जितनी कसावट के साथ रचना की उसमें अधिकपदता सम्भव नही है। आश्चर्य यह है कि कहीं न्यूनपदता भी नहीं आने पाई है। अधिकपदता निम्नलिखित दोहे में पाई जाती है:—

लपटी पुहुप पराग पट, सनी स्वेद मकरन्द।'

पराग पुष्पों का ही होता है। अतएव पुष्प शब्द अधिक है। इस विषय में दर्पणकार का मत है:—

'निरुपदो मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते इति स्थितावपि
पुष्पमाला विभाति ते अत्र पुष्पशब्द उत्कृष्टपुष्पप्रसिद्ध्यै'।

अर्थात् उपपद रहित माला शब्द का अर्थ पुष्प माला ही होता है। ऐसी स्थिति में पुष्प माला शब्द का प्रयोग उत्कृष्ट पुष्पों की माला होता है। यहाँ पर भी उत्कृष्ट पुष्पों की पराग से ही कवि का अभिप्राय है। अतएव इसे हम दोप नहीं कह सकते।

निम्नलिखित दोहे में हतवृत्तत्ता दोप विद्यमान है.—

तनक झूठ न सवादिली कौन बात परि जाइ।
तिय मुख रति आरभ की नहिं झूठियै मिठाइ॥

इस दोहे के प्रथम चरण में लक्षण का तो अनुसरण ठीक किया गया है किन्तु पढने में अश्रव्य है, अतएव यहाँ पर हतवृत्तत्ता दोप है। यदि इस चरण को तनक न झूठ सवादिली' इस रूप में बदल दिया जावे तो उक्त दोप जाता रहेगा। इसी प्रकार 'कौन बात परि जाइ' में ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है जो अभीष्ट अर्थ देने में कुण्ठित हो जाते हैं। कवि को यहाँ पर कहना तो यह अभीष्ट है कि चाहे किसी

बात में पड़ जावे। किन्तु इन शब्दों से केवल प्रश्नवाचक अर्थ ही निकलता है। अतएव द्वितीय चरण में वाक्यगत असमर्थ दोष है। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने निम्नलिखित सोरठे में भी हतवृत्तता दोष माना है:—

मैं करि नारी ज्ञानु करि राख्यौ निरधारु यह।
वहई रोग निदानु वहे वैद ओषधि वहै।।

श्री व्यास जी के अनुसार इस सोरठे में विषम में जगण है और सप्तगण विभाग में वैषम्य है।

बिहारी के निम्नलिखित दोहे मे सन्धिगत दोष है:—

औरै भाँति भए ऽब ए चोसरू, चंदनु, चंदु।
पति बिनु अति पारतु विपति मारतु मारूतु मंदु॥

'भयेऽव' मे पूर्वरूप किया गया है। इस प्रकार का पूर्वरूप संस्कृत में तो ठीक माना जाता है किन्तु हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध है। किन्तु यहाँ पर अनुशासन का अतिक्रमण नही है। निम्नलिखित दोहे मे तो अनुशासन का भी अतिक्रमण कर दिया गया है:—

इहि अब लौऽब दुखौ भये चला चलैं जिय सग।

'अव लौऽब मे औ के बाद पूर्वरूप किया गया है जो अनुशासन विरुद्ध है।

निम्नलिखित दोहे में कथितपदता दोष है —

तिय तिथि तरुन-किसोर-बय पुण्य काल सम दोनु।
काहूँ पुण्यनु पाइयतु बैंस संन्धि संकोनु॥

इस दोहे में पुन्य शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है। अतएव कथित-पदता दोष है। कुछ लोगों ने प्रथम पुण्य शब्द को विशेषण मानकर पवित्र काल अर्थ किया है। इस प्रकार पुनरुक्ति का किसी अश में निराकरण हो जाता है। तथापि कुछ न कुछ दोष तो बना ही रहता है।

बिहारी ने भाषा की सामासिकता को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। किन्तु यह सामासिकता कही-कही इतनी अधिक बढ गई है कि दोष की सीमातक पहुँच जाती है। निम्नलिखित दोहे में कोई नायिका अपने प्रियतम को पत्र लिख रही है:—

तो हीं, निरमोही, लग्यौ मो ही इहैं सुभाउ।
अनआएँ आवै नही, आएँ आवतु आउ॥

इस पत्र में न तो नायिका की विरह वेदना ध्वनित होती है और न इसमें हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है। नायक को वह निरमोही कहती है किन्तु स्वय नायक से भी अधिक उदासीन जान पड़ती है। चतुर्थ चरण में तो ऐसा लगता है कि तार दिया जा रहा है और उसे चिन्ता है कि कही शब्द अधिक न बढ़ जावें।

निम्नलिखित दोहे मे पतत्प्रकर्षता है.—

कज नयनि मजनु किए बैठी व्यौरति बार।।
कच अँगुरी बिच दीठि दै, चितवत नन्दकुमार।।

यहाँ पर प्रथम चरण का अनुप्रास धीरे-धीरे गिर गया है।

निम्नलिखित दोहे में अश्लीलता विद्यमान है:—

वह कि न इहिं बहिना पुली, जब तब वीर विनासु।
बचै न बड़ी सवील हूँ चील घोंसुवा माँसु॥

यहाँ पर 'विनासु' शब्द का प्रयोग अमागलिक होने से अश्लील है तथा 'माँसु' शब्द में घृणा की व्यजना होती है अतएव यह शब्द भी अश्लील है। श्री पद्मसिह जी शर्मा ने इसके समर्थन मे कालिदास के प्रमदामिष शब्द का निदर्शन उपस्थित किया है। इस पर मेरा निवेदन है कि 'बाधे दृढेऽन्यासम्भात्कि, दृढेऽन्यदपि बाध्यताम्'—यदि बन्धन दृढ है तो दूसरे की समानता से छुटकारा नही मिल सकता। दृढ बन्धन मे दूसरा भी उसी प्रकार बँध जाता है। दूसरी बात यह है कि आमिष शब्द का अर्थ भोग्य वस्तु भी है। अतएव कालिदास के दोष का जैसे-तैसे परिहार हो जाता है, किन्तु बिहारी के दोष का परिहार नही होता।

अर्थ-दोष—

बिहारी ने वर्षा काल में चक्रवाक मिथुन का वर्णन किया है। मिश्रबन्धुओं का कहना है कि वर्षाकाल में चक्रवाक होते ही नहीं। कवियो ने भी अधिकतर वर्षाकाल में चक्रवाको के अभाव का ही वर्णन किया है। अतएव इस दोहे से बिहारी का प्रकृतिविषयक अज्ञान सिद्ध होता है। दूसरी ओर अनेक उदाहरणो के आधार पर सिद्ध किया जाता है कि कवि लोग वर्षा काल मे भी चक्रवाको का होना मानते है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि वास्तविकता क्या है? कवियो का कहना है कि चक्रवाक की प्रकृति गन्दे जल में रहने की नही होती। जब वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाता है और नदियो का जल गदला होने लगता है तो चक्रवाक मानसरोवर को चले जाते है। मिश्रबन्धुओ ने लिखा है कि वे बन्दूक लेकर शिकार की तलाश में निरन्तर इधर उधर घमते रहे किन्तु वर्षाकाल में उन्हे कही हंस नहीं मिले। इसके अतिरिक्त मिश्रबन्धुओ ने पुरस्कार की भी घोषणा की थी। इन सब बातो से सिद्ध होता है कि चक्रवाको का वर्षा में न होना ही प्रमाण प्रतिपन्न है और जो कवि वर्षा काल में चक्रवाको का वर्णन करते है वे भी बिहारी के समान भ्रान्त ही है। कवि समय ख्यातियो का वर्णन दूषित नही माना जाता। किन्तु यह विषय कवि समय ख्याति का नही है। अतएव यह बिहारी का ख्याति-विरुद्ध दोष माना ही जावेगा। रत्नाकर ने पालतू चक्रवाको की सत्ता लिखकर जो समाधान दिया वह भी अगतिक-गति ही है। अतएव मान्य नही हो सकता।

बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में मस्तक में नख-रेखा का वर्णन किया है :—

प्रान प्रिया हिय में बसै, नखरेखा-ससि भाल।
भलौ दिखायौ आइ यह हरि-हर रूप रसाल॥

कामसूत्रकार ने लिखा है कि पार्श्व प्रदेश तथा कक्षा, स्तनमण्डल तथा वक्षःस्थल, कण्ठ प्रदेश, जघन प्रदेश, नितम्ब प्रदेश तथा पूरी कमर, ऊरू प्रदेश और

पाठ ये ही स्थान नखक्षत के होते हैं। वात्स्यायन मस्तक को नखक्षत का स्थान नही मानते। अतएव यहाँ पर विद्या-विरुद्ध दोष है। किन्तु सुवर्णाभ का कहना है कि राग की प्रचण्डता में स्थान-विशेष की अपेक्षा नही रह जाती और प्रवृत्ति के अनुरूप रति-चक्रप्रवृत्त नायक-नायिका कही भी नखच्छेदन कर बैठते है। इस प्रकार मस्तक में नखरेखा के वर्णन से यह ध्वनि भी निकलती है कि तुम्हारा विश्रम्भ विहार इतनी प्रचण्ड रागावस्था में हुआ है कि तुम्हे मर्यादा का भी ध्यान नही रहा। इस प्रकार ध्वनिपरक होने के कारण यहाँ पर मस्तक में नखरेखा का वर्णन दोष नही कहा जा सकता।

प्रसिद्धि-विरोध का एक और उदाहरण दिया जाता है :—

अरी, खरी सटपट मरी बिधु आधैं मग हेरि।
सग लगैं मधुपनु लई भागनु गली अँधेरि॥

रात्रि में भ्रमर-वर्णन प्रसिद्धि विरुद्ध है। किन्तु बाण, माघ, मतिराम और देव ने भी रात्रि में भ्रमरो का वर्णन किया है। ऐसा कोई भी नियम नही कि वर्षाकाल में भौरे नही होते। अतएव इसे हम दोष नही कह सकते। प्रत्युत भौरो के वर्णन से शरीर-सुगन्ध की अभिव्यक्ति होती है जिससे नायिका पद्मिनी सिद्ध हो जाती है। (अतएव ध्वनि-प्रवण होने के कारण भ्रमर-वर्णन गुण ही है)।

पडित अम्बिकादत्त व्यास ने चर्खा कातने के वर्णन में ग्राम्यत्व दोष माना है। किन्तु चर्खा ग्राम्यता का ही परिचायक नही कहा जा सकता। इसका वर्णन प्रायः कवियो ने किया है। बिहारी सभी प्रकार के समाज का प्रतिनिधित्व करना चाहते थे। चर्खा वर्णन भी उसी का एक अग है। मन्त्र-ब्राह्मण में रहटा कातने वाली को देवी कहा गया है।

निम्नलिखित दोहे में पतत्प्रकर्षता है :—

कहा कुसुमु कहं कौमुदी, कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति॥

कुसुम के बाद कौमुदी का कथन और फिर उसके बाद आरसी ज्योति का कहना प्रकर्ष का पतन है। किन्तु यहाँ पर कुसुम अपनी आह्लादकता के साथ कोमलता का परिचायक है, कौमुदी शीतलता की परिचायिका है और आरसी जोति चिक्कणता की परिचायिका है। तीनो पदार्थ तीन पृथक्-पृथक् गुणो के परिचायक हैं।

निम्नलिखित दोहे में क्रम भंग दोष है :—

इहिं बसत न खरी, अरी, गरम न सीतल बात।
कहि क्यौं झलके देखियत पुलक, पसीजे गात॥

यहाँ पर गरम पहले कहा गया है और शीतल बाद में। अतएव गर्मी का प्रभाव पसीजना पहले कहना चाहिए और शीतलता का प्रभाव पुलक बाद मे कहना

चाहिए। किन्तु कवि ने उत्तरार्ध में पुलक पहले कहा है और पसीजना बाद में। इस प्रकार यहाँ पर क्रम-भंग दोष है। किन्तु यदि पसीजे को गात का विशेषण माने और यह अर्थ करे कि पसीजे हुए शरीर में पुलक क्यों दिखाई दे रहे हैं तो इस दोष का परिमार्जन हो जाता है।

अलंकार-दोष

आचार्यों ने यमक अलंकार का तीन पादों में होना दोष माना है। बिहारी के निम्नलिखित दोहे में तीन पदों में यमक देखा जाता है :—

तो पर वारौं उरबसी, सुनि, राधिके सुजान।
तू मोहन कैं उर बसी ह्वै उरबसी-समान॥

उपमा के अन्तर्गत उपमान और उपमेय में लिग-भेद एक दोष माना जाता है। बिहारी ने निम्नलिखित स्थानों पर उपमान और उपमेय में लिग-भेद कर दिया है :—

विरह विथा जल परस बिनु बसियत मो मन ताल।
कछु जानत जल थम्भ विधि दुरयोधन लौं लाल॥

यहाँ पर विथा उपमेय है और जल उपमान। व्यथा स्त्री लिग शब्द है और जल पुलिग। इस प्रकार लिग-भेद होने के कारण यहाँ पर दोष है। इसी प्रकार :—

रह्यौ ऐंचि, अंतु, न लहै अवधि-दुसासन वीर।
आली, बाढ़तु विरहु ज्यौं पांचाली कौ चीर॥

यहाँ पर उपमेय स्त्री लिग है और उपमान दुश्शासन वीर पुलिग है।

उपमा में किसी वस्तु का बहुत अधिक बढाकर कहना जिससे असत्यता का प्रतिभास होने लगे दोष माना जाता है। निम्नलिखित दोहे में यही दोष है :—

बुधि अनुमान, प्रमान श्रुति किऐ नीठि ठहराइ।
सूछम कटि पर ब्रह्म की अलख, लखी नहिं जाइ॥

यहाँ पर कमर के लिए ब्रह्म की उपमा दी गई है, जो कि मर्यादातीत रूप में अधिक है। इस प्रकार यहा पर दोष है। इन सब दोषो का समाधान यह है :—

न लिंगवचने भिन्ने न न्यूनाधिकतेऽपि वा।
उपमादूषणाभावो यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥

(लिग और वचन के भिन्न होने पर अथवा न्यूनता और अधिकता में वहाँ पर उपमा दोष नहीं होता जहाँ सुनने वालो को उद्वेग न उत्पन्न हो।) प्रायः कवि लिग और वचन के भेद में भी उपमा देते हैं। यह दोप अधिकतर वही माना जाता है जहाँ दोनो के विशेषण के रूप में एक ही शब्द का प्रयोग करना हो और वह दोनों से एक साथ मेल न खा रहा हो। अथवा जहाँ क्रिया बिना वचन-व्यत्यय के दोनों से न जुड़ सकती हो। उपर्युक्त दोहो में यह बात नही है। अतएव दोष नही

माना जा सकता। कतिपय आलोचको ने विरह-विथा के लिये जल की उपमा में एक दोष यह भी माना है कि व्यथा को प्राय: अग्नि की उपमा ही दी जाती है, जल की नही। किन्तु यह दोष भी ठीक नही है। उपमा सर्वदा धर्म के आधार पर दी जाती है। यहाँ निर्लिप्तता साधारण धर्म है जिसके लिए जल की उपमा ही समीचीन है।

कुछ लोगो ने निम्नलिखित दोहे में अन्त्यानुप्रास में एक ही शब्द का होना दोष माना है :—

लहि रति-सुखु लगि पै हियैं लखी लजौहीं डीठि।
खुलति न, मो मन बँधि रही वहै अधखुली डीठि॥

किन्तु यहाँ पर प्रथम दल में परिष्कृत पाठ नीठि है। अतएव यह दोष नहीं आता।

रस-दोष

शास्त्रकारों ने विरह की दशम अवस्था मरण के वर्णन का निषेध किया है:—

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते।
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकांक्षितं तथा॥

अर्थात् रस के विच्छेद मे हेतु होने के कारण मरण का वर्णन नहीं करना चाहिये। मरण का या तो जातप्राय अवस्था में कथन किया जाना चाहिये, या चित्त से आकाक्षित अवस्था में कहा जाना चाहिये! बिहारी ने निम्नलिखित दोहे में मरण का वर्णन किया है :—

कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्राननु के ईस।
विरह ज्वाल जरिबौ लखैं मरिबौ भई असीस॥

यहाँ पर नायिका की सखी केवल यही कहना चाहती है कि नायिका की दशा ऐसी हो गई है कि यदि उसका मरण ही हो जावे तो भी शान्ति मिल सकती है। 'प्राननु के ईस' सम्बोधन के द्वारा वह यह भी प्रकट करना चाहती है कि उसके प्राण तुम्हारे ही हाथ में हैं, अत: चलकर उसकी रक्षा करो। इस प्रकार यहाँ पर मरण-वर्णन समझना भ्रममात्र है। मरण-वर्णन का दूसरा उदाहरण यह दिया जाता है:—

कहे जु बचन बियोगिनी बिरह-बिकल बिललाइ।
किये न को अँसुवा-सहित सु बाति बोल सुनाइ॥

इस दोहे में प्रयुक्त शब्दो से ऐसा ज्ञात होता है कि नायिका मर चुकी है। क्योंकि यदि नायिका जीवित होती और नायक के लौटने के बाद ये शब्द कहे गये होते तो सुनने वालो को हंसी ही आती, आँसू तो तभी आ सकते हैं जब उन शब्दों का कहने वाला विद्यमान न हो। किन्तु बिहारी ने कुछ न कुछ सभी रसों का वर्णन

किया है। अतएव इसे हम करुण शृंगार का उदाहरण मान सकते हैं।

गर्भिणी नायिका का वर्णन भी कवि-जगत् में अधिक समादृत नही है। बिहारी के समर्थक कालिदास और बाण द्वारा इस प्रकार के वर्णन की युक्ति देकर बिहारी का समर्थन करते है। किन्तु ये वर्णन प्रबन्ध के उपयुक्त हो सकते है। कथा-प्रवाह में सभी कुछ वर्णन खप जाता है पर मुक्तक के क्षेत्र में ऐसी बात नही है। इस विषय में भी यही ज्ञात होता है कि बिहारी सभी अवस्थाओ का वर्णन करना चाहते थे। इसीलिये उन्होने गर्भिणी नायिका का वर्णन करने में भी सकोच नही किया। शृंगार के वर्णन में बिहारी कही-कही मर्यादा का उल्लघन कर गये है :—

लरिका लैबे कैं मिसनु लगरु मो ढिग आइ।
गयौ अचानक आँगुरी छाती छैलु छुआइ॥

ऊपर बिहारी के कतिपय दोषो का उल्लेख किया गया है। ये तथा इसी प्रकार के दो-चार स्थान ही प्रयत्न पूर्वक निकाले जा सकते है जिनमें स्फुट रूप में दोष विद्यमान हो। इन दोषों से बिहारी की काव्य-साधना में हीनता नही आती। जितनी परिष्कृत शैली में बिहारी ने मुक्तक काव्य-जगत् का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने की चेष्टा की है और जिस प्रकार के दोहा जैसे छोटे छद में पूर्ण प्रबन्ध को भर देने में सफलता प्राप्त की है उसे देखते हुए ये दोष नगण्य हैं और बिहारी की अतिशायिनी प्रतिभा में किसी प्रकार की कमी नही आती।

बिहारी का हिन्दी-साहित्य में स्थान

हिन्दी साहित्य एक व्यापक शब्द है। इसमें कवि भी है, उपन्यासकार भी है, कहानीकार भी है और आलोचक भी है। इन सभी प्रकार के लेखकों से बिहारी की तुलना नही की जा सकती। बिहारी ने कोई भी प्रबन्ध काव्य नही लिखा, इनका रीति शास्त्र पर कोई ग्रन्थ नही पाया जाता, उपन्यास, कहानी और आलोचना तो आधुनिक युग की वस्तुये है, बिहारी से इस प्रकार के ग्रन्थो के लिखने की सम्भावना ही नही की जा सकती। अतएव सामान्यतया हिन्दी साहित्य में बिहारी का स्थान निर्धारित कर देना न तो सम्भव ही है और न समीचीन ही। तुलना सदा साधर्म्य में होती है। जो वस्तु, व्यंजना, उपकरण, परिस्थिति इत्यादि प्रत्येक बात में भिन्न है उनकी तुलना ही क्या ? यदि बिहारी की तुलना प्रस्तुत की जा सकती है तो मुक्तक काव्यकारो से ही की जा सकती है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कवियो का अपना-अपना क्षेत्र होता है। कोई किसी क्षेत्र में बढ़ा-चढा होता है दूसरा दूसरे क्षेत्र में। अतएव सर्वथा एक कवि को दूसरे से बडा या छोटा कह देना किसी प्रकार भी संगत नही हो सकता।

तुलना दो दृष्टियों से की जा सकती है—प्रतिष्ठा तथा प्रभाव की दृष्टि से और काव्य की रमणीयता की दृष्टि से। प्रभावगत तुलना भी दो दृष्टियों से हो सकती है—दूसरे कवियों और साहित्यकारों पर प्रभाव डालने की दृष्टि से और परि-

शीलक-जगत् पर प्रभाव जमाने की दृष्टि से। जैसा बतलाया जा चुका है लेखकों को जितना बिहारी ने अपनी ओर आकर्षित किया है और बिहारी सतसई को लेकर जितने काव्य-ग्रन्थ लिखे गये हैं उतने हिन्दी साहित्य के किसी ग्रन्थ को लेकर नही लिखे गये। इस दिशा में कहना ही होगा कि राम चरित मानस भी अपवाद नही है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि बिहारी की रचना हिन्दी साहित्य में सर्वोच्च शिखर पर आसीन है और बिहारी हिन्दी के प्रथम कवि होने के अधिकारी हैं। परिशीलको पर प्रभाव जमाने का जहाँ तक प्रश्न है, बिहारी द्वितीय कोटि के कवियो में आते हैं। अपनी धार्मिक भावना, आध्यात्मिक चेतना, भक्ति के क्षेत्र में अनन्यता, काव्यागो का सर्वाङ्गीण उपादान और अभिव्यक्ति की विशेषता तथा समाज-सुधार की भावना को लेकर तुलसी ने जो प्रभाव भारतीय जनता पर जमाया है और काव्य-मर्मज्ञो में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की है, स्वप्न में भी कोई दूसरा कवि उसकी आशा नही कर सकता। यद्यपि समाज-सुधार की चेतना और काव्यागो के सर्वांगीण उपादान के क्षेत्र में तुलसी से सूर पीछे रहे तथा अपनी गहराई के कारण रसिक जनो में उन्हें तुलसी के समकक्ष या उससे कुछ घटकर ही स्थान प्राप्त हुआ तथापि ये दोनो महाकवि हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य और चन्द्र माने जाते हैं और सहृदय पाठको की दृष्टि में इनकी प्रतिष्ठा सर्वथा अक्षुण्ण है, किन्तु इन महाकवियो के बाद यदि रसिक जनो में किसी का सर्वाधिक मान कहा जा सकता है तो वे बिहारी ही है। यद्यपि भूषण को अपनी वीरभावना की अभिव्यक्ति तथा देशानुराग के कारण पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है, जयदेव और विद्यपति भी अपनी उदार भावना के कारण पर्याप्त प्रतिष्ठित है और रीति काल के अन्य कवि भी आदर की दृष्टि से देखे जाते है तथापि सहृदयो में जो स्थान बिहारी को प्राप्त हुआ है वह किसी और को प्राप्त नही है। इस प्रकार बिहारी को इस दृष्टि से तीसरा स्थान दिया जा सकता है अथवा हम इन्हे द्वितीय कोटि का कवि कह सकते है।

तुलना का दूसरा दृष्टिकोण हो सकता है काव्य कुशलता। बिहारी ने मुक्तक काव्य रचना की है और इसी क्षेत्र में हम बिहारी के स्थान का निर्धारण कर सकते हैं। जैसा कि पिछले अध्यायो में बतलाया गया है, मुक्तक काव्य को चार भागो में विभाजित किया जा सकता है—रसात्मक मुक्तक, धार्मिक मुक्तक, सूक्ति मुक्तक और प्रशस्ति मुक्तक।

रसात्मक मुक्तक के क्षेत्र में बिहारी के सामने आते हैं देव, केशव, मतिराम, विद्यापति, तोषनिधि और पद्माकर। अन्तिम तीन कवियों के बिहारी से नीचे होने में तो कोई सन्देह ही नही। पद्माकर के भावो में गाढा रस परिपाक है, उनकी काव्यानुभूति में एक शक्ति है, भाषा पर भी इनका पर्याप्त अधिकार है। कही इनकी भाषा सजीव प्रेमभरी मूर्ति उपस्थित करती है, कही भाव या रस की धारा बहाती है, कही अनुप्रासों की मिलित धारा बहती है और कहीं वीरदर्प की अभिव्यक्ति होती है,

किन्तु बिहारी जैसी सामासिकता, वैसी अभिव्यक्ति की विशेषता और वैसी सूक्ष्म-दर्शिता इनमें विद्यमान नही है। तोषनिधि में सरसता है, सहृदयता है और भाषा में स्वाभाविक प्रवाह है तथापि बिहारी जैसी स्निग्धता, उनका जैसा उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार की प्रवृत्ति उनमें नही है। विद्यापति के गीतो में सरसता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है तथापि उनका क्षेत्र सकुचित है। इसी प्रकार ठाकुर, बोधा और घनानन्द का भी स्थान बिहारी से नीचा ही है। यद्यपि घनानन्द मे आवेग और तन्मयता पर्याप्त मात्रा मे हैं, भाषा बिहारी से अधिक परिष्कृत तथा शुद्ध और व्यवस्थित है तथापि काव्य समृद्धि मे वे बिहारी से नीचे पड़ जाते हैं। मतिराम ने बिहारी की अपेक्षा पारिवारिक जीवन के सच्चे चित्र अधिक उतारे हैं। मतिराम की भाषा सरस और हृदय-ग्राहिणी है। भाव सरल और उच्च कोटि के है पर बिहारी जैसा समास गुण उनमे विद्यमान नही है। मतिराम ने साज शृंगार के द्वारा कुछ चित्रों को मनोरम बनाया है पर बिहारी के चित्र स्वतः पूर्ण तथा सुहावने हैं। मतिराम के भाव शुद्ध और सच्चे हैं, भाषा मे माधुर्य है और उपमाये उच्च कोटि की हैं किन्तु बिहारी जैसी सामासिकता, समाहार शक्ति और अभिव्यक्ति की रमणीयता उनमें नही है।

केशव हिन्दी साहित्य में उच्च कोटि के स्थान पर विराजमान हैं। इन्होने अलंकारप्रियता के साथ रसिकता भी पर्याप्त मात्रा में दिखलाई है। इनका पाण्डित्य बिहारी की अपेक्षा अधिक समृद्ध तथा प्रशस्त प्रतीत होता है, तथापि बिहारी का जैसा हृदय तत्व इनमें विद्यमान नही है। इन्होने सस्कृत काव्य-जगत् के जिन भावों का उपादान किया है उनको प्रायः ज्यो का त्यों रख दिया है और इसमें भाषा की योग्यता तथा अयोग्यता का भी ध्यान नही रक्खा है। कही-कही वैसे के वैसे ही क्लिष्ट पद रख दिये हैं। बिहारी ने भी सस्कृत तथा दूसरे साहित्यो के भाव लिये हैं परन्तु उनमें अपनी प्रतिभा के बल पर ऐसा पानी चढाया है कि उसमें एक नवीनता सी आ गई है। केशव की अपेक्षा जहाँ बिहारी में सरसता, सहृदयता और विवेक-शीलता अधिक है, वहाँ बिहारी की भाषा भी केशव से अधिक समृद्ध तथा परिष्कृत है। इस प्रकार हम बिहारी को केशव से अधिक उच्च कोटि का कवि कहने को बाध्य हैं।

अब हमारे सामने इस दिशा में केवल देव रह जाते हैं। इस शताब्दी के पहले किसी को कल्पना भी नहीं थी कि देव और बिहारी की तुलना भी सम्भव हो सकेगी। जब पहले पहल मिश्रबन्धुओ ने देव को बिहारी से अधिक अच्छा सिद्ध करने की चेष्टा की तब समालोचक जगत् को आश्चर्य ही हुआ था। इसका कारण देव की हीनता नहीं, अपितु देव के अध्ययन की कमी थी। वास्तव में देव ने भावना का अच्छा चित्रण किया है। प्रेम के सच्चे चित्र उतारने में देव को पर्याप्त सफलता मिली है। ये सौन्दर्य में पूर्णतया रसमग्न होने की क्षमता रखते हैं। किन्तु देव और

बिहारी की तुलना में एक बात पूर्णतया ध्यान मे रखनी चाहिए। देव और बिहारी दोनों के दृष्टिकोण तथा क्षेत्र में भेद था। बिहारी ने काव्य के विभिन्न तत्त्वों को समझ कर उनका पूरा प्रतिनिधित्व करने की चेष्टा की। सस्कृत तथा प्राकृत की मुक्तक कविता का सच्चा स्वरूप सहृदयों के सामने रखने में जो सफलता बिहारी ने प्राप्त की है वह अभूतपूर्व है। गोवर्धन ने तो प्राकृत गाथाओ की सुन्दरता को संस्कृत में उतारने के दुष्कर कार्य की प्रतिज्ञा ही की थी किन्तु बिहारी ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होने हिन्दी काव्य मर्मज्ञो को उस रस-सागर का पान ही नहीं कराया किन्तु उसको कही अधिक बढा-चढा कर सुन्दर रूप में सहृदयो के सामने उपस्थित किया है। हम इस बात को मान सकते है कि देव में भावना की तीव्रता और रस-मग्नता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि इन्होने शब्दो की सगीतात्मकता को अधिक महत्त्व दिया है और देश की विभिन्न भागों की स्त्रियो के स्वभाव और प्रभाव के वर्णन में इन्होने सबसे अधिक पटुता प्रदर्शित की है तथापि ये बिहारी से दूसरी बातों में पीछे रह जाते हैं। यद्यपि देव की भाषा में सगीतात्मकता अधिक है और अनुप्रास की छटा अधिक दिखलाई देती है तथापि बिहारी की जैसी परिष्कृत भाषा लिखने में ये समर्थ नही हो सके है। अनुप्रास के लिए इन्हे प्राय: शब्द गढने पड़े है और अनुप्रास के लोभ में इन्होने प्राय: अपने उठाये हुए भाव का निर्वाह नही कर पाया है। बिहारी में कलात्मकता अधिक है। जहाँ इन्होने सयोग-वियोग के तीव्रतम भावो को देव के समकक्ष ही अभिव्यक्त किया है वहाँ चमत्कार विधान में देव बिहारी से कही अधिक पीछे छूट जाते हैं। कुछ लोगों ने बिहारी पर यह आरोप लगाया है कि बिहारी ने उक्ति चमत्कार के फेर में पड़कर बहुत से पद्यो की रसार्द्रता की उपेक्षा कर दी है। उन्हे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि बिहारी मुक्तक काव्य जगत् के प्रतिनिधि कवि है। बिहारी ने रसमयता तथा चमत्कार विधान का जैसा सुन्दर सामञ्जस्य उपस्थित किया है वह बड़े बड़े कवियो के लिए भी स्पृहणीय है। बिहारी ने सौन्दर्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को ग्रहण कर शब्दबद्ध करने की जैसी अपूर्व क्षमता प्राप्त की है वैसी देव अथवा रीतियुग के किसी कवि में नही। बिहारी ने कला का माध्यम सूक्ष्म ही चुना था। बिहारी में लाक्षणिकता और व्यजनात्मकता की जैसी रमणीयता दृष्टिगत होती है वैसी दूसरे कवि को दुर्लभ है। इनमें भाषा का समास गुण भी अद्वितीय है। यदि आनन्दवर्धन के शब्दों में कहा जावे तो मानना पड़ेगा व्यजना की महत्ता ही किसी कवि की कसौटी होती है और उसी के बल पर महाकवित्व का पद प्राप्त हुआ करता है। कालिदास इत्यादि दो चार महा कवियो को भी अपनी व्यजना की सम्पत्ति के कारण ही महाकवित्व का प्रशस्त पद प्राप्त हुआ है। यदि लाक्षणिकता और व्यजनात्मकता ही कविता का माप-दण्ड माना जावे तो बिहारी निस्सदेह देव ही नही रीति काल के किसी भी कवि से आगे है। ठीक अर्थ में इन्ही की कविता में अलंकार दिखलाई देते हैं। भावो का उनसे अलकरण ही होता है तिरोधान नही।

दूसरा दृष्टिकोण धार्मिक कविता सम्बन्धी है। बिहारी में जितनी भी धार्मिक व्यंजनायें की गई है उनको देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि वे परम्परा निर्वाह मात्र के लिए ही है अथवा उनकी रागात्मिका प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया मात्र है। बिहारी में सन्त कवियो के समकक्ष ही आत्म-गर्हणा, आत्म-निवेदन तथा वैराग्य की भावना विद्यमान है। बिहारी का सम्बन्ध हरिदासी सम्प्रदाय से था और बिहारी इस सम्प्रदाय के दीक्षित शिष्य थे। अपने प्रारम्भिक जीवन में इन्होने इस सम्प्रदाय से संस्कार प्राप्त किए थे और अपने परवर्ती जीवन में भी ये इसी सम्प्रदाय के आश्रय में रहे थे। अतएव इनका धार्मिक सस्कार प्रौढ था। इसीलिए इनकी अभिव्यक्तियो मे आत्म-तत्व के दर्शन होते है। निर्गुण धारा के कवियो से तुलना करना ही व्यर्थ है क्योकि इनके दृष्टिकोणो मे भेद है। सगुण धारा में सूर तथा तुलसी धार्मिक क्षेत्र के नेता माने जाते है। अपनी हीनता तथा अपने आराध्य की महत्ता स्थापित करने में इन कवियो की तुलना कोई नही कर सकता। मीरा की विरह-वेदना भी तीव्र तथा प्रौढ है। रसखान की प्रेम-साधना भी अधिक उत्कृष्ट है। इन कवियो के बाद यदि आत्म निवेदन की दिशा मे कोई कवि आ सकता है तो बिहारी ही है। बिहारी ने सूर से अधिक भाव लिये है और सूर के निकट भी अधिक पडते है। अष्ट छाप तथा कृष्ण भक्ति के दूसरे कवियो ने कृष्ण की लीलाओ में आनन्द लिया है। आत्म-निवेदन की दिशा में उनमें वह बात नही पाई जाती।

सूक्ति काव्य मे बिहारी के अतिरिक्त कबीर, नानक, मलूकदास, तुलसी तथा रहीम की सूक्तियाँ अधिक प्रसिद्ध हुई है। निर्गुण धारा के कवियो की सूक्तियाँ एकागी है। उनमें वैराग्य की भावना तो पाई जाती है किन्तु आर्थिक, व्यावहारिक तथा कामारक सूक्तियो की हम इन कवियो से आशा ही नही कर सकते। तुलसी की सूक्तियो मे व्यावहारिकता भी है और धार्मिकता भी किन्तु कामसम्बन्धी सूक्तियो की इनमे भी कमी है। सूक्ति-काव्य की दृष्टि से रहीम का स्थान बहुत ऊँचा है। रहीम ने अपने लौकिक ज्ञान के आधार पर जो रचनाये की है और जैसा व्यावहारिक ज्ञान देने की चेष्टा की है उसकी तुलना करना बहुत कठिन है। किन्तु बिहारी की सूक्तियो में एक मौलिक अन्तर है। एक तो बिहारी की सूक्तियाँ सभी दिशाओ मे प्रवृत्त हुई है और सर्वाङ्गपूर्ण है, दूसरे कलात्मकता रहीम की अपेक्षा बिहारी मे अधिक है और व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र मे रहीम आगे है। एक बात और है बिहारी ने दोनो प्रकार की सूक्तियाँ लिखी है अन्योक्ति पद्धति पर भी और प्रत्यक्षोक्ति के रूप में भी। बिहारी की अन्योक्तियाँ हिन्दी काव्य जगत् में अपना जोड नही रखती। इस प्रकार भी बिहारी अग्रगण्य ही सिद्ध होते है।

अब रह गई प्रशस्ति-काव्य की बात। जैसा कि बतलाया जा चुका है कि बिहारी की मनोवृत्ति प्रशस्तियो में नही लगती थी। बिहारी ने केवल परम्परा-निर्वाह तथा परिस्थितियो की विवशता से ही प्रशस्तिया लिखी थी। उनमें हृदय-तत्व विद्यमान नही है। इस दिशा में भूषण का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कवि गंग इत्यादि भी बिहारी से कहीं अधिक आगे हैं इसमें सन्देह नहीं।

उपसंहार

संक्षेप में कहा जा सकता है कि बिहारी ने प्राचीन काव्यो का पूरा अध्ययन कर उसके रहस्य को समझने की चेष्टा की थी और उसका पूरा प्रतिनिधित्व अपने काव्य में किया है। शास्त्रीय परम्परा की दृष्टि से भी बिहारी की रचना पूर्ण है और वस्तुमूलक परम्परा की दृष्टि से भी सभी प्रकार की प्रवृतियाँ इनकी कविता में अधिगत हो जाती हैं। लाक्षणिक वक्रता, व्यंजनात्मकता इत्यादि काव्य के महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी तत्त्वों पर बिहारी ने पर्याप्त ध्यान दिया था और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया था। इनकी कविता में स्वाभाविक तथा अतिशयोक्तिपूर्ण दोनों प्रकार के चित्र प्राप्त होते है। एक ओर इनमें भारतीय काव्यधारा की आत्मा सुरक्षित है और दूसरी ओर मुसलमानी दरबार की छाप भी पायी जाती है। अलंकार-प्रयोग की दिशा मे ये पूर्णरूप से सिद्ध हस्त हैं और अलंकारों को अलंकारों के रूप में रखने की इनमें अभूतपूर्व क्षमता है। इस विषय मे आचार्यों के निर्देशों का इन्होंने पूर्ण रूप से पालन किया है। इनका ध्यान भाषा की अव्यवस्थितता पर भी गया था और इन्होंने पूर्ण प्रयत्न के साथ भाषा का व्यवस्थित रूप अपने हृदय में कल्पित कर लिया था तथा उसी प्रकार की भाषा का सर्वत्र प्रयोग किया। हम कह सकते हैं कि बिहारी कवि धन्य हैं और उनकी सूक्तियों का सेवन करने से हम भी धन्य ही हो गए हैं।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची

LIST OF ENGLISH BOOKS

(a) **History of literature :—**

(1) Keith-History of Sanskrit Literature.
(2) Mackdonell—Sanskrit Literature.
(3) Wever—History of Sanskrit Literature.
(4) Winternitza—History of Indian Literature Vol. I
(5) Winternitza—History of Indian Literature Vol. II
(6) Rhyse David—Psams of Sisters.
(7) Rhyse David—Psams of Brothers.
(8) Sir, George Griarson—Introduction to Lal Chandrika.
(9) Ajit Prasad Jain—Historical Jainism.
(10) Sir Radha Krishna—Indian Phliosophy.
(11) A. Sen—Schools and Sents of Jain Literature.
(12) Bulhar—The Indian Sect of Jainism.
(13) C. L. Sah—Jainism in North India.

(b) **History Books**

(1) Dr. Tara Chand—Influence of Islam on Indian Culture.
(2) Ishwari Prasad—A Short History of Muslim Rule in India.
(3) Banarsi Prasad Saxena—History of Shahjehan of Delhi.
(4) Jadunath Sarkar—History of Aurangzeb. 4 Volumes.
(5) Dr. Veni Prasad—History of Jehangir.
(6) Jadunath Sarkar –Fall of Moghal Empire, 2 Volumes.
(7) Tod—Annals and Antiquities of Rajasthan.
(8) R. C. Dutta—History of Ancient Indian Civilization.
(9) Majumdar—Ancient India.
(10) A. L. Bassom—History of India.
(11) Bhartiya Vidya Bhawan—The History and Culture of Indian People, Ist. three volumes.

(c) **Poetic.**

(1) S. K. De.—Sanskrit Poetics.
(2) P. V. Kane—Introduction to Sahitya Darpan.
(3) Pande Ji—Indian Aesthetics.
(4) Pande Ji—Abdinava Gupta.

संस्कृत ग्रन्थ

१. पंचाशिका
२. घट कर्पट काव्यम्
३. कलिविडम्बन काव्य द्वारा नीलकण्ठ दीक्षित
४. अमरुक शतक
५. औचित्य विचार चर्चा
६. आर्यासप्तशती
७. कटाक्षशतक द्वारा मूक कवि
८. निर्वाणाष्टक ,, शुक
९. पुष्पबाण विलास ,, कालिदास
१०. भामिनी विलास ,, पण्डितराज
११. मेघदूत ,, कालिदास
१२. शृंगार तिलक ,, कालिदास
१३. काव्य माला (१५ भाग)
१४. समयोचित पद्यमालिका
१५. ऋतु संहार
१६. सुभाषितावलि
१७. वात्स्यायन कामसूत्र
१८. रति रहस्य

प्राकृत ग्रन्थ

१. थेरी गाथा
२. थेर गाथा
३. गाथा सप्तशती
४. पारमी महाशतक—धम्मय कित्ति
५. महावीर वाणी
६. नान्दी
७. अनु योगदार
८. सुत्त पिटक

लक्षण-ग्रन्थ

१. सीताराम शास्त्री —साहित्योद्देशः
२. विश्वनाथ —साहित्य दर्पण
३. दण्डी —काव्यादर्श
४. वामन —काव्यालंकार सूत्र

५. व्यास	—अग्नि पुराण
६. पण्डितराज जगन्नाथ	—रस गंगाधर
७. भरत मुनि	—नाट्य शास्त्र
८. आनन्दवर्धन	—ध्वन्यालोक
९. अभिनवगुप्त	—लोचन
१०. कुन्तक	—वक्रोक्ति जीवित
११. धनञ्जय	—दशरूपकम्
१२. राजशेखर	—काव्यमीमांसा
१३. मम्मट	—काव्यप्रकाश
१४. जयदेव	—चन्द्रालोक
१५. अप्पयदीक्षित	—कुवलयानन्द
१६. भानुदत्त	—रस मंजरी
१७. क्षेमेन्द्र	—औचित्य विचार चर्चा
१८. नन्ददास	—रसमंजरी
१९. रहीम	—बरवै नायिका भेद
२०. केशव	—रसिकप्रिया
२१ मतिराम	—ललित ललाम
२२. रुद्रट	—काव्यालंकार
२३. वाग्भट	—वाग्भटालंकार
२४. हेमचन्द्र	—काव्यानुशासन
२५. बलदेव प्रसाद उपाध्याय	—भारतीय काव्य शास्त्र
२६. रामचन्द्र शुक्ल	—रसमीमांसा
२७. हरि औध	—रस कलश
२८. कन्हैयालाल पोद्दार	—अलंकार प्रकाश
	—काव्य कल्पद्रुम
	—संक्षिप्त अलंकार मंजरी
२९. गुलाबराय	—नवरस
३०. चिन्तामणि	—कविकुल कल्पतरु
३१. जयदेव	—चन्द्रालोक
३२. जसवन्तसिंह	—भाषा भूषण
३३. रहीम	—बरवैनायिका भेद
३४. रामदहिन मिश्र	—काव्यदर्पण
	—काव्य में अप्रस्तुत योजना
	—काव्यालोक
३५. रघुनाथ पाण्डेय	—काव्यशास्त्र

आलोचना

आलोचनात्मक पुस्तकें

१. भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र	—जयदेव
२. भुवनेश्वर मिश्र	—मीरा की प्रेम साधना
३. डा० धीरेन्द्र वर्मा	—अष्टछाप
४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	—तुलसीदास
५. डा० बड़थ्वाल	—सूरदास
६. मुंशीराम शर्मा	—सूर-सौरभ
७. श्री जनार्दन मिश्र	—विद्यापति
८. उमेश मिश्र	—विद्यापति ठाकुर
९. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	—वाङ्मय विमर्श
१०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	—सूरदास
११. भुवनेश्वर नाथ मिश्र	—सन्त साहित्य
१२. ब्रजेश्वर एम० ए०	—हिन्दी के वैष्णव कवि
१३. डा० बड़थ्वाल	—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय
१४. डा० नगेन्द्र	—रीति काव्य की भूमिका और देव
१५. डा० भागीरथ मिश्र	—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास
१६. लीलाधर गुप्त एम० ए०	—पाश्चात्य साहित्या लोचना के सिद्धान्त
१७. रामदहिन मिश्र	—काव्य में अप्रस्तुत योजना
१८. गुलाब राय	—हिन्दी काव्य विमर्श
१९. दीनदयालु गुप्त	—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय
२०. उमरावसिंह	—रहीमरत्नाकर
२१. किरणकुमारी गुप्त	—हिन्दी काव्य में प्रकृतिचित्रण
२२. कृष्णलाल	—मीराबाई
२३. कृष्णशंकरशुक्ल	—केशव की काव्यकला
२४. गुणानन्द जुयाल	—विद्यापति का अमर काव्य
२५. गुलाबराय	—सिद्धान्त और अध्ययन
२६. चन्द्रवली पाण्डेय	—केशवदास
२७. चन्द्रशेखर पाण्डेय	—रसखान और उनका काव्य
२८. जगन्नाथराय शर्मा	—सूर साहित्य
२९. जितेन्द्रभारती	—कवि सेनापति
३०. ज्ञानचन्द्र जैन	—मीरा और उनकी प्रेम वाणी
३१. दुर्गाशंकर मिश्र	—रसखान का अमर काव्य
	—सेनापति और उनका काव्य

३२. द्वारकादास पारीख	—सूरनिर्णय
३३. डा० धीरेन्द्र वर्मा	– ब्रजभाषा
३४. नन्ददुलारे वाजपेयी	—महाकवि सूरदास
३५. डा० नगेन्द्र	—देव और उनकी कविता
	—भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका
३६. नरेन्द्रनाथ दास	—विद्यापति का काव्यालोक
३७. परशुराम चतुर्वेदी	—मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियां
	मध्यकालीन प्रेम साधना
३८. प्रभुदयाल मीतल	—अष्टछाप परिचय
	ब्रजभाषा साहित्य का सौन्दर्य
	सूरनिर्णय
३९. बलदेव उपाध्याय	—संस्कृत कवि चर्चा
४०. भारतभूषण सरोज	—सूरदास एक अध्ययन
४१. मनोहरलाल गौड़	—आलोचक क्षेमेन्द्र
४२. मुन्शीराम शर्मा	—भारतीय साधना और सूर-साहित्य
४३. मुरलीधर श्रीवास्तव	— मीराबाई का काव्य
४४. राजेन्द्रसिंह गौड़	— प्राचीन कवियों की काव्य साधना
४५. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी	—रीति कालीन कवितायें एवं शृंगार र
	का विवेचन
४६. राम नरेश वर्मा	—वक्रोक्ति और अभिव्यंजना
४७. रामरतन भटनागर	—नन्ददास एक अध्ययन
	—विद्यापति
	—सूरदास
४८. लक्ष्मीनारायण सुधांशु	—काव्य में अभिव्यंजनावाद
४९. विजयेन्द्र स्नातक	—प्राचीन कवियों की काव्य साधना
५०. विश्वंभरनाथ	— हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि
५१. सतीशचन्द्रराव	—विद्यापति और उनकी कविता
५२. सरयूप्रसाद अग्रवाल	—अकबरी दरबार के कवि
५३. सावित्री सिन्हा	—मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियां
५४. सीताराम चतुर्वेदी	—समीक्षाशास्त्र

राजनातक स्थिति का प्रतिफलन । बिहारी की अन्योक्तिया और राजनैतिक स्थिति । बेहारी सतसई में राजनैतिक स्थिति के प्रतिफलन का सिंहावलोकन । सामाजिक स्थिति तथा बिहारी की वाणी में उसका प्रतिफलन । ऊँचनीच का भेद-भाव, ग्राम और नगर का भेद-भाव, आभूषण, रहन-सहन तथा रीति रिवाज, अन्धविश्वास, आमोद-प्रमोद, त्यौहार तथा उत्सव, व्यक्तिगत परिस्थितिया । बिहारी के जीवन का निर्णय करने के साधन । सतसई में प्रत्यक्ष उल्लेख । टीकाकारों के जीवन-वृत्त परक अर्थ । आचार्य केशव और बिहारी का पिता-पुत्र सम्बन्ध—एक दृष्टि, बिहारी के गुरु नरहरि दास, बिहारी का महाराज जयसिंह के आश्रय में निवास, बिहारी का ससुराल में रहना, बिहारी के जीवन-वृत्तपरक कतिपय प्रसिद्ध दोहे, बिहारी का दोहा बद्ध जीवन चरित्र, आलोचको द्वारा निर्णीत बिहारी का जीवन, व्यक्तिगत जीवन का बिहारी के काव्य पर प्रभाव ।

द्वितीय अध्याय **पृष्ठ २३८ से ३०४ तक**

काव्यशास्त्रीय परम्परा और बिहारी । भारतीय काव्यशास्त्र और मुक्तक परम्परा का सम्बन्ध । भारताय काव्यशास्त्र के मूलतत्व । काव्यशास्त्र के इतिहास का काल-विभाजन तथा सम्प्रदाय भेद, अलकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, रस सप्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय,दो अन्य सप्रदाय—वक्रोक्ति और औचित्य । हिंदी काव्यशास्त्र । बिहारी का साहित्य शास्त्र विषयक दृष्टिकोण । ध्वनि-सिद्धान्त एक परिचय । ध्वनि काव्य की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन । अविवक्षित वाच्य—स्वरूप, उपयोग तथा भेद । बिहारी के काव्य में शब्दगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य, वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य, पदगत विवक्षितान्यपरवाच्य, वाक्यगत विवक्षितान्यपरवाच्य, निरूढा लक्षणा की ध्वन्यात्मकता । विवक्षितान्यपरवाच्य—विविक्षतान्यपर वाच्य परिचय, विवक्षितान्यपर वाच्य के भेद, अभिधा-मूलक ध्वनि के आधार—वक्ता की विशेषता से ध्वनि, काकु अथवा ध्वनि विकार से व्यजना, वाक्य से व्यजना, वाच्यार्थ की शक्ति से व्यंजना, अन्यसन्निधि से व्यजना, प्रस्ताव या प्रकरण से व्यजना, देश की विशेषता से व्यजना, काल की विशेषता से व्यंजना, चेष्टा इत्यादि से व्यजना । विविक्षतान्यपर वाच्य के भेद—शब्द शक्ति मूलक ध्वनि—शब्द शक्ति से वस्तु ध्वनि के उदाहरण, शब्द शक्ति से अलकार ध्वनि के उदाहरण । अर्थ शक्तिमूलक ध्वनि के भेद, अर्थ शक्ति मूलक वस्तु ध्वनि :—लोक सम्भव वस्तु से वस्तु ध्वनि । कवि-कल्पित वस्तु से वस्तु ध्वनि, कवि निबद्ध वक्तृकल्पित वस्तु से वस्तु ध्वनि, स्वतः सम्भव अलकार से वस्तु ध्वनि । कवि कल्पित अलकार से वस्तु ध्वनि । कवि-निबद्ध वक्तृकल्पित अलंकार से वस्तु ध्वनि । अर्थशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि—अलकार ध्वनि का आशय, अलंकार ध्वनि के भेदोपभेद, स्वतः सम्भव वस्तु से अलकार ध्वनि, कल्पित-वस्तु से अलंकार ध्वनि, स्वतः सम्भव अलंकार से ध्वनि, कल्पित अलंकार से अलंकार ध्वनि, उभय शक्तिमूलक ध्वनि, ध्वनि काव्य के भेदोपभेदों के विषय

में पण्डितराज तथा काव्यप्रकाश-कार का मत-भेद तथा बिहारी की मान्यता। निष्कर्ष। पण्डितराज के अनुसार उत्तम काव्य।

तृतीय अध्याय **पृष्ठ ३०५ से ४१४ तक**

असल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य अथवा रस ध्वनि। रस ध्वनि का क्षेत्र। रसास्वादन की प्रक्रिया। कतिपय मतो की परीक्षा। रसास्वादन के उपकरण —नायिका-भेद की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन। नायिका-भेद के प्रमुख ग्रन्थ। वात्स्यायन मुनि का काम सूत्र। नाट्य शास्त्र, दशरूपक, रसमजरी, साहित्य दर्पण। हिन्दी में नायिका भेद—सूरदास, नन्ददास, रहीम, कृपाराम, केशव, चिन्तामणि। नायिका भेद—सक्षिप्त विवेचन तथा विश्लेषण। बिहारी का नायिका भेद — स्वकीया। स्वकीया के भेद · मुग्धा, प्रथमावतीर्ण यौवना, प्रथमावतीर्ण मदन विकारा, रति में वामाचरण, मान में मृदुता, समधिक लज्जावती, अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना, नवोढा, विश्रब्ध नवोढा। मध्या नायिका—मध्या की सामान्य विशेषताये। प्रौढा नायिका—सामान्य विशेषताये। मध्या और प्रौढा के अवान्तर भेद—मध्या-धीरा, मध्या-अधीरा, मध्या-धीराधीरा, प्रौढा—धीरा, प्रौढा-धीराधीरा, प्रौढा-अधीरा। पर-कीया नायिका—कन्या, परोढा। परकीया के उपभेद—गुप्ता, विदग्धा(वचन विदग्धा, क्रिया विदग्धा), लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना, मुदिता। साधारणी नायिका। ज्येष्ठा कनिष्ठा। अवस्था भेद से नायिका भेद—स्वाधीनपतिका, अभिसारिका,कलहान्तरिता, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, विरहोत्कण्ठिता। दशा भेद से नायिका भेद। अन्यसम्भोग-दुःखिता, गर्विता। नायिका की सहायिकाये—स्वयं दूती, पर दूती। नायक के भेद। नायिकाओ के अलकार। अगज अलकार—भाव, हाव, हेला। अयत्नज अलकार— शोभा, कान्ति, दीप्ति। नखशिख-वर्णन—चरण, जघन, नितम्ब, कटि, स्तन, हस्त, ग्रीवा, चिबुक, अधर, दशन, कपोल, नासिका, नेत्र, भृकुटि, मस्तक, समस्त मुख-वर्णन, केश-वर्णन। माधुर्य अलकार, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य। यत्नज अलंकार— लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित, केलि। उद्दीपन विभाव। अनुभाव। सात्विकभाव। स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वरभग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय। भाव-परिचय। भाव-ध्वनि, निर्वेद, ग्लानि, शका असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, वितर्क। रति की भावध्वनि रूपता। रसध्वनि-परिचय, सम्भोग शृंगार। विप्रलम्भ तथा उसके भेद, पूर्वराग, मान, विरह, प्रवास। काम की १० दशाये अभिलाष, गुणकथन, अधैर्य, तन्मयता, अगों का असौष्ठव, व्याधि-कृशता, उन्माद, जागर। दूसरे-रस। रसाभास और भावाभास। भाव-सन्धि, भावोदय, भाव-शान्ति और भाव शबलता।

चतुर्थ अध्याय **पृष्ठ ४१५ से ४३२ तक**

अलकार। अलंकार-सम्प्रदायवादियों का दृष्टिकोण। ध्वनिकार का मत। ध्वनि-सिद्धान्त की दृष्टि से अलंकारों का वर्गीकरण। अलंकारों की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन। रसाभिव्यञ्जन मूलक अलंकार। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भाव-सन्धि, भावशबलता। वस्तुव्यञ्जना मूलक अलंकार—समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति। व्यंग्यार्थोपस्कारक अलंकार। स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति। अतिशयोक्तिमूलक अलंकार। पूर्णोपमा, लुप्तोपमा (धर्मलुप्ता, उपमेयलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मवाचक लुप्ता), रूपक, अपन्हुति, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, व्यतिरेक, असंगति, मीलित, दीपक। बिहारी का चमत्कार विधान। अविचारित रमणीय, विचार्यमाण रमणीय, सम्पूर्ण सूक्ति-व्यापी, सूक्त्येकदेशदृश्य, शब्द-चमत्कार, अर्थ-चमत्कार, शब्दार्थगत, अलंकारगत, रसगत, प्रख्यात वृत्तिगत।

पञ्चम अध्याय **पृष्ठ ४३३ से ४९४ तक**

मुक्तक-काव्य परम्परा की दृष्टि से बिहारी का अध्ययन। बिहारी के रसात्मक मुक्तक। कृष्ण-काव्य परम्परा। राधा-कृष्ण का सामान्य नायिका और नायक के रूप में चित्रण। दर्शन तथा आकर्षण, उत्कण्ठा की तीव्रता; संकेत तथा अभिसार हास्य-विनोद, दूती सम्प्रयोग, भावगोपन, खण्डिता वर्णन, वियोग-वर्णन, कृष्ण-चरित्र की विशेष घटनाये—बाललीला, शृंगारिक लीला, चीरहरण, रासलीला, भ्रमरगीत। कृष्ण के लोकोत्तर कृत्य—पूतनावध तथा विश्वरूप दर्शन, गोवर्धन धारण, रुक्मिणी हरण, अघासुर वध, दावानलपान। प्राकृत मुक्तक। क्षेत्र, प्रसगयोजना, द्विविध शैली, रस के उपकरण, सयोग तथा वियोग। प्रकृति-काव्य परम्परा—वसन्त-वर्णन, ग्रीष्म-वर्णन, वर्षा-वर्णन, शरद्-वर्णन, हेमन्त-वर्णन, शिशिर-वर्णन, दूसरे प्राकृतिक वर्णन। धार्मिक-मुक्तक। समन्वयवाद तथा एकता का उपदेश, प्रत्यक्षकृत स्तुति-परक दोहे, परोक्षकृत स्तुति-परक दोहे, आध्यात्मिक तत्त्व, बिहारी का सम्प्रदाय। सूक्ति-काव्य—धार्मिक सूक्तिया—वैराग्य का उपदेश, गुरु-भक्ति तथा भगवद्भक्ति, नाम-जप, ईश्वर-विश्वास, एकरसता, बाह्याडम्बर का त्याग, कपट का परित्याग, केवल भगवान् से प्रेम करने का उपदेश, सत्सगमहिमा स्त्री निन्दा। आर्थिक सूक्तिया—धन के विषय में सूक्तिया, दुष्टो की निन्दा, कुसग-निन्दा, स्थान का महत्त्व, गुणों का महत्त्व, विनय की प्रशसा, पूंजीवाद में मर्यादातिक्रमण की स्वाभाविकता, मित्रता में क्रोध न करने का उपदेश, राजा द्वारा दरिद्रो का ही शोषण, अन्योक्ति-पद्धति। समस्त सूक्ति-सार—बिहारी का सुख-मय जीवन-यापन के लिये कर्त्तव्योपदेश। काम-परक सूक्तियां। प्रशस्ति-काव्य। निष्कर्ष।

षष्ठ अध्याय **पृष्ठ ४९५ से ५१६ तक**

बिहारी की भाषा। बिहारी का भाषा-व्याकरण। ब्रजभाषा : एक परिचय।

बिहारी की भाषा। सिद्ध-शब्द सज्ञाये। सिद्ध-शब्द सर्वनाम। साध्य-शब्द क्रिया। शब्दो का प्रयोग। मुहावरों का प्रयोग। भाषा की रमणीयता। शब्दालंकार।

सप्तम अध्याय **पृष्ठ ५१७ से ५८५ तक**

बिहारी का आलोचनात्मक अध्ययन। बिहारी का महत्त्व, काव्य के उपादान, बिहारी की प्रतिभा और अभ्यास, बिहारी की निपुणता। शास्त्रों का ज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन, राज-धर्म, युद्ध-विद्या, विज्ञान, गणित, कर्म-काण्ड, काम-शास्त्र बिहारी का ऐतिह्य-ज्ञान—महाभारत, रामायण, पुराण। बिहारी का लोक-ज्ञा नट का खेल, नृत्य, गान-विद्या, पतगबाजी, चोर-मिहिचनी, लट्टू नचाना, चौगान का खेल, मृगया, कृषि, पुष्पो का ज्ञान, बागवानी, ऋतु-चर्या, वनस्पतियों के स्वभाव का ज्ञान, जगली जीवो के स्वभाव का ज्ञान, देश-विदेश का ज्ञान, अन्ध-विश्वास, जादू-टोना, मुसलमान सन्यासी, वास्तु-कला। बिहारी के उपजीव्य—हाल और बिहारी, अमरुक और बिहारी, गोवर्धनाचार्य और बिहारी, सस्कृत के अन्य कवि तथा बिहारी, विद्यापति तथा बिहारी, हिन्दी के अन्य कवि तथा बिहारी—कबीर, नानक, सूर, तुलसी, रहीम, मलूकदास, केशव, सुन्दरदास, सेनापति, रसखानि। बिहारी के दोष—शब्द-दोष. वाक्य-दोष, अर्थ-दोष, अलंकार-दोष, रस-दोष, बिहारी का हिन्दी-साहित्य में स्थान। उपसहार।

परिशिष्ट : सहायक ग्रंथों की सूची **पृष्ठ ५८६ से ५९२**

(८) **रणछोड़ जी की टीका**—यह टीका रणछोड़राय दीवान की लिखी हुई है और एक उच्चकोटि की टीका है। सतसई के पाठक इससे विशेष लाभान्वित हो सकते हैं। सक्षिप्त अवतरण और काव्यशास्त्रीय निर्देश के साथ इस टीका में अर्थ को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

(९) **लाल-चन्द्रिका**—यह बिहारी की परम प्रतिष्ठित टीकाओं में एक है। आगरे के एक औदीच्य गुजराती ब्राह्मण लल्लू जी लाल ने इस टीका की रचना १९ वी शती के मध्य भाग में की थी और सर जार्ज ग्रियर्सन की भूमिका के साथ यह टीका प्रकाशित हुई। इस टीका में वक्तृ-बोद्धव्य का निर्देश कर अर्थ लिखा गया है और प्रश्नोत्तर रूप में भी अर्थों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। प्रायः प्रत्येक दोहे पर काव्यशास्त्रीय निर्देश दिये गये हैं।

(१०) **प्रभुदयाल पाण्डेय की टीका**—यह टीका प्रभुदयाल पाण्डेय की लिखी हुई है और कलकत्ते से प्रकाशित हुई है। यह खड़ी बोली में लिखी हुई प्रथम टीका है। किन्तु इसमें बिहारी के दोहों का पाठ बहुत ही भ्रष्ट कर दिया गया है, जिससे अर्थ में गडबडी पड जाती है। पर टीका की भाषा उत्तम है और अन्वय तथा शब्दव्युत्पत्ति का क्रम अच्छा है।

(११) **भावार्थ प्रकाशिका टीका**—यह टीका पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र की लिखी हुई है। ये भारत धर्म महामण्डल के सबल उपदेशक थे और सस्कृत के अनेक ग्रन्थो का भाषान्तरण इन्होने किया था। यह टीका संवत् १९५४ में समाप्त हुई थी। यह टीका उत्तम नही है। रत्नाकर जी के शब्दों में यह विद्या-वारिधि जी की अनधिकारचेष्टा ही है। प० पद्मसिह शर्मा ने 'सतसई-संहार' शीर्षक से इसका पर्याप्त रूप में प्रत्याख्यान किया है।

(१२) **सजीवन भाष्य**—यह सतसई के परम भक्त पण्डित पद्मसिह शर्मा की लिखी हुई अत्यन्त प्रसिद्ध टीका है। इसके प्रारम्भ में शर्मा जी ने एक विस्तृत भूमिका दी है, जोकि टीका के प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित हुई है। दूसरे भाग में टीका प्रारम्भ हुई है। किन्तु यह टीका कतिपय दोहों तक ही सीमित है। पण्डित जी ने बडे ही पाण्डित्य के साथ बिहारी को मूर्धन्य कवि सिद्ध करने की चेष्टा की है।

(१३) **संस्कृत की गद्य टीका**—इस टीका का उल्लेख बिहारी-विहार की भूमिका में किया गया है। व्यास जी ने इस टीका को उत्तम टीका लिखा है।

(१४) **संस्कृत में दूसरी गद्य-टीका**—इस टीका में वक्तृ-बोद्धव्य का निर्देश कर अर्थ स्पष्ट किया गया है और नायिका-भेद भी बतलाया गया है। रत्नाकर के अनुसार यह टीका देवकीनन्दन की टीका का भाषान्तर मात्र है। इसके लेखक का पता नहीं है।

(१५) **बिहारी-बोधिनी**—प्रसिद्ध साहित्यकार लाला भगवानदीन ने यह ीका सं० १९७८ में बनाई थी । इस टीका में सर्वप्रथम शब्दार्थ दिये गये है, फिर क्षिप्त अवतरण-निर्देशपूर्वक दोहे का मन्तव्य समझाया गया है । इसके बाद विशेष' शीर्षक में दोहे से सम्बन्धित अन्य तत्त्व दे दिये गये हैं और अन्त में अलंकार नर्देश दिया गया है । टीका छात्रो के लिये नितान्त उपयोगी है ।

(१६) **रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी की टीका**—यह टीका सं० १९८२ में प्रकाशित ुई थी । इसमें दोहो का भावार्थ सरल शब्दो में देकर बाद में शब्दार्थ दे दिया ाया है ।

(१७) **बिहारी रत्नाकर**—यह बिहारी की सर्वोत्तम टीका है । बिहारी का आशय-जिज्ञासु छात्र रत्नाकर का सदा आभारी रहेगा । यह टीका अत्यन्त स्पष्ट तथा अनुसन्धानात्मक है । इसमें समस्त दोहो का उपयुक्त अवतरण देकर उसका अर्थ स्पष्ट किया गया है । यदि टीकाकार को विशेष शब्दो पर कोई टिप्पणी करनी हुई है तो उसको अवतरण के पहले दे दिया गया है और यदि दोहे के विषय में कोई बात कहनी हुई है तो अर्थ लिखने के बाद उसे यथास्थान लिख दिया गया है । पादटिप्पणी मे विभिन्न टीकाओ के पाठभेद भी दिये गये है । इस टीका के प्रकाशित हो जाने से शेष समस्त टीकाये साहित्य-मर्मज्ञो की दृष्टि में अपना महत्त्व खो बैठी । निस्सदेह हिन्दी-साहित्य के लिए रत्नाकर की यह अपूर्व देन है ।

उक्त टीकाओ के अतिरिक्त बहुत-सी ऐसी टीकाये है, जिनका उल्लेख या तो मिश्र-बन्धुओ ने किया है या शिवसिह जी ने । कतिपय टीकाओ का उल्लेख बिहारी-विहार की भूमिका में भी किया गया है । कुछ टीकाओ का पता श्रुति-परम्परा से रत्नाकर को प्राप्त हुआ था । किन्तु ये टीकाये प्रकाश में नही आ सकी । बिहारी पर गुजराती तथा फारसी में भी टीकाये लिखी गईं । छोटूराम के नाम पर एक ऐसी टीका की भी चर्चा है, जिसमें समस्त दोहो का वैद्यकपरक अर्थ लगाया गया है । इस प्रकार टीकाकारो को प्राप्त करने का जो सौभाग्य बिहारी को प्राप्त हुआ है वह अन्य किसी भी कवि के लिये दुर्लभ है ।

(इ) स्वतन्त्र आलोचनायें—

बिहारी के अधिकतर टीकाकारो ने प्रारम्भ में बिहारी का आलोचनात्मक परिचय दिया है । इन परिचयो को हम स्वतन्त्र आलोचना के क्षेत्र में सन्निविष्ट कर सकते है । निम्नलिखित तीन भूमिकायें बिहारी के अध्ययन की दिशा में विशेष महत्त्व रखती है :—

(१) **बिहारी-विहार की भूमिका**—इसमें बिहारी के जीवनवृत्त तथा बिहारी-विषयक साहित्यिक सामग्री पर विशेष महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है । बिहारी-विषयक साहित्य का अनुसन्धान करने की दिशा में यह भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

५५. डा० सुधीन्द्र —रास पञ्चाध्यायी और भ्रमर गीत
५६. सुरेशचन्द्रगुप्त —प्राचीन कवियों की काव्य साधना
५७. हजारी प्रसाद द्विवेदी —मध्यकालीन धर्मसाधना
—हिन्दी साहित्य की भूमिका
५८. हरवंशलाल शर्मा —सूर काव्य की आलोचना
५९. हीरालाल दीक्षित —आचार्य केशवदास

साहित्य का इतिहास

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल —हिन्दी साहित्य का इतिहास
२. मिश्र बन्धु —मिश्र बन्धु विनोद
३. हजारीप्रसाद द्विवेदी —हिन्दी साहित्य की भूमिका
४. डा० रामकुमार वर्मा —हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
५. सूर्यकान्त शास्त्री —हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास
६. कामताप्रसाद जैन —हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
७. राम बाबू सक्सेना —उर्दू साहित्य का इतिहास
८. चन्द्र सेन बाबू —जैन ग्रन्थ संग्रह
९. मूल चन्द्र जैन —जैन कवियों का इतिहास
१०—अगरचन्द्र नाहटा —ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह

बिहारी विषयक ग्रन्थ

इस सूची में बिहारी पर लिखी हुई टीकायें तथा पद्यात्मक व्याख्यायें सम्मिलित नहीं हैं।

१. ज्वालाप्रसाद मिश्र —भावार्थ प्रकाशित की भूमिका
२. कृष्ण कवि —बिहारी सतसई
३. रामरतन भटनागर —बिहारी सतसई
४. कमला देवी गर्ग —बिहारी वैभव
५. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र —बिहारी की वाग्विभूति
६. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र — बिहारी
७. कृष्ण बिहारी मिश्र —देव और बिहारी

८. लाला भगवान दीन —बिहारी और देव
९. लोकनाथ द्विवेदी —बिहारी दर्शन
१०. पं० पद्मसिंह शर्मा —संजीवन भाष्य की भूमिका
११. पं० अम्बिकादत्त जी व्यास —बिहारी बिहार की भूमिका
१२. डा० रमाशंकर प्रसाद —संक्षिप्त बिहारी की भूमिका
१३. मिश्रबन्धु —हिंदी नवरत्न
१४. रत्नाकर —कविवर बिहारी
१५. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका (आठवाँ भाग)
१६. लाला भगवान दीन —बिहारी बोधिनी की भूमिका
१७. शारदा पत्रिका —लाला भगवान दीन का लेख
१८. भारत भूषण सरोज —आलोचनात्मक अध्ययन

———